"वेद प्रकाश" के नियम

उद्देश्य:-

१ वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार

२ आर्य संस्कृति की रक्षा तथा प्रसार

३ सत्य का मण्डन और असत्य का खण्डन करना पत्र का मुख्य उद्देश्य है।

४ सस्ते ट्रैक्टों का प्रकाशन तथा प्रचार

नियम:-

१ वेदप्रकाश प्रत्येक अंग्रेजी मास की पहिली तारीख को प्रकाशित होता है।

२ अंक न मिलने की सूचना २० तारीख तक लिखनी चाहिए।

३ पत्र व्यवहार करते समय अपना ग्राहक नम्बर तथा नाम, पता, डाकखाना, जिला इत्यादि सुवाच्य अक्षरों में लिखना चाहिये।

४ वेदप्रकाश का वार्षिक मूल्य २) तथा विदेशों के लिए ४ शिलिंग नियत है। जो अग्रिम मनी-आर्डर या ब्रिटिश पोस्टल आर्डर से आने आवश्यक हैं। वी० पी० नहीं भेजी जाती।

५ प्रति वर्ष अतिरिक्त विशेषांक वैदिक सिद्धान्तों के अनुकूल प्रकाशित करने की योजना है उसका मूल्य वार्षिक मूल्य के अतिरिक्त लागत के अनुसार लिया जावेगा।

६ "वेद प्रकाश" में प्रकाशनार्थ विद्वान् लेखकों से प्रार्थना है कि वैदिक सिद्धान्तों पर ही स्पष्ट अक्षरों में कागज के एक तरफ हाशिया छोड़ कर लिखने की कृपा करें।

७ लेखों का घटाना, बढ़ाना छापना न छापना सम्पादक के आधीन है।

८ आर्य सिद्धान्तों के विरुद्ध लेख नहीं छापे जाते।

विज्ञापन शुल्क:—

९ पूरा पृष्ठ प्रतिवार	२०)
आधा पृष्ठ प्रतिवार	१२)
चौथाई पृष्ठ प्रतिवार	७)
एक बटा आठवां पृष्ठ प्रतिवार	४)

स्थाई विज्ञापन दाताओं को चार आना रुपया छूट दी जावेगी।

१० अश्लील और जनता को हानि पहुँचा वाले विज्ञापन नहीं छापे जावेंगे।

पुस्तकें मंगाने वालों के लिये नियम:—

१ पांच रुपये से कम मूल्य की पुस्तकें मंग वालों को पुस्तकों का मूल्य मनी आर्डर द्व अग्रिम भेजना चाहिए।

२ ६) रुपये से अधिक की पुस्तकें मंगाने वा को कम से कम एक चौथाई मूल्य अग्रिम भेज चाहिए।

३ डाक द्वारा पुस्तकें भेजने पर पैकिंग खच ग्राहकों से नहीं लिया जावेगा। केवल डाक खर्च देना होगा।

४ रेल द्वारा मंगाने पर पैकिंग बिल्टी बनवा मजदूरी, वी० पी० खर्च ग्राहकों के जिम्मे होगा

५ बिकी हुई पुस्तकें वापस नहीं ली जावेगी।

६ वी० पी० में भूल जान पड़े तो भी कृपया वी० पी० वापस न करें। वी० पी० छुड़ा कर पत्र लिखें भूल सुधार दी जावेगी। भू लेन देन व्यवहारिक है।

७ विदेशों में वी० पी० नहीं जाती अतः के आर्डर के साथ पुस्तकों का पूरा मूल्य त अनुमानिक डाक व्यय जोड़ कर ब्रिटिश पोस्टल आर्डर डाक खाने से खरीद कर भेजना चाहिए।

पुस्तकों पर कमिशन:—

१ अपनी प्रकाशित पुस्तकों पर पांच रुपये त कोइ कमीशन नहीं।
६) से २५) तक १२।।) सैंकड़ा,
२६) से ५०) तक १५) सैंकड़ा,
५१) से अधिक पर २५) सैंकड़ा।

२ सैंकड़ा मूल्य वाली लघु पुस्तकों पर कमीशन नहीं उनका मूल्य कमीशन काट दिखाया गया है।

३ अन्य प्रकाशकों की पुस्तकों पर उचित कमी दिया जावेगा।

पुस्तकें मंगाने तथा सब प्रकार के पत्र व्यव का पता:-

गोविन्दराम हासानन्द नई सड़क, देहली

दयानन्द ग्रन्थ संग्रह

वेद प्रकाश
(विशेषांक)

सम्पादक
जगत्कुमार शास्त्री

१ ४॥)

संचालक
गोविन्दराम हासानन्द, नईसड़क देहली

ओ३म्

वेद प्रकाश

वेदोऽखिलो धर्म-मूलम्

विशेषाङ्क

श्रावणी पर्व, सम्वत् २०१० वि०

श्रावण, श्रीमद्दयानन्दाब्द १२६ सृष्टि, १९७२९४९०५३

अगस्त सन् १९५३ ई०

श्रीमद्दयानन्द-ग्रंथ-संग्रह

सम्पादक के निवेदन

१—सर्व प्रथम परमपिता परमात्मा का कोटिशः धन्यवाद है, जिस की कृपा से 'वेद प्रकाश' का प्रथम वर्ष सानन्द सम्पूर्ण हुआ, आर्य जनता ने हमारी सेवा को पसन्द किया, ग्रहण किया और हमें उत्साहित किया, एवं आर्य विद्वानों ने अपनी उत्तमोत्तम कृतियों से हमें उपकृत किया। एक वर्ष में जो कार्य 'वेद प्रकाश' के द्वारा हुआ है, वह हमारे लिये उत्साह वर्धक और आशा जनक है।

२—प्रभु की कृपा से ही आज 'वेद प्रकाश' का यह 'दयानन्द ग्रन्थ-संग्रह, विशेष-अंक प्रकाशित हो रहा है। आर्य-पत्र-जगत् में यह इस प्रकार का सर्व-प्रथम प्रयास है। हमें जो प्रारम्भिक-सी सफलता मिली थी, उससे उत्साहित होकर हमने, विशेष-अंक प्रकाशित करने का योजना बनाई थी। आठ मास हुए तब इस अंक का कार्य आरम्भ किया गया था। एक वर्ष पहिले कौन जानता था कि 'वेद प्रकाश' बहुत शीघ्र ही इतना बड़ा अंक प्रकाशित करेगा? भविष्य में भी हम ऐसे ही बड़े-बड़े अंकों का प्रकाशन करने के आयोजन कर रहे हैं।

३—इस अंक में २० ग्रंथों का संग्रह है। कुछ ग्रन्थ महर्षि दयानन्द कृत हैं। कुछ महर्षि कृत तो नहीं हैं, तथापि महर्षि के मन्तव्यों के प्रचार में सहायक हैं। और, महर्षि के जीवन से उनका सम्बन्ध है। वे रोचक और ज्ञान वर्धक भी हैं। अतः उन का भी इस में समावेश है। प्रत्येक ग्रन्थ के विषय में 'सम्पादकीय-निवेदन' उस-उस ग्रंथ के आरम्भ में मुद्रित कराया गया है। महर्षि का जीवन-परिचय पाठकों को पहिले मिल जाये, इसलिये महर्षि दयानन्द की आत्म-कथा का मुद्रण प्रथम हुआ है। अन्य ग्रंथों का प्रकाशन काल क्रमानुसार कराया गया है।

यहां पाठक यह भी स्मरण करें कि आर्य समाज के आरम्भिक युग में इन ग्रन्थों ने बड़े-बड़े चमत्कार उपस्थित किये थे। महर्षि दयानन्द की विजय के साधनों में इन ग्रंथों का स्थान बहुत ऊंचा है।

४—सम्पादक की गति, मति, विद्या और तपस्या कुछ विशेष नहीं है। आत्म-शुद्धि की भावना से ही वह अपना कार्य कर रहा है। यदि विज्ञपाठक और श्रेष्ठ आर्य विद्वान् इस अंक के सम्पादन में कुछ त्रुटि देखें, तो सम्पादक को क्षमा कर दें, त्रुटि को ठीक कर लें। और सम्पादक की अल्पज्ञता को ही उस त्रुटि का कारण समझें। प्रूफ-शुद्धि सम्बन्धी कुछ भूलों का ज्ञान सम्पादक को है। अपना प्रेस न होने से, मुद्रण और प्रकाशन सम्बन्धी कई कठिनाइयों का सामना 'वेद प्रकाश' को करना पड़ रहा है।

५—इस अंक के सम्पादन, ग्रन्थों के पाठ-निर्णय, परिचय और इतिहास लेखन, आदि कार्यों में—अमरहुतात्मा धर्मवीर श्री पण्डित लेखराम जी आर्य मुसाफिर, स्वर्गीय श्री पण्डित देवेन्द्रनाथ जी मुखोपाध्याय, स्वर्गीय योगीराज श्री अरविन्द घोष, श्री स्वामी वेदानन्द जी महाराज, श्री पण्डित भगवद्दत्त जी० बी० ए० वैदिक गवेषक, एवं श्री पण्डित युधिष्ठिर जी मीमांसक प्रभृति अनेक श्रेष्ठ विद्वानों के ग्रन्थों से सम्पादक ने बहुत अधिक लाभ प्राप्त किया है। अतः सम्पादक उन-उन, और इन-इन के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रगट करता है। कई प्रसंगों में कतिपय विद्वानों से सम्पादक ने अपना जो मत-भेद प्रगट किया है, और कहीं-कहीं जो टीका-टिप्पणी भी की है, वह विचारविमर्श के लिये ही है, किसी प्रकार के द्वेषभाव से नहीं।

६—श्री गोविन्दराम हासानन्द संचालक 'वेद प्रकाश' बड़े उत्साह से संचालन-कार्य कर रहे हैं। उनको धन्यवाद देना तो अपने आप को ही धन्यवाद देना होगा। श्री गोविन्दराम जी के सुपुत्र श्री विज कुमार जी भी 'वेद प्रकाश' के कार्यों अच्छा उत्साह दिखा रहे हैं। इस विशेषांक का मुद्र "प्रकाश प्रिंटिंग वर्क्स बाजार सीताराम देहली" हुआ है। उक्त प्रेस के सब मालिकों एवं कर्मचारि का भी हम हार्दिक धन्यवाद करते हैं।

७—इस अवसर पर सम्पादक को अपने गु पूज्यवाद श्री १०८ श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी म राज का पुण्य-स्मरण विशेष रूप से हो रहा है, जि के चरणों में बैठकर उसने श्रीमद्दयानन्दोपदे विद्यालय लाहौर में, सन् १९३०, ३१, ३२ ई० शिक्षा ग्रहण की थी और सेवाव्रत की दीक्षा ली थी पूज्य स्वामी जी महाराज वृद्धावस्था में भी अने कष्ट साध्य तथा गम्भीर-प्रगतियों का संचालन कर हैं, यह आनन्द का विषय है। आर्य प्रतिनिधि स पंजाब की ओर से जो संस्कृत महाविद्यालय शी ही संस्थापित किया जा रहा है, पूज्य स्वामी जी मह राज को ही उसका आचार्य मनोनीत किया गया है दुनियादारी के धन्धों से अवकाश ग्रहण करके, अ तो अपने गुरुजी के चरणों में जाकर रहने की प्रबल इच्छा सम्पादक को हो रही है। देखें, क वह दिन आता है।

८—आर्य पुरुषो! 'वेद प्रकाश' का यह प्रथ बृहद् विशेष-अंक आप की सेवा में प्रस्तुत है। इसे स्वीकार करो। श्रावणी के शुभ अवसर पर मह दयानन्द कृत ग्रन्थों के स्वाध्याय का व्रत ग्रहण करो महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों और मन्तव्यों को अप जीवन में धारण करो। 'वेदवाद' को संसार में प्रचलित करने की दीक्षा लेकर, उत्साह पूर्वक आगे बढ़ो। एक विजय से दूसरी विजय की ओर बढ़ते ही चलो।

दीवान हाल, देहली। —जगत्कुमार शास्त्री
१५-८-५३ सम्पादक

॥ ओ३म् ॥

मेरा जीवन-संग्राम

ले०—गोविन्दराम हासानन्द

संवत् १६४३ वि० में शिकारपुर सिन्ध में, एक साधारण स्थिति के वल्लभाचार्य मत के वैष्णव सम्प्रदायानुयायी, धर्मनिष्ठ, निरामिषभोजी घर में मेरा जन्म हुआ था। मेरे जन्म के एक मास के बाद ही मेरी माता जी का देहान्त हो गया था। माता जी के निधन के पश्चात् प्रथम तो एक धाय ने और फिर दादी जी ने मेरा पालन पोषण किया था।

जब मैं छः वर्ष का था, तब दादी जी का भी देहावसान हो गया। तब, मैं अपने पूज्य पिता श्री हासानन्द जी वर्मा तथा पूज्या विमाता श्रीमती लक्ष्मी बाई जी के संरक्षण में रहा। पिता जी कोयटा बिलोचिस्तान में व्यापार-व्यवहार करते रहे। उन दिनों बिलोचिस्तान जैसे यवन देश में भी हिन्दू मुसलमानों में परस्पर बहुत प्रेम तथा सद्भाव का व्यवहार होता था। पिता जी के साथ मैं भी बिलोचिस्तान में ही रहता था।

जब मेरी आयु दस वर्ष की हुई, तो पिता जी बिलोचिस्तान से बम्बई जाकर रहने लगे। मैं भी साथ ही था। बम्बई में ही मेरी शिक्षा का आरम्भ हुआ। बम्बई में भूलेश्वर म्युनिसिपल प्राइमरी स्कूल में मैं पांचवीं श्रेणी तक पढ़ा था। तदुपरान्त पिता जी ने कलकत्ते के लिये प्रस्थान किया। मैं भी साथ था। यह सन् १८६६ की बात है।

कलकत्ते में कुछ वर्षों के बाद पिता जी ने बैंकों में विलायती हुण्डी की दलाली का कार्य आरम्भ किया। फिर मुझे भी उन्होंने अपने कार्य में लगा लिया।

सन् १६०३ ई० में पिता जी ने प्रातःकाल चार बजे भ्रमण करते हुए, कलकत्ते की एक सड़क पर कसाईखाने जाती हुई गौओं का एक बड़ा झुण्ड देखा। उसे देख कर उनके हृदय पर बहुत गहरा आघात लगा। उसी दिन से पिता जी ने अपनी आजीविका का कार्य मेरे ऊपर ही छोड़ दिया। और, वे सर्वात्मना गौरक्षा-आन्दोलन में लग गये। उस समय मेरी आयु लगभग सतरह वर्ष की थी।

गौवों की दुर्दशा का जो भीषण चित्र इस समय श्री हरदेव सहाय जी जनता के सामने प्रस्तुत कर रहे हैं, यही चित्र आज से पचास वर्ष पूर्व मेरे पूज्य पिता जी ने देश और देश के नेताओं एवं भारत की अंग्रेजी सरकार के सामने प्रस्तुत किया था। उन्होंने गोवध बन्द करवाने के लिये लाखों लोगों के हस्ताक्षर करवा कर एक प्रार्थना पत्र तत्कालीन गवर्नर जनरल के पास भेजा था। परन्तु गो-भक्षक विदेशी सरकार ने उनकी प्रार्थना अनसुनी करदी। वह भला भारत हित की किसी बात पर विचार भी क्यों करती? उसने साम्प्रदायिकता का बहाना बना कर वह प्रार्थना-पत्र दाखिल दफ्तर कर दिया।

फिर पिता जी ने देश के नेताओं का ध्यान विशेष रूप से गोरक्षा की ओर आकर्षित करने का आन्दोलन किया। नेतावर्ग तब स्वराज्य आन्दोलन में अधिक व्यस्त था, अतः तब उसने गौरक्षा कार्य की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। तब यही कहा जाता था कि स्वराज्य प्राप्त होने पर तो गौरक्षा का कार्य अनायास ही सम्पन्न हो जायगा। स्वर्गीय लोकमान्य श्री बाल गंगाधर तिलक ने तब कहा था—

"स्वराज्य के प्राप्त होते ही कानून बना कर सब प्रकार का गोवध सर्वथा बन्द कर दिया जायेगा।"

स्वराज्य मिल गया है। गोभक्षक मुसलमानों को पाकिस्तान भी दे दिया गया। छः वर्ष हो चुके हैं, तथापि गोवध बन्द नहीं हुआ। गोवध बन्दी आन्दोलन को कुचलने में ही शासन का अधिक बल लग रहा है। और बन्द होने के स्थान पर गोवध बढ़ता ही जाता है। गोवध बन्द करने की सीधी सादी मांग को कानूनी और आर्थिक पेचीदिगियों में उलझाया जा रहा है। तथा साम्प्रदायिक बताकर ठुकराया जा रहा है। इसका कारण यही है कि इस

समय जिन लोगों के हाथ में देश के शासन की बागडोर है, वे भारतीय होते हुए भी भारतीयता से सर्वथा शून्य हैं। वे शिक्षा, दीक्षा, रहन सहन, आचार विचार और भावनाओं में में पूर्णतया विदेशी हैं। गोभक्षक विदेशियों के मानसिक पुत्र ही उन्हें कहना चाहिये। वे अपने जैसा ही धर्महीन, अभारतीय, भारत की धर्मप्राण जनता को भी बनाना चाहते हैं।

मेरे पिताजी ने अपने गोरक्षा अन्दोलन के साथ ही गोरक्षा सम्बन्धी कुछ क्रियात्मक आयोजन भी किये थे। गोपालन को प्रोत्साहन देने के लिये उन्होंने कलकत्ते के समीप सैंकड़ों बीघे भूमि—गोचरभूमि बनाने के लिये खरीदी थी। उस भूमि के खरीदने के लिये देश के धनी,मानी दानी सज्जनों ने पिताजी को मुक्तहस्त से लाखों रुपये प्रदान किये थे। वह कार्य तब बहुत अधिक बढ़ गया था और अकेले पिताजी के वश में उसका सम्भालना न था। अतः मेरे द्वारा आर्य समाज कलकत्ता के सामने पिताजी ने यह प्रस्ताव रखा था कि आर्य समाज उस विस्तृत भूभाग को अपने अधिकार में लेने और 'गोपालन' तथा 'गोदुग्धालय' के कार्य क्रम का संचालन करे।

खेद है। महर्षि दयानन्द की पुस्तक अर्थात् 'गोकरुणानिधि' में वर्णित 'गोकृष्यादि सभा' का ढोल पीटाने वाले आर्य समाज के कार्यकर्त्ताओं ने, इस कष्टसाध्य व्यवसाय को हाथ में लेने से साफ इन्कार कर दिया। यदि धार्मिक और आवश्यक कर्तव्य समझकर, तब वह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया जाता, तो दस लाख रुपये की भूमि और बनी बनाई गोरक्षिणी सभा आर्य समाज को प्राप्त हो जाती। उस समय की दस लाख रुपये की भूमि का मूल्य इस समय चालीस-पचास लाख रुपये से कम नहीं है। आर्य समाज की अस्वीकृति के पश्चात् पिता जी ने वह सम्पूर्ण सम्पत्ति "कलकत्ता पिंजरापोला सोसाइटी" को समर्पित कर दी।

अपने जीवनक्रम के प्रसंग में यह संक्षेप में अपने पूज्य पिता जी का उल्लेख आवश्यक समझकर मुझे यहां करना पड़ा है। इससे स्पष्ट है कि सत्तरह वर्ष की आयु में ही मुझे आजीविका प्राप्ति के लिये यत्नवान् होना पड़ा था। और मेरे पिता जी भिक्षु-बाणा धारण करके गोरक्षा आन्दोलन में संलग्न हो गये थे

कार्य करते हुए कुछ मित्रों के संसर्ग से मेरा झुकाव आर्य समाज की ओर बढ़ा और बढ़ता ही गया। ज्यों-ज्यों माता पिता विरोध करते गये, मेरा आर्य समाज के प्रति प्रेम बढ़ता ही गया। मेरे माता पिता कट्टर वैष्णव और मूर्ति पूजक थे। जब भी किसी आर्य समाजी मित्र के साथ वे मुझे देखते थे, तब तुरन्त ही डांट फटकार करने लगते थे। कई बार मारपीट भी मुझे सहन करनी पड़ जाती थी। परन्तु धर्म का सम्बन्ध तो आत्मा से है, शरीर से नहीं। माता पिता की डांट फटकार और मार पीट से मेरा आर्य समाज प्रेम घटने के स्थान पर बढ़ता ही गया। अन्त में मुझे घर से निकाल दिया गया।

पिता जी स्वयं तो गोरक्षा-आन्दोलन में व्यस्त थे, मुझे घर से निकाल दिया गया। तब अर्थ-संकट में पड़ कर हमारे घर का कार्य कैसे चलता? मेरी दो बहिनें थीं और विमाता जी भी थीं। पिता जी ने उन तीनों को विमाता जी के मायके भेज दिया। तब, मैं अकेला ही रहता था और आजीविका के लिये वही बैंकों की दलाली का कार्य किया करता था।

इसी बीच में सिन्ध देश के ही एक आर्य समाजी सज्जन से मेरी भेंट हुई। हम दोनों मित्र बन गये। उनको भी उनके पिता जी ने घर से निकाल दिया था। हम दोनों एक ही साथ रहने लगे। वे किसी कार्य की खोज में थे। विचार विमर्श के पश्चात् उन्होंने कलकत्ते के प्रसिद्ध बाजार बहु बाजार में स्वदेशी कपड़े की दुकान करने का निश्चय किया। कार्य शुरू कर दिया गया। दुकान का नाम रखा गया था—

"गोकलचन्द गोविन्दराम" स्वदेशी का आन्दोलन तब बहुत जोर से चल रहा था। कुछ ही दिनों में हमारी दुकान खूब चल निकली। दलाली छोड़कर मैं दुकान के काम में ही जुट गया।

कुछ वर्षों के बाद अजमेर आर्य अनाथालय की एक कन्या के साथ मेरा विवाह हुआ। विवाह के

पश्चात् मैं आर्य अनाथालय अजमेर का आजीवन सदस्य बन गया था, अभी तक भी हूँ। विवाह के आठ-नौ मास के बाद मेरी धर्मपत्नी जी का देहावसान हो गया। पत्नी के देहान्त के बाद योग्य आर्यसंस्कार वाली शिक्षित पात्रा न मिलने से, माता पिता तथा सम्बन्धियों के विशेष आग्रह पर मैंने अपनी ही जाती के एक प्रतिष्ठित घराने की कन्या से विवाह किया। और, अपनी नई पत्नी को सुशिक्षित आर्या बनाने के यत्न में मैं संलग्न रहने लगा। उन दिनों अपनी धर्मपत्नी को आर्य समाजों के वार्षिक उत्सवों और सप्ताहिक अधिवेशनों आदि में सब जगह अपने साथ ले जाने का मेरा नियम था।

एक बार आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के महोपदेशक स्वर्गवासी श्री पण्डित पूर्णानन्द जी महाराज प्रचारार्थ कलकत्ता पधारे और तीन चार मास तक कलकत्ते में ही रहे। उनके भोजन का प्रबन्ध मैंने अपने घर पर कर दिया। पण्डित जी बहुत उच्च कोटि के विद्वान् थे और उनकी प्रकृति बहुत ही सरल थी। प्रचार कार्य की उन्हें विशेष धुन थी। वे भोजन करने के लिये आते। भोजन के पश्चात् कुछ समय तक मेरे मित्र श्री गोकल चन्द जी की कन्या को तथा मेरी धर्मपत्नी श्रीमती यशोदा देवी जी को धर्म की शिक्षा देते। उनके उपदेशों से मेरी धर्मपत्नी जी के विचार बहुत दृढ़ और शुद्ध आर्यत्व से पूर्ण बन गये। इस प्रकार स्वर्गीय पण्डित जी की सेवा और संगति से मेरा और मेरे परिवार का बहुत अधिक कल्याण हुआ है।

पूज्य पण्डित जी की शिक्षा से मेरी धर्मपत्नी जी को जो धार्मिक दृढ़ता और विचारों की शुद्धि प्राप्त हुई थी, उसी के कारण मैं अपनी पुत्रियों को गुरुकुल में शिक्षा दिला सका। और बीस वर्ष तक आर्य कन्या महाविद्यालय बड़ौदा में पढ़कर स्नातिका होने पर–पौराणिक जाति पांति तोड़कर, गुरुकुल के दो सुयोग्य स्नातकों के साथ अपनी दो कन्याओं के विवाह कर सका।

आर्य समाज में प्रविष्ट होने के बाद ज्यों-ज्यों अधिकारी वर्ग के निकट सम्पर्क में आता गया, त्यों-त्यों मेरा जीवन-संघर्ष भी बढ़ता ही गया। आर्य समाज कलकत्ता में गुरुकुल पार्टी और कालिज पार्टी, दोनों ही पार्टियों के सदस्य शामिल थे। सरकारी ओहदेदार अधिकांश में कालिज पार्टी से सम्बन्धित थे। समाज में उनका विशेष बल था। उन्हीं में एक राय साहेब टाइटिलधारी सज्जन भी थे, जो कि आर्य समाज के प्रधान थे। धनिक वर्ग रायसाहेब का ही पक्षपाती था। गुरुकुल पार्टी में साधारण स्थिति के निर्धन लोग थे सिद्धान्त विषयक संघर्ष चलता ही रहता था। मैं भी निष्पक्ष न था। संघर्ष तो चलता ही था समाज के नियमों और सिद्धान्तों के अनुसार कुछ विशेष कार्य करने की उत्सुकता भी थी। आर्य समाज का नियम है:—

"प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये, अपितु सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।"

वेद का आदेश और आर्य समाज का सिद्धान्त है

कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्।

सम्पूर्ण विश्व को आर्य बनाओ।

अपने कुछ मित्रों के सहयोग से मैंने साहित्य प्रसार द्वारा जनता की विशेष सेवा करने का कार्यक्रम बनाया। चार मित्रों ने पचास-पचास रुपये का हिस्सा लेकर, दो सौ रुपये की पूंजी से आर्य समाज कलकत्ता के आधीन एक बिक्री का पुस्तकालय स्थापित किया। तदुपरान्त मैंने आर्य समाज के साथ ही साथ अपनी कपड़े की दुकान पर भी आर्य साहित्य को रखना और बेचना आरम्भ कर दिया। अपनी कपड़े की दुकान के कैशमेमो की पीठ पर हम ऋग्वेदादि, भाष्य भूमिका तथा सत्यार्थ प्रकाश के विज्ञापन बंगला भाषा में छपवा दिया करते थे। इससे बंगाली वर्गों में आर्य समाज की चर्चा होती थी और ग्रन्थों का प्रचार भी होता था। आर्य बन्धुओं में धार्मिक भावनाओं की पुष्टि के लिये उन दिनों मोटूज अर्थात् वेदवाक्य आदि एवं महर्षि दयानन्द के चित्र भी हमने तैयार करवाये थे।

स्वदेशी आन्दोलन ढीला पड़ने पर कपड़े की दुकान का काम मैंने छोड़ दिया। तब मैं जापाचीनी की दलाली करने लगा साथ ही साथ मेरा साहित्य प्रचार-कार्य भी ठीक रीति से चलता रहा।

उन्हीं दिनों मथुरा में श्रीमद्दयानन्द जन्म शताब्दी

महोत्सव मनाने का आन्दोलन आर्य जगत् में आरम्भ हुआ। तब मैं आर्य समाज कलकत्ता का पुस्तकाध्यक्ष था। बिक्री का पुस्तकालय भी मेरे ही आधीन था। उस समय एक भारी खेद की बात यह हुई कि वैदिक यन्त्रालय अजमेर ने सत्यार्थ प्रकाश का मूल्य एक रुपये प्रति से बढ़ा कर एकदम अढ़ाई रुपये प्रति कर दिया। इस पर भी सात आठ मास तक सत्यार्थ प्रकाश का कहीं पर मिलना दुर्लभ हो गया। न जाने क्यों ? जब हम मंगवाते थे, तो यही उत्तर आता था कि छप रहा है।

श्री मद्दयानन्द जन्म शताब्दि महोत्सव मथुरा की तिथियां निकट आ रही थीं। कलकत्ते के एक आर्य प्रेस के अध्यक्ष ने वैदिक यन्त्रालय अजमेर के सामने सत्यार्थप्रकाश की एक लाख प्रतियां, छापने का प्रस्ताव रखा। साथ ही होने वाले सम्पूर्ण व्यय का अनुमानिक विवरण भी भेजा। उसके अनुसार लागत का अनुमान बारह आने प्रति था और एक रुपये प्रति में बेचने को कहा था। वैदिक यन्त्रालय के अधिकारियों ने कुछ भी उत्तर न दिया। रजिस्ट्रियां भेजी गईं। तब भी उत्तर न मिला।

इस पर मैंने अमरहुतात्मा श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के परामर्श से सत्यार्थप्रकाश की केवल छः हजार प्रतियां छपवाईं और उनको एक रुपया लागत दाम में बेचा। आर्य जनता ने उनको बहुत अधिक पसन्द किया और केवल तीन मास के थोड़े समय में ही सब पुस्तकें बिक कर समाप्त हो गईं। यह एक विशेष बात थी। क्योंकि वैदिक यन्त्रालय अजमेर तो तब पांच हजार पुस्तकों का संस्करण पांच वर्ष में बहुत ही कठिनाई से बेच पाता था।

मेरे सत्यार्थ प्रकाश प्रकाशित करने का एक यह भी बड़ा लाभ हुआ कि वैदिक यन्त्रालय ने भी सत्यार्थ प्रकाश का मूल्य घटाकर अढ़ाई रुपये के स्थान पर पुनरपि एक रुपया ही कर दिया। फिर तो सस्ते सत्यार्थ प्रकाश की एक लहर ही चल पड़ी। उसके बाद संस्करण बीस-बीस और दस-दस हजार के निकले और सत्यार्थ प्रकाश चार आने में भी मिलने लगा।

श्री मद्दयानन्द जन्म शताब्दि महोत्सव मथुरा के बाद मेरा चीनी का व्यवसाय मुझ से एक दम छूट गया। और, मैं पुस्तक व्यवसाय में ही पूर्णतया संलग्न हो गया। आर्य साहित्य के छोटे बड़े बहुत से ग्रन्थ मैं इस समय तक प्रकाशित कर चुका हूं। उनके विस्तार में जाने की यहां आवश्यकता नहीं है। हां, यह उल्लेखनीय है कि कलकत्ते में रहते समय मैं ने महर्षि दयानन्द कृत "ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका" का एक सुन्दर संस्करण भी प्रकाशित किया था। तथा महर्षि के दूसरे प्रसिद्ध ग्रन्थ "संस्कार-विधि" को भी मैंने विस्तृत टीका और टिप्पणियों के साथ प्रकाशित किया था। आर्य विद्वानों और आर्य जनता की मुझ पर विशेष कृपा रही है और अपने साहित्य प्रकाशन तथा साहित्य प्रचार कार्य में मुझे पूर्ण सहयोग और प्रोत्साहन मिला है।

अपने पुस्तक-व्यवसाय में मुझे कई बार सरकारी कोप का भाजन भी बनना पड़ा है। कभी तथा कथित साम्प्रदायिकता के आधार पर मेरे चित्रों वा ग्रन्थों को आपत्तिजनक समझा गया और कभी तथा कथित राजद्रोह के आधार पर। भगवान की कृपा से वे आंधी तूफान, जैसे उठे थे, वैसे ही शान्त हो गये। उन से मेरी कोई विशेष क्षति नहीं हुई।

सन् ३० के राजनैतिक आन्दोलन में जब श्री महात्मा गान्धी जी ने देशहित के कार्यों में नारियों का भी आवाहन किया, तो मेरी धर्मपत्नी श्रीमती यशोदा देवी जी ने भी उस में उत्साह से भाग लिया। शराब तथा विदेशी वस्त्रों की दुकानों पर पिकटिंग में भाग लिया, आन्दोलन का संगठन किया और जेल-यात्रा भी की। मैंने न केवल यह कि उन के कार्यों में कोई बाधा नहीं डाली; अपितु उनके कार्यों का मैंने हृदय से समर्थन किया। अपनी धर्मपत्नी जी की स्वतन्त्रता का मैंने पूर्णतया सम्मान किया। राजनैतिक उथल पुथल, कष्ट और आतंक के उन दिनों की याद आज तो बहुत अच्छी और लुभावनी प्रतीत हो रही है।

'वेद प्रकाश' का प्रकाशन गत वर्ष श्रावणी के शुभ-अवसर पर आरम्भ किया गया था। एक वर्ष के अल्पकाल में ही 'वेद प्रकाश' ने जो उन्नति की है, वह आशाजनक और उत्साहवर्धक है। आर्य जगत्

में एक सर्वाङ्ग पूर्ण सस्ते मासिक-पत्र का अभाव देर से अनुभव किया जा रहा है। हम यत्न कर रहे हैं कि 'वेद प्रकाश' उस अभाव को दूर कर सके। 'दिल्ली अभी दूर है।' तथापि आशामय भविष्य की एक झलक हमें मिल चुकी है। हम चाहते हैं कि 'वेद प्रकाश' भी गीता प्रेस गोरखपुर के 'कल्याण' जैसा ही रूप रंग और आकार प्रकार धारण करे। और, 'कल्याण' के समान ही प्रतिवर्ष 'वेद प्रकाश' के भी बड़े-बड़े विशेषाङ्क प्रकाशित हों। इतना तो नम्रता पूर्वक इस समय भी कहा जा सकता है कि 'वेद प्रकाश' जैसा सस्ता, आर्य सिद्धान्तों का प्रचारक वैदिक शिक्षाओं से परिपूर्ण और गन्दे विज्ञापनों से सर्वथा रहित, सात्विक स्वाध्याय के लिये सब प्रकार से उपयोगी कोई दूसरा पत्र आर्य जगत् में नहीं है।

श्री पण्डित जगत्कुमार जी शास्त्री आर्योपदेशक ने इस समय तक जिस उत्साह और संलग्नता के साथ 'वेद प्रकाश' का सम्पादन किया है, वेद प्रकाश परिवार उस से भली प्रकार परिचित है। श्री शास्त्री जी बहुत उत्तम वक्ता और उत्तम लेखक हैं। आर्य शास्त्रों का उन्होंने गहरा अध्ययन तथा विचार किया है। उनकी कई उत्तमोत्तम पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। कई पुस्तकें प्रकाशनार्थ तैयार पड़ी हैं। प्रचार कार्य और साहित्य निर्माण आदि में श्री शास्त्री जी की विशेष रुचि है। यदि सम्पादक के रूप में श्री शास्त्री जी का सहयोग 'वेद प्रकाश' को प्राप्त न होता, तो कहना कठिन है कि इस समय 'वेद प्रकाश' की क्या गति होती।

'वेद प्रकाश' का प्रथम बृहद् विशेषांक पाठकों की सेवा में प्रस्तुत है। इस में बीस ग्रन्थों का संग्रह प्रस्तुत किया जा रहा है। चौदह ग्रन्थ साक्षात् महर्षि कृत हैं। और छः ग्रन्थों से महर्षि का परम्परया सम्बन्ध है। इतने बड़े अंक का प्रकाशन 'वेद प्रकाश' जैसे बाल-पत्र के लिये असाधारण साहस की बात है। दुस्साहस भी इसे कहा जा सकता है। परन्तु यह सब कुछ वैदिक विचारों और महर्षि दयानन्द के मन्तव्यों के प्रचार के लिये ही किया गया है। और, गुणग्राही, स्वाध्याय प्रेमी वैदिक संस्कृत के संरक्षक पाठकों और अपने प्रेमियों के भरोसे तथा विश्वास पर ही किया गया है। इस "दयानन्द-ग्रन्थ-संग्रह" को इस रूप में तैयार करने का मुख्य श्रेय श्री पण्डित जगत्कुमार जी को ही है। यदि उनका सहयोग न होता तो शायद इस रूप में यह संग्रह पाठकों को न मिलता। और यदि मिलता भी तो किसी दूसरे ही रूप में मिलता।

मुझे आशा है कि धार्मिक प्रवृत्ति के तथा आर्य संस्कृति के हितैषी बन्धुओं, संस्थाओं, समाजों एवं सब आर्य विद्वानों का पूर्ण सहयोग 'वेद प्रकाश' को प्राप्त होगा। यह दिनोंदिन उन्नत होता जायेगा। यह एक बड़ी संस्था का रूप धारण करेगा और अपने बड़े-बड़े विशेष-अंकों के द्वारा जनजागरण, कुरीतिनिवारण, आर्षसाहित्योद्धार, आर्य साहित्य प्रचार और नूतन साहित्य निर्माण का अपना उद्देश्य भली भांति पूर्ण करता रहेगा।

अन्त में परम पिता परमात्मा से मेरी प्रार्थना है:—

हे प्रभो ! मुझे बलप्रदान करो। कार्य करने की शक्ति प्रदान करो। कर्म करते हुए ही मैं सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करता हूं।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि
जिजीविषेच्छत ᳪ समाः ॥

गोविन्दराम हासानन्द

॥ओ३म्॥

वेद प्रकाश के प्रेमियों से नम्र-निवेदन

१—इस "दयानन्द-ग्रन्थ-संग्रह" विशेषांक में प्रत्येक ग्रन्थ के आरम्भ में जो सम्पादकीय निवेदन तथा समय की परिस्थिती आदि का जो विवरण दिया गया है, आशा है कि वह पाठकों के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

२—ऋषिदयानन्द के भिन्न-भिन्न समयों में जहाँ-जहाँ चित्र—फोटू लिये गये थे, वे तथा उनका परिचय जो दिया है, उसके लिये श्री मामराजसिंह जी के हम आभारी हैं।

३—यदि किसी कारण वश आगे के अंक पूरे वर्ष तक प्रकाशित न हो सकें, तो जितने अंक पहुँचें, उतने में ही पूरे वर्ष का मूल्य समझने की कृपा करें, क्योंकि केवल "दयानन्द ग्रन्थ संग्रह" का ही मूल्य डाक व्यय सहित ४॥) है।

४—वर्ष के प्रथम अंक से ही ग्राहक बनने पर आप को १२ मास के १२ अंक मिलते रहेंगे, बीच में ग्राहक बनने पर सम्भव है पूरी फाइल के लिये सब अङ्क न मिल सकें। मूल्य हर हालत में अगस्त १९५४ अथवा २०११ की श्रावणी को समाप्त हो जावेगा।

५—मनीआर्डर कूपन में अपना पता और गाहक नम्बर अवश्य लिखें। गाहक नम्बर प्रत्येक अङ्क पर आप के नाम के आगे लिखा रहता है। नये ग्राहक 'नया ग्राहक' लिखने की कृपा करें। प्रत्येक पत्र में पूरा पता अवश्य लिखें।

६—आर्य सामाजिक पत्रों में विशेषांक के रूप में इतना बड़ा ग्रन्थ निकालने का हमारा यह सर्व प्रथम प्रयास है। इसलिये इसकी हमने केवल २००० प्रतियाँ ही छपवाई, है। यदि वेदप्रकाश के प्रत्येक ग्राहक, पाठक वृन्द, समाजें, संस्थायें स्वयं ग्राहक बनें तथा कम से कम अपने ५ सदस्यों या मित्रों को ग्राहक बनाने की कृपा करें तो हम इस "दयानन्द ग्रन्थ संग्रह" का द्वितीय संस्करण भी प्रकाशित करने का प्रयत्न करेंगे।

७—इतना ध्यान में रहे कि यह ग्रन्थ इतना सस्ता है कि मयडाक खर्च के कठिनाई से ही इसका लागत मात्र मूल्य वसूल हो पावेगा। लाभ के लिये नहीं प्रचार के उद्देश्य से ही हमारा यह प्रयत्न है। आशा है देश, धर्म, और जाति प्रेमी सज्जनों का अधिक से अधिक सहयोग हमें प्राप्त होगा।

८—ऋषि के ग्रन्थों के पठन-पाठन से देश, धर्म और जाति के कल्याण के भाव जागृत होंगे और तदनुसार वर्त्तने से राष्ट्रोत्थान में सहायता व प्रगति प्राप्त होगी।

९—प्रतिवर्ष वेद, शास्त्र उपनिषद, गीता, रामायण, महाभारत आदि के बृहद्काय विशेषांक प्रकाशित होंगे। किं बहुना विज्ञेषु।

गोविंदराम हासानन्द

संचालक—वेदप्रकाश नई सड़क देहली

❀ ओ३म् ❀

श्रीमद्दयानन्द-ग्रन्थ-संग्रह

—:❀:—

ग्रन्थ-सूची

ग्रंथ संख्या—ग्रंथ का नाम और विषय—पृष्ठ संख्या—

१—आत्म-कथा १

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी की स्व-लिखित एवं स्व-कथित आत्म-कथा।

२—स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश १६

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी के मंतव्यों और अमंतव्यों का विवरण।

३—पंचमहायज्ञविधिः २५

ब्रह्मयज्ञ=सन्ध्या, देवयज्ञ=अग्निहोत्र, पितृयज्ञ=ऋषितर्पण और श्राद्ध, भूतयज्ञ=बलिवैश्वदेवयज्ञ, एवं नृयज्ञ=अतिथियज्ञ, इन पांच महायज्ञों का सम्पूर्ण विधिविधान व्याख्या सहित।

४—वेदान्ति-ध्वान्त-निवारणम् ५३

नवीन वेदान्तियों के मायाजाल का खण्डन।

५—वेदविरुद्धमतखण्डनः ६४

वल्लभाचार्य आदि के मत मतान्तरों का खण्डन।

ग्रन्थ संख्या—ग्रन्थ का नाम और विषय—पृष्ठ संख्या

६—शिक्षापत्री-ध्वान्त-निवारणम् ६३

स्वामी नारायण कृत का खण्डन।

७—आर्याभिविनयः ११०

ईश्वरस्तुति, प्रार्थना और उपासना-परक १०८ विनय पाठ।

८—ऋग्वेद का प्रथम सूक्त १५०

महर्षिकृत वेदभाष्य का नमूना। ऋग्वेद के प्रथम सूक्त की संस्कृत एवं आर्यभाषा में विस्तृत व्याख्या।

६—आर्योद्देश्यरत्नमाला १७१

महर्षि दयानन्द के मुख्य-मुख्य सिद्धांतों और मन्तव्यों का शास्त्रीय स्वरूप।

१०—भ्रान्ति-निवारण १८०

पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न प्रभृति, वेदभाष्य के निन्दकों और आलोचकों को महर्षि दयानन्द का करारा उत्तर।

११—व्यवहारभानुः २०६

स्त्रियों, पुरुषों और बालकों, सब को लोक व्यवहार सिखाने वाला श्रेष्ठ ग्रंथ

ग्रन्थ संख्या—ग्रन्थ का नाम और विषय—पृष्ठ संख्या

१२—भ्रमोच्छेदन　२३६

काशी के जैनमतानुयायी राजा शिवप्रसादजी (सी० एस० आई०) "सितारये हिन्द" को महर्षि दयानन्द का उत्तर।

१३—गोकरुणानिधि　२५२

गोरक्षा आन्दोलन एवं गोपालन के विषय में महर्षि दयानन्द के आदेश तथा गोकृष्यादि रक्षिणी सभा का सम्पूर्ण विधान।

१४—आर्य समाज के नियम उपनियम　२७०

आर्यसमाज के प्रथमवार बम्बई में और द्वितीयवार लाहौर में निश्चित एवं स्वीकृत नियम तथा उपनियम।

१५—स्वीकार-पत्र　२८१

महर्षि दयानन्द का वसीयतनामा।

१६—काशी-शास्त्रार्थ　२८८

संवत् १९२६ वि० में काशी के पौराणिक पण्डित-मण्डल के साथ मूर्ति-पूजा आदि विषयक शास्त्रार्थ का विवरण।

ग्रन्थ संख्या—ग्रन्थ का नाम और विषय—पृष्ठ संख्या

१७—हुगली-शास्त्रार्थ तथा प्रतिमा-पूजन-विचार　३०१

काशीराज महाराज के पण्डित श्री ताराचरण तर्करत्न के साथ महर्षि दयानन्द के मूर्तिपूजा विषयक शास्त्रार्थ का विवरण।

१८—सत्यधर्म-विचार मेला चांदापुर　३१४

चान्दापुर जि० शाहजहाँपुर के धार्मिक मेले का विवरण और पादरियों, मौलवियों एवं महर्षि दयानन्द के भाषणों का संग्रह।

१९—सत्यासत्यविवेक बरेली-शास्त्रार्थ　३३१

पादरी टी० जी० स्काट साहेब के साथ महर्षि दयानन्द के बरेली में लगातार तीन दिन तक लिखित रूप में होने वाले शास्त्रार्थों का सम्पूर्ण विवरण।

२०—अनुभ्रमोच्छेदन　३५६

महर्षि दयानन्द के शिष्य श्री पण्डित भीमसेन शर्मा जी की ओर से महर्षि के निन्दक काशी निवासी राजा शिव प्रसाद जी (सी० एस० आई०) "सितारये हिन्द" को करारा उत्तर।

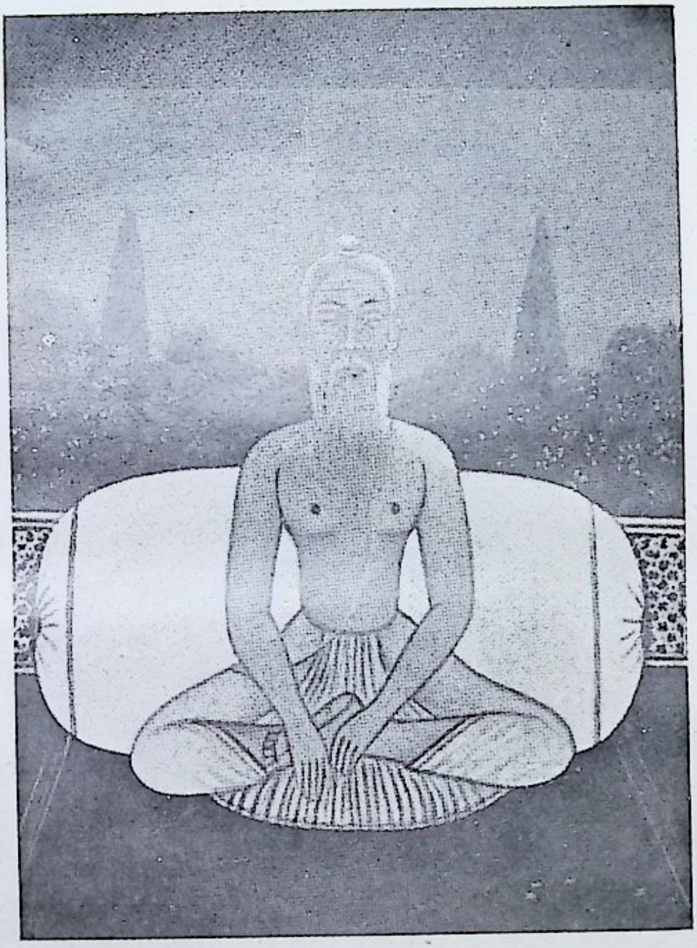

गुरुवर, दण्डी स्वामी श्री विरजानन्द सरस्वती
[प्रज्ञाचक्षु]

यह चित्र अलवर नरेश श्री राजा विनय सिंहजी ने गुरुजी के जीवनकाल में ही बनवाया था।

अलवर राज्य के प्राचीन चित्र-संग्रह से इतिहास वेत्ता श्री ठाकुर जगदीश सिंह जी गहलोत जोधपुर के सौजन्य से प्राप्त।

महर्षि दयानन्द का यह चित्र जबलपुर सी० पी० में सन् १८७४ ई० में श्रीयु कृष्ण राव जी एक्स्ट्रा असिस्टेन्ट कमिश्नर ने महर्षि जी को अपने मकान पर आमन्त्रि करके खिंचवाया था।

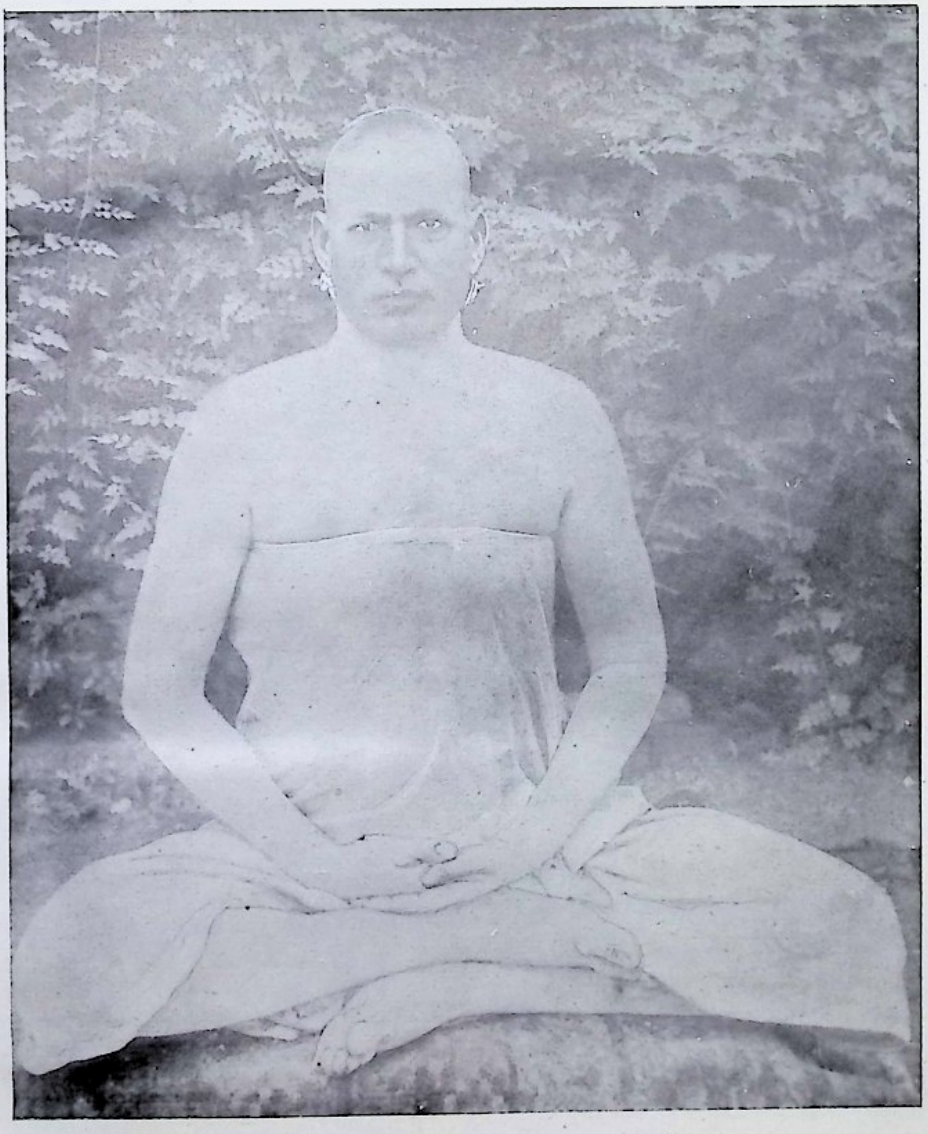

आदित्य ब्रह्मचारी स्वामी दयानन्द सरस्वती

यह चित्र खतौली जिला मुजफ्फर नगर निवासी श्री मामराज सिंह जी के सौजन्य से प्राप्त हुआ।

श्री मामराज सिंह जी को यह सन् १६२६ में मेरठ से प्राप्त हुआ था।

यह चित्र आर्य गजट लाहौर के सम्वत् १६८३ के ऋषि-अङ्क में भी छपा था।

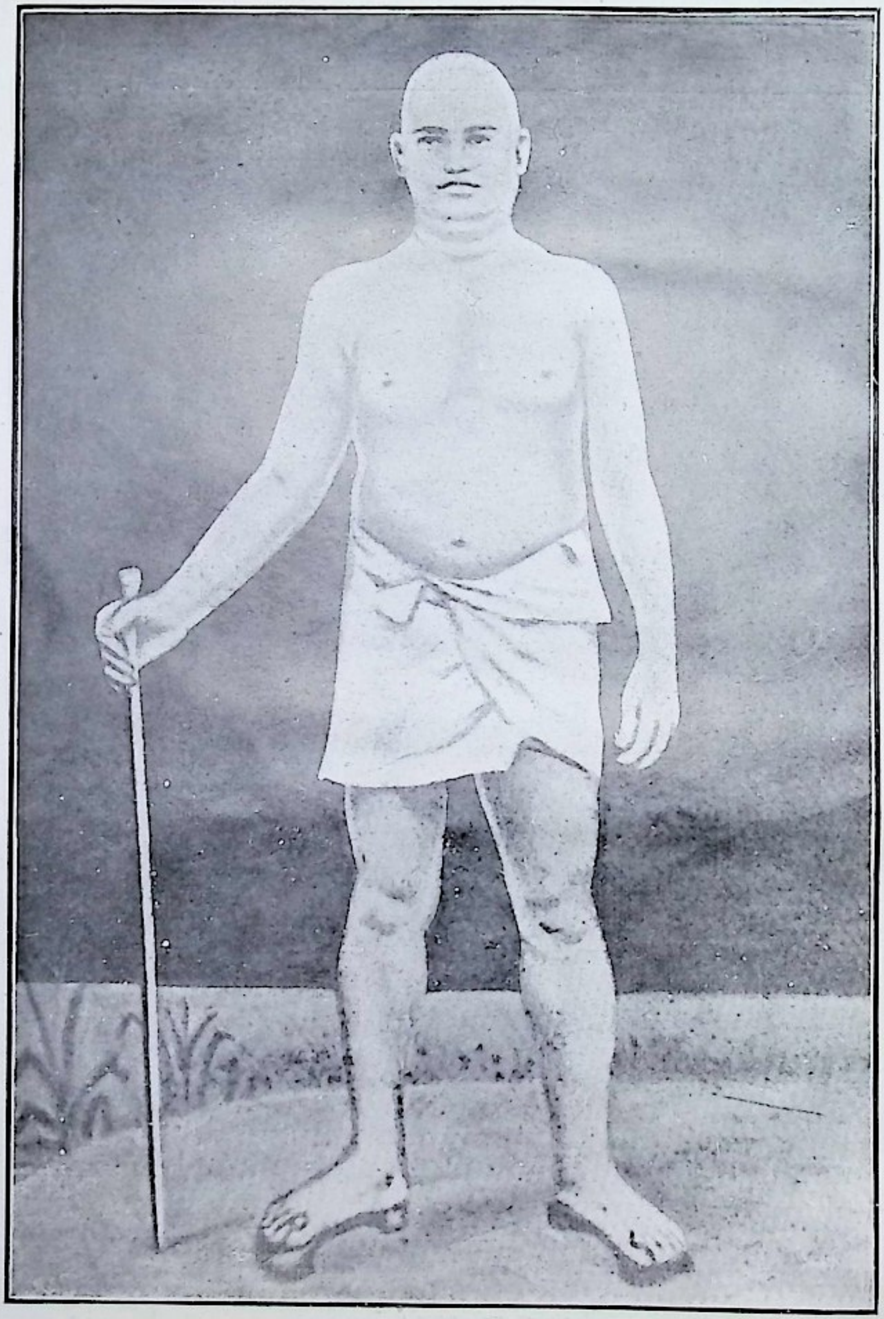

सर्वत्यागी महर्षि दयानन्द
सं० १९२४ के कुम्भ मेले की समाप्ति पर महर्षि का वस्त्राभूषण आदि सर्वस्व का त्याग।
यह चित्र कुम्भ मेले की समाप्ति पर किसी अमेरीकन यात्री ने खींचा था,
ऐसा कहा जाता है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती

यह चित्र, अप्रैल सन् १८७४ ई० में Revd. कन्हैया लाल जी फोटोग्राफर ने देहरादून में तैयार किया था और उनको यह श्री महाशय मोहन लाल जी आर्टिस्ट से प्राप्त हुआ था।

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी
यह चित्र आर्य समाज दानापुर बिहार के सौजन्य से प्राप्त हुआ था। एक ब्रह्मचारी रामानन्द जी भी महर्षि के साथ रह कर कार्य किया करते थे। मूल चित्र में वे भी महर्षि के पास खडे हुए दिखाये है।

॥ ओ३म् ॥

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी की आत्म-कथा

सम्पादक का निवेदन

—o—:×:—o—

आजकल बाजार में अनेक महापुरुषों की बहुत सी आत्म-कथायें सुलभ हैं। क्या आप जानते हैं कि आर्य-समाज के प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने भी अपनी आत्म-कथा लिखी थी?

अपने एक पत्र में महर्षि ने "थ्यासोफिस्ट' के सम्पादक को लिखा था:—

"यद्यपि मेरी बड़ी इच्छा है कि मेरा स्वलिखित जीवन-वृत्त जिसे आप अपने पत्र में प्रकाशित कर रहे हैं, पूर्ण हो जाये। पर, अभी तक मैं उसके लिये यथोचित समय नहीं दे सकता, परन्तु यथासम्भव शीघ्र ही जीवन-कथा भेजूँगा।"

(थ्यासोफिस्ट, अप्रैल १८८० ई० पृष्ठ १६)

यह 'थ्यासोफिस्ट' थ्यासोफिकल सोसाइटी का मासिक पत्र था और अमेरिका से प्रकाशित होता था। महर्षि अपनी आत्म-कथा हिन्दी में लिखा करते थे और फिर उसका अनुवाद अंग्रेजी में करवा कर प्रकाशनार्थ थ्यासोफिस्ट को भिजवा देते थे। खेद है कि महर्षि की 'आत्म-कथा' अधूरी ही रह गई। उसे पूर्ण करने का अवकाश उन्हें नहीं मिला। तथापि अपने आरम्भिक जीवन का पूर्ण विवरण उन्होंने लिख दिया था और वह इस समय तक सुरक्षित है। महर्षि के सत्यान्वेषी बाल-जीवन और उनकी युवावस्था के तप, त्याग और साधन-काल की कथा विशेष रूप से रोचक और अत्यन्त शिक्षाप्रद है। इस में न तो बनावट है और न ही अनावश्यक विस्तार। यह इस योग्य है कि इसका बारम्बार ध्यान पूर्वक पाठ एवं विचार किया जाये।

इसके विषय में अमर हुतात्मा, धर्मवीर श्री पंडित लेखराम जी आर्य मुसाफिर ने अपने सुविशाल ग्रंथ "महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज का जीवन-चरित्र" में पृष्ठ दो पर लिखा है:—

"फिर अप्रैल सन् १८७६ ई० में जब कर्नल आल्काट साहेब स्वामी जी से मिले, तो उनके इस्रार करने पर स्वामी जी ने अपना जीवन-चरित्र लिखने का वायदा किया। चुनांचे हिन्दी में लिखवाकर वक़्तन फवक़्तन इरसाल करते रहे। और थ्यासोफिस्ट नवम्बर व दिसम्बर सन् १८८० ई० में तबा होता रहा। जो हिन्दी लिखकर स्वामी जी ने इरसाल की, उसकी नक़ल लाला मथुरा प्रसाद मन्त्री आर्य समाज अजमेर और दूसरी पण्डित छगनलाल श्रीमाली साबिक़ कामदार रियासत मसऊदा साकिन किशनगढ़ के पास से दस्तयाब हुई।"

महर्षि की एक आत्म-कथा और भी है। एकबार महर्षि दयानन्द ने पूना नगर में लगातार पन्द्रह व्याख्यान दिये थे। जनता के आग्रह पर महर्षि ने अपने अन्तिम व्याख्यान में अपनी आत्म-कथा का वर्णन किया था। महर्षि के ये पन्द्रह व्याख्यान उन्हीं दिनों समाचार पत्रों में छप गये थे। ये ही व्याख्यान बाद में अनेक स्थानों से 'उपदेश-मंजरी' नामक पुस्तक के रूप में छपकर प्रसिद्ध हो चुके हैं। इस विषय में श्री पण्डित लेखराम जी आर्य मुसाफिर ने लिखा है:—

"स्वामी जी ने जब सन् १८७५ ई० में पूना व बम्बई में आर्य समाज क़ायम किया, तो वहाँ के कई फ़ाज़िल असहाब ने उनके हालात दरयाफ़्त करने की कोशिश की और चूँकि इन दिनों भाषा बोलने लगे

थे और लेक्चर भी दिया करते थे, लोगों के बार-बार इसार पर उन्होंने एक दिन अपनी सवानह-उमरी पर–४ अगस्त सन् १८७५ ई० को लेक्चर दिया और वह उसी साल बज़बान मरहटी तबा होगया। हमने उस का तरजुमा महाराष्ट्री से हिन्दी में पण्डित गणेश रामचन्द्र और महाशय श्रीनिवास राव जी से कराया।"

(महर्षि स्वामी दयानन्द जी महाराज का जीवन-चरित्र पृ०-२)

महर्षि की ये दोनों अर्थात् स्वलिखित और फिर अंग्रेजी में अनुवादित होकर 'थ्यासोफिस्ट' में प्रथमवार मुद्रित तथा स्वकथित और मराठी में प्रथमवार मुद्रित एवं 'उपदेश-मंजरी' नामक पुस्तक में संगृहीत--आत्म कथायें समय-समय पर और भी कई समाचार पत्रों में छप चुकी हैं। स्वतन्त्र पुस्तकों के रूप में भी ये छपी हैं। महर्षि के सभी जीवन-चरित्र-लेखकों ने इन को लिखा और इनका कुछ न कुछ उपयोग किया है। खोज करने वालों ने इनके आधार पर खोज की है—और हम कहना चाहते हैं—इनके आधार पर खोज करने से अभी और भी नये-नये रहस्यों के उद्घाटन की सम्भावना है।

श्री पण्डित लेखराम जी को मन्त्री आर्य समाज अजमेर से तथा श्री पण्डित छगनलाल जी से, महर्षि की आत्म-कथा की जो दो प्रतियाँ प्राप्त हुई थीं, उनका स्वतन्त्र रूप में कभी किसी ने प्रकाशन किया था वा नहीं ? यह यत्न करने पर भी कुछ ज्ञात न हो सका। हां, अपने बृहद् ग्रंथ के आरम्भ में श्री पण्डित लेखराम जी ने महर्षि की आत्म-कथा लिखी है, उसमें महर्षि के पूना व्याख्यान, थ्यासोफिस्ट के लेख और अजमेर एवं मसऊदा से प्राप्त लेखों का मिला जुला उपयोग किया गया है। और तीनों को मिलाकर क्रम बद्ध करके लिखा गया है। इसी प्रकार श्री पण्डित भगवद्दत्त जी बी० ए० ने सम्पादन करके "महर्षि का स्वलिखित स्वकथित जीवन-चरित्र" प्रकाशित करवाया है। यह भी श्री पं० लेखराम जी के लेख का किंचित परिष्कृत अनुवाद मात्र ही है। यदि वह अजमेर तथा मसऊदा से प्राप्त लेख भी स्वतन्त्र रूप में छप जाते, तो बहुत उत्तम होता। क्योंकि वास्तव में महर्षि का अपना मूल लेख तो वही था। पूना का व्याख्यान तो व्याख्यान ही है, और 'थ्यासोफिस्ट' का अनुवाद केवल अनुवाद। इस प्रकार वह तीसरा वृत्तान्त तो नष्ट ही होगया। अथवा यूँ कहें कि उसका शुद्ध और स्वतन्त्र रूप तो नष्ट ही हो गया। यदि कोई सज्जन इस विषय पर कुछ अधिक प्रकाश डाल सकें, तो उत्तम होगा।

महर्षि दयानन्द के जीवन-चरित्र के सुप्रसिद्ध बंगाली लेखक और गवेषक श्रीयुत देवेन्द्रनाथ जी मुखोपाध्याय द्वारा विरचित बंगला भाषा की पुस्तक 'दयानन्द-चरित्र' का श्री बाबू घासीराम जी एम०, ए०, एल० एल० बी० द्वारा अनुवादित 'दयानन्द-चरित्र' तृतीय बार सन् १९४६ ई० में श्री गोविन्दराम हासानन्द मालिक—आर्य साहित्य-भवन नई सड़क, देहली द्वारा प्रकाशित किया गया था, उसी की 'अवतरणिका' में से इस पहले पूना में महर्षि द्वारा स्व-कथित आत्म-कथा और फिर 'थ्यासोफिस्ट' में प्रकाशित—महर्षि की स्व-लिखित आत्म-कथा, दोनों को यहाँ पृथक्-पृथक् रूप में प्रकाशित कर रहे हैं। इन दोनों कथाओं में कुछ-कुछ भेद भी है, घटनाओं के अनुक्रम में भेद विशेष है, तथापि तथ्यों का कोई विशेष भेद और विरोध इन में नहीं है। दोनों को पढ़कर विचार करने से महर्षि के जीवन का एक भावपूर्ण चित्र पाठक के हृदय पर अंकित हो जाता है। महर्षि की और भी अधिक जीवन-कथा जानने की इच्छा पाठक के हृदय में जागृत हो जाती है। और, शिर श्रद्धा से उस महान् सत्यशील-शोधक के चरणों में झुक जाता है।

—सम्पादक

—:०:—

॥ ओ३म् ॥

महर्षि दयानन्द जी की आत्म-कथा

[१]

[महर्षि के ४ अगस्त, सन् १८७५ के पूना-व्याख्यान के आधार पर]

—:o:—

अनेक लोग यह जिज्ञासा करते हैं, मैं ब्राह्मण हूँ वा नहीं? और वे लोग अनुरोध करते हैं कि इसके प्रमाण के लिये अपने कुटुम्बियों के नाम बतलाओ। अथवा, उन में से किसी का लिखा कोई पत्र दिखलाओ। यह कहना अनावश्यक है कि गुजरात वासी लोगों के साथ मैं अधिकतर अनुराग-सूत्र में निबद्ध हूँ। अपने कुटुम्बियों के साथ, यदि मेरा किसी प्रकार साक्षात् हो जाये, तो जिस सांसारिक अशान्ति से मैंने अपने को सर्वतोभावेन स्वतन्त्र किया है, फिर मुझे उसी अशान्ति-जाल में निश्चय ही फंसना होगा। इसी कारण से मैं अपने कुटुम्बियों के नाम बतलाना वा उनमें से किसी का पत्र प्रदर्शन करना उचित नहीं समझता।

मैंने मौरवी में जन्म ग्रहण किया। मौरवी एक नगर है। वह गुजरात के अन्तर्गत दुर्गान्धरा राज्य का सीमान्तवर्त्ती है। मैं उदीच्य श्रेणी का ब्राह्मण हूँ। यद्यपि उदीच्य ब्राह्मण सामवेदी हैं, परन्तु मुझे यजुर्वेद की शिक्षा दी गई थी। मैंने जिस परिवार में जन्म ग्रहण किया, वह एक विस्तृत सम्पत्ति सम्पन्न परिवार था। इस समय मेरी अवस्था उनंचास वा पचास वर्ष की है। हमारा कुटुम्ब इस समय पन्द्रह पृथक्-पृथक् परिवारों में विभक्त है। मैंने बाल्यावस्था में रुद्राध्याय की शिक्षा पूर्वक यजुर्वेद का पाठ आरम्भ किया। क्योंकि मेरे पिता शैवमतावलम्बी थे, इसलिये मैं दस वर्ष की आयु से ही शिव की उपासना का अभ्यास करने लगा था। पिता यह इच्छा करते थे कि मैं शिवरात्रि का व्रत रखूँ। पिता की इच्छा पालन में मेरे असम्मति प्रकट करने पर भी मुझको शिव-रात्रि के व्रत की कथा सुननी पड़ती थी। सुनते-सुनते वह व्रत-प्रसंग मुझे ऐसा प्रीतिकर प्रतीत होने लगा कि माता की असम्मति होने पर भी मैं उस व्रत को रखने के लिये कृतसंकल्प हो गया। तो भी उस व्रत के उद्यापन करने के लिये समर्थ नहीं हुआ।

नगर के बाहर एक विशाल शिव-मन्दिर था। वहाँ शिव चतुर्दशी के दिन बहुत लोग आया करते थे। एक बार शिवरात्रि के उपलक्ष में—मैं, मेरे पिता और अन्यान्य बहुत से लोग, उस मन्दिर में एकत्र हुए। वहाँ महादेव की प्रथम-पूजा हो जाने के पश्चात्, जब दूसरी पूजा भी समाप्त हो गई, जब रात्रि का प्रायः दूसरा प्रहर था। मन्दिर में आये हुए उपासक-गण क्लान्ति दूर करने के निमित्त थोड़ी देर को सोने की इच्छा से एक के पश्चात् एक, शयन करने लगे। अधिक क्या? मेरे पिता भी थोड़ी देर के लिये सो गये। परन्तु इस आशंका से कि व्रत भंग का पाप होगा और अभिलषित फल की प्राप्ति से वंचित रहूँगा, मैं नहीं सो सका।

अस्तु, निद्रा के कारण जब मन्दिर निस्तब्ध हो गया, तो कई एक चूहे बिल में से बाहिर निकलकर महादेव की पिण्डी के ऊपर इच्छा पूर्वक विचरण और उनके मस्तक स्थित चावल आदि भक्षण करने

लगे। मैं जागते हुए इस व्यापार को देखता रहा। पहिले दिन जो शिवरात्रि के व्रत का उपाख्यान सुना था, उस से मुझे यह विश्वास हो गया था कि महादेव एक महाप्रतापान्वित पुरुष हैं। इस कारण इस व्यापार के समय, मेरे सरल अन्तःकरण में यह प्रश्न उठा कि जो कई-कई सौ दुर्दमनीय दानवों के संहार में समर्थ हैं, वे अपनी देह पर से थोड़े से चूहों को दूर करने में समर्थ क्यों नहीं ?

इस प्रश्न को बहुत देर तक सोचते-सोचते मेरा मस्तिष्क घूमने लगा। अन्त में इस विचार ने प्रगाढ़ संशय में परिणत होकर मुझको इतना अशान्त कर दिया, कि मैं पिता की निद्रा भंग किये बिना न रह सका। जब पिता जगे, तो मैंने इस प्रश्न को पूछा और महादेव की पिण्डी पर से चूहों को भगा देने के लिये कहा।

जिज्ञासित प्रश्न के उत्तर में पिता ने कहा:—

"तू अल्प-बुद्धि बालक है। यह तो केवल महादेव की मूर्तिमात्र है।"

पिता के इस प्रकार के उत्तर से मैं सन्तुष्ट न हो सका। इसलिये मैंने उसी स्थान पर उसी क्षण में यह प्रतिज्ञा की कि यदि मैं त्रिशूलधारी महादेव के दर्शन न करूँगा, तो मैं किसी प्रकार से भी उनकी आराधना न करूँगा।

इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके मैं घर लौट आया और माता से यह कह कर कि मैं बहुत ही भूखा हूँ, खाने को पदार्थ माँगा।

उसके उत्तर में माता ने कहा :—

"मैंने तो तुझे व्रत ग्रहण करने से निषेध किया था, क्योंकि मैं जानती थी कि तू उपवास नहीं कर सकेगा। तूने तो अपने ही हठ से व्रत ग्रहण किया था।"

उसके पश्चात् मेरे खाने के लिये जो कुछ सामग्री उपस्थित थी, वह प्रस्तुत करके माता ने मुझ को यह परामर्श दिया कि तू दो दिन तक पिता के सामने उपस्थित न होना और उनके सामने इसकी कथा मात्र भी न कहना। क्योंकि उनका विश्वास था, कि यदि मैं पिता के निकट उपस्थित हूँगा, या कोई कथा कहूँगा, तो इस अपराध में मुझको अवश्य ही दण्ड मिलेगा।

मैं भोजन कार्य सम्पादित करके ऐसा प्रगाढ़ भाव से निद्रित हुआ कि अगले दिन प्रातः काल के आठ बजे से पहिले किसी प्रकार भी शय्या त्याग न कर सका। यह समझ कर कि परिगृहीत और प्रभूत पाठाभ्यास करने में विघ्न होगा, मैंने अपने चाचा महाशय से कह दिया, कि मैंने व्रत भंग का अपराध किया है और, उन्होंने ही इस बात को कहकर पिता का कोप शान्त कर दिया।

मैं उस समय यजुर्वेद का पाठ करता था और एक पण्डित के पास संस्कृत व्याकरण पढ़ता था। उस समय मेरी आयु नौ या दस वर्ष की थी। उस समय यजुर्वेद को समाप्त करके, मैं पाठ क्रिया समाप्ति के निमित्त अपनी जमींदारी के अन्तर्गत एक ग्राम को चला गया।

हमारे घर एक समय एक घटना विशेष के उपलक्ष में नृत्य-गीत हो रहा था। उसी समय मेरी एक बहन दारुण रूप से रुग्ण हो गई। मैं उसके रोग का संवाद सुनकर उस की शय्या के पास गया। इससे पूर्व मैंने किसी मनुष्य को मृत्यु की यन्त्रणा से पीड़ित होते हुए नहीं देखा था। फलतः मैं उस बहन की दशा को देखकर बहुत व्यथित हुआ। और, मुझे इस बात का निश्चय हो गया कि मनुष्यमात्र को इसी प्रकार से मृत्यु के मुँह में जाना होगा।

उसकी मुमूर्षु, दशा को देखकर मेरे विभिन्न परिवारों के सब लोग विलाप और रोदन करने लगे। यह कहना बाहुल्यमात्र ही है कि मैं उस अदृष्टपूर्व घटना को देखकर अतीव आतंकित हो गया था। और, इस कारण मैं उनके समान विलाप या अश्रु पात नहीं कर सका था। इसलिये पिता और माता तक भी मुझे पाषाण-हृदय कहने लगे। उसके पश्चात्

उनकी आज्ञा के अनुसार शय्या पर जाकर सोने की चेष्टा की, परन्तु मैं तनिक भी न सो सका।

अस्तु, ऐसी शोकावह घटना के, अपने सामने एक बार घटित होने पर भी मैं अपने देश की अद्भुत रीति के अनुसार एक बार भी शोक प्रगट न कर सका। इस कारण मैं अपने कुटुम्बियों की दृष्टि में निन्दा का पात्र बन गया।

जब मेरी उन्नीस वर्ष की आयु थी, तब मेरे चाचा ने विषूचिका रोग में ग्रस्त होकर प्राण त्याग किये। जिस समय चाचा मुमूर्षु दशा को प्राप्त हुए, उस समय मुझको अपनी शय्या के पास बुला कर मुझे बैठने की आज्ञा की, और मेरे मुख की ओर स्थिर दृष्टि से देख कर अश्रु धारा प्रवाहित करने लगे। मैं भी उनको उस अवस्था में देखकर इतना व्यथित हुआ, कि अत्यन्त रोने के कारण मेरी दोनों आँखें सूज आईं। वस्तुतः इस घटना के पहिले मैंने कभी भी इतना रोदन नहीं किया था। इसके अतिरिक्त इस घटना के पश्चात् मैं यह चिन्ता भी करने लगा कि मुझको भी इसी प्रकार से काल-कवल बनना पड़े।

जब क्रमशः मृत्यु चिन्ता बहुत प्रबल हो गई, तो मैं अपने बान्धवों से पूछने लगा कि किस उपाय का अवलम्बन करके अमरत्व प्राप्त हो सकता है। स्वदेश के पण्डितों ने मुझे योगाभ्यास करने का परामर्श दिया। इसलिये मैंने गृहत्याग करने का संकल्प कर लिया। उस समय मेरी आयु बीस वर्ष की थी।

मुझको शान्त और स्वच्छन्द चित्त करने के उद्देश्य से, पिता की यह इच्छा थी कि जमींदारी के काम-काज का भार मेरे ऊपर अर्पित करें। परन्तु, मैं उनसे सहमत नहीं हुआ। तब पिता ने मुझे विवाह शृंखला में बांधने का संकल्प किया। जब विवाह की बात चीत होती थी, तो मैं अपने बन्धुओं से कह दिया करता था कि मैं विवाह कभी भी नहीं करूँगा। परन्तु वे उसका प्रतिवाद करते थे। तब ही मैं उनसे विवाह के बदले गृहत्याग की अनुमति की प्रार्थना किया करता था।

मेरे देखते ही देखते एक ही मास के भीतर, विवाह सम्बन्धी सब सामग्री प्रस्तुत हो गई। यह देखकर एक दिन सायंकाल को बन्धु विशेष से साक्षात् करने के उपलक्ष से मैं घर से बाहर निकल पड़ा। पास ही एक गाँव में रात्रि बिताकर अति प्रातः काल उठकर मैं फिर चल पड़ा।

कुछ देर के पश्चात् मैं हनुमान मन्दिर में पहुँचा। संक्षेपतः सीधे मार्ग का अवलम्बन करके चलने से मुझको कम से कम दस कोस चलना पड़ा। उस मन्दिर में थोड़ी देर ठहर कर जलक्रिया की और वहाँ से शैलायोगी के उद्देश्य से प्रस्थान कर दिया। परन्तु, वहाँ मुझे आशा के अनुकूल फल प्राप्त नहीं हुआ और वहाँ मेरा जाना वृथा हुआ।

लाला भक्त नामक एक पुरुष योगी करके प्रसिद्ध थे, इसलिये मैं इसके पश्चात् उनके अनुसन्धान करने के लिये चला। मार्ग में मेरा एक वैरागी के साथ साक्षात् हुआ। वैरागी के पास कई मूर्तियां थीं। वैरागी ने मुझको स्वर्णालंकार से भूषित देखकर कहा कि तुम्हारे जैसे मनुष्यों के लिये योगाभ्यास सम्भव नहीं है और इस प्रयोजन से कि मैं अपनी स्वर्ण की अंगूठियां; जो मैं अंगुली में पहरे हुए था, उन मूर्ति आदि को अर्पण कर दूं, उसने मुझसे प्रस्ताव किया। अस्तु। मैं लालाभक्त के पास जाकर योगाभ्यास करने लगा।

एक दिन रात्रि के समय वृक्ष के नीचे बैठा हुआ योगाभ्यास कर रहा था कि उस समय वृक्ष पर बैठे हुए विहंग-विशेष की विकटध्वनि श्रुतिगोचर होने लगी। मैं उसको सुनकर अत्यन्त भयभीत हुआ और यहाँ तक कि मठ में नित्य प्रत्यागमन करने के लिये बाध्य हो गया। और यह सुन कर कि अहमदाबाद नगर के पास किसी स्थान विशेष में कोई वैरागी

आये हैं, मैंने लालाभक्त के पास से उस स्थान के लिये यात्रा की।

मैंने उन वैरागियों के भीतर एक राजमहिषी देखी। वह राजमहिषी कहां की थी? यह मैं नहीं कह सकता। परन्तु, वह मेरे साथ परिहास आदि करने लगी। मैं उसके पास से दूर रहने लगा। मैं रेशमी कपड़े पहिने हुए था। उनको देखकर वैरागी लोग बहुधा हँसा करते थे। इस कारण मैंने उनको फेंक दिया और सामान्य वस्तु मोल लेकर पहनने लगा। उस समय मेरे पास केवल तीन रुपये शेष रह गये थे।

अस्तु, उस स्थान में मैं ब्रह्मचारी के नाम से प्रख्यात हो गया। और, वहां तीन मास ठहर कर कार्तिक के महीने में एक दिन सिद्धपुर पहुँचा। कारण यह था कि उस समय सिद्धपुर में एक मेले के लगने की चर्चा थी। इसके अतिरिक्त यह आशा करके कि मेले के कारण अनेक योग-विद्या-विशारद योगियों का समागम होगा और उनमें से किसी के उपदेश से मुझे अमरत्व प्राप्त होना सम्भव है, मैं सिद्धपुर गया था।

सिद्धपुर के मार्ग में एक पूर्व परिचित व्यक्ति के साथ मेरा साक्षात् हुआ। दुःख का विषय है कि उसी परिचित व्यक्ति ने पिता के पास जाकर मेरे भाग निकलने का समाचार कह दिया। उस समय तक हमारे जाति और बन्धुवर्ग चारों ओर मेरा अनुसन्धान करते थे। उसके मुँह से सिद्धपुर का संवाद सुन कर, मेरे पिता चार सिपाहियों को साथ लेकर एक दिन मेरे पास आकर उपस्थित हो गये। पिता की इस प्रकार की आकस्मिक उपस्थिति से अत्यन्त भयभीत होकर, मैं यह सोचने लगा कि वह मेरे साथ बहुत ही निर्दय व्यवहार करेंगे। इसलिये पिता के सामने प्रणत होकर मैंने कहा:—"मैं एक गोसाईं के कहने और, फुसलाने से इस स्थान में आया हूँ। और मैं घर लौट चलने के लिये सहमत हूँ।"

इसको सुनकर पिता के कोप की शान्ति तो हो गई, परन्तु उन्होंने मेरा काठ का पात्र तोड़ डाला। और, पहिनने के वस्त्र उतार कर फेंक दिये। और, उपयुक्त वस्त्र पहिनने की आज्ञा की। और, इस शंका से कि मैं फिर न भाग सकूँ। उन्होंने दो सिपाहियों को सदा के लिये मेरे ऊपर नियत कर दिया। अधिक क्या? उनका कोई न कोई मनुष्य सारी रात्रि मेरे पास रहने लगा। एक ओर मैं भी प्रस्थान के लिये उचित अवसर की प्रतीक्षा करने लगा। और, यह देखने के लिये कि सिपाही सोता है, या नहीं? मैं सारी-सारी रात जागने लगा। मेरे खर्राटों को सुनकर सिपाही यह समझ जाता था कि मैं हर रात्रि को ही गहरी नींद सो जाता हूँ।

इसी प्रकार जागते-जागते तीन रातें बीत गईं। चौथी रात को जब सिपाही और अधिक न जाग सका, तो सो गया। मैंने उस समय दैवयोग से अवसर आया हुआ समझ के शय्या त्याग किया। और, प्रातः कृत्य करने के उद्देश्य से एक लौटा हाथ में लेकर बाहर निकल आया। उसके पश्चात् नगर के पार जाकर अपने को छिपाने के अभिप्राय: से एक निविड़ उद्यान के बीच में एक वृक्ष के ऊपर चढ़ गया। वृक्षारूढ़ होकर सारा दिन बिना भोजन किये अतिवाहित करने के पश्चात् जिस समय संध्या का अन्धकार छा गया, उस समय मैं वृक्ष से नीचे उतरा। और, अपने देश और बन्धुजन से सारे जन्म के लिये विदा होकर वेग से भागने लगा। उसके पश्चात् अपने देश के लोगों से केवल एक वार प्रयाग में मेरा साक्षात् हुआ है। परन्तु मैंने उनसे अपने सम्बन्ध में किसी प्रकार से परिचय-प्रदान नहीं किया।

मैं सिद्धपुर से नर्मदातीर-वर्त्ती प्रदेश में गया। वहां योगानन्द स्वामी के साथ मेरा साक्षात् हुआ। योगानन्द के साथ कृष्ण शास्त्री नामक एक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। वे मुझको किसी-किसी विषय में शिक्षा दिया करते थे। और उसके पश्चात् मैं उसी

राजगुरु के साथ वेदाभ्यास किया करता था। तेईस वा पच्चीस वर्ष की आयु के समय चाणोद में मेरी एक संन्यासी के साथ भेंट हुई। शास्त्रानुशीलन में मेरी प्रगाढ़ आकांक्षा थी। अतः, संन्यास आश्रम को शास्त्र की शिक्षा के लिये सर्वापेक्षया सुविधाजनक समझकर उसी संन्यासी से मैंने दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा के पश्चात् मैं दयानन्द सरस्वती के नाम से परिचित हो गया।

वहां दो राजयोग-परायण गोस्वामियों के साथ भी मेरा साक्षात् हुआ। उनके साथ मैं अहमदाबाद को चला गया। वहां मेरा एक ब्रह्मचारी से मिलना हुआ। परन्तु मैं उनका संग छोड़कर हरिद्वार की ओर चला गया। उस समय हरिद्वार में कुम्भ का मेला था। हरिद्वार से मैं हिमालय के उस स्थान को चला गया, जहाँ से अलखनन्दा निकली है। अलखनन्दा के जल में किसी वस्तु विशेष के आघात लगने से, मेरे पांव ऐसे आहत हुए, कि उनसे रक्त की धारा बह निकली। मैं उससे इतना व्यथित हुआ कि बर्फराशी के बीच में गिरकर मुझे यह प्रतीत होने लगा कि मेरे लिये प्राण त्याग करना ही वांछनीय है। किन्तु, मेरी ज्ञानस्पृहा अतीव प्रबल थी, इस कारण मैं उस कार्य से प्रतिनिवृत्त हो गया। और मथुरा में विरजानन्द नामक सुपण्डित साधु के पास चला आया।

विरजानन्द पहिले अलवर में रहते थे। उस समय उनकी आयु इक्यासी वर्ष की थी। एक ओर विरजानन्द की दृष्टि में जहाँ वेदादि आर्षग्रन्थों की प्रगाढ़ प्रतिष्ठा थी, वहाँ दूसरी ओर शेखर, कौमुदी, प्रभृति आधुनिक पुस्तकों में उनकी बड़ी अश्रद्धा थी। अधिक क्या ? वे भागवत आदि पुराणों के बहुत ही विरुद्ध थे। विरजानन्द अन्धे थे और उनको उदर की पीड़ा थी। मैंने उनके पास वेदादि ग्रन्थों का अध्ययन आरम्भ किया।

वहाँ अमरलाल नाम के एक सहृदय व्यक्ति अध्ययन विषय में मेरी विशेष रूप से सहायता करने लगे। भोजन और ग्रन्थादि के सम्बन्ध में उदार सहायता के लिये मैं अमरलाल का बहुत ही आभारी हूँ। वे भोजन के विषय में इतने सयत्न थे, कि पहिले मुझे खिलाये बिना भोजन नहीं करते थे। वस्तुतः इसमें संशय नहीं है कि वे एक महान् अन्तःकरण वाले मनुष्य थे।

विरजानन्द के पास पाठ समाप्त करके दो वर्ष तक मैं आगरा नगर में रहा। आगरा रहने के समय में संशय निवृत्ति के निमित्त, कभी मैं स्वयं उपस्थित होकर, कभी पत्र द्वारा, गुरु के पास नाना प्रकार की जिज्ञासा किया करता था।

आगरे से ग्वालियर जाकर मैं वैष्णवमत के खण्डन में प्रवृत्त हुआ। वहां अनुतमाचार्य नामक एक व्यक्ति मेरी शास्त्रालोचना सुनने के लिये सर्वदा आया करते थे और अपने को किरानी बतलाया करते थे। विचार-प्रसंग में जब कभी मेरे मुख से कोई अशुद्ध शब्द निकल जाता था, तो वे उसे शुद्ध कर दिया करते थे। आश्चर्य है, कि बहुत बार जिज्ञासा करने पर भी अपने को किरानी के भिन्न और कुछ नहीं बतलाते थे। इसके अतिरिक्त उनसे ज्ञान सम्बन्धी किसी बात की जिज्ञासा करने पर, वह बड़े विनय के साथ कहते थे, कि मैंने जो कुछ सुना है, उसी की शिक्षा करता हूँ। एक दिन वक्तृता देते हुए मैंने कहा कि यदि वैष्णव-गण मस्तक पर कृष्णवर्ण की रेखा धारण करने से मोक्ष को प्राप्त होते हैं, तो सारे मुँह को काली रेखाओं से अंकित करने पर, वे मोक्ष से भी अधिक उच्च पद को प्राप्त होवेंगे। अनुत्तमाचार्य इस बात को सुनकर क्रुद्ध होकर चले गये।

उसके पश्चात् मैं ग्वालियर से करौली गया। करौली में एक कबीर-पन्थी के साथ मेरा साक्षात् हुआ। उससे मैंने यह सुना कि कबीरोपनिषद् नाम की एक उपनिषद् है। उसके पश्चात् करौली से जयपुर गया। जयपुर में हरिश्चन्द्र नामक एक महा पण्डित से वैष्णवमत पर मेरा शास्त्रार्थ हुआ। और

उसको पराजित कर मैंने शैवमत का श्रेष्ठत्व प्रतिपादित किया। इस घटना से जयपुर में महान आन्दोलन होने लगा। महाराज ने शैवमत अवलम्बन किया और प्रजावर्ग भी उसके पक्षपाती हो गये। अधिक क्या? लोग इतने उत्तेजित हुए कि सहस्रों रुद्राक्ष की मालायें वितरित होने लगीं। और, घोड़े और हाथियों के गले में भी रुद्राक्ष की माला पड़ने से वह अपूर्व शोभा से सुशोभित हो गये।

अस्तु, जयपुर से मैं पुष्कर गया। वहाँ से अजमेर में आकर शैवमत के विरुद्ध भी प्रचार करने लगा। उस समय राजा रामसिंह निमन्त्रित होकर गवर्नर जनरल से मिलने आगरे जाते थे। उन्होंने मुझको शैवमत का समर्थक समझ कर, मुझको साथ ले जाने की इच्छा प्रकट की। उनकी इस इच्छा का कारण यह था कि उनको आशा थी कि मैं वृन्दावन के रंगाचारी नामक प्रसिद्ध वैष्णव मतावलम्बी पण्डित को शास्त्रार्थ में पराजित करके, शैवमत के श्रेष्ठत्व को प्रतिपादित कर दूँगा। परन्तु जब उनको यह विदित हुआ कि मैं शैवमत का भी विरोधी हूँ, तो उन्होंने उस संकल्प का परित्याग कर दिया। उसके पश्चात् मैं फिर मथुरा में चला आया। और, मेरे जितने संशय थे, उनको आचार्य से परिनिवृत्त कर लिया।

मथुरा से हरिद्वार गया और वहाँ अपनी कुटी के ऊपर एक झण्डी खड़ी की, जिस पर "पाखण्डमर्दन" शब्द अंकित था। इस कारण मेरे साथ बहुत से लोगों का विचार वितर्क होने लगा। तब मैंने यह सोचा कि क्या सांसारिक लोगों के समान मैं इस सब ग्रन्थ आदि सामग्री को अपने साथ रक्खूँगा? और, क्या सारे संसार के विरुद्ध खड़ा होकर शत्रु-दल की वृद्धि करूँगा? इस पर चिन्ता-तरंग में आन्दोलित होकर, अंत में यह निश्चय किया कि सब का परिहार करना ही विधेय है। इसके अनुसार सारी सामग्री को मैंने वितरण कर दिया। और, कौपीन धारण करके, सारे अंग में भस्म लगाकर मौनी होकर, ध्यान-धारणा में प्रवृत्त हो गया।

गत वत्सर तक मुझे भस्म लगाने का अभ्यास था। परन्तु रेल पर भ्रमण करने के कारण, मुझको इसके त्याग करने पर बाध्य होना पड़ा। मौनव्रत भी मैं अधिक समय तक नहीं रख सका। कारण यह हुआ कि एक दिन एक व्यक्ति कुटि पर आकर जब—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्।

इत्यादि वाक्य पढ़कर भागवत का श्रेष्ठत्व प्रतिपादन करने की चेष्टा करने लगा, तो मैं उसका प्रतिवाद करने से न रुक सका। इस घटना के पश्चात् मैंने अपना निश्चित सिद्धान्त कर लिया कि जो जो ज्ञान मैंने उपार्जित किया है, उसको पृथिवी में प्रचारित करना मेरा परम-कर्तव्य है।

इस सिद्धान्त के पश्चात् मैं हरिद्वार छोड़कर फर्रुखाबाद चला गया। वहाँ से मैं फिर रामगढ़ आया। वहाँ के लोग मुझको "कोलाहल स्वामी" कहकर पुकारने लगे। कारण यह था कि वहाँ के कई शास्त्री विचार की इच्छा से हमारे पास आये। और, सब ही, एक ही समय बोलने को उद्यत हुए। यह देखकर मैंने उनके विचार-व्यापार को कोलाहल नाम से पुकारा। विदित होता है कि इस कारण से ही उन्होंने मुझको उक्त नाम प्रदान किया।

रामगढ़ में त्रिचनगढ़ निवासी दस आदमियों ने मुझे मार डालने का उद्योग किया। मैंने बड़ी सावधानता के साथ उनके हाथ से छुटकारा पाया। उसके पश्चात् मैं कानपुर होकर प्रयाग गया। प्रयाग में भी मुझे मार डालने के लिये एक दुर्जन प्रेरित हुआ था। परन्तु उस समय एक पुरुष महादेवप्रसाद नामक की सहायता से मैं मारने वालों के हाथ से बचा।

महादेव प्रसाद बहुत ही सज्जन थे। उन्होंने प्रयागवासी पण्डितों में यह विज्ञापन बाँटा था कि यदि वह तीन महीने के भीतर आर्य-धर्म की उत्कृष्टता सिद्ध न कर सकेंगे, तो मैं क्रिश्चियन-धर्म ग्रहण कर लूँगा। किं बहुना? आर्य-धर्म की उत्कृष्टता का प्रतिपादन करके, मैंने उनको क्रिश्चियन-धर्म अवलम्बन करने से रोका।

प्रयाग से मैं रामनगर आया। मुझे राम नगर के महाराज ने इसी संकल्प से बुलाया था कि मैं काशी निवासी पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ करूँ। अस्तु। मैं इसके अनुसार ही काशी से शास्त्रार्थ के लिये गया था। काशी के शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में वहां के पण्डितों ने हम से जिज्ञासा की कि वेद में प्रतिमा शब्द है, वा नहीं? उसके उत्तर में मैंने प्रमाण के सहित कहा कि वेद में प्रतिमा शब्द है, परन्तु उसके अर्थ सायण के हैं। काशी का शास्त्रार्थ पुस्तक रूप में छपा है। जिन लोगों की इच्छा हो, वे सब उसको देख सकते हैं

मैंने काशी के पण्डितों के साथ इस बात के सिद्ध करने की भी चेष्टा की कि वेदों के ब्राह्मण भाग की इतिहास में ही गणना करनी उचित है। पिछले भाद्रपद में मैं काशी में चौथीवार गया था। मैं जितनी बार काशी गया, उतनी ही बार वहाँ के पण्डितों को इस बात के सिद्ध करने के लिये निमन्त्रण दिया कि मूर्तिपूजा वेदप्रतिपादित है, वा नहीं? परन्तु उनमें से कोई भी इस बात को सिद्ध करने के लिये मेरे सामने नहीं आया।

इस उद्देश्य से प्रेरित होकर मैंने समस्त भारत वर्ष में परिभ्रमण किया है। पिछले दो वर्षों के भीतर मैंने कलकत्ता, लखनऊ, इलाहबाद, कानपुर और जब्बलपुर प्रभृति स्थानों में सहस्रों मनुष्यों के सामने आर्य-धर्म का प्रचार किया है। और संस्कृत-भाषा के अनुशीलन के अभिप्राय से काशी और फर्रुखाबाद प्रभृति स्थानों में कई संस्कृत की पाठशालायें स्थापित की हैं। परन्तु अध्यापकों की अनुदारता के कारण उन पाठशालाओं से आशा के अनुरूप कोई फल उत्पन्न नहीं हुआ।

मैं पिछले वर्ष बम्बई आया था। बम्बई नगर में महाराज मत के प्रतिवाद में प्रवृत हुआ। और. वहाँ एक आर्य समाज संस्थापित किया। बम्बई से अहमदाबाद, और वहाँ से राजकोट जाकर वैदिक धर्म की जय घोषणा की। दो मास के लगभग हुए कि मैं आप के निकट ठहरा हुआ हूँ। फलतः इस समय जो कुछ मैंने कहा है, वही मेरे जीवन का इतिहास है।

आर्य-धर्म की प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में सच्चे प्रचारकों का वास्तव में अभाव ही है। एक व्यक्ति के करने से यह महान् कार्य कभी भी सम्पादित नहीं हो सकता। परन्तु, मैंने इसके निमित्त अपने को यथाशक्ति समर्पित करने की प्रतिज्ञा कर ली है!

मेरी अतःकरण से यही कामना है कि भारतवर्ष के एक अन्त से दूसरे अन्त तक आर्य समाज स्थापित हो। और, देश में व्यापी हुई कुरीतियां उन्मूलित हो जायें। और, मेरी ईश्वर से शुद्ध हृदय से यही प्रार्थना है कि सब जगत में वेदादि शास्त्रों की व्याख्या और आलोचना हो। और, हमारा निद्रित देश जाग उठे।

—*—

दयानन्द-प्रकाश

[लेखक--श्री स्वामी सत्यानन्द जी सरस्वती]

महर्षि दयानन्दका यह सम्पूर्ण और प्रमाणिक जीवन-चरित्र है। श्री स्वामी सत्यानन्दजी महाराज ने कई वर्ष तक खोज और अनुसन्धान करके इसकी रचना की है। इसकी भाषा आदर्श रूप में श्रेष्ठ, भक्ति भाव गर्भित और अत्यन्तरोचक है। इस समय तक इस ग्रन्थ के कई संस्करण निकल चुके हैं। सरकारी शिक्षण-विभागों द्वारा यह ग्रन्थ पुस्तकालयों और पुरस्कार में देने के लिये स्वीकृत हो चुका है। कागज बढ़िया, छपाई कलापूर्ण और पृष्ठ संख्या ५६० है। सजिल्द ग्रन्थ का मूल्य केवल ४) रु० प्रति है। डाकव्यय पृथक्।

मिलने का पता—गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क देहली

॥ ओ३म् ॥

महर्षि दयानन्द सरस्वती की आत्म-कथा

(२)

[थ्यासोफिस्ट से अनुवादित]

—:○:—

सम्वत् १८८१ वि० में काठियावाड़ प्रदेश के मौरवी राज्य के अन्तर्गत एक नगर में उदीच्य ब्राह्मणों के वंश में मैंने जन्म ग्रहण किया। मैंने अपने जन्म-स्थान और पिता के नाम को कर्त्तव्य पालन वश अप्रकाशित रखा है। यदि आत्मीय-गण जान जावें, तो वे मुझको ढूंड कर घर ले जावेंगे। ऐसा होने पर मुझको अर्थ स्पर्श रूप पाप में फिर लिप्त होना पड़ेगा। और सांसारिक लोगों के समान संसार में रहकर उनकी सेवा-शुश्रुषा आदि भी करनी पड़ेगी। ऐसा होने से जिस धर्म संस्कार रूप पवित्र व्रत में, मैंने अपना समग्र जीवन अर्पित किया है, वह असिद्ध और असमाप्त रह जायेगा।

पाँच वर्ष से कुछ दिन कम की आयु में मैंने देवनागरी अक्षर सीखे और अपनी जाति और परम्परा की प्रथा के अनुसार बहुत-से वेद-मन्त्र और वेद भाष्य कण्ठस्थ कर लिये। आठवें वर्ष में उपनयन हो जाने के पश्चात् मैं प्रति दिन सन्ध्या और गायत्री का अभ्यास किया करता था। उस के पश्चात रुद्राध्याय से आरम्भ करके, यजुर्वेद संहिता के अध्ययन में प्रवृत्त हुआ। मेरा परिवार शैव मतावलम्बी था। इसलिये अल्प-वयस से ही मैं शिवलिंग की पूजा का अभ्यास करने लगा था। मैं अपेक्षया सवेरे ही आहार किया करता था। और शिव-पूजा में बहुत से उपवास तथा कठोरता को सहन करना पड़ता है। इसलिये स्वास्थ्य की हानि के भय से माता मुझे प्रतिदिन शिव की उपासना करने से रोका करती थी। परन्तु पिता उस का प्रतिवाद किया करते थे। इस कारण इस विषय को लेकर माता के साथ पिता का प्रायः विवाद रहा करता था।

मैं उस समय संस्कृत व्याकरण पढ़ता था। वैदिक-मन्त्रों को कण्ठस्थ करता था। और, पिता के साथ कभी शिवालय में, कभी किसी अन्य देवालय में जाया करता था। पिता मुझे सदा यही उपदेश दिया करते थे कि शिवोपासना ही सर्वोच्च धर्म है। और, शिव में प्रगाढ़-भक्ति रखना बहुत आवश्यक कर्त्तव्य है। मैंने चौदहवें वर्ष में पांव रखने से पहिले ही व्याकरण, शब्दरूपावली, समस्त यजुर्वेद संहिता और अन्य वेदों के भी कई एक अंश कण्ठस्थ करके एक प्रकार से अपने पाठ्य कार्य को समाप्त कर दिया था।

मेरे पिता के यहाँ व्यापार का काम होता था। और, वे जमादार अर्थात् नगर के कर संग्रह करने वाले और मैजिस्ट्रेट थे। इस कारण हमें संसार में कोई क्लेश न था। किम्बहुना जमादारी का काम हमारे वंश में परम्परा से चला आता था। अस्तु।

जहाँ कहीं शिव पुराण का पाठ वा व्याख्या हुआ करती थी, पिता मुझको वहाँ साथ ले जाया करते थे। माता के बारम्बार शिव पूजा के निषेध करने पर भी, पिता मुझको उसके करने के लिये कठोर रूप से आदेश दिया करते थे। शिवरात्रि के आने पर पिता ने कहा कि आज तुम्हारी दीक्षा होगी। और मन्दिर में जाकर सारी रात जागना पड़ेगा। माता ने यह आशंका करके कि ऐसा करने से मैं अस्वस्थ हो जाऊँगा, इसका घोर रूप से प्रतिवाद किया। परन्तु पिता ने उनके आक्षेप वा प्रतिवाद पर दृष्टिपात नहीं किया। पिता की आज्ञानुसार मैं उस दिन रात्रि के समय अन्यान्य लोगों के साथ सम्मिलित होकर शिवमन्दिर में गया। शिव-रात्रि का जागरण चार

प्रहरों में विभक्त होता है। दो प्रहरों के पश्चात् जब निशीथ काल आया, तब पुरोहित और अन्यान्य कई लोग मन्दिर से बाहिर आकर सो गये।

मैं बहुत दिन से सुनता था कि यदि वह मनुष्य जिसने व्रत धारण किया है, शिवरात्रि को सो जायेगा, तो वह अभिलषित फल की प्राप्ति से वंचित रहेगा। इसलिये बीच-बीच में निद्रा के वेग से अभिभूत होने पर भी, मैं पुनः पुनः आँखों में जल सिंचन करके जागरित रहा। एक ओर पिता भी मुझको जागते का आदेश देकर निद्राविष्ट हो गये। उस समय विचार पर विचार आकर मेरे हृदय पर अधिकार जमाने लगे। मेरे मन में नाना प्रकार के प्रश्न उठने लगे। फलतः मैं चिन्ता-समूह से विचलित हो गया। मैं आप ही अपने आप से जिज्ञासा करने लगा कि शास्त्र में जो कहा गया है, कि महादेव विचरण करते हैं, भोजन करते हैं, सोते हैं, खाते-पीते हैं, हाथ में त्रिशूल धारण करते हैं, तो क्या वह महादेव यही वृष-वाहन पुरुष हैं, जोकि मेरे सामने हैं ? क्या यही वह पुराण कथित कैलाशपति परमेश्वर हैं ? इस चित्र से अत्यन्त अस्थिर चित्त होकर मैंने पिता को जगाकर जिज्ञासा की, कि क्या यह विकट शिव मूर्ति ही वह शास्त्रोल्लिखित महादेव हैं ?

पिता ने कहा—"तू यह बात क्यों पूछता है ?"

मैंने कहा—"यदि यह मूर्ति ही सर्वशक्तिमान् जीवन्त परमेश्वर है, तो यह अपने शरीर के ऊपर चूहों को दौड़ता हुआ देखता हुआ और चूहों के सम्पर्क से अपवित्र देह होता हुआ भी, उनको क्यों नहीं भगा देता ?"

तब पिता ने मुझे समझाने की चेष्टा की कि कैलाशपति महादेव की इस प्रस्तरमय मूर्ति ने पवित्र; चित्त ब्राह्मणों की की हुई, प्रतिष्ठा के कारण देवत्व लाभ कर लिया है। विशेषतः इस पापमय कलियुग में महादेव का साक्षातकार होना असम्भव है। इस लिये पाषाण आदि की मूर्ति में ही उनकी सत्ता कल्पित की जाती है।

पिता की इन बातों से मेरी तृप्ति नहीं हुई। श्रान्त और क्षुधित होने के कारण मैंने पिता से घर जाने की अनुमति मांगी। पिता ने आज्ञा देकर मेरे साथ एक सिपाही कर दिया। और, इस विषय में कि मैं भोजन करके व्रत-भंग न करूँ, बारम्बार मुझ से कह दिया। परन्तु घर में आकर जब मैंने माता से क्षुधा की कथा को प्रकाशित किया, तब उन्होंने जो कुछ आहार मुझे खाने के लिये दिया, उसको मैं बिना खाये नहीं रह सका। भोजन के पश्चात् मुझे गहरी नींद आ गई।

दूसरे दिन प्रातःकाल पिता ने घर में आकर सुना कि मैंने व्रत-भंग किया है। यह सुनकर वह मेरे ऊपर बड़े क्रोधित हुए। और, मुझको वह यह भी समझाने लगे कि मैंने व्रत भंग करके महा-पाप किया है। परन्तु मैं उस पाषाण की मूर्ति को परमेश्वर के भाव से विश्वास न कर सका। और, मन में सोचने लगा कि मैं फिर कैसे उसकी उपासना करूँगा ? और, कैसे उसके लिये उपवास रक्खूंगा ? किन्तु उस आन्तरिक भाव को छिपा कर मैंने पिता से कहा कि जब मेरा सारा समय पाठाभ्यास करने में ही चला जाता है, तो मेरे लिये नियमित रूप से शिव की आराधना कैसे सम्भव हो सकती है ? माता और चाचा दोनों ने यह कह कर कि यह युक्तिसंगत है, मेरी बात का समर्थन किया। अन्त में उन्होंने मुझे अधिक समय पाठ आदि कार्य में ही लगाने की आज्ञा दी। उसके अनुसार मैंने पाठ्य-विषय को कुछ विस्तृत करके निघण्टु, निरुक्त और पूर्वमीमांसा आदि का अध्ययन आरम्भ किया।

हम पाँच भाई बहिन थे। उन में दो मेरे भाई और दो बहिनें थीं। जब मेरी आयु सोलह वर्ष की थी, तब मेरे सब से छोटे भाई का जन्म हुआ। एक बार रात्रि के समय मैं एक बान्धव के घर नृत्योत्सव देख रहा था, कि घर से एक भृत्य ने आकर समाचार दिया कि मेरी चौदह वर्ष की बहिन बहुत ही पीड़ित हो गई है। आश्चर्य है कि यथोचित चिकित्सा के

होते हुए भी, मेरे घर लौटने के दो घण्टे पश्चात् ही उसकी मृत्यु हो गई।

उस भगिनी के वियोग का शोक मेरे जीवन का प्रथम शोक था। उस शोक से मेरा हृदय विलक्षण रूप से व्यथित हुआ। जिस समय मेरे आत्मीय और स्वजनगण उस भगिनी के लिये चारों ओर रोदन और विलाप करते थे, उस समय मैं पाषाण निर्मित मूर्ति के समान अविचलित भाव से खड़ा हुआ, यह सोच रहा था कि इस संसार में सब मनुष्यों को ही मृत्यु के मुख में जाना होगा। इसी प्रकार मुझे भी एक दिन मृत्यु का ग्रास बनना होगा।

फलतः मैंने उस समय यह सोचा—किस जगह जाने से मैं मृत्यु की यन्त्रणा से बच सकूंगा? और मुक्ति के पथ का दर्शन कर सकूंगा। मैंने उसी जगह खड़े-खड़े यह संकल्प कर लिया कि जिस प्रकार से हो सकेगा; उसी प्रकार से मैं मुक्ति-पथ के दर्शन से अवर्णनीय मृत्यु क्लेश से अपनी रक्षा करूंगा। ऐसी चिन्ता के पश्चात् उपवासादि में मेरी श्रद्धा नहीं रही। और, मैं आध्यात्मिक शक्ति के विषय में चिन्तन करने लगा। परन्तु मैंने इस सारी आन्तरिक-कथा को किसी को जानने नहीं दिया।

कुछ दिन पीछे मेरे चचा की भी मृत्यु हो गई। मेरे चचा सद्‌गुण-सम्पन्न सुशिक्षित व्यक्ति थे। और वह मुझको बहुत प्यार करते थे। इस कारण मैं उनके वियोग से बहुत ही व्यथित हुआ। और, इस घटना से मेरे हृदय में यह भाव और भी बद्धमूल होगया कि संसार के भीतर कोई ऐसी स्थायी तथा मूल्यवान वस्तु नहीं है, जिसके निमित्त जीवन धारण किया जा सकता है। ऐसी मानसिक अवस्था के विषय में माता-पिता को तनिक-सा भी ज्ञान न होने देने पर भी, मैंने यह बात किसी-किसी बन्धु से प्रगट कर दी कि मेरे लिये विवाहित होना वांछनीय नहीं है। होते-होते यह बात माता-पिता के कर्ण-गोचर हुई। और, वे विवाह कार्य में शीघ्र ही संलग्न करने के लिये कृत-संकल्प हो गये।

जब मैंने यह जाना कि माता-पिता मेरे विवाह के लिये बहुत ही व्यस्त हैं, तब मैं उनको रोकने के लिये यथा-साध्य चेष्टा करने लगा। और, बन्धु लोगों से भी मैंने अनुरोध किया कि माता-पिता को समझा बुझा कर रोक दें। अन्त में पिता के समीप मैंने अपने पक्ष का ऐसा समर्थन किया कि उन्होंने थोड़े दिन के लिये मेरे विवाह-व्यापार को स्थगित रखना ही युक्तिसंगत निश्चित किया। उन्हीं दिनों मेरी यह भी इच्छा हुई थी कि सुयोग मिले तो काशी जाकर व्याकरण समाप्त करके, उत्तम-रूप से ज्योतिष-शास्त्र की शिक्षा प्राप्त कर लूं; परन्तु यह इच्छा कार्य रूप में परिणत न हुई। काशी-यात्रा के विषय में बहुत दुःखित होकर माता ने कहा कि तुम जो कुछ भी अध्ययन करने की इच्छा रखते हो, वह घर पर ही अध्ययन कर सकते हो। और, नवयुवक बहुत लिखना पढ़ना सीख जाने पर, बहुधा स्वेच्छा-परायण हो जाते हैं, इसलिये आगामी वर्ष से पहिले ही मैं तुम्हारे विवाह का प्रबन्ध करूंगी।

अन्त में काशी जाने की बात को छोड़कर मैंने पिता से कहा कि हमारी जमादारी के भीतर एक ग्राम में एक हमारे परिचित अध्यापक हैं, यदि आप मुझको उनके पास अध्ययनार्थ जाने की आज्ञा प्रदान करें, तो मैं यहाँ रह कर ही पढ़ सकता हूँ। वह प्रवीण अध्यापक हमारे ग्राम से तीन कोस पर रहता था। पिता के आज्ञा देने पर मैं उसके पास जाकर कुछ समय तक निश्चित् चित्त होकर अध्ययन करने लगा। परन्तु वहां एक दिन घटनावश मैंने विवाह के विषय में अपना विरुद्ध अभिप्राय प्रकाशित कर दिया। पिता ने किसी प्रकार उसको जान लिया। और, मुझको घर लौट आने की आज्ञा भेज दी। उसके अनुसार मैं घर आ गया।

मैंने देखा कि मेरे विवाह के लिये समस्त वस्तुएं घर में प्रस्तुत हो गई हैं। तब मैं स्पष्ट रूप से समझा कि माता-पिता मुझे और अधिक समय तक पढ़ने न देंगे और मेरा विवाह किये बिना शान्त न होंगे। उसके पश्चात् मैंने स्थिर किया कि जिस काम के करने से मुझे विवाह-शृंखला में निबद्ध न होना पड़े, उसी कार्य का अनुष्ठान करना मेरा कर्त्तव्य है।

इस प्रकार निश्चय करके संवत् १६०३ वि० में एक दिन संध्या के समय बिना किसी के जाने हुए, मैंने संसार का परित्याग कर दिया। चार कोस दूर, एक गांव में रात्रि व्यतीत करके प्रातःकाल होने से पूर्व ही में चल पड़ा। सारा दिन चलकर मैंने पन्द्रह कोस से भी अधिक मार्ग पार कर लिया। जिस मार्ग से होकर सर्व साधारण लोग जाते थे, मैंने इच्छा की कि उस मार्ग से न चलूं। इस सावधानता के साथ पर्यटन करना मेरे लिये कितना मंगल-कर हुआ, इसके कहने की आवश्यकता नहीं है। कारण यह कि तीसरे दिन एक सरकारी कर्म-चारी के द्वारा मुझे ज्ञात हुआ कि किसी भागे हुए नवयुवक की खोज के लिये कई अश्वारोही इधर-उधर घूम रहे हैं।

कुछ काल पश्चात् कुछ भिक्षुक ब्राह्मणों के साथ मेरा साक्षात्कार हुआ। वे, यह कह कर कि जितना दान यहाँ दोगे, उतना ही परलोक में सुख भोग करोगे, मेरे अलंकार आदि मांगने लगे। सुतराम मेरे पास जो रुपये और सोने चाँदी के अलंकार थे, वे सब मैंने उनको दे दिये। इस प्रकार सर्वस्वदान करके मैं शैला नगर में लालाभक्त के पास चला गया। लालाभक्त एक साधु और सुशिक्षित व्यक्ति करके प्रसिद्ध थे। वहाँ एक ब्रह्मचारी के साथ मेरी बातचीत हुई। मैं उससे दीक्षा लेकर ब्रह्मचारी के आश्रम में प्रविष्ट हो गया। और गेरुए वस्त्र धारण करके, मैंने शुद्धचैतन्य नाम ग्रहण कर लिया।

शैला नगर से मैं अहमदाबाद के पास किसी ग्राम को जाता था कि दौर्भाग्यवश एक परिचित बैरागी के साथ मेरा साक्षात् हो गया। बैरागी हमारे निवास स्थान के पास ही किसी ग्राम विशेष का रहने वाला था। वह मुझको देखकर जितना विस्मित हुआ, उतना ही उसको देखकर मैं भयभीत हुआ। उसके पश्चात् उसके पूछने पर मैंने कहा कि पृथिवी के नाना स्थानों में परिभ्रमण करने और दर्शन करने के अभिप्राय से ही मैं घर से निकल आया हूँ। तब उसने मेरे इस अभिप्राय की निन्दा की। और, मुझे गेरुवे कपड़े पहिने देखकर उपहास करने लगा। मुझ को हतबुद्धि के समान देखकर बैरागी मेरे भावी संकल्प के विषय में जान जायेगा, अतः मैंने उससे कह दिया कि कार्तिक मास में, सिद्धपुर में जो मेला होगा, मैं उसे देखने जाता हूँ।

बैरागी के चले जाने पर मैं शीघ्र ही सिद्धपुर पहुँच गया, और, साधु संन्यासियों के साथ नीलकण्ठ महादेव के मन्दिर में रहने लगा। उस विस्तृत मेला-भूमि में, मैंने नाना श्रेणीके साधु, ज्ञानी और परमार्थ-परायण तपस्वियों के संसर्ग में कितने ही दिन बिना किसी विपत्ति के अतिवाहित किये। परन्तु एक दिन प्रातःकाल मैं साधुजनों के साथ नीलकण्ठ के मन्दिर में बैठा था कि अकस्मात् मेरे पिता कई सिपाहियों के साथ मेरे सामने आकर खड़े हुए। तब मेरे सहज में ही यह समझ में आ गया कि पूर्वोक्त बैरागी ने घर लौटकर पिता से मेरे पलायन का समाचार कह दिया है।

पिता ने क्रोध से अग्निमूर्त्ति धारण करके मुझको बहुत ही तिरस्कृत किया। और बारम्बार यह कहने लगे कि ऐसा करके मैंने अपने कुल को सदा के लिये कलंकित किया है। उनकी बात का किसी प्रकार प्रतिकार करना उचित न समझ कर, मैं हाथ जोड़ कर उनके पैरों में गिर गया। और, यथोचित विनय तथा नम्रता प्रकाश करके उनको सन्तुष्ट करने की चेष्टा करने लगा। उनसे मैंने यह भी कहा कि मैंने एक असद्व्यक्ति के असत्परामर्श से ऐसा किया है। और, उसके पश्चात् मुझे अपने किये पर बहुत पश्चाताप हुआ है। पिता से मैंने यह भी कहा कि आप का आना मेरे लिये सुविधा का कारण हुआ है, क्योंकि मैं घर लौटने का उद्योग कर ही रहा था कि आप आ गये। अब चलिये, मैं आप के साथ घर लौट चलूँगा। इस प्रकार के अनुनय-विनय से अप-राध क्षमा की चेष्टा करने पर भी पिता जी शान्त न हुए। उन्होंने क्रोध के वश में होकर मेरे गेरुवे कपड़े फाड़ डाले, कमण्डलु फेंक दिया और मुझ को मातृ-हन्ता कहकर भर्त्सना करने लगे। अन्त में मेरी रक्षा

के जिम्मे उन्होंने कई सिपाहियों को नियत कर दिया। सिपाही बन्दी के समान दिन रात मेरी रक्षा करने लगे।

इस ओर पिता के संकल्प के समान मेरा संकल्प भी अविचलित था। इसलिये सिपाहियों के हाथ से छुटकारा प्राप्त करने के लिये मैं निरन्तर ही सुयोग की प्रतीक्षा करने लगा। एक दिन रात्रि का जब तीसरा प्रहर था, तब मुझको निद्राविष्ट समझकर मेरे रक्षक सिपाही भी निद्रित हो गये। तब मैं उत्तम सुयोग देखकर धीरे-धीरे उठा और एक जल परिपूर्ण पात्र हाथ में लेकर शीघ्रता से चल दिया। आधे कोस से अधिक दूर पहुँचकर, मैंने एक बहुशाखा समन्वित वृक्ष देखा। और, अपने को छिपाने के उद्देश्य से मैं उस वृक्ष पर चढ़कर एक सघनपल्लवावृत स्थान में छिप गया। उषाकाल होने पर मैंने देखा कि सिपाही लोग चारों ओर मेरा अनुसन्धान कर रहे हैं।

मैं सन्ध्याकाल पर्यन्त, उसी वृक्ष पर चुपचाप और बिना हिले जुले बैठा रहा। उसके पश्चात् जब चारों ओर अन्धकार फैल गया; तब मैं वृक्ष से उतर कर विपरीत दिशा में चलने लगा। चलते-चलते अहमदाबाद और बड़ौदा पहुँचा। बड़ौदा के चैतन्य-मठ नामक मन्दिर में ब्रह्मानन्द और अन्याय सन्यासियों के साथ वेदान्त विषय में विचार हुआ। उन्होंने अब मुझे यह बात उत्तर रूप में समझा दी कि मैं ब्रह्म हूँ। पहिले भी वेदान्त के अध्ययन के समय यह विषय कुछ-कुछ समझ लिया था, परन्तु अब उनसे पूर्णरूप से समझ कर जीव ब्रह्म की एकता में विश्वास करने लगा। इस समय एक काशी की रहने वाली स्त्री से मैंने यह संवाद पाया कि वहाँ पण्डितों की एक महा सभा होगी। इस संवाद के पाते ही मैंने काशी की ओर यात्रा आरम्भ कर दी। और वहां पहुँच कर सच्चिदानन्द परमहंस से मनस्तत्व के विषय में बात-चीत करने लगा। सच्चिदानन्द से मैंने सुना कि नर्मदा के तीर पर चाणोद कल्याणी नाम के स्थान में बहुत से उन्नत चरित्र संन्यासी और ब्रह्मचारी रहते हैं। इसके अनुसार मैंने वहाँ जाकर बहुत से योगदीक्षित साधुओं को देखा। इसके पूर्व मैंने किसी योगदीक्षित साधु को नहीं देखा था।

चाणोद में कुछ दिन रहने के पश्चात् मैं परमानन्द परमहंस से वेदान्त-सार और वेदान्त-परिभाषा प्रभृति ग्रन्थ पढ़ने लगा। इस समय मुझको आप ही भोजन पकाना होता था। इसलिये मैंने संन्यासआश्रम में प्रविष्ट होने का संकल्प किया। विशेषतः संन्यास-आश्रम का अवलम्बन करने से दूसरा नाम ग्रहण करने पर मेरा परिचय सम्पर्क भी निरापद हो जावेगा। इन सब बातों को सोचकर मैंने यह स्थिर किया कि संन्यासी सम्प्रदाय में प्रवेश करना ही मेरे लिये युक्ति-संगत है। उसी समय चाणोद के पास ही एक जंगल में से दाक्षिणात्य से दो साधु आये। उनमें एक स्वामी थे और एक ब्रह्मचारी। वे शृंगगिरि मठ से द्वारिका की यात्रा को जाते थे। उन साधुओं में पहिले पूर्णानन्द सरस्वती करके परिचित थे। एक परिचित महाराष्ट्रीय पण्डित के साथ मैं उनके पास गया। महाराष्ट्रीय पण्डित ने उनसे मेरे संन्यास लेने के संकल्प को कहकर मुझे, दीक्षित करने का अनुरोध किया।

पूर्णानन्द ने मेरे साथ के पण्डित की बात में यह आपत्ति उठाई कि दीक्षार्थी की आयु थोड़ी है, विशेषतः मैं महाराष्ट्रीय हूँ। उसके लिये किसी गुजराती संन्यासी से दीक्षा लेना विधेय है। उसके उत्तर में मेरे साथी पण्डित बोले कि महाराष्ट्रीय संन्यासी-गण गौड़ों को भी दीक्षा कर सकते हैं। अस्तु, इस प्रकार आपत्ति वा असम्मति के पश्चात् अन्त में पूर्णानन्द सरस्वती से ही संन्यास आश्रम ग्रहण करके मैं दयानन्द सरस्वती के नाम से प्रख्यात हुआ। दीक्षा कार्य की समाप्ति के पश्चात् दोनों साधु द्वारिका को चले गये। मैं चाणोद में कुछ दिन रहकर व्यासाश्रम को चला गया।

व्यासाश्रम में योगानन्द नामक एक योग-विद्या-विशारद साधु रहते थे। उनके पास कुछ दिन शिक्षार्थी के रूप में रहने के पश्चात्, मैं कृष्ण शास्त्री के पास व्याकरण विषय में विशिष्ट रूप से ज्ञान लाभ करके

फिर चाणोद चला आया। चाणोद में ज्वालानन्दपुरी और शिवानन्द गिरि नामक दो साधु थे। मैं उन्हीं पुरी और गिरि के साथ योग विषयक विचार और योगाभ्यास करने लगा। कुछ दिन के पश्चात् वे दोनों साधु चले गये। उनके चले जाने के एक मास पीछे मैं भी उनके निर्देश के अनुसार अहमदाबाद के पास दुग्धेश्वर के मन्दिर में चला गया। वहां फिर उनसे साक्षात् हुआ। मैंने वहाँ उनसे योग विद्या के गूढ़ तत्वों को सीखा। योग-शिक्षा के विषय में मैं उन दोनों साधुओं का विशेष रूप से ऋणी हूँ।

उसके पश्चात् मैं राजपूताना के अन्तर्गत आबू पर्वत पर गया, क्योंकि मैंने सुना था कि वहाँ सिद्ध महापुरुष गण रहते हैं। आबू से सम्वत् १६११ वि० में मैं हरिद्वार के कुम्भ पर गया। कुम्भ पर सैंकड़ों साधु तपस्वियों के समागम को देखकर मैं विस्मयान्वित होगया। जितने दिन कुम्भ का मेला रहा, उतने ही दिन मैं एक समीपवर्ती जंगलावृत्त एकान्त स्थान में रहकर योगाभ्यास करता रहा। मेले की समाप्ति पर ऋषिकेश जाकर साधुओं के साथ, कभी योग की बात चीत में, कभी योगाभ्यास में, कुछ दिन विताये। वहाँ एक ब्रह्मचारी और दो पार्वतीय उदासियों के साथ परिचय हो गया और हम चारों टिहरी चले गये।

टिहरी में कई साधुओं और राज-पण्डितों के साथ वार्तालाप हुआ। उनमें से एक ने भोजन के लिये निमन्त्रित किया। निर्दिष्ट समय पर मैं और ब्रह्मचारी बुलाने वाले के साथ निमन्त्रण-कर्ता के घर पर पहुँचे। परन्तु घर में प्रविष्ट होते ही मैंने देखा कि एक ब्राह्मण मांस काट रहा है। घर के भीतर कुछ दूर जाकर मैंने देखा कि एक स्थान में कई पण्डित स्तूपीकृत पशु-मांस और पशु मुण्ड को लिये हुए बैठे हैं। यह सब देखकर मेरे भीतर अत्यन्त घृणा का उद्दीपन हुआ। इसलिये यद्यपि गृहस्वामी ने मुझको आदर से आहूत किया; परन्तु मैं उसके घर से एक दो बात कह कर ही शीघ्र लौट आया।

कुछ काल पश्चात् वही मांसाहारी पण्डित मेरे पास आया और यह कहकर कि मेरे ही भोजन के लिये मांसादि बनाया गया है, मुझको साथ ले जाने का अनुरोध करने लगा। तब मैंने कहा कि मांस भोजन तो दूर रहा, मांस के दर्शन ही से, मेरे मन में अत्यन्त घृणा उत्पन्न होती है। अतएव यदि आप आहार के लिये मुझ से बहुत अनुरोध करते हैं, तो मुझको कुछ फल-मूल भेज सकते हैं। किम्बहुना, निमन्त्रणकर्त्ता ने ऐसा ही कर दिया।

यहाँ ग्रंथों के अनुसन्धान करने पर पूर्वोक्त राजपण्डित बोले कि यहाँ व्याकरण, ज्योतिष, और तन्त्र प्रभृति ग्रंथ मिल सकते हैं। मैंने इस से पूर्व कभी तन्त्र ग्रंथ न देखे थे। इसी कारण तन्त्र ग्रंथों को मंगाकर, मैं पाठ करने लगा। परन्तु तन्त्रों में परदारागमन, यहाँ तक कि मातृगमन, दुहितृगमन और नग्न-स्त्री की पूजा प्रभृति नितान्त जुगुप्सित आचारों का अनुमोदन और मद्यमांसादि के विहित होने का प्रतिपादन देखकर, मुझे अत्यन्त घृणा हो गई। इसके भिन्न उन ग्रंथों में मैंने अनुवाद और व्याकरण के विषय में भी बहुत भ्रान्ति देखी। विशेषतः ऐसे-ऐसे निन्दनीय कार्यों को धर्म में परिगणित देखकर, मैं अतिशय आश्चर्यान्वित हुआ।

इसके पश्चात् टिहरी से मैं श्रीनगर में केदार घाटके एक मन्दिर में कुछ दिन ठहरा। वहां के पण्डितों के साथ विवाद उपस्थित होने पर, मैंने तन्त्रों की कथा खोलकर उनको पराभूत किया। वहाँ गंगागिरि नामक एक साधु के साथ मेरा वार्तालाप और मित्रता होगई। उसके साथ मेरा मिलाप दोनोंके लिये ही हितकर हुआ। वस्तुतः मैं इतना आकृष्ट हुआ कि उनके साथ मैंने दो मास से भी अधिक व्यतीत किये। केदार घाट से रुद्रप्रयाग प्रभृति स्थानों में पर्यटन करके मैं अगस्त्यमुनि के आश्रम में आया। उसके पश्चात् शिवपुरी नामक पर्वत की चोटी पर जाड़ों के चार मास बिताये। शिवपुरी से केदार घाट होता हुआ, गुप्त काशी में आया। वहां कुछ दिन ठहर कर त्रिजुगीनारायण, गौरी-कुण्ड और भीम-गोड़ा प्रभृति के दर्शन करके, मैं फिर केदार घाट चला आया।

केदार घाट एक अति रमणीय स्थान है। पूर्वोल्लिखित ब्रह्मचारी और दोनों उदासियों के न लौट आने तक, मैं वहां के जंगम सम्प्रदाय के साधुओं के साथ रहने लगा। अस्तु। सिद्ध महापुरुषों के अनुसन्धान के अर्थ मैंने चारों ओर की हिमाच्छादित पर्वतमालाओं में भ्रमण करनेका संकल्प किया। परन्तु विस्तृत हिम और संकटमय पार्वतीयपथ के विषय में चिन्ता करके, महापुरुषों के अनुसन्धान के सम्बन्ध में, मैं पहिले उन प्रदेशों के रहने वाले लोगों से जिज्ञासा करने लगा। किन्तु मेरी बात को सुनकर, वे सब ही मुझे अज्ञ और भ्रान्त-विश्वासी समझने लगे। फलतः इस प्रकार बीस दिन तक व्यर्थ पर्यटन करके, मैं निरुत्साहित हो गया।

लौटते हुए तुंगनाथ की चोटी पर चढ़ गया। वहां एक मन्दिर के भीतर बहुत-सी देवमूर्त्ति और पुरोहितों को देखकर, मैं उसी दिन चोटी से नीचे उतर आया। उतरते समय मुझे अपने सामने दो मार्ग दीख पड़े। उनमें से एक पश्चिम की ओर, और दूसरा दक्षिण पश्चिम की ओर जाता था। मैंने किसी प्रकार की विवेचना न करके, जंगल की ओर जाने वाले मार्ग का अवलम्बन किया। उस मार्ग पर चलते-चलते मैं एक निबड़ जंगल के भीतर पहुँच गया। जंगल में स्थान-स्थान पर जल विहीन छोटी-छोटी नदियाँ और छोटे बड़े पत्थर विद्यमान् थे ऐसे निविड़ बनके बीच में पहुँच, मैं यह सोचने लगा कि उच्चतर पर्वत के ऊपर चढ़ूं या नीचे की ओर चलूं।

अन्त में यह सोचकर कि पर्वत के ऊपर चढ़ना विशेष विघ्न संकुल है, तृणलता और गुल्मों को दृढ़ रूप में पकड़कर, मैं एक जल विहीन नदी के अपेक्षाकृत ऊँचे तट पर पहुँच गया। उसके पश्चात् एक ऊँचे शिलाखण्ड के ऊपर खड़ा हो गया, तो मैंने चारों ओर केवल ऊँचे-ऊँचे प्रस्तर खण्ड और अविश्रान्त अरण्य देखे। अस्तु। यद्यपि कान्टों के आघात से मेरा सारा शरीर क्षत हो गया था और मेरे दोनों पैर चलने की शक्ति से विहीन हो गये थे, तो भी मैं उस वन भूमिसे निकलने के लिये फिर आगे बढ़ा।

कुछ देर पश्चात् एक पर्वत के नीचे पहुँच कर मार्ग का सन्धान प्राप्त हुआ। निकट ही कई श्रेणी बद्ध पर्ण-कुटियें थीं। मैंने उन पर्ण कुटियों में रहने वालोंसे जिज्ञासा की। उन्होंने कहाकि यह मार्ग ओखी-मठ तक चला गया है। यद्यपि उस समय चारों ओर अन्धकार फैल गया था, तो भी मैं उस मार्ग का परित्याग न करने का यत्न करता हुआ धीरे-धीरे चलने लगा। अन्त में ओखी-मठ में पहुँचकर रात्रि-यापन किया।

प्रातःकाल मैं फिर गुप्तकाशी में आया। और वहाँ से ओखी-मठ में आकर वहां के महन्त के साथ बातचीत की। महन्त मुझको शिष्यत्व ग्रहण करने के निमित्त अनुरोध करने लगा। और, इस प्रकार के प्रलोभन युक्त प्रस्ताव करने लगा कि उसकी मृत्यु के पश्चात् महन्त पद पर अधिष्ठित होकर, मैं लाखों रुपये का स्वामी हो जाऊँगा। उसके उत्तर में मैंने सरल भाव से कहा कि सम्पत्ति या सांसारिकता में मेरा अनुराग नहीं है। यदि ऐसा होता, तो मैं कभी घर छोड़ कर न आता। क्योंकि मेरे पिता की सम्पत्ति आपके मठ की सम्पत्ति की अपेक्षा से किसी अंश में भी न्यून न थी। मैंने सम्पत्ति-उपभोग के लिये संसार त्याग नहीं किया, अपितु जिस गूढ़ ज्ञान के प्राप्त होने से मुक्ति रूपी परम-पद के लाभमें मैं समर्थ हो सकूं, उसी के उपार्जन करने के लिये मैंने संसार त्याग किया है।

तब महन्त ने मेरे साधु-संकल्प की प्रशंसा करके वहां कुछ दिन ठहरने के निमित्त अनुरोध किया। किन्तु मैंने उसके उत्तर में कुछ नहीं कहा। दूसरे दिन प्रातःकाल मैं वहाँ से जोशी-मठ को चला गया।

जोशी-मठ में शास्त्री, संन्यासी, और योगियों के साथ योग और अन्यांन्य विषयों की आलोचना करके, मैं बद्रीनारायण के मन्दिर को चला गया। वहां के मन्दिर के प्रधान पुरोहित रावल जी थे। मैं रावल जी के साथ कई दिन तक रहा और वेद तथा दर्शन-शास्त्रों के विषय में आलोचना की। बद्रीनारायण के समीपवर्त्ती प्रदेश में किसी योगी वा सिद्ध पुरुष के

दर्शन होना असम्भव सुनकर, मैंने अन्यान्य स्थानों में पर्यटन करने का संकल्प किया।

एक दिन प्रातः चल कर मैं अलखनन्दा के तट पर पहुँचा। अलखनन्दा के दूसरी पार न जाकर उसके उत्पत्ति-स्थल को देखने के अभिप्राय से मैं बड़े क्लेश से हिमकीर्ण मार्ग को अतिक्रमण करने लगा। जब मैं उस स्थान के समीप पहुँचा जो कि अलखनन्दा के उत्पत्ति स्थान के नाम से प्रसिद्ध है, तो मुझे और किसी दिशा में मार्ग दिखाई नहीं दिया। इसलिये नदी के दूसरी पार जाना ही युक्तियुक्त समझा। मेरे शरीर पर बहुत ही अल्पवस्त्र था। इस कारण शीत की अधिकता से मेरा सारा शरीर कम्पायमान होने लगा। इसके अतिरिक्त क्षुधा तृष्णा से भी शरीर अवसन्न हो गया। एक बर्फ के टुकड़े को खाकर मैंने क्षुधा और तृष्णा के निवारण की चेष्टा की; परन्तु उससे न तो क्षुधा ही निवृत्त हुई और न पिपासा ही। उसके अनन्तर मैं अलखनन्दा में उतरा। वह किसी-किसी स्थान में बहुत गहरी थी और उसकी तीर-भूमि सूक्ष्म धारवाले हिम खण्डों के समूह से समावृत्त थी। इस सूक्ष्मधार वाले बर्फ के आघात से मेरे तलवे ऐसे आहत हुए कि उनमें से रक्तस्राव होने लगा। असह्य-शीत से मेरे दोनों पांव ठिठर गये। और, मेरा शरीर एक प्रकार से चेतना रहित हो गया।

ऐसे असीम क्लेश के बाद जब मैं अलखनन्दा के दूसरी पार पहुँचा, तब शरीर के सारे वस्त्रों को एकत्र करके उन क्षतस्थानों को बांधा, किन्तु एक पग भी आगे बढ़ने की शक्ति न रही। ऐसी अवस्था में मैं दूसरों के सहाय का प्रार्थी होकर खड़ा था कि इतने में ही घटनावश पर्वतीय प्रदेश के रहनेवाले, दो जन मेरे पास उपस्थित हुए। उन्होंने मुझे अपने साथ ले चलने को बारम्बार अनुरोध किया; परन्तु मैंने उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया। कारण यह कि उस समय मुझ में चलने की शक्ति कुछ भी नहीं थी। मेरे लिये तो उस समय एक मात्र मृत्यु ही वांछित-विषय हो रहा था। परन्तु मेरे अन्दर ज्ञान की स्पृहा ऐसी प्रबल थी कि मैंने मृत्यु कामना का परिहार किया। और, कुछ देर विश्राम करके धीरे-धीरे चलकर वसुधारा नामक पवित्र स्थान में पहुँचा।

वसुधारा से बद्रीनारायण के मन्दिर में प्रायः आठ घड़ी रात गये जा पहुँचा। मन्दिर के स्वामी रावल जी ने मुझे देखकर कुछ विस्मय प्रकाश पूर्वक सारे दिन का संवाद पूछा। मैंने उनसे क्रमबद्ध वृत्तान्त वर्णन करके आहार किया और मैं मन्दिर में ही सो गया। दूसरे दिन रावल जी से विदा होकर रामपुर की ओर चल पड़ा। रामपुर में रामगिरि नामक साधु के घर में पहुँचा। रामगिरि कभी सोते नहीं थे, सारी रात जागृत रह कर कथा-वार्ता कहते रहते थे। कभी चिल्लाने लगते थे और कभी रोने लगते थे। अकेले रहते हुए और इस प्रकार व्यवहार करते हुए भी शांत नहीं होते थे। मैंने उनके शिष्यों से सुना कि यह उनका स्वभाव ही है। वहां से काशीपुर और, फिर वहां से द्रोणसागर जाकर शीत ऋतु व्यतीत की। द्रोणसागर से मुरादाबाद होता हुआ, सम्भल गया। गढ़मुक्तेश्वर को जाते हुए मुझे भागीरथी के दर्शन हुए।

उस समय मेरे पास हठ-प्रदीपिका, योग-बीज और शिव-सन्ध्या प्रभृति ग्रन्थ थे। मैं भ्रमण-काल में इन सब ग्रन्थों का पाठ किया करता था। उनमें से मैंने नाड़ी-चक्र का विवरण पढ़ा। वह मुझे सत्य प्रतीत नहीं हुआ। प्रत्युत उस विषय में, मेरे चित्त में संशय उत्पन्न हो गया। संशयजाल को तोड़ने के अभिप्राय से, मैं एक दिन नदी के भीतर से, एक शव खींच लाया। एक छुरी द्वारा उस शव को उत्तम रीति से चीरकर, उस ग्रन्थ को सम्मुख रख लिया और ग्रन्थोल्लिखित वर्णन के साथ चीरे हुए शव के अनेक अंगों को मिलाकर देखने लगा। परन्तु, उसके किसी अंग में भी ग्रन्थ वर्णित नाड़ी-चक्र का निदर्शन-मात्र भी न पाकर, उस शव के साथ ही, मैंने उस ग्रन्थ को भी टुकड़े-टुकड़े करके नदी में फेंक दिया।

उस समय से वेद, उपनिषद्, पातंजल और सांख्य के भिन्न और जिन-जिन ग्रंथों में योग की कथा का उल्लेख है, उन सब को ही मैं मिथ्या

समझने लगा। इस घटना के पश्चात् कुछ काल तक गंगा के तट पर रहकर, मैं फर्रुखाबाद आया। और, वहां से संवत् १६१२ वि० में कानपुर आया। उसके पश्चात् इलाहबाद और मिर्जापुर प्रभृति स्थानों में भ्रमण करके काशी में पहुँचा। वहां गंगा और वरुणा के संगम के स्थान पर एक कुटि के भीतर रहा। और, वहाँ के राजाराम शास्त्री और काकाराम शास्त्री प्रभृति पण्डितों से परिचित्त हो गया।। काशी से चाण्डालगढ़ आया। मैं उस समय योगानुशीलन में अधिक समय व्यतीत करता था। और, अन्नाहार मैंने त्याग दिया था। केवल दूध पान करके ही देह धारण करता था। परन्तु दुःख का विषय है कि मुझे उस समय विजया पीने की बान पड़ गई थी।

चाण्डालगढ़ के निकटस्थ, एक गांव के एक शिवालय में, एक दिन रात्रि यापन के लिये उपस्थित हुआ। भाँग से उत्पन्न हुई मादकता के वश से मुझे वहाँ गहरी नींद आ गई। मेरे विवाह के सम्बन्ध में पार्वती के साथ महादेव की बात-चीत होरही है-ऐसा एक स्वप्न देखकर, मैं जाग पड़ा। उस समय वर्षा हो रही थी। सुतराम मन्दिर के बरामदे में गया। वहाँ नन्दी-वृष-देवता की एक विशाल—मूर्ति थी। अपनी पुस्तकादि को नन्दी की मूर्ति के ऊपर रखकर मैं उस के पीछे बैठ गया। सहसा ही नन्दी मूर्ति के भीतर दृष्टिपात करने से मुझे विदित हुआ कि उसमें एक मनुष्य बैठा हुआ है। मेरे उसकी ओर हाथ फैलाने पर ही वह कूद कर भाग गया। तब मैं उस ही शून्य-गर्भ मूर्ति के भीतर बैठकर, अवशिष्ट रात्रि भर सोता रहा।

प्रातःकाल एक वृद्धा वृष देवता की पूजा के लिये आई। मैं उस समय वृष देवता के भीतर ही बैठा हुआ था। कुछ देर पीछे वह वृद्धा दही और गुड़ लेकर आई। और मुझे ही वृष देवता समझकर दही और गुड़ मेरे सामने रख दिये। मैं भी उस समय क्षुधार्त्त था, मैं उस सब को ही खा गया। विशेषतः अम्लरस विशिष्ट दही के पीने से भाँग की मादकता भी जाती रही। उसके पश्चात् जहाँ से नर्मदा निकली है, उस स्थान के देखने के अभिप्राय से यात्रा की। मार्ग में अनेक बन-जंगल पड़ते थे। एक स्थान में एक जंगली सूअर ने आकर आक्रमण करने की चेष्टा की। उसके गुड़-गुड़ाने पर समीपवर्तीय लोग मेरी रक्षा के निमित्त आ पहुँचे। किन्तु उनके पहुँचने के पहिले ही मैंने वराह से अपनी रक्षा कर ली थी।

इसके पीछे उन्होंने यह कह कर कि अरण्य में व्याघ्रादि हिंसक जन्तुओं का कवल हो जाऊँगा, मुझ से लौट जाने का अनुरोध किया। परन्तु उनकी बात को न सुनकर, मैं क्रमशः आगे ही चल दिया। स्थान-स्थान में मैंने हस्तियों के उखाड़े वृक्ष देखे। एक स्थान में कण्टक क्षत से देह अनेक जगहों से विछिन्न हो गई। क्रमशः चारों दिशायें संध्या के अंधकार में आवृत्त होने लगीं। उस समय मैंने थोड़ी दूर पर ही अग्नि का प्रकाश देखकर मनुष्यों के निवास का निदर्शन पाया। और, प्रकाश की ओर चलते-चलते कई-एक पर्ण कुटियों के समीप पहुँचा।

वहाँ एक छोटी नदी थी। मैंने उसके जल में क्षत स्थान को धोया। और, एक विशाल वृक्ष के नीचे बैठ गया। वहाँ के लोग मेरे निकट आये और मेरे आहार के लिये दुग्ध लाये। सारी रात वे मेरी रक्षा करते रहे और इस प्रकार उन्होंने परम-आतिथ्य का परिचय दिया। मैं उनके आतिथ्य से परितुष्ट होकर गहरी नीद में सो गया। प्रातःकाल उठकर मैंने सन्ध्यावन्दन किया और उसके पश्चात् भविष्यत् के लिये प्रस्तुत होने लगा।

॥ ओ३म् ॥

स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश

सम्पादक का निवेदन

अपने संसार प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थ-प्रकाश' के अन्त में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने मन्तव्यों और अमन्तव्यों का उल्लेख किया है। सत्यर्थ-प्रकाश का प्रथम संस्करण महर्षि के जीवन-काल में सम्वत् १९३१ वि० में प्रकाशित हुआ था। उसमें केवल बारहवें समुल्लास तक का ही मुद्रण हुआ था। क्योंकि जनता की मांग बहुत अधिक थी, इसलिये महर्षि नें तब अपूर्ण ग्रन्थ ही प्रकाशित करवा दिया था, यदि सम्पूर्ण ग्रन्थ का प्रकाशन तब किया जाता, तो बहुत अधिक विलम्ब हो जाता। उस समय एक ओर तो मुद्रण का प्रबन्ध अनेक त्रुटियों से पूर्ण था और कार्य बहुत मन्थर-गति से हो रहा था, दूसरी ओर धर्म-प्रिय जनता महर्षि के क्रान्तिकारी विचारों को लिपि-बद्ध रूप में देखने के लिये अत्यन्त अधीर हो रही थी, अतः महर्षि ने तब अपूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन की ही अनुमति दे दी थी। महर्षि के पत्रों और विज्ञापनों से यही कारण, सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम संस्करण में 'अन्तिम दो समुल्लासों' और 'स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश' के न प्रकाशित होने के, निर्विवाद रूप में, प्रमाणित हो चुके हैं।

सत्यार्थ प्रकाश का महर्षि द्वारा संशोधित, दूसरा संस्करण महर्षि के निधन के पश्चात् सम्वत् १९३९ वि० में प्रकाशित हुआ था। उसकी भूमिका में महर्षि लिखते हैं—

"यह ग्रन्थ १४ समुल्लास अर्थात् चौदह विभागों में रचा गया है। इसमें १० समुल्लास पूर्वार्द्ध और ४ उत्तरार्द्ध में बने हैं। परन्तु अन्त्य के दो समुल्लास और पश्चात् स्वसिद्धान्त किसी कारण से प्रथम न छप सके थे, अब वे भी छपवा दिये हैं।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश' का प्रथमवार प्रकाशन, 'सत्यार्थप्रकाश के दूसरे संस्करण के साथ ही सम्भव हो सका था। इससे यह भी स्पष्ट है कि 'स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश' महर्षि का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। तथापि श्रीमती परोपकारिणी सभा अजमेर द्वारा, एवं और भी पुस्तक प्रकाशकों द्वारा, समय-समय पर इसका पृथक्-प्रकाशन होता रहता है।

'स्वमन्तव्यामन्तव्य—प्रकाश' की सहायता से महर्षि के लेखों, उपदेशों और उद्देश्यों के वास्तविक अर्थों, भावों और रहस्यों को समझना आसान हो जाता है। अपने मन्तव्यों और अमन्तव्यों को संक्षिप्त शब्दों में लिपि-बद्ध करना, महर्षि के अपूर्व-साहस, अगाध-पाण्डित्य, परिपक्व-शास्त्र-परिज्ञान, उदात्त आत्म-विश्वास एवं उनकी क्रान्त-दर्शिता का परिचायक है। प्राचीन आचार्यों में ऐसे तो बहुत हैं, जिन्होंने बड़े-बड़े ग्रन्थों की रचनायें की हैं, अपने-अपने ग्रन्थों में प्रयुक्त परिभाषाओं का संकलन और भाव-विस्तार किया है, परन्तु महर्षि दयानन्द के समान, अपने सम्पूर्ण मन्तव्यों और अमन्तव्यों का साहस पूर्वक उल्लेख करने वाला कोई एक भी आचार्य मुझे नहीं मिला। यदि महर्षि दयानन्द और ग्रन्थोंका निर्माण न करते, और केवलमात्र इस स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश की ही रचना कर जाते, तब भी वे अवश्य ही आदरणीय और चिरस्मरणीय होते।

संख्या में ये मन्तव्य और अमन्तव्य ५१ हैं। ये ही वे सिद्धान्त हैं, जिनके प्रचार के लिये महर्षि ने अपना आन्दोलन चलाया था, ग्रन्थों का निर्माण किया था, आर्य समाज की स्थापना की थी और अनेकानेक लोकोपयोगी प्रगतियों का संचालन किया था। आर्य समाज के नियमोंके अनुसार इन ५१ सिद्धान्तों को जानना, मानना और इनके अनुसार दृढ़ता पूर्वक आचरण करना, सब आर्यों के लिये अत्यावश्यक है।

—सम्पादक

ओ३म्

स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः

सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् साम्राज्य सार्वजनिक धर्म, जिसको सदा से सब मानते आये, मानते हैं और मानेंगे भी इसीलिये उसको सनातन नित्यधर्म कहते हैं कि जिसका विरोधी कोई भी न हो सके। यदि अविद्यायुक्त जन अथवा किसी मत वाले के भ्रमाये हुए जन, जिसको अन्यथा जानें वा मानें उसका स्वीकार कोई भी बुद्धिमान् नहीं करते, किन्तु जिसको आप्त अर्थात् सत्यमानी, सत्यवादी, सत्यकारी, परोपकारक पक्षपात रहित विद्वान् मानते हैं, वही सब को मन्तव्य और जिसको नहीं मानते वह अमन्तव्य होने से प्रमाण के योग्य नहीं होता। अब जो वेदादि सत्यशास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनिमुनि पर्य्यन्तों के माने हुए ईश्वरादि पदार्थ हैं जिनको कि मैं भी मानता हूँ, सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूँ। मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूँ कि जो तीन काल में सब को एकसा मानने योग्य है। मेरा कोई नवीन कल्पना वा मतमतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है। किन्तु जो सत्य है, उसको मानना, मनवाना और जो असत्य है, उसको छोड़ना और छुड़वाना, मुझको अभीष्ट है, यदि मैं पक्षपात करता, तो आर्य्यावर्त्त में प्रचारित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता। किन्तु जो-जो आर्य्यावर्त्त वा अन्य देशों में अधर्मयुक्त चाल चलन हैं, उनका स्वीकार और जो धर्मयुक्त बातें हैं उनका त्याग नहीं करता, न करना चाहता हूँ। क्योंकि ऐसा करना मनुष्यधर्म से बहिः है। मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख दुःख और हानि लाभ को समझे, अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं; किन्तु अपने सर्व सामर्थ्य से धर्मात्माओं की, चाहे वे महा अनाथ निर्बल और गुण रहित क्यों न हों, उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी, चाहे चक्रवर्ती सनाथ महाबलवान् और गुणवान् भी हो, तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे। अर्थात् जहाँ तक हो सके वहाँ तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति, सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें। परन्तु इस मनुष्यपनरूप धर्म से पृथक् कभी न होवे। इसमें श्रीमान् महाराजा भर्तृहरिजी आदि ने श्लोक कहे हैं, उनका लिखना उपयुक्त समझ कर लिखता हूँ—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥ १॥
× भर्तृहरिः॥

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्,
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये,
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥२॥ महाभारते

× नीति-निपुण लोग निन्दा करें, या स्तुति, लक्ष्मी आये या जहाँ चाहे, जाये, मृत्यु आज हो या युग-युगान्तर में, धर्म परायण धीरजन न्याय-पथ से कभी भी विचलित नहीं होते॥ १॥

मनुष्य को उचित है कि काम, भय, लोभ आदि किसी भी कारण से, एवं प्राणों के संकट में पड़ जाने पर भी, धर्म का परित्याग न करे; क्योंकि सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख तो होता ही रहता है। सुख

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥ ३ ॥
मनु० ॥

सत्यमेव जयते नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥४॥
नहि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
नहि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात् सत्यं समाचरेत् ५
उपनिषद् !'

इन्हीं महाशयों के श्लोकों के अभिप्राय के अनुकूल सबको निश्चय रखना योग्य है। अब मैं जिन-जिन पदार्थोंको, जैसा-जैसा मानता हूँ उन-उनका वर्णन संक्षेपसे यहां करता हूँकि जिनका विशेष व्याख्यान इस ग्रन्थमें अपने-अपने प्रकरणमें कर दिया है। इनमें से:-

१—प्रथम 'ईश्वर' कि जिसके ब्रह्म, परमात्मादि नाम हैं, जो सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त है, जिसके गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं, जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता, सब जीवों को कर्मानुसार सत्य न्याय से फलदाता आदि लक्षणयुक्त है, उसी को परमेश्वर मानता हूँ ॥

२—चारों "वेदों" (विद्या धर्मयुक्त ईश्वरप्रणीत संहिता मन्त्र भाग) को निर्भ्रांत स्वतःप्रमाण मानता हूँ, वे स्वयं प्रमाणरूप हैं कि जिनके प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं, जैसे सूर्य्य वा प्रदीप अपने स्वरूप के स्वतःप्रकाशक और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं, वैसे चारों वेद हैं, और चारों वेदों के ब्राह्मण, छः अंग, छः उपांग, चार उपवेद और ११२७ (ग्यारहसौ सत्ताईस) वेदों की शाखा, जो कि वेदों के व्याख्यानरूप ब्रह्मादि महर्षियों के बनाये ग्रन्थ हैं, उनको परतःप्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और जो इनमें वेदविरुद्ध वचन हैं, उनका अप्रमाण करता हूँ ॥

३—जो पक्षपातरहित न्यायाचरण, सत्यभाषणादि युक्त ईश्वराज्ञा वेदों से अविरुद्ध है, उसको "धर्म" और जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण मिथ्याभाषणादि ईश्वराज्ञाभङ्ग वेदविरुद्ध है, उसको "अधर्म" मानता हूँ ॥

४—जो इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और ज्ञानादि गुणयुक्त, अल्पज्ञ, नित्य है उसी को "जीव" मानता हूँ ॥

५—जीव और ईश्वर स्वरूप और वैधर्म्य से भिन्न और व्याप्य व्यापक और साधर्म्य से अभिन्न हैं। अर्थात् जैसे आकाश से मूर्तिमान् द्रव्य कभी भिन्न न था, न है, न होगा और न कभी एक था, न है, न होगा, इसी प्रकार परमेश्वर और जीव को व्याप्य व्यापक, उपास्य उपासक और पिता पुत्र आदि सम्बन्धयुक्त मानता हूँ ॥

६—"अनादि पदार्थ" तीन हैं। एक ईश्वर, द्वितीय जीव, तीसरा प्रकृति। अर्थात् जगत् का कारण

और दुःख अनित्य है; परन्तु धर्म नित्य है। इसी प्रकार जीव भी नित्य है, परन्तु जीव के जन्म और मरण का कारण अनित्य है ॥ २ ॥

धर्म ही एक मात्र ऐसा श्रेष्ठ मित्र है, जो कि मृत्यु के पश्चात् भी जीव के साथ ही जाता है। और सब मित्र, बन्धु बान्धव तथा पदार्थ तो शरीर के नाश के साथ ही साथ नष्ट हो जाते हैं ॥ ३ ॥

सत्य की ही सदैव विजय होती है, असत्य की नहीं। सत्य से ही ज्ञान का मार्ग विस्तृत होता है। आप्त कामनाओं वाले ऋषि लोग निश्चय करके, जहाँ आक्रमण करते हैं, अर्थात् जिसको प्राप्त करने का यत्न निरन्तर किया करते हैं, वह सत्य का ही सर्वोत्कृष्ट स्थान है ॥ ४ ॥

सत्य से बढ़कर और कोई धर्म नहीं है और न ही असत्य से बड़ा कोई पातक है। सत्य से बढ़कर कोई दूसरा ज्ञान भी नहीं है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य को उचित है कि वह सब कालों और सब अवस्थाओं में एक-मात्र सत्य का ही व्यवहार करे ॥ ५ ॥

इन्हीं को नित्य भी कहते हैं। जो नित्य पदार्थ हैं, उनके गुण, कर्म, स्वभाव भी नित्य हैं ॥

७—"प्रवाह से अनादि" जो संयोग से द्रव्य, गुण, कर्म उत्पन्न होते हैं वे वियोग के पश्चात् नहीं रहते, परन्तु जिससे प्रथम संयोग होता है; वह सामर्थ्य उनमें अनादि है और उससे पुनरपि संयोग होगा तथा वियोग भी, इन तीनों को प्रवाह से अनादि मानता हूँ ॥

८—"सृष्टि" उसको कहते हैं, जो पृथक् द्रव्यों का ज्ञान युक्ति पूर्वक मेल होकर नानारूप बनना ॥

९—"सृष्टि का प्रयोजन" यही है कि जिसमें ईश्वर के सृष्टि निमित्त गुण, कर्म स्वभाव का साफल्य होना। जैसे किसी ने किसी से पूछा कि नेत्र किस लिये हैं? उसने कहा देखने के लिये। वैसे ही सृष्टि करने के ईश्वर के सामर्थ्य की सफलता सृष्टि, करने में है और जीवों के कर्मों का यथावत् भोग करना आदि भी ॥

१०—"सृष्टिसकर्तृक" है। इसका कर्त्ता पूर्वोक्त ईश्वर है। क्योंकि सृष्टि की रचना देखने और पदार्थ में अपने आप यथायोग्य बीजादि स्वरूप बनने का सामर्थ्य न होने से सृष्टि का "कर्त्ता" अवश्य है ॥

११—"बन्ध" सनिमित्तक अर्थात् अविद्या निमित्तसे है। जो-जो पाप कर्म ईश्वरभिन्नोपासना, अज्ञानादि सब दुःख फल करने वाले हैं इसलिये यह "बन्ध" है कि जिसकी इच्छा नहीं और भोगना पड़ता है ॥

१२—"मुक्ति" अर्थात् सर्व दुःखों से छूटकर, बन्ध रहित सर्वव्यापक ईश्वर और उसकी सृष्टि में स्वेच्छा से विचरना, नियत समय पर्यन्त मुक्ति के आनन्द को भोग के पुनः संसार में आना ॥

१३—"मुक्ति के साधन" ईश्वरोपासना अर्थात् योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्य से विद्या प्राप्ति, आप्त विद्वानों का सङ्ग, सत्यविद्या, सुविचार और पुरुषार्थ आदि हैं ॥

१४—"अर्थ" वह है कि जो धर्म ही से प्राप्त किया जाय और जो अधर्म से सिद्ध होता है, उसको 'अनर्थ' कहते हैं ॥

१५—"काम" वह है कि जो धर्म और अर्थ से किया जाय ॥

१६—"वर्णाश्रम" गुण कर्मों की योग्यता से मानता हूँ ॥

१७—"राजा" उसी को कहते हैं, जो शुभ गुण, कर्म स्वभाव से प्रकाशमान, पक्षपातरहित न्यायधर्म की सेवा, प्रजाओं में पितृवत् वर्त्ते और उनको पुत्रवत मान के, उनकी उन्नति और सुख बढ़ाने में सदा यत्न किया करे ॥

१८—"प्रजा" उसको कहते हैं कि जो पवित्र गुण, कर्म, स्वभाव को धारण करके, पक्षपात रहित न्याय धर्म के सेवन से राजा और प्रजा की उन्नति चाहती हुई, राजविद्रोह रहित, राजा के साथ पुत्रवत् वर्त्ते ॥

१९—जो सदा विचार कर असत्य को छोड़ सत्यका ग्रहण करे, अन्यायकारियों को हटावे और न्यायकारियों को बढ़ावे। अपने आत्मा के समान सब का सुख चाहे, सो "न्यायकारी" है, उसको मैं भी ठीक मानता हूँ ॥

२०—"देव" विद्वानों को और अविद्वानों को "असुर" पापियों को "राक्षस" अनाचारियों को "पिशाच" मानता हूँ ॥

२१—उन्हीं विद्वानों, माता, पिता, आचार्य्य, अतिथि, न्यायकारी राजा और धर्मात्मा जन, पतिव्रता स्त्री और स्त्रीव्रत पति का सत्कार करना "देवपूजा" कहाती है, इससे विपरीत 'अदेवपूजा'। इनकी मूर्तियों को पूज्य और इतर पाषाणादि जड़मूर्त्तियों को सर्वथा अपूज्य समझता हूँ ॥

२२—"शिक्षा" जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मा, जितेन्द्रियतादि की बढ़ती होवे और अविद्यादि दोष छूटें, उसको शिक्षा कहते हैं ॥

२३—"पुराण" जो ब्रह्मादि के बनाये, ऐतरेयादि ब्राह्मण पुस्तक हैं, उन्हीं को पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा और नाराशंसी नाम से मानता हूँ अन्य भागवतादि को नहीं ॥

२४—"तीर्थ" जिससे दुःखसागर से पार उतरे कि जो सत्यभाषण, विद्या, सत्संग, यमादि योगाभ्यास,

पुरुषार्थ, विद्यादानादि शुभ कर्म हैं, उन्हीं को तीर्थ समझता हूँ, इतर जलस्थलादि को नहीं ॥

२५—"पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा" इसलिये है कि जिससे संचित प्रारब्ध बनते, जिसके सुधरने से सब सुधरते और जिसके बिगड़ने से सब बिगड़ते हैं, इसी से प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ बड़ा है ॥

२६—"मनुष्य" को सब से यथायोग्य स्वात्मवत् सुख, हानि, लाभ में वर्त्तना श्रेष्ठ, अन्यथा वर्त्तना बुरा समझता हूँ ॥

२७—"संस्कार" उसको कहते हैं कि जिससे शरीर, मन और आत्मा उत्तम होवे। वह निषेकादि श्मशानान्त सोलह प्रकार का है। इसको कर्त्तव्य समझता हूँ और दाह के पश्चात् मृतक के लिये कुछ भी न करना चाहिये ॥

२८—"यज्ञ" उसको कहते हैं कि जिसमें विद्वानों का सत्कार, यथायोग्य शिल्प अर्थात् रसायन जो कि पदार्थविद्या, उससे उपयोग और विद्यादि शुभगुणों का दान, अग्निहोत्रादि जिनसे वायु, वृष्टि, जल, औषधि की पवित्रता करके सब जीवों को सुख पहुँचाना है, उसको उत्तम समझता हूँ ॥

२९—जैसे "आर्य" श्रेष्ठ और "दस्यु" दुष्ट मनुष्यों को कहते हैं, वैसे ही मैं भी मानता हूँ ॥

३०—"आर्य्यावर्त्त" देश इस भूमि का नाम इसलिये है कि इसमें आदि सृष्टि से आर्य्य लोग निवास करते हैं, परन्तु इसकी अवधि उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पश्चिम में अटक और पूर्व में ब्रह्मपुत्र नदी है। इन चारों के बीच में जितना देश है, उसको "आर्य्यावर्त्त" कहते और जो इनमें सदा रहते हैं उनको भी आर्य कहते हैं ॥

३१—जो साङ्गोपाङ्ग वेदविद्याओं का अध्यापक, सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे, वह "आचार्य" कहाता है ॥

३२—"शिष्य" उसको कहते हैं कि जो सत्य शिक्षा और विद्या को ग्रहण करने योग्य, धर्मात्मा, विद्याग्रहण की इच्छा और आचार्य का प्रिय करने वाला है ॥

३३—"गुरु" माता पिता और जो सत्य को ग्रहण करावे और असत्य को छुड़ावे, वह भी 'गुरु' कहाता है ॥

३४—"पुरोहित" जो यजमान का हितकारी सत्योपदेष्टा होवे ॥

३५—"उपाध्याय" जो वेदों का एकदेश वा अंगों को पढ़ाता हो ॥

३६—"शिष्टाचार" जो धर्माचरणपूर्वक ब्रह्मचर्य से विद्याग्रहण कर, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्यासत्य का निर्णय करके, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग करना है, यही शिष्टाचार और जो इसको करता है, वह शिष्ट कहाता है ॥

३७—प्रत्यक्षादि आठ "प्रमाणों" को भी मानता हूँ ॥

३८—"आप्त" जो यथार्थवक्ता, धर्मात्मा, सब के सुख के लिये प्रयत्न करता है, उसी को "आप्त" कहता हूँ ॥

३९—"परीक्षा" पांच प्रकार की है। इस में से प्रथम जो ईश्वर उसके गुण कर्म स्वभाव और वेदविद्या, दूसरी प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण, तीसरी सृष्टिक्रम, चौथी आप्तों का व्यवहार और पांचवीं अपने आत्मा की पवित्रता विद्या। इन पांच परीक्षाओं से सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण असत्य का परित्याग करना चाहिये ॥

४०—"परोपकार" जिससे सब मनुष्यों के दुराचार दुःख छूटें, श्रेष्ठाचार और सुख बढ़ें, उसके करने को परोपकार कहता हूँ ॥

४१—"स्वतन्त्र" "परतन्त्र" जीव अपने कामों में स्वतन्त्र और कर्मफल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतन्त्र, वैसे ही ईश्वर अपने सत्याचार आदि काम करने में स्वतन्त्र है।

४२—"स्वर्ग" नाम सुख विशेष भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का है ॥

४३—"नरक" जो दुःख विशेष भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का होना है ॥

४४—"जन्म" जो शरीर धारण कर प्रकट होना, सो पूर्व, पर और मध्य भेद से तीनों प्रकार का मानता हूँ ॥

४५—शरीर के संयोग का नाम "जन्म" और वियोगमात्र को "मृत्यु" कहते हैं ॥

४६—"विवाह" जो नियमपूर्वक प्रसिद्धि से अपनी इच्छा करके पाणिग्रहण करना, वह "विवाह" कहाता है ॥

४७—"नियोग" विवाह के पश्चात् पति के मर जाने आदि वियोग में, अथवा नपुंसकत्वादि स्थिर रोगों में, स्त्री वा आपत्काल में पुरुष स्ववर्ण वा अपने से उत्तम वर्णस्थ स्त्री वा पुरुष के साथ सन्तानोत्पत्ति करना ॥

४८—"स्तुति" गुण कीर्त्तन, श्रवण और ज्ञान होना इसका फल प्रीति आदि होते हैं ॥

४९—"प्रार्थना" अपने सामर्थ्य के उपरान्त ईश्वर के सम्बन्ध से जो विज्ञान आदि प्राप्त होते हैं, उनके लिये ईश्वर से याचना करना और इसका फल निरभिमान आदि होता है ॥

५०—"उपासना" जैसे ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं, वैसे अपने करना ईश्वर को सर्वव्यापक, अपने को व्याप्य जानके ईश्वर के समीप हम और हमारे समीप ईश्वर है, ऐसा निश्चय योगाभ्यास से साक्षात् करना, उपासना कहाती है, इसका फल ज्ञान की उन्नति आदि है ॥

५१—"सगुणनिर्गुणस्तुतिप्रार्थनोपासना" जो गुण परमेश्वर में हैं, उनसे युक्त और जो-जो नहीं हैं, उनसे पृथक् मानकर प्रशंसा करना, सगुणनिर्गुण स्तुति, शुभ गुणों के ग्रहण की इच्छा और दोष छुड़ाने के लिये परमात्मा का सहाय चाहना, सगुणनिर्गुण प्रार्थना और सब गुणों से सहित सब दोष से रहित, परमेश्वर को मानकर, अपने आत्मा को उसके और उसकी आज्ञाके अर्पण कर देना, सगुणनिर्गुणोपासना होती है ॥

ये संक्षेप से स्वसिद्धान्त दिखला दिये हैं। इनकी विशेष व्याख्या इसी "सत्यार्थप्रकाश" के प्रकरण २ में है तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि ग्रन्थों में भी लिखी है। अर्थात् जो-जो बात सब के सामने माननीय हैं, उनको मानता अर्थात् जैसे सत्य बोलना सबके सामने अच्छा और मिथ्या बोलना बुरा है, ऐसे सिद्धान्तों को स्वीकार करता हूँ, और जो मतमतान्तर के परस्पर विरुद्ध झगड़े हैं, उनको मैं प्रसन्न नहीं करता। क्योंकि इन्हीं मतवालों ने अपने मतों का प्रचार कर, मनुष्यों को फंसा के, परस्पर शत्रु बना दिये हैं। इस बात को काट, सर्व सत्य का प्रचार कर, सब को ऐक्यमतमें करा, द्वेष छुड़ा, परस्परमें दृढ़ प्रीतियुक्त करा के, सब से सब को सुख लाभ पहुँचाने के लिये मेरा प्रयत्न और अभिप्राय है। सर्वशक्तिमान् परमात्मा की कृपा, सहाय और आप्तजनों की सहानुभूति से "यह सिद्धान्त सर्वत्र भूगोल में शीघ्र प्रवृत्त हो जावे" जिससे सब लोग सहज से धर्म्मार्थ काम मोक्ष की सिद्धि करके सदा उन्नत और आनन्दित होते रहें, यही मेरा मुख्य प्रयोजन है ॥

अलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्वर्य्येषु ॥

ओ३म् शन्नो मित्रः शं वरुणः। शन्नो भवत्वर्य्यमा ॥ शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः। शन्नो विष्णुरुरुक्रमः ॥ नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्। ऋतमवादिषम्। सत्यमवादिषम्। तन्मामावीत्। तद्वक्तारमावीत्। आवीन्माम्। आवीद्वक्तारम्। ओ३म् शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्याणां परमविदुषां श्रीविरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचितः स्वमन्तव्यामन्तव्यसिद्धान्तसमन्वितः सुप्रमाणयुक्तः सुभाषाविभूषितः सत्यार्थप्रकाशोऽयं ग्रन्थः सम्पूर्तिमगमत् ॥

ओ३म्

पंच-महा-यज्ञ-विधि

सम्पादक का निवेदन

वैदिक जीवन-प्रणाली जीवन के सभी महत्वपूर्ण कार्यों, परिवर्तनों, घटनाओं, और सम्बन्धों आदि का प्रतिपादन यज्ञ के रूप में करती है। अखिल विश्व एक महान् यज्ञ है। मानव का आदि और अन्त रहित जीवन-संग्राम यज्ञ है। संयोग और वियोग यज्ञ है। रात और दिन का सम्मिलन, ऋतुओं का परिवर्तन, सूर्य-चन्द्र का उदय और अस्त, व्यक्ति का जीवन-मरण, हँसना, बोलना, बड़े-बड़े युद्ध, सन्धि-विग्रह आदि भी यज्ञ हैं। 'यज्ञ' शब्द का अर्थ बहुत विस्तृत और बहुत गम्भीर है। संक्षेप में—देव-पूजा, संगति-करण और दानमात्र को यज्ञ कहते हैं।

प्राचीन आर्य मर्यादानुसार ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और भूतयज्ञ अथवा बलिवैश्व देवयज्ञ, इन पांच यज्ञों को महायज्ञ कहा जाता है। और, इनको नित्यप्रति विधि एवं श्रद्धा पूर्वक करना, सब वैदिक धर्मी स्त्री-पुरुषों का आवश्यक कर्तव्य है।

महर्षि मनु का आदेश है:—

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा।
नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥

मनु० ४। २१

(ऋषियज्ञ) सन्ध्या (देवयज्ञ) हवन (भूतयज्ञ) बलिवैश्वदेवयज्ञ (नृयज्ञ) अतिथियज्ञ (पितृयज्ञ) अर्थात् माता पिता आदि गुरुजनों की सेवा सुश्रुषा को (यथा शक्ति न हापयेत्) यथाशक्ति छोड़ना न चाहिये। अर्थात् इन पांचों महायज्ञों को नित्य-प्रति विधि पूर्वक करना चाहिये।

ये पांच महायज्ञ वैदिक जीवनचर्या के पांच मूलभूत स्तम्भ हैं। वैदिक आचार्यों ने इन पांच महायज्ञों के आधार पर ही आर्यों के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को व्यवस्थित किया है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती के कार्यक्षेत्र में अवतरण से पूर्व भारतीय जनता में, इन पांच महायज्ञों के प्रति घोर उदासीनता फैल रही थी। यद्यपि सामाजिक रूढ़ियों और रस्मरिवाज, के रूप में इन पंच-महायज्ञों के चिन्ह सर्वत्र ही स्पष्ट रूप में पाये जाते थे, जहाँ-तहाँ कुछ कर्म-काण्डी ब्राह्मणों के जीवन में सन्ध्या और हवन को विशेष स्थान भी तब प्राप्त था। तथापि जनता में इन यज्ञों के विषय में सर्वत्र भारी अज्ञान वर्तमान था। इन यज्ञों के प्रतिपालन के प्रति अश्रद्धा और उदासीनता थी, तथा इन यज्ञों के नाम पर अनेक प्रकारके भ्रान्त विचार और दूषित कृत्य भी प्रचलित थे।

महर्षि ने अपने उपदेशों में सब से पहिले सन्ध्या आदि इन पंच महायज्ञों का ही प्रतिपादन आरम्भ किया था। लेखबद्ध कार्य आरम्भ करते समय भी, उन्होंने सर्व प्रथम वैदिक सन्ध्या को ही लिपिबद्ध किया था। महर्षि द्वारा संकलित वैदिक सन्ध्या का प्रथम संस्करण सम्वत् १९२० विक्रमी में आगरे में मुद्रित हुआ था। धर्मवीर श्री पण्डित लेखराम जी महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन-चरित्र में पृष्ठ ७३ पर लिखते हैं—"स्वामीजी के उपदेश से सेठ रूपलाल ने सन्ध्या की पुस्तक छपवाई, जिसके अन्त में लक्ष्मी-सूक्त था। उसकी तीस हजार प्रतियां छपी थीं और एक आना प्रति पुस्तक की दर से बेची गई थीं। उस पर सेठ रूपलाल का पन्द्रह सौ रुपया व्यय हुआ था।"

महर्षि के जीवन-चरित्र में ऐसे कई उल्लेख है, जिनमें यह उल्लेख है कि महर्षि अपने भक्तों को हस्त लिखित सन्ध्या, भेंट किया करते थे और नियमित रूप में सन्ध्या, अग्निहोत्र आदि के करने पर विशेष बल दिया करते थे। अपने सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका और संस्कार-विधि आदि सुप्रसिद्ध ग्रन्थों में, महर्षि ने अपने पंचमहायज्ञ विषयक विचारों का-अनेक प्रसंगों में विस्तृत उल्लेख किया है।

पंच महायज्ञों के विशेष प्रचार और यज्ञ-प्रेमी जनता की सुविधाके लिये, महर्षिने सम्वत् १६३१ वि० में सर्व-प्रथम अपना 'पंचमहायज्ञ-विधि' ग्रन्थ बम्बई से प्रकाशित करवाया था। महर्षि के जीवन-काल में ही इस के पांच संस्करण प्रकाशित हो चुके थे। इसका दूसरा संस्करण भी महर्षि ने स्वयं ही काशी से सम्वत् १६३४ वि० में प्रकाशित करवाया था। सन्ध्या, हवन आदि के विषय में महर्षि के विभिन्न ग्रन्थों में, जो थोड़ा-थोड़ा भेद वर्तमान है, उसका समाधान और परिहार इस पंचमहायज्ञ-विधि के प्रमाण से ही करना और होना उचित है। अजमेर से जो पंचमहायज्ञ-विधि के अनेक संस्करण छपे हैं, वे महर्षि द्वारा प्रकाशित काशी के संस्करण के ही पुनः सम्पादित रूप हैं।

इस ग्रन्थ में महर्षि ने पूर्व-प्रचलित पंचमहायज्ञ-विधियों का परिष्कृत, वैज्ञानिक एवं शास्त्रीय रूप प्रस्तुत किया है। इसमें महर्षि का दृष्टि-कोण व्यवहारिक और सुधारात्मक है।

महर्षि के प्रचार और पुरुषार्थ का ही यह परिणाम है कि इन दिनों यज्ञ कार्यों के प्रति जनता में पर्याप्त श्रद्धा, जिज्ञासा और प्रेम के भाव उत्पन्न हो गये हैं। और, वैदिक-यज्ञ-संस्था के विभिन्न अंग पुष्ट होते जा रहे हैं।

आगे के पृष्ठों में प्रकाशित 'पंच-महायज्ञ-विधि ग्रन्थ का सम्पूर्ण लेख—"वैदिक यन्त्रालय अजमेर' द्वारा प्रकाशित पन्द्रहवें संस्करण, सम्वत् २००८ वि० के अनुसार है। इसके सम्पादन और संशोधन में हमने 'श्री लाला रामलाल कपूर ट्रस्ट' द्वारा लाहौर से प्रकाशित 'पंच महायज्ञ विधिः' के प्रथम संस्करण से भी सहायता ली है। और, कुछ प्रसंगों में पृष्ठों के नीचे टिप्पणियों के रूप में, कुछ विशेष सूचनाओं का उल्लेख भी किया है।

—सम्पादक

धार्मिक जगत् का विश्व-कोष

महर्षि दयानन्द सरस्वती का संसार में हलचल मचाने वाला प्रसिद्ध ग्रन्थ

सत्यार्थ-प्रकाश (नया विशेष-संस्करण)

वैदिक-धर्म के सत्य-सिद्धान्तों का विशुद्ध स्वरूप दर्शाने और संसार के सब मिथ्यामत-वादों का भण्डा-फोड़ करने वाले इस ग्रन्थ को—यदि अभी तक भी आपने नहीं पढ़ा—तो अब शीघ्र ही पढ़िये। भारतीय संस्कृति, देश, धर्म और जाति के उत्थान के लिये, इस ग्रन्थ से बहुत स्फूर्ति मिलती है। और मनुष्य का व्यक्तित्व उन्नत होता है। तथा विचारों में परिपक्वता आती है।

विषय-सूची, शब्दानुक्रमणिका, अकारादिक्रम से प्रमाण सूची, तथा सत्यार्थ-प्रकाश के सिद्धान्तों पर होने वाले आक्षेपों के उत्तर आदि सहित। पृष्ठ संख्या—८५० है। मूल्य—२) सजिल्द २॥) कपड़े की जिल्द ३) डाक व्यय पृथक्।

मिलने का पता—गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, देहली

पञ्च-महा-यज्ञ-विधिः
अथ सन्ध्याशब्दानामर्थनिर्देशः

अभिष्टये=इष्ट आनन्द की प्राप्ति के लिये
अभि=सब तरफ से
अभीद्धात्=सब तरफ से प्रकाशित
अध्यजायत=पैदा हुआ
अजायत=पैदा हुआ
अर्णवः=जल वाला
अधि=पीछे
अहः=दिन
अकल्पयत्=रचा
अथो=पीछे
अन्तरिक्षम्=बीच आकाश में रहने वाले लोक
अग्नि=प्रकाशस्वरूप
अधिपतिः=स्वामी
अस्तु=हो
असितः=निर्बन्धन
अस्मान्=हमको
अन्नम्=पृथिव्यादि भोग्यपदार्थ
अशनिः=बिजली
अगन्म=प्राप्त हों
अनीकम्=बल
अग्नेः=प्रकाशक की
अदीनाः=स्वाधीन
आपः=व्यापक
आदित्याः=सूर्यकिरणें
आप्राः=सब तरफ से धारण तथा रक्षा करता है
आत्मा=सर्वत्र व्यापक
इषवः=बाण
इन्द्रः=ऐश्वर्यवाला

उदीची=उत्तर
उत्तरम्=पीछे
उत्तमम्=अच्छा
उ=निश्चय
उद्=अच्छा
उद्गात्=उत्कृष्टता से प्राप्त
उच्चरत्=उत्कृष्टता से व्याप्त
ऊर्ध्वा=ऊपर
ऋतम्=वेद
एभ्यः=इनके लिये
ओम्=रक्षा करने वाला
कण्ठः=गला
कर=हाथ
कण्ठे=गले में
कल्माष=हरित
केतवः=किरणें
खम्=आकाश की तरह व्यापक
ग्रीवा=गरदन
चक्षुः=आँख
च=और
चन्द्रमा=चांद
चित्रम्=अद्भुत
ज्योतिः=स्वप्रकाश
जीवेम=जीवें
जातवेदसम्=जिससे वेद पैदा हुए उसको
जगतः=चर संसार का
जनः=पैदा करने वाला
जम्भे=वश में
त्यम्=उसको
तस्थुषः=स्थावर का

तत्=वह
तपः=ज्ञानरूप
तपसः=सामर्थ्य से
ततः=फिर
तेभ्यः=उनके लिये
तम्=उसको
तिरश्चि=कीड़े बिच्छू वगैरह
तमसः=अन्धकार से
तल=तला
देवीः=प्रकाशक
दिवम्=सूर्यादिलोक को
दिग्=दिशा
द्वेष्टि=द्वेष करता है
द्विष्मः=द्वेष करते हैं
दध्मः=धारण करें
दक्षिणा=दाहिनी
देवम्=दिव्यरूप
दृशे=देखने को
देवानाम्=विद्वानों के
देवत्रा=देवों, अच्छे गुणवालों
द्यावा=सूर्यलोक
देवस्य=प्रकाशक का
धीमहि=ध्यान करते हैं
धियः=बुद्धियों को
धाता=धारणकर्त्ता
ध्रुवा=नीचली
नः=हमको
नाभिः=टुंडी
नेत्रयोः=नेत्रों को
नाभ्याम्=नाभि में
नमः=नमना

नः=हम पर
प्राणः=प्राणवायु
पुरस्तात्=सृष्टि से पहिले
पश्येम=देखें
प्रब्रवाम=उपदेश करें
प्रचोदयात्=प्रेरणा करे
पीतये=पूर्णानन्द के लिये
पृष्ठे=पीठ में
पादयोः=पैरों में
पुनातु=पवित्र करे
पुनः=फिर
पूर्वम्=पहिले
पृथिवी=ज़मीन
प्राची=पूर्व
प्रतीची=पश्चिम
पितरः=ज्ञानी लोग
पृदाकुः=साँप
पश्यन्तः=देखते हुए
परि=जुदा
बलम्=बल
ब्रह्म=सब से बड़ा
बाहुभ्यां=हाथों से
बृहस्पतिः=बड़ों का स्वामी
भवन्तु=हो
भूः=प्राणदाता
भुवः=दुःखहर्त्ता
भूयः=अधिक
भर्गः=शुद्ध, विज्ञान रूप

मित्रस्य=मित्र के
मयोभवाय=सुखस्वरूप के लिये
मयस्कराय=सुख करने वाले के लिये
महः=बड़ा
मिषतः=स्वभाव से
यथा=जैसे
यशः=कीर्त्ति
यः=जो
यम्=जिसको
रात्रि=रात
रक्षिता=रक्षा करने वाला
राजी=पंक्ति
वरुणस्य=श्रेष्ठकर्म में वर्तमान का
वरेण्यं=ग्रहण के योग्य
वाक्=वाणी
विदधत्=रचते हैं
विश्वस्य=जगत् के
वशी=वश में रखने वाला
वः=उनके
वरुणः=श्रेष्ठस्वामी
वहन्ति=प्राप्त कराते हैं
विष्णुः=व्यापक
वीरुधः=वृक्षादि
वर्षम्=वर्षा
वयम्=हम
शम्=कल्याण
शंयोः=सुख की
शिरः=सिर

श्रोत्रम्=कान
शिरसि=सिर में
श्वित्रः=ज्ञानमय
शुक्रम्=शुद्ध
शरदः=वर्षों के
शतम्=सौ
शंकराय=कल्याणकर्त्ता के लिये
शृणुयाम=सुनें
शतात्=सौ से
शम्भवाय=सुखकारी के लिये
शिवाय=सुखस्वरूप के लिये
शिवतराय=अत्यन्त सुख स्वरूपके लिये
स्रवन्तु=वर्षा करें
स्वः=मध्यस्थलोक, सुखस्वरूप
सत्यम्=अविनाशी
सर्वत्र=सब जगह
समुद्रात्=समुद्र से
संवत्सरः=साल वगैरह
सूर्यः=सूरज, सब जगत् का प्रकाशक
सोमः=पैदा करने वाला
स्वजः=जन्मरहित
सूर्यः=व्यापक
स्याम=हों
स्वाहा=प्यारा बचन बोलना
सवितुः=पैदा करने वाले के
हितम्=भला चाहने वाले
हृदयम्=हृदय
हृदये=हृदय में

आर्य सत्सङ्ग गुटका

[सम्पादक—श्री पण्डित जगत्कुमार शास्त्री]

आर्य-सत्सङ्ग-प्रसङ्गों में उपयोग के लिये स्थान-स्थान से बहुत-सी पुस्तकें छप चुकी हैं; परन्तु सब से बढ़कर सब-प्रियता हमारे इस 'आर्य-सत्सङ्ग-गुटके' को ही प्राप्त हुई है। इसमें सन्ध्या, प्रार्थना मन्त्र, स्वस्तिवाचन, शान्तिप्रकरण, प्रधान हवन, सङ्गठन-सूक्त, आर्य समाज के नियम और भक्ति-रस के मनोहर भजन—उत्तम कागज पर शुद्ध और सुन्दर रूप में छपे हैं।

मूल्य एक प्रति ।–) एक सौ प्रतियाँ २०) रु०। डाकव्यय पृथक्

मिलने का पता :—गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, देहली

॥ ओ३म् ॥

अथ सन्ध्योपासनादिपञ्चमहायज्ञविधिः

छन्दः शिखरिणी

—*—

दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः

सरस्वत्यस्याग्रे निवसति मुदा सत्यनिलया।

इयं ख्यातिर्यस्य प्रकटसुगुणा वेदशरणा-

स्त्यनेनायं ग्रन्थो रचित इति बोद्धव्यमनघाः॥

—:×:—

यह पुस्तक नित्यकर्मविधि का है। इसमें पञ्चमहायज्ञ का विधान है, जिनके ये नाम हैं कि—

ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ,[1] और नृयज्ञ[2] उनके मन्त्र, मन्त्रों के अर्थ और जो-जो करने का विधान लिखा है, सो-सो यथावत् करना चाहिये। एकान्त देश में अपने आत्मा, मन और शरीर को शुद्ध और शान्त करके, उस-उस कर्म में चित्त लगा के, तत्पर होना चाहिये। इन नित्य कर्मों के फल ये हैं कि—

ज्ञानप्राप्ति से आत्मा की उन्नति और आरोग्यता होने से, शरीर के सुख से व्यवहार और परमार्थ कार्य्यों की सिद्धि होना। उससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये सिद्ध होते हैं। इनको प्राप्त होकर मनुष्यों को सुखी होना उचित है।

अथ तेषां प्रकारः। तत्रादौ ब्रह्मयज्ञान्तर्गतसन्ध्याविधानं प्रोच्यते। तत्र—

सन्ध्याशब्दार्थः

'सन्ध्यायन्ति सन्ध्यायते वा परब्रह्म यस्यां सा सन्ध्या'।

तत्र रात्रिन्दिवयोः सन्धिवेलायामुभयोस्सन्ध्ययोः सर्वैर्मनुष्यैरवश्यं परमेश्वरस्यैव स्तुतिप्रार्थनोपासनाः कार्य्याः।

आदौ शरीरशुद्धिः कर्त्तव्या—

सा बाह्या जलादिना, आभ्यन्तरा रागद्वेषासत्यादित्यागेन। अत्र प्रमाणम्—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति, मनः सत्येन शुध्यति।

विद्यातपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

इत्याह मनुः—अ० ५। श्लो० १०९॥

शरीरशुद्धेस्स[3] काशादात्मान्तःकरणशुद्धिरवश्यं सर्वैस्सम्पादनीया। तस्यास्सर्वोत्कृष्टत्वात् परब्रह्मप्राप्त्येकसाधनत्वाच्च।

ततो मार्जनं कुर्यात्—

नैवेश्वरध्यानादावालस्यं भवेदेतदर्थं शिरोनेत्राद्युपरि जलप्रक्षेपणं कर्त्तव्यम्। नो चेन्न।

भाषार्थ—अब सन्ध्योपासनादि पाँच महायज्ञों की विधि लिखी जाती है। और उसमें के मन्त्रों का अर्थ भी लिखा जाता है। पहिले 'संध्या' शब्द का अर्थ यह है कि—(सन्ध्यायन्ति०) भली भांति ध्यान करते हैं वा ध्यान किया जाय परमेश्वर का जिसमें, वह 'संध्या'। सो रात और दिन के संयोग समय दोनों सन्ध्याओं में सब मनुष्यों को परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी चाहिये।

---

१ बलि वैश्वदेव यज्ञ। सं०

२ अतिथि यज्ञ। सं०

३ "अपेक्षया" इत्यर्थः। सं०

पहिले बाह्य जलादि से शरीर की शुद्धि और राग द्वेष आदि के त्याग से भीतर की शुद्धि करनी चाहिये। क्योंकि मनुजी ने अध्याय ५ के १०६ श्लोक (अद्भिर्गात्राणि इत्यादि) में यह लिखा है कि शरीर जल से, मन सत्य से, जीवात्मा विद्या और तप से, और बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है। परन्तु शरीरशुद्धि की अपेक्षा अन्तःकरण की शुद्धि सबको अवश्य करनी चाहिये। क्योंकि वही सर्वोत्तम और परमेश्वर प्राप्ति का एक साधन है।

तब कुशा वा हाथ से मार्जन करे। अर्थात् परमेश्वर का ध्यान आदि करने के समय किसी प्रकार का आलस्य न आवे, इसलिये शिर और नेत्र आदि पर जल प्रक्षेप करे। यदि आलस्य न हो तो न करना।

पुनर्न्यूनान्न्यूनांस्त्रीन् प्राणायामान् कुर्यात्—

अभ्यन्तरस्थं वायुं नासिकापुटाभ्यां बलेन बहिर्निस्सार्य्य यथाशक्ति बहिरेव स्तम्भयेत्। पुनः शनैश्शनैर्गृहीत्वा किंचित् तमवरुध्य पुनस्तथैव बहिर्निस्सारयेदवरोधयेच्च। एवं त्रिवारं न्यूनातिन्यूनं कुर्य्याद्। अनेनात्ममनसोः स्थितिं सम्पादयेत्।

ततो गायत्रीमन्त्रेण शिखां बद्ध्वा रक्षां कुर्य्यात्—

इतस्ततः केशा न पतेयुरेतदर्थं शिखाबन्धनम्। प्रार्थितस्सन्नीश्वरस्सत्कर्मसु सर्वत्र सर्वदा रक्षेन्नः, एतदर्थं रक्षाकरणम्।

भावार्थ—फिर कम से कम तीन प्राणायाम करे। अर्थात् भीतर के वायु को बल से निकाल कर यथाशक्ति बाहर ही रोक दे। फिर शनैः २ ग्रहण करके कुछ चिर भीतर ही रोक के बहार निकाल दे, और वहां भी कुछ रोके। इस प्रकार कम से कम तीन वार करे। इससे आत्मा और मन की स्थिति सम्पादन करे।

इसके अनन्तर गायत्री मन्त्र से शिखा को बांध के रक्षा करे। इसका प्रयोजन यह है कि इधर उधर केश न गिरें, सो यदि केशादि पतन न हो तो न करे। और रक्षा करने का प्रयोजन यह है कि परमेश्वर प्रार्थित होकर सब भले कामों में सदा सब जगह में हमारी रक्षा करे।

अथाचमनमन्त्रः

ओं शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभि स्रवन्तु नः ॥

यजु० अ० ३६। मं० १२॥

भाष्यम्—'आप्लृ व्याप्तौ' अस्माद्धातोरप्शब्दः सिध्यति। अप्शब्दो नियतस्त्रीलिङ्गो बहुवचनान्तश्च। 'दिवु क्रीडाद्यर्थः'। (शन्नो दे०) देव्य आपः सर्वप्रकाशकस्सर्वानन्दप्रदस्सर्वव्यापक ईश्वरः, (अभिष्टये) इष्टानन्दप्राप्तये, (पीतये) पूर्णानन्दभोगेन तृप्तये, (नः) अस्मभ्यं, (शम्) कल्याणं, (भवन्तु) अर्थात् भावयतु प्रयच्छतु। ता आपो देव्यः स एवेश्वरः (नः) अस्मभ्यं, (शंयोः) शम् (अभि स्रवन्तु) अर्थात् सुखस्याभितः सर्वतो वृष्टिं करोतु।

अप्शब्देनेश्वरस्य ग्रहणम्। अत्र प्रमाणम्—

यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः।
असच्च यत्र सच्चान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।

अथ० कां० १०। सू० ७। मं० १०॥

अनेन वेदमन्त्रप्रमाणेनाप्शब्देन परमात्मनोऽत्र ग्रहणं क्रियते॥

एवमनेन मन्त्रेणेश्वरं प्रार्थयित्वा त्रिराचामेत्। जलाभावश्चेन्नैव कुर्यात्। आचमनमप्यालस्यस्य कण्ठस्थकफस्य [च] निवारणार्थम्।

भाषार्थ—अब आचमन करने का मन्त्र लिखते हैं: (ओं शन्नो देवी इत्यादि) इसका अर्थ यह है कि—'आप्लृ व्याप्तौ' इस धातु से अप् शब्द सिद्ध होता है। वह सदा स्त्रीलिंग और बहुवचनान्त है। 'दिवु' धातु अर्थात् जिसके क्रीड़ा आदि अर्थ हैं, उससे देवी शब्द सिद्ध होता है। (देवीः आपः) सब का प्रकाशक, सबको आनन्द देने वाला और सर्वव्यापक, ईश्वर, (अभिष्टये) मनोवाञ्छित आनन्द के लिये, और (पीतये) पूर्णानन्द की प्राप्ति के लिये, (नः) हमको (शम्) कल्याणकारी (भवन्तु) हो, अर्थात् हमारा कल्याण करे। वही परमेश्वर (नः) हम पर (शंयोः) सुख की (अभिस्रवन्तु) सर्वथा वृष्टि करे।

यहाँ 'अप्' शब्द से ईश्वर के ग्रहण करने में प्रमाण

(यत्र लोकांश्च०) जिसमें सब लोक लोकान्तर, कोश अर्थात् सब जगत् का कारणरूप खजाना, जिसमें असत् अदृश्यरूप आकाशादि और सत् स्थूल प्रकृत्यादि सब पदार्थ स्थित हैं, उसी का नाम अप् है। और यह नाम ब्रह्म का है, तथा उसी को स्कम्भ कहते हैं। वह कौनसा देव और कहाँ है? इसका उत्तर यह है कि जो (अन्तः) सब के भीतर व्यापक होके परिपूर्ण हो रहा है, उसी को तुम उपास्य, पूज्य और इष्टदेव जानो। इस वेदमन्त्र के प्रमाण से अप नाम ब्रह्म का है।

इस प्रकार इस मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना करके तीन आचमन करे, यदि जल न हो तो न करे। आचमन से गले के कफादि की निवृत्ति होना प्रयोजन है।

अथेन्द्रियस्पर्शः

ओं वाक् वाक्। ओं प्राणः प्राणः। ओं चक्षुः चक्षुः। ओं श्रोत्रम् श्रोत्रम्। ओं नाभिः। ओं हृदयम्। ओं कण्ठः। ओं शिरः। ओं बाहुभ्यां यशोबलम्। ओं करतलकरपृष्ठे॥

भाष्यम्—एभिः सर्वत्रेश्वरप्रार्थनया स्पर्शः कार्य्यः। सर्वदेश्वरकृपयेन्द्रियाणि बलवन्ति तिष्ठन्त्वित्यभिप्रायः॥

अथेश्वर प्रार्थना पूर्वक मार्जन मन्त्राः

ओं भूः पुनातु शिरसि। ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः। ओं स्वः पुनातु कण्ठे। ओं महः पुनातु हृदये। ओं जनः पुनातु नाभ्याम्। ओं तपः पुनातु पादयोः। ओं सत्यं पुनातु पुनश्शिरशि। ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र॥

भाष्यम्—ओमित्यस्य, भूर्भुवः स्वरित्येतासां चार्थो गायत्रीमन्त्रार्थे द्रष्टव्याः। महरर्थात् सर्वेभ्यो महान् सर्वैः पूज्यश्च। सर्वेषां जनकत्वाज्जनः परमेश्वरः। दुष्टानां संतापकारकत्वात् स्वयं ज्ञानस्वरूपत्वात्, यस्य ज्ञानमयं तपः + इति वचनस्य प्रामाण्यात् तप ईश्वरः। यदविनाशि यस्य कदाचिद् विनाशो न भवेत् तत्सत्यम् √ ब्रह्म व्यापकमिति बोध्यम्॥

इतीश्वरनामभिर्मार्जनं कुर्य्यात्।

अथ प्राणायाममन्त्राः

ओं भूः। ओं भुवः। ओं स्वः। ओं महः। ओं जनः। ओं तपः। ओं सत्यम्॥

तैत्ति० प्रपा० १०। अनु० ७१॥

भाष्यम्—एतेषामुच्चारणार्थविचारपुरस्सरं × पूर्वोक्तप्रकारेण प्राणायामान् कुर्यात्॥

भाषार्थ—अथेन्द्रियस्पर्शः—(ओं वाक् वागित्यादि) इस प्रकार से ईश्वर की प्रार्थनापूर्वक इन्द्रियों का स्पर्श करे। इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर की प्रार्थना से सब इन्द्रिय बलवान् रहें॥

अब ईश्वर की प्रर्थनापूर्वक मार्जन के मन्त्र लिखे जाते हैं—(ओं भूः पुनातु शिरसीत्यादि)। ओंकार, भूः, भुवः और स्वः इनके अर्थ गायत्री मन्त्र के अर्थ में देख लेना। (महः) सब से बड़ा और सबका पूज्य होने से परमेश्वर को मह कहते हैं। (जनः) सब जगत् के उत्पादक होने से परमेश्वर का जन नाम है। (तपः) दुष्टों को संतापकारी और ज्ञानस्वरूप होने से ईश्वर को तप कहते हैं, क्योंकि 'यस्येत्यादि' उपनिषद् का वाक्य इसमें प्रमाण है। (सत्यम्) अविनाशी होने से परमेश्वर का सत्य नाम है। और व्यापक होने से ब्रह्म नाम परमेश्वर का है। अर्थात् पूर्व मन्त्रोक्त सब नाम परमेश्वर ही के हैं॥

इस प्रकार ईश्वर के नामों के अर्थों का स्मरण करते हुए मार्जन करे।

* अब प्राणायाम के मन्त्र लिखते हैं—(ओं भूरित्यादि)। इनके उच्चारण और अर्थ विचारपूर्वक पूर्वोक्त प्रकार के अनुसार प्राणायामों को करे॥

+ मुण्डको० १।१।६॥ √ खम्। सं०

× मानसिकोच्चारणमित्यर्थः। सं०

* मानसिक उच्चारण। सं०

अथाघमर्षणमन्त्राः

अथेश्वरस्य जगदुत्पादनद्वारा स्तुत्याऽघमर्षण-मन्त्रा अर्थात् पापदूरीकरणार्थाः—

ओ३म् ऋतञ्चसत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥१॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी ॥२॥
सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥३॥

ऋ० अ० ८। अ० ८ व० ४८। मं० १-३ ॥

भाष्यम्—(धाता) दधाति सकलं जगत् पोषयति वा स धातेश्वरः, (वशी) वशं कर्तुं शीलमस्य सः, (यथापूर्वम्) यथा तस्य सर्वज्ञे विज्ञाने जगद्रचनज्ञानमासीत्, पूर्वकल्पसृष्टौ यथा रचनं कृतमासीत्तथैव जीवानां पुण्यपापानुसारतः प्राणिदेहानकल्पयत्। (सूर्याचन्द्रमसौ) यौ प्रत्यक्षविषयौ सूर्यचन्द्रलोकौ (दिवम्) सर्वोत्तमं स्वप्रकाशमन्याख्यम् (पृथिवीं) प्रत्यक्षविषयां× (अन्तरिक्षम्) अर्थाद् द्वयोर्लोकयोर्मध्यमाकाशं तत्रस्थाँल्लोकांश्च (स्वः) मध्यस्थं लोकम् (अकल्पयत्) यथापूर्वं रचितवान्। ईश्वरज्ञानस्यापरिणामित्वात्, पूर्णत्वादनन्तत्वात्, सर्वदैकरसत्वाच्च नैव तस्य वृद्धिक्षयव्यभिचारश्च कदाचिद् भवन्ति। अत एव 'यथापूर्वमकल्पयद्' इत्युक्तम्।

स एव वशीश्वरः (विश्वस्य मिषतः) सहजस्वभावेन+ (अहोरात्राणि) रात्रेर्दिवसस्य च विभागं यथापूर्वं (विदधत्) विधानं कृतवान्। तस्य धातुर्वशिनः परमेश्वरस्यैव (अभीद्धात्) अभितः सर्वत इद्धात् दीप्तात् ज्ञानमयात् (तपसः) अर्थादनन्तसामर्थ्यात् (ऋतम्) यथार्थं सर्वविद्याधिकरणं वेदशास्त्रं (सत्यम्) त्रिगुणमयं प्रकृत्यात्मकमव्यक्तं, स्थूलस्य सूक्ष्मस्य जगतः कारणं च (अभ्यजायत) यथापूर्वमुत्पन्नम्।

(ततो रात्री) या तस्मादेव सामर्थ्यात् प्रलयानन्तरं भवति सा रात्रिः, (अजायत) यथापूर्वमुत्पन्नासीत्।

"तम आसीत्तमसा गूढमग्रे ॥
ऋ० अ० ८। अ० ७। व० १७। मं० ३॥"

अग्रे सृष्टेः प्राक् तमोऽन्धकार एवासीत्, तेन तमसा सकलं जगदिदमुत्पत्तेः प्राग् गूढं गुप्तमर्थादृश्यमासीत्।

(ततः समु०) तस्मादेव सामर्थ्यात् पृथिवीस्थोऽन्तरिक्षस्थश्च महान् समुद्रोऽजायत, यथापूर्वमुत्पन्न आसीत्। (समुद्रादर्णवात्) पश्चात् (संवत्सरः) क्षणादिलक्षणः कालोऽध्यजायत। यावज्जगत् तावत् सर्वं परमेश्वरस्य सामर्थ्यादेवोत्पन्नमित्यवधार्य्यम् ॥१-३

एवमुक्तगुणं परमेश्वरं संस्मृत्य पापाद्भीत्वा ततो दूरे सर्वैर्जनैः स्थातव्यम्। नैव कदाचित् केनचित् स्वल्पमपि पापं कर्त्तव्यमितीश्वरज्ञास्तीति निश्चेतव्यम्। अनेनाघमर्षणं कुर्य्यादर्थात्पापानुष्ठानं सर्वथा परित्यजेत्।

भाषार्थ—अब अघमर्षण-अर्थात् हे ईश्वर! तू जगदुत्पादक है, इत्यादि स्तुति करके पाप से दूर रहने के उपदेश के मन्त्र लिखते हैं—(ओं ऋतञ्च सत्यमित्यादि)। इनका अर्थ यह है कि—

(धाता) सब जगत् का धारण और पोषण करने वाला और (वशी) सब को वश करने वाला परमेश्वर, (यथापूर्वम्) जैसा कि उसके सर्वज्ञ विज्ञान में जगत् के रचने का ज्ञान था, और जिस प्रकार पूर्वकल्प की सृष्टि में जगत् की रचना थी, और जैसे जीवों के पुण्य पाप थे, उनके अनुसार ईश्वर ने मनुष्यादि प्राणियों के देह बनाये हैं। (सूर्यचन्द्रमसौ) जैसे पूर्वकल्प में सूर्यचन्द्र लोक रचे थे, वैसे ही इस कल्प में भी रचे हैं। (दिवम्) जैसा पूर्वसृष्टि में सूर्यादि लोकों का प्रकाश रचा था, वैसा ही इस कल्प में भी रचा है। तथा (पृथिवीम्)× जैसी प्रत्यक्ष दीखती है, (अन्तरिक्षम्) जैसा पृथिवी और सूर्यलोक के बीच में पोलापन है, (स्वः) जितने आकाश के बीच

× भूमिम्। सं० + जगतः। सं०

× भूमि जो। सं०

में लोक हैं, उनको (अकल्पयत्) ईश्वर ने रचा है। जैसे अनादिकाल से लोक लोकान्तर को जगदीश्वर बनाया करता है, वैसे ही अब भी बनाये हैं और आगे भी बनावेगा, क्योंकि ईश्वर का ज्ञान विपरीत कभी नहीं होता, किन्तु पूर्ण और अनन्त होने से सर्वदा एकरस ही रहता है, उसमें वृद्धि क्षय और उलटापन कभी नहीं होता। इसी कारण से 'यथापूर्वमकल्पयत्' इस पद का ग्रहण किया है।

(विश्वस्य मिषतः) उसी ईश्वर ने सहज स्वभाव से जगत् के रात्रि, दिवस, घटिका; पल और क्षण आदि को जैसे पूर्व थे वैसे ही (विदधत्) रचे हैं। इसमें कोई ऐसी शंका करे कि ईश्वर ने किस वस्तु से जगत् को रचा है ? उसका उत्तर यह है कि (अभीद्धात् तपसः) ईश्वर ने अपने अनन्त सामर्थ्य से सब जगत् को रचा है। जो कि ईश्वर के प्रकाश से जगत् का कारण प्रकाशित और सब जगत् के बनाने की सामग्री ईश्वर के आधीन है। (ऋतम्) उसी अनन्त ज्ञानमय सामर्थ्य से सब विद्या का खजाना वेद-शास्त्र को प्रकाशित किया जैसा कि पूर्व सृष्टि में प्रकाशित था। और आगे के कल्पों में भी इसी प्रकार से वेदों का प्रकाश करेगा। (सत्यम्) जो त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्त्व, रज और तमोगुण से जो युक्त है, जिसके नाम अव्यक्त, अव्याकृत, सत्, प्रधान [और] प्रकृति हैं, जो स्थूल और सूक्ष्म जगत् का कारण है, सो भी (अध्यजायत) अर्थात् कार्यरूप होके पूर्वकल्प के समान उत्पन्न हुआ है। (ततो रात्र्यजायत) उसी ईश्वर के सामर्थ्य से जो प्रलय के पीछे हजार चतुर्युगी के प्रमाण से रात्रि कहाती है, सो भी पूर्व प्रलय के तुल्य ही होती है। इसमें ऋग्वेद का प्रमाण है कि—"जब जब विद्यमान सृष्टि होती है, उसके पूर्व सब आकाश अन्धकार रूप रहता है, और उसी अन्धकार में सब जगत् के पदार्थ और सब जीव ढके हुए रहते हैं, उसी का नाम महारात्रि है।" (ततः समुद्रो अर्णवः) तदनन्तर उसी सामर्थ्य से पृथिवी और मेघ[१]मण्डल में जो महासमुद्र है, सो भी पूर्व सृष्टि के सदृश ही उत्पन्न हुआ है।

(समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत) उसी समुद्र की उत्पत्ति के पश्चात् संवत्सर अर्थात् क्षण, मुहूर्त्त, प्रहर आदि काल भी पूर्व सृष्टि के समान उत्पन्न हुआ है। वेद से लेके पृथिवी पर्यन्त जो यह जगत् है, सो सब ईश्वर के नित्य सामर्थ्य से ही प्रकाशित हुआ है। और ईश्वर सब को उत्पन्न करके, सब में व्यापक होके, अन्तर्यामीरूप से सबके पाप पुण्यों को देखता हुआ, पक्षपात छोड़ के सत्य न्याय से सबको यथावत् फल दे रहा है॥ १-३॥

ऐसा निश्चित जान के ईश्वर से भय करके सब मनुष्यों को उचित है कि मन, कर्म और वचन से पापकर्मों को कभी न करें। इसी का नाम अघमर्षण है, अर्थात् ईश्वर सबके अन्तःकरण के कर्मों को देख रहा है, इससे पापकर्मों का आचरण मनुष्य लोग सर्वथा छोड़ देवें।

'शन्नो देवी' रिति पुनराचामेत्। ततो गायत्र्यादिमन्त्रार्थान् मनसा विचारयेत्। पुनः परमेश्वरेणैव सूर्यादिकं सकलं जगद्रचितमिति परमार्थस्वरूपं ब्रह्म चिन्तयित्वा परं ब्रह्म प्रार्थयेत्।

भाषार्थ—'शन्नो देवीरिति' इस मन्त्र से [पुनः] तीन आचमन करे। तदनन्तर गायत्र्यादि मन्त्रों के अर्थ विचार पूर्वक परमेश्वर की स्तुति अर्थात् परमेश्वर के गुण और उपकार का ध्यान कर, पश्चात् प्रार्थना करे। अर्थात् सब उत्तम कामों में ईश्वर का सहाय चाहे, और सदा पश्चात्ताप करें कि मनुष्य शरीर धारण करके हम लोगों से जगत् का उपकार कुछ भी नहीं बनता। जैसा कि ईश्वर ने सब पदार्थों की उत्पत्ति करके सब जगत् का उपकार किया है, वैसे हम लोग भी सब का उपकार करें। इस काम में परमेश्वर हमको सहाय करे कि जिससे हम लोग सब को सदा सुख देते रहें।

तदनन्तर ईश्वर की उपासना करे, सो दो प्रकार की है एक सगुण और दूसरी निर्गुण। जैसे ईश्वर सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, चेतन, व्यापक, अन्तर्यामी, सब का उत्पादक, धारण करनेहारा, मङ्गलमय, शुद्ध, सनातन, ज्ञान और आनन्द स्वरूप है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पदार्थों का देनेवाला, सब का पिता, माता, बन्धु, मित्र, राजा और न्यायाधीश है। इत्यादि ईश्वर के गुण विचार पूर्वक उपासना करने का नाम सगुणोपासना है।

तथा निर्गुणोपासना इस प्रकार से करनी चाहिये कि

१ अन्तरिक्ष में। सं०

ईश्वर अनादि, अनन्त है, जिसका आदि और अन्त नहीं। अजन्मा, अमृत्यु जिसका जन्म और मरण नहीं। निराकार, निर्विकार जिसका आकार और कोई विकार नहीं। जिसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, अन्याय, अधर्म, रोग. दोष, अज्ञान और मलीनता नहीं हैं। जिसका परिमाण, छेदन, बंधन, इन्द्रियों से दर्शन ग्रहण और कम्पन नहीं होता। जो दीर्घ और शोकातुर कभी नहीं होता। जिसको भूख, प्यास, शीतोष्ण, हर्ष और शोक कभी नहीं होते। जो उलटा काम कभी नहीं करता, इत्यादि जो जगत् के गुणों से ईश्वर को अलग जान के ध्यान करना, वह निर्गुणोपासना कहाती है।

इस प्रकार प्राणायाम करके, अर्थात् भीतर के वायु को बल से नासिका के द्वारा बाहर फेंक के, यथाशक्ति बाहर ही रोक के पुन: धीरे-धीरे भीतर लेके, पुन:बल से बाहर फेंक के रोकने से मन और आत्मा को स्थिर करके, आत्मा के बीच में जो अन्तर्यामीरूप से ज्ञान और आनन्दस्वरूप व्यापक परमेश्वर है, उसमें अपने आप को मग्न करके, अत्यन्त आनन्दित होना चाहिये। जैसा गोताखोर जल में डुबकी मार के शुद्ध होके बाहर आता है, वैसे ही सब जीव लोग अपने आत्माओं को शुद्ध ज्ञान आनन्दस्वरूप व्यापक परमेश्वर में मग्न करके नित्य शुद्ध करें।

अथ मनसा परिक्रमा मन्त्राः

ओं प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ १ ॥

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ २ ॥

प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ३ ॥

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ४ ॥

ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ५ ॥

ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ६ ॥

अथर्व० कां० ३। सू० २७। मं० १–६ ॥

भाष्यम्—(प्राची दि०) सर्वासु दिक्षु व्यापकमीश्वरं संध्यायामग्न्यादिभिर्नामभिः प्रार्थयेत्। यत्र स्वस्य मुखं सा प्राची दिक्। तथा यस्यां सूर्य उदेति सापि प्राची दिगस्ति। तस्या अधिपतिरग्निरर्थात् ज्ञानस्वरूपः परमेश्वरः, (असितः) बन्धनरहितोऽस्माकं सदा रक्षिता भवतु। यस्यादित्याः प्राणाः किरणाश्चेषवो, यः सर्वं जगद् रक्षति, तेभ्य इन्द्रियाधिपति-

× यहाँ यह तीन संख्या प्लुत की द्योतक नहीं। अतः 'ओ' को प्लुत स्वर से अर्थात् अधिक लम्बा करके नहीं बोलना चाहिये। ऐसे ही अगले पाँच मन्त्रों में भी। सं०

भ्यश्शरीररक्षितृभ्य इषुरूपेभ्यः प्राणेभ्यो वारंवारं नमोऽस्तु। कस्मै प्रयोजनाय? यः कश्चिदस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तं (वः) तेषां प्राणानां (जम्भे) अर्थाद्वशे दध्मः। यतस्सोऽनर्थान्निवर्त्य स्वमित्रं भवेत्। वयं च तस्य मित्राणि भवेम॥ १॥

(दक्षिणा०) दक्षिणस्या दिश इन्द्रः परमैश्वर्य्ययुक्तः परमेश्वरोऽधिपतिररित, स एव कृपयाऽस्माकं रक्षिता भवतु। अग्रे पूर्ववदन्वयः कर्तव्यः॥ २॥

तथा (प्रतीची दिग्०) अस्या वरुणः सर्वोत्तमोऽधिपतिः परमेश्वरोऽस्माकं रक्षिता भवेदिति पूर्ववत्॥३॥

(उदीची०) सोमः सर्वजगदुत्पादकोऽधिपतिरीश्वरोऽस्माकं रक्षिता स्यादिति [पूर्ववत्]॥४॥

(ध्रुवा दिक्) [ध्रुवा] अर्थादधो दिक्, अस्या विष्णुर्व्यापक ईश्वरोऽधिपतिः, सोऽस्यामस्मान् रक्षेत्। अन्यत् पूर्ववत्॥ ५॥

(ऊर्ध्वा दिक्०) अस्या बृहस्पतिरर्थाद् बृहत्या वाचो, बृहतो वेदशास्त्रस्य, बृहतामाकाशादिनां च पतिर्बृहस्पतिर्यः सर्वजगतोऽधिपतिः स सर्वतोऽस्मान् रक्षेत्। अग्रे पूर्ववद्योजनीयम्। सर्वे मनुष्याः सर्वशक्तिमन्तं सर्वगुरुं न्यायकारिणं दयालुं पितृवत्पालकं सर्वासु दिक्षु सर्वत्र रक्षकं परमेश्वरमेव मन्येरन्नित्यभिप्रायः॥ ६॥

भाषार्थ—(प्राची दिगग्निरधिपतिः) जो प्राची दिक् अर्थात् जिस ओर अपना मुख हो [तथा जिस ओर सूर्य उदय हो,] उस ओर अग्नि जो ज्ञान स्वरूप अधिपति, जो सब जगत् का स्वामी, (असितः) बन्धन रहित, (रक्षिता) सब प्रकार से रक्षा करने वाला, (आदित्या इषवः) जिसके बाण आदित्य की किरण हैं। उन सब गुणों के अधिपति ईश्वर के गुणों को हम लोग वारम्वार नमस्कार करते हैं। (रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु) जो ईश्वर के गुण और ईश्वर के रचे पदार्थ जगत् की रक्षा करने वाले हैं, और पापियों को बाणों के समान पीड़ा देने वाले हैं, उनको हमारा नमस्कार हो। इसलिए कि जो प्राणी अज्ञान से हमारा द्वेष करता है, और जिस अज्ञान से धार्मिक पुरुष का तथा पापी पुरुष का हम लोग द्वेष करते हैं, उन सबकी बुराई को उन बाणरूप किरण मुख रूप के बीच में दग्ध कर देते हैं। कि जिससे किसी से हम लोग वैर न करें, और कोई भी प्राणी हमसे वैर न करे, किन्तु हम सब लोग परस्पर मित्रभाव से वर्तें॥ १॥

(दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिः) जो हमारे दाहिनी ओर दक्षिण दिशा है, उसका अधिपति इन्द्र अर्थात् जो पूर्ण ऐश्वर्य वाला है। (तिरश्चिराजी रक्षिता) जो जीव कीट पतङ्ग वृश्चिक आदि तिर्यक् कहाते हैं, उनकी राजी जो पंक्ति है, उनसे रक्षा करनेवाला परमेश्वर है। (पितर इषवः) जिसकी सृष्टि में ज्ञानी लोग बाण के समान हैं। (तेभ्यो नमो०) आगे का अर्थ पूर्व के समान जान लेना॥२॥

(प्रतीची दिग् वरुणोऽधिपतिः) जो पश्चिम दिशा अर्थात् अपने पृष्ठ भाग में है, उसमें वरुण जो सब से उत्तम सब का राजा परमेश्वर है, (पृदाकू रक्षितान्नमिषवः) जो बड़े-बड़े अजगर सर्पादि विषधारी प्राणियों से रक्षा करने वाला है। जिसके अन्न अर्थात् पृथिव्यादि पदार्थ बाणों के समान हैं, [जो] श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों की ताड़ना के निमित्त हैं। (तेभ्यो नमो०) इसका अर्थ पूर्व के समान जान लेना॥ ३॥

(उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः) जो अपनी बाईं ओर उत्तर दिशा है, उसमें सोम नाम से अर्थात् शान्त्यादि गुणों से आनन्द करने वाले जगदीश्वर का ध्यान करना चाहिये। (स्वजो रक्षिताऽशनिरिषवः) जो अच्छी प्रकार अजन्मा और रक्षा करने वाला है। जिसके बाण विद्युत् हैं। (तेभ्यो नमो०) आगे पूर्ववत् जान लेना॥ ४॥

(ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः) ध्रुवा दिशा अर्थात् जो अपने नीचे की ओर है, उसमें विष्णु अर्थात् व्यापक नाम से परमात्मा का ध्यान करना। (कल्माषग्रीवा रक्षिता वीरुध इषवः) जिसके हरित रङ्ग वाले वृक्षादि ग्रीवा के समान हैं। जिसके बाण के समान सब वृक्ष हैं। उनसे अधोदिशा में हमारी रक्षा करे। (तेभ्यो नमो०) आगे पूर्ववत् जान लेना ५

(ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः) जो अपने ऊपर दिशा है, उसमें बृहस्पति जो कि वाणी का स्वामी परमेश्वर है, उसको अपना रक्षक जानें। जिसके बाण के समान वर्षा के बिन्दु हैं, उनसे हमारी रक्षा करे। (तेभ्यो०) आगे पूर्ववत् जान लेना॥ ६॥

अथोपस्थानमन्त्राः

ओम् उद् वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् । देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ १ ॥

य० अ० ३५ । मं० १४ ॥

भाष्यम्—हे परमात्मन् ! (सूर्यम्) चराचरात्मानं त्वां, (पश्यन्तः) प्रेक्षमाणास्सन्तो वयम्, (उदगन्म) अर्थात् उत्कृष्टश्रद्धावन्तो भूत्वा वयं भवन्तं प्राप्नुयाम । कथंभूतं त्वां ? (ज्योतिः) स्वप्रकाशम् (उत्तमम्) सर्वोत्कृष्टम्, (देवत्रा) सर्वेषु दिव्यगुणवत्सु पदार्थेषु ह्यनन्तदिव्यगुणैर्युक्तं, (देवम्) धर्मात्मनां मुमुक्षूणां युक्तानां च सर्वानन्दस्य दातारं मोदयितारं च, (उत्तरम्) जगत्प्रलयानन्तरं नित्यस्वरूपत्वात् विराजमानं, (स्वः) सर्वानन्दस्वरूप, (तमसस्परि) अज्ञानान्धकारात् पृथग्भूतं भवन्तं प्राप्तुं वयं नित्यं प्रार्थयामहे । भवान् स्वकृपया सद्यः प्राप्नोतु न इति ॥ १ ॥

भाषार्थ—अब उपस्थान के मन्त्रों का अर्थ करते हैं, जिनसे परमेश्वर की स्तुति और प्रार्थना की जाती है—

हे परमेश्वर ! (तमसस्परि स्वः) सब अन्धकार से अलग प्रकाशस्वरूप, (उत्तरम्) प्रलय के पीछे सदा वर्त्तमान (देवं देवत्रा) देवों में भी देव अर्थात् प्रकाश करने वालों में प्रकाशक, (सूर्यम्) चराचर के आत्मा (ज्योतिरुत्तमम्) ज्ञानस्वरूप और सब से उत्तम आप को जान के (वयम् उदगन्म) हम लोग सत्य से प्राप्त हुए हैं । हमारी रक्षा करनी आपके हाथ है, क्योंकि हम लोग आपके शरण हैं ॥ १ ॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ २ ॥

यजु० अ० ३३ । मं० ३१ ॥

भाष्यम्—(केतवः) किरणा विविधजगतः पृथक् पृथग्रचनादिनियामका ज्ञापकाः प्रकाशका ईश्वरस्य गुणाः, (दृशे विश्वाय) विश्वं द्रष्टुं (त्यम्) तं पूर्वोक्तं (देवं सूर्यम्) चराचरात्मानं परमेश्वरम् (उद्वहन्ति) उत्कृष्टतया प्रापयन्ति ज्ञापयन्ति प्रकाशयन्ति । वै इति वितर्के, नैव पृथक् पृथक् विविधनियमान् दृष्ट्वा नास्तिका अपीश्वरं त्यक्तुं समर्था भवन्तीत्यभिप्रायः । कथं भूतं देवम् ? (जातवेदसम्) जाता ऋग्वेदादयश्चत्वारो वेदा सर्वज्ञानप्रदा यस्मात्, तथा जातानि प्रकृत्यादीनि भूतान्यसंख्यातानि विन्दति, यद्वा जातं सकलं जगद्वेत्ति जानाति यः स जातवेदाः, तं जातवेदसं सर्वे मनुष्यास्तमेवैकं प्राप्तुमुपासितुमिच्छन्त्वित्यभिप्रायः ॥२॥

भाषार्थ—(उदु त्यं) । (जातवेदसं) जिससे ऋग्वेदादि चार वेद प्रसिद्ध हुए हैं, और जो प्रकृत्यादि सब भूतों में व्याप्त हो रहा है, जो सब जगत् का उत्पादक है, सो परमेश्वर जातवेदा नाम से प्रसिद्ध है । (देवम्) जो सब देवों का देव, और (सूर्यम्) सब जीवादि जगत् का प्रकाशक है । (त्यम्) उस परमात्मा को (दृशे विश्वाय) विश्वविद्या की प्राप्ति के लिये हम लोग उपासना करते हैं । (उद्वहन्ति केतवः) 'केतवः' अर्थात् वेद की श्रुति और जगत् के पृथक् पृथक् रचनादि नियामक गुण उसी परमेश्वर को जानते और प्राप्त कराते हैं । उस विश्व के आत्मा अन्तर्यामी परमेश्वर ही की हम उपासना सदा करें, अन्य किसी की नहीं ॥ २ ॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः । आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ॥३॥

य० अ० ७ । मं० ४२ ॥

भाष्यम्—स एव देवः सूर्यः (जगतः) जङ्गमस्य (तस्थुषः) स्थावरस्य च (आत्मा) अतति नैरन्तर्येण सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा । तथा (आप्रा०) द्यौः पृथिवी अन्तरिक्षं चैतदादि सर्वं जगद् रचयित्वा आसमन्ताद् धारयन् सन् रक्षति । (चक्षु) एष एवैतेषां प्रकाशकत्वाद् बाह्याभ्यान्तरयोश्चक्षुः प्रकाशको विज्ञानमयो विज्ञापकश्चास्ति । अतएव (मित्रस्य) सर्वेषु द्रोहरहितस्य मनुष्यस्य सूर्यलोकस्य प्राणस्य वा, (वरुणस्य) वरेषु श्रेष्ठेषु कर्मसु गुणेषु वर्तमानस्य च (अग्नेः)

शिल्पविद्याहेतो रूपगुणदाहप्रकाशकस्य विद्युतो भ्राजमानस्यापि चक्षुः सर्वसत्योपदेष्टा प्रकाशकश्च । (देवानाम्) स दिव्यगुणवतां विदुषामेव हृदये (उदगात्) उत्कृष्टतया प्राप्तोऽस्ति प्रकाशको वा । तदेव ब्रह्म (चित्रम्) अद्भुतस्वरूपम् । अत्र प्रमाणम्—"आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ कठोप० वल्ली २ ॥" आश्चर्यस्वरूपत्वाद् ब्रह्मणः । तदेव ब्रह्म सर्वेषां चास्माकं (अनीकम्) सर्वदुःखनाशार्थं काम-क्रोधादिशत्रुविनाशार्थं बलमस्ति । तद्विहाय मनुष्याणां सर्वसुखकरं शरणमन्यन्नास्त्येवेति वेद्यम् ।

× (स्वाहा) अथात्र स्वाहाशब्दार्थे प्रमाणम् । निरुक्तकारा आहुः—"स्वाहाकृतयः स्वाहेत्येतत्सु आहेति वा स्वा वागाहेति वा स्वं प्राहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा ॥ निरु० अ० ८ । खं० २० ॥" स्वाहाशब्दस्ययमर्थः—(सु) आहेति वा) सु सुष्ठु कोमलं मधुरं कल्याणकरं प्रियं वचनं सर्वैर्मनुष्यैः सदा वक्तव्यम् । (स्वा वागाहेति वा) या स्वकीया वाग् ज्ञानमध्ये वर्त्तते, सा यदाह तदेव वागिन्द्रियेण सर्वदा वाच्यम् । (स्वं प्राहेति वा) स्व स्वकीयपदार्थं प्रत्येव स्वत्वं वाच्यम् , न परपदार्थं प्रति चेति । (स्वाहुतं ह०) सुष्ठुरीत्या संस्कृत्य संस्कृत्य हविः होतव्यमिति सदा स्वाहाशब्दपर्य्यायार्थाः । स्वमेव पदार्थं प्रति वयं सर्वदा सत्यं वदाम इति, न कदाचित् परपदार्थं प्रति मिथ्या वदेमेति ॥३॥

×'स्वाहा' शब्द के अर्थ-प्रमाण विषयक इस बहुत महत्व पूर्ण संस्कृत भाग का हिन्दी अर्थ आजकल प्रचलित किसी भी पुस्तक में नहीं है । ऐसा होने का कारण—संशोधकों और सम्पादकों का प्रमाद ही है । इस भाग का अर्थ इस प्रकार है:—

अब यहां स्वाह शब्द के अर्थ में प्रमाण दर्शाते हैं । निरुक्तकार कहते हैं:—

(स्वाहकृतयः इत्यादि)

'स्वाह' शब्द का अर्थ इस प्रकार है:—

(सु आहेति वा) सब मनुष्यों को सदैव सुन्दर, कोमल और मधुर वचन ही बोलना चाहिये ।

(स्वा वागाहेति वा) अपने हृदय में ज्ञान का जो स्वरूप वर्तमान हो, उसी के अनुसार वाणी अर्थात् जिह्वा से बोलना चाहिये ।

(स्वं प्राहेति वा) अपने स्वत्व अर्थात् अपनी वस्तु को ही अपनी कहना चाहिये, दूसरे के स्वत्वों को नहीं ।

(स्वाहुतं हविजुहोति+इति वा) उत्तम रीति से शुद्ध करके 'हवि' को यज्ञ-कुण्ड में अर्पित करना चाहिये ।

ये सब 'स्वाहा' शब्द के अर्थ हैं । हमें सदैव सत्य बोलना चाहिये और अपने पदार्थ को ही अपना कहना चाहिये झूठ में ही दूसरे की वस्तु को अपनी, हम न कहें और नही हम झूठ के आधार पर दूसरों के स्वत्वों का अपहरण करें ।

—सम्पादक 'वेद प्रकाश'

भाषार्थ—(चित्रं देवाना०) (सूर्य आत्मा०) प्राणी और जड़ जगत् का जो आत्मा है, उसको सूर्य कहते हैं । (आ प्रा द्या०) जो सूर्य और अन्य सब लोकों को बना के धारण और रक्षण करने वाला है, (चक्षुर्मित्रस्य) जो मित्र अर्थात् रागद्वेषरहित मनुष्य तथा सूर्यलोक और प्राण का चक्षु प्रकाश करने वाला है, (वरुणस्या०) सब उत्तम कामों में जो वर्त्तमान मनुष्य प्राण अपान और अग्नि का प्रकाश करने वाला है, (चित्रं देवानां) जो अद्भुत स्वरूप विद्वानों के हृदय में सदा प्रकाशित रहता है, (अनीकम्) जो सकल मनुष्यों के सब दुःख नाश करने के लिये परम उत्तम बल है, वह परमेश्वर (उदगात्) हमारे हृदयों में यथावत् प्रकाशित रहे ॥ ३ ॥

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतँ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥४॥

य० अ० ३६ । मं० २४ ॥

भाष्यम्—(चक्षुः) यत् सर्वदृक्, (देवहितम्) देवेभ्यो हितं दिव्यगुणवतां धर्मात्मनां विदुषां स्वसेवकानां च हितकारि वर्त्तते । यत् (पुरस्तात्) सृष्टेः प्राक् (शुक्रम्) सर्वजगत्कर्तृ शुद्धमासीद्, इदानीमपि तादृशमेव चास्ति । तदेव (उच्चरत्)

अर्थात् उत्कृष्टतया सर्वत्र व्याप्त विज्ञानस्वरूपं (उद्) प्रलयादूर्ध्वं सर्वसामर्थ्यं स्थास्यति । (तत्) ब्रह्म (पश्येम शरदः शतम्) वयं शतं वर्षाणि तस्यैव प्रेक्षणं कुर्महे । तत्कृपया (जीवेम शरदः शतम्) शतं वर्षाणि प्राणान् धारयेमहि । शृणुयाम शरदः शतम्) तस्य गुणेषु श्रद्धाविश्वासवन्तो वयं तमेव शृणुयाम । तथा च तद् ब्रह्म तद्गुणांश्च (प्रब्रवाम श०) अन्येभ्यो मनुष्येभ्यो नित्यमुपदिशेम । (अदीनाः स्याम श०) एवं च तदुपासनेन, तद्विश्वासेन, तत्कृपया च शतवर्षपर्यन्तमदीना स्याम भवेम । मा कदाचित्कस्यापि समीपे दीनता कर्तव्या भवेन्नो दारिद्र्यं च । सर्वदा सर्वथा ब्रह्मकृपया स्वतन्त्रा वयं भवेम । तथा (भूयश्च श०) वयं तस्यैवानुग्रहेण भूयः शताच्छरदः शताद्वर्षेभ्योऽप्यधिकं पश्येम; जीवेम, शृणुयाम, प्रब्रवाम, अदीनाः स्याम चेत्यन्वयः ।

अर्थान्नैवं मनुष्यास्तमतिकृपालुं परमेश्वरं त्यक्त्वाऽन्यमुपासीरन्, याचेरन्नित्यभिप्रायः । "योऽन्यां देवतामुपास्ते पशुरेव स देवानाम् ॥

श० कां० १४। अ० ४ । २ । २२ ॥"

सर्वे मनुष्याः परमेश्वरमेवोपासीरन् । यस्तस्मादन्यस्योपासनां करोति, स इन्द्रियारामो गर्दभवत्सर्वशिष्टैर्विज्ञेय इति निश्चयः ॥ ४ ॥

कृताञ्जलिरत्यन्त[1] श्रद्धालुर्भूत्वैतैर्मन्त्रैः स्तुवन्[2] सर्वकालसिध्यर्थं परमेश्वरं प्रार्थयेत्[3] ।

भावार्थ—(तच्चक्षुर्देवहितम्) जो ब्रह्म सब का द्रष्टा, धार्मिक विद्वानों का परम हितकारक, तथा (पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्) सृष्टि के पूर्व, पश्चात् और मध्य में सत्यस्वरूप से वर्त्तमान रहता, और सब जगत् का करने वाला है । (पश्येम) शरदः शतम्) जीवें, (शृणुयाम शरदः शतम्) सुनें, (प्रब्रवाम शरदः०) उसी ब्रह्म का उपदेश करें, (अदीनाः स्याम०) और उसकी कृपा से किसी के आधीन न रहें । (भूयश्च शरदः शतात्) उसी परमेश्वर की आज्ञापालन और कृपा से सौ वर्षों से उपरान्त भी हम लोग देखें, जीवें, सुनें सुनावें और स्वतन्त्र रहें ।

अर्थात् आरोग्य शरीर, दृढ़ इन्द्रिय, शुद्ध मन और आनन्द सहित हमारा आत्मा सदा रहे । यही एक परमेश्वर सब मनुष्यों का उपास्यदेव है । 'जो मनुष्य इसको छोड़ के दूसरे की उपासना करता है, वह पशु के समान होके सब दिन दुःख भोगता रहता है' ॥ ४ ॥

इसलिये प्रेम में अत्यन्त मग्न होके, अपने आत्मा और मन को परमेश्वर में जोड़ के, इन मन्त्रों से स्तुति और प्रार्थना सदा करते रहें ।

अथ गुरुमन्त्रः

ओ३म्, (यजु० अ० ४० । मं० १७)
भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यम्भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

य० अ० ३६ । मं० ३ ॥
ऋ० मण्ड० ३ । सू० ६२ । मं १० ॥

एवं त्रिषु वेदेषु समानो मन्त्रः ॥

भाष्यम्—अस्य सर्वोत्कृष्टस्य गायत्रीमन्त्रस्य संक्षेपेणार्थ उच्यते—'अ उ म्' एतत्त्रयं मिलित्वा 'ओ३म्' इत्यक्षरं भवति । यथाह मनुः—

"अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः ।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरितीति च ।"

मनु० अ० २ । श्लोक ७६

एतच्च सर्वोत्तमं प्रसिद्धतमं परब्रह्मणो नामास्ति । एतेनैकेनैव नाम्ना परमेश्वरस्यानेकानि नामान्यागच्छन्तीति वेद्यम् । तद्यथा—

अकारेण विराडग्निविश्वादीनि—(विराट्) विविधं चराचरं जगद् राजयते प्रकाशयते स विराट् सर्वात्मेश्वरः । (अग्निः) अंच्यते प्राप्यते सत्क्रियते वा वेदादिभिः शास्त्रैर्विद्वद्भिश्चेत्यग्निः परमेश्वरः । (विश्वः) विष्टानि सर्वाण्याकाशादीनि भूतानि यस्मिन् स विश्वः । यद्वा विष्टोस्ति प्रकृत्यादिषु यः स विश्वः । एतदाद्यर्था अकारेण विज्ञेयाः ।

१, २, ३, आर्य भाषार्थानुसारेण बहुवचनेन भाव्यम् । तच्चेत्थम् श्रद्धालवो, स्तुवन्तः, प्रार्थयन्तः । सं० ।

उकारेण हिरण्यगर्भवायुतैजसादीनि । तद्यथा-(हिरण्यगर्भः) हिरण्यानि सूर्य्यादीनि तेजांसि गर्भे यस्य, तथा सूर्य्यादीनां तेजसां यो गर्भोऽधिष्ठानं स हिरण्यगर्भः । अत्र प्रमाणम्--

ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरेषोऽमृतँ् हिरण्यम् ।

श० कां० ६ । अ० ७ । ब्रा० १ । कं० २ ॥

यशो वै हिरण्यम् ।

ऐ० पं० ७ । खं १८ ॥

(वायुः) यो वाति जानाति धारयत्यनन्तबलत्वात् सर्वं जगत् स वायुः । स चेश्वर एव भवितुमर्हति नान्यः । 'तद्वायुः' × इति मन्त्रवर्णादर्थाद् ब्रह्मणो वायुसंज्ञास्ति । (तैजसः) सूर्य्यादीनां प्रकाशकत्वात्स्वयंप्रकाशत्वात् तैजस ईश्वरः । एतदाद्यर्था उकाराद् विज्ञातव्याः ।

मकारेणेश्वरादित्यप्राज्ञादीनि नामानि बोध्यानि । तद्यथा—

(ईश्वरः) ईष्टेऽसौ सर्वशक्तिमान् न्यायकारीश्वरः । (आदित्यः) अविनाशित्वादादित्यः परमात्मा । (प्राज्ञः) प्रजानाति सकलं जगदिति प्रज्ञः, प्रज्ञ एव प्राज्ञश्च परमात्मैवेति । एतदाद्यर्था मकारेण निश्चेतव्या ध्येयाश्चेति ।

अथ महाव्याहृत्यर्थाः संक्षेपतः—

भूरिति वै प्राणः । भुवरित्यपानः । स्वरिति व्यानः ॥ इति तैत्तिरीयोपनिषद्वचनम् ।

प्रपा० ७ । अनु० ६ ॥

(भूः) प्राणयति जीवयति सर्वान् प्राणिनः स प्राणः, प्राणादपि प्रियस्वरूपो वा, स चेश्वर एव । अयमर्थो भूशब्दस्य ज्ञेयः । (भुवः) यो मुमुक्षूणां मुक्तानां स्वसेवकानां धर्मात्मनां सर्वं दुःखमपानयति दूरीकरोति सोऽपानो दयालुरीश्वरोऽस्ति । अयं भुवःशब्दार्थोऽस्तीति बोध्यम् । (स्वः) यदभिव्याप्य व्यानयति चेष्टयति प्राणादि सकलं जगत् स व्यानः, सर्वाधिष्ठानं बृहद् ब्रह्मेति । खल्वयं स्वःशब्दार्थोऽस्तीति मन्तव्यम् । एतदाद्यर्था महाव्याहृतीनां ज्ञातव्याः ।

(सवितुः) सुनोति सूयते सुवति वोत्पादयति सृजति सकलं जगत् स सर्वपिता सर्वेश्वरः सविता परमात्मा तस्य, 'सवितुः प्रसवे' + इति मन्त्रपदार्थोद्युत्पत्तेः कर्त्ता योऽर्थोऽस्ति स सवितेत्युच्यत इति मन्तव्यम् । (वरेण्यम्) यद्वरं वर्त्तुमर्हमतिश्रेष्ठं तद्वरेण्यम् (भर्गः) यन्निरुपद्रवं निष्पापं निर्गुणं शुद्धं सकलदोषरहितं पक्वं परमार्थविज्ञानस्वरूपं तद्भर्गः । (देवस्य) यो दीव्यति प्रकाशयति खल्वानन्दयति सर्वं विश्वं स देवः, तस्य देवस्य (धीमहि) तमेव परमात्मानं वयं नित्यमुपासीमहि । कस्मै प्रयोजनाय ? तस्य धारणेन विज्ञानादिबलेनैव वयं पुष्टा दृढा सुखिनश्च भवेमेत्यस्मै प्रयोजनाय । तथा च (यः) परमेश्वरः (नः) अस्माकं (धियो) धारणावतीर्बुद्धीः (प्रचोदयात्) प्रेरयेत् ।

हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप, हे नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव, हे अज, हे निराकार, सर्वशक्तिमन्, न्यायकारिन्, हे करुणामृतवारिधे ! सवितुर्देवस्य तव यद्वरेण्यं भर्गस्तद्वयं धीमहि । कस्मै प्रयोजनाय ? यः सविता देवः परमेश्वरः, स नोऽस्माकं धियो बुद्धीः प्रचोदयात् । यो हि सम्यग्ध्यातः प्रार्थितः सर्वेष्टदेवः परमेश्वरः स्वकृपाकटाक्षेण स्वशक्त्या च ब्रह्मचर्यविद्याविज्ञानसद्धर्मजितेन्द्रियत्वपरब्रह्मानन्दप्राप्तिवतीरस्माकं धीः कुर्य्यादस्मै प्रयोजनाय । तत्परमात्मस्वरूपं वयं धीमहीति संक्षेपतो गायत्र्यर्थो विज्ञेयः ॥

एवं प्रातः सायं द्वयोः सन्ध्योरेकान्तदेशं गत्वा शान्तो भूत्वा यतात्मा सन् परमेश्वरं प्रतिदिनं ध्यायेत् ।

भाषार्थ- अथ गुरुमन्त्रः—(ओम् भूर्भुवः स्वः०)।

जो अकार उकार और मकार के योग से 'ओम्' यह अक्षर सिद्ध है, सो यह परमेश्वर के सब नामों में उत्तम नाम है, जिसमें सब नामों के अर्थ आ जाते हैं । जैसा पिता पुत्र का प्रेम सम्बन्ध है, वैसे ही ओंकार के साथ परमात्मा का सम्बन्ध है । इस एक नाम से ईश्वर के सब नामों का बोध होता है ।

जैसे अकार से—(विराट्) जो विविध जगत् का

× यजुः ३२ । १ ॥

+ यजुः १ । १० ॥

प्रकाश करने वाला है। (अग्निः) जो ज्ञानस्वरूप और सर्वत्र प्राप्त हो रहा है। (विश्वः) जिसमें सब जगत् प्रवेश कर रहा है, और जो सर्वत्र प्रविष्ट है। इत्यादि नामार्थ अकार से जानना चाहिये।

उकार से—(हिरण्यगर्भः) जिसके गर्भ में प्रकाश करने वाले सूर्य्यादि लोक हैं, और जो प्रकाश करने हारे सूर्य्यादि-लोकों का अधिष्ठान है। इससे ईश्वर को 'हिरण्यगर्भ' कहते हैं। हिरण्य के नाम ज्योति, अमृत और कीर्त्ति हैं। (वायुः) जो अनन्त बल वाला और सब जगत् का धारण करनेहारा है। (तैजसः) जो प्रकाशस्वरूप और सब जगत् का प्रकाशक है। इत्यादि अर्थ उकारमात्र से जानना चाहिये।

तथा मकार से—(ईश्वरः) जो सब जगत् का उत्पादक, सर्वशक्तिमान् स्वामी और न्यायकारी है। (आदित्यः) जो नाश रहित है। (प्राज्ञः) जो ज्ञानस्वरूप और सर्वज्ञ है। इत्यादि अर्थ मकार से समझ लेना। यह संक्षेप से ओंकार का अर्थ किया गया।

अब संक्षेप से महाव्याहृतियों का अर्थ लिखते हैं—(भूरिति वै प्राणः) जो सब जगत् के जीने का हेतु, और प्राण से भी प्रिय है, इससे परमेश्वर का नाम 'भूः' है। (भुवरित्यपानः) जो मुक्ति की इच्छा करने वालों, मुक्तों और अपने सेवक धर्मात्माओं को सब दुःखों से अलग करके सर्वदा सुख में रखता है, इसलिये परमेश्वर का नाम 'भुवः' है। (स्वरिति व्यानः) जो सब जगत् में व्यापक होके सब को नियम में रखता, और सब का ठहरने का स्थान तथा सुखस्वरूप है, इससे परमेश्वर का नाम 'स्वः' है। यह व्याहृतियों का संक्षेप से अर्थ लिख दिया।

अब गायत्री मन्त्र का अर्थ लिखते हैं—(सवितुः) जो जगत् का उत्पन्न करनेहारा, और ऐश्वर्य्य का देनेवाला है, (देवस्य) जो सब के आत्माओं का प्रकाश करनेवाला और सब सुखों का दाता है, उसका (वरेण्यम्) जो अत्यन्त ग्रहण करने के योग्य, (भर्गः) शुद्ध विज्ञान स्वरूप है, (तत्) उसको (धीमहि) हम लोग सदा प्रेम-भक्ति से निश्चय करके अपने आत्मा में धारण करें। किस प्रयोजन के लिये? कि (यः) जो पूर्वोक्त सविता देव परमेश्वर है, वह (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को (प्रचोदयात्) कृपा करके सब बुरे कामों से अलग करके सदा उत्तम कामों में प्रवृत्त करे।

इसलिये सब लोगों को चाहिये कि सत् चित् आनन्द-स्वरूप, नित्यज्ञानी, नित्यमुक्त, अजन्मा, निराकार, सर्व-शक्तिमान्, न्यायकारी, व्यापक, कृपालु, सब जगत् के जनक और धारण करनेहारे परमेश्वर ही की सदा उपासना करें, कि जिससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जो मनुष्यदेह रूप वृक्ष के चार फल हैं, वे उसकी भक्ति और कृपा से सर्वथा सब मनुष्यों को प्राप्त हों। यह गायत्री मन्त्र का अर्थ संक्षेप से हो चुका।

अथ समर्पणम्

हे ईश्वर दयानिधे! भवत्कृपयाऽनेन जपोपासनादिकर्मणा धर्मार्थकाममोक्षाणां सद्यः सिद्धिर्भवेन्नः॥

तत ईश्वरं नमस्कुर्यात्

भाषार्थ—इस प्रकार से सब मन्त्रों के अर्थों से परमेश्वर की सम्यक् उपासना करके आगे समर्पण करे—कि हे ईश्वर दयानिधे! आपकी कृपा से जो २ उत्तम कर्म हम लोग करते हैं, वे सब आपके अर्पण हैं। जिससे हम लोग आपको प्राप्त होके धर्म—जो सत्य न्याय का आचरण करना है, अर्थ—जो धर्म से पदार्थों की प्राप्ति करना है, काम—जो धर्म और अर्थ से ईष्ट भोगों का सेवन करना है, और मोक्ष—जो सब दुःखों से छूटकर सदा आनन्द में रहना है, इन चार पदार्थों की सिद्धि पदको शीघ्र प्राप्त हों। इसके पश्चात् ईश्वर को नमस्कार करे—

ओं नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शंकराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च॥

य० अ० १६। मं० ४१॥

भाष्यम्—(नमः शम्भवाय च) यः सुखस्वरूपः परमेश्वरोऽस्ति, तं वयं नमस्कुर्महे। (मयोभवाय च) यः संसारे सर्वोत्तमसौख्यप्रदातास्ति, तं वयं नमस्कुर्महे (नमः शंकराय च) यः कल्याणकारकः सन् धर्म-युक्तानि कार्य्याण्येव करोति, तं वयं नमस्कुर्महे। (मयस्कराय च) यः स्वभक्तान् सुखकारकत्वाद् धर्म-

कार्य्येषु युनक्ति, तं वयं नमस्कुर्महे। (नमः शिवाय च शिवतराय च) योऽत्यन्तमङ्गलस्वरूपः सन् धार्मिकमनुष्येभ्यो मोक्षसुखप्रदातास्ति, तस्मै परमेश्वरायास्माकमनेकधा नमोऽस्तु ॥

भावार्थ—(नमः शम्भवाय च) जो सुखस्वरूप (मयोभवाय च) संसार के उत्तम सुखों का देने वाला, (मयस्कराय च) अपने भक्तों को सुख का देने वाला और धर्म कामों में युक्त करने वाला, (नमः शिवाय च शिवतराय च) अत्यन्त मङ्गलस्वरूप और धार्मिक मनुष्यों को मोक्ष सुख देनेहारा है, उसको हमारा बारम्बार नमस्कार हो ॥

इति सन्ध्योपासनविधिः ॥

—※—

अथाग्निहोत्रसन्ध्योपासनयोः प्रमाणानि

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनसस्य दाता। वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ॥१॥

प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता। वसोर्वसो वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतंहिमा ऋधेम ॥२॥

अथर्व० कां० १९। सू० ५५। मं० ३, ४॥

तस्माद् ब्राह्मणोऽहोरात्रस्य संयोगे सन्ध्यामुपास्ते। स ज्योतिष्या ज्योतिषो दर्शनात् सोऽस्याः, कालः, सा सन्ध्या। तत् सन्ध्यायाः सन्ध्यात्वम् ॥ ३ ॥

षड्विंश ब्रा० प्रपा० ४। खं० ५॥

उद्यन्तमस्तं यन्तमादित्यमभिध्यायन् कुर्वन् ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते ॥ ४ ॥

तैत्तिरीय आ० २। प्रपा० २। अनु० २॥

[पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात्। पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥ ५ ॥]

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्। स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥ ६ ॥

मनु० अ० २। श्लो० [१०१,] १०३॥

भाष्यम्—अयं (नः) अस्माकं (गृहपतिः०) गृहात्मपालकोऽग्निः भौतिकः परमेश्वरश्च (प्रातः प्रातः) तथा (सायं-सायं) च परिचरितस्सूपासितः सन् (सौमनसस्य दाता) आरोग्यस्यानन्दस्य च दाता भवति। तथा (वसोर्वसो०) उत्तमोत्तमपदार्थस्य च। अत एव परमेश्वरः (वसुदानः) वसुप्रदातास्ति। हे परमेश्वर! एवंभूतस्त्वमस्माकं राज्यादिव्यवहारे हृदये च (एधि) प्राप्तो भव। तथा भौतिकोऽप्यग्निरत्र ग्राह्यः। (वयं) हे परमेश्वर! एवं (त्वा) त्वाम् (इन्धानाः) प्रकाशयितारस्सन्तो वयं (तन्वम्) शरीरं (पुषेम) पुष्टं कुर्य्याम। तथाग्निहोत्रादिकर्मणा भौतिकमग्निमिन्धानाः प्रदीपयितारः सन्तः सर्वे वयं पुष्येम ॥ १ ॥

(प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो०) अस्यार्थः पूर्ववद्विज्ञेयः। परन्त्वयं विशेषः-वयमग्निहोत्रमीश्वरोपासनं च कुर्वन्तः सन्तः (शतंहिमाः) शतं हिमा हेमन्तर्तवो गच्छन्ति येषु संवत्सरेषु ते शतंहिमा यावत्सुखतावत् (ऋधेम) वर्द्धेमहि। एवं कृतेन कर्म्मणा नोऽस्माकं नैव कदाचिद्धानिर्भवेदितीच्छामः ॥ २ ॥

भावार्थ—(सायंसायं०) यह हमारा गृहपति अर्थात् घर और आत्मा का रक्षक भौतिक अग्नि और परमेश्वर प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल श्रेष्ठ उपासना को प्राप्त होके (सौमनसस्य दाता) जैसे आरोग्य और आनन्द का देने वाला है, उसी प्रकार उत्तम से उत्तम वस्तु का देने वाला है। इसी से परमेश्वर (वसुदानः) वसु अर्थात् धन का देने वाला प्रसिद्ध है। हे परमेश्वर! इस प्रकार आप मेरे राज्य आदि व्यवहार और चित्त में प्रकाशित रहिये। तथा इस मंत्र में अग्निहोत्र आदि करने के लिये भौतिक अग्नि भीग्रहण करने योग्य है। (वयं त्वे०) हे परमेश्वर! पूर्वोक्त प्रकार से हम आपको प्रकाश करते हुए अपने शरीर को (पुषेम) पुष्ट करें। इसी प्रकार भौतिक अग्नि को प्रज्ज्वलित करते हुए सब संसार की पुष्टि करके पुष्ट हों ॥१॥

(प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो०) इस मंत्र का अर्थ पूर्व के तुल्य जानो। परन्तु यह विशेष है कि—अग्निहोत्र और ईश्वर की उपासना करते हुए हम लोग (शतहिमा) सौ हेमन्त ऋतु बीत जायं जिन वर्षों में, अर्थात् सौ वर्ष पर्यन्त (ऋधेम) धनादि पदार्थों से वृद्धि को प्राप्त होते रहें। और पूर्वोक्त प्रकार से अग्निहोत्रादि कर्म करके हमारी हानि कभी न हो, ऐसी इच्छा करते हैं ॥ २ ॥

(तस्माद् ब्राह्मणो०) ब्रह्म का उपासक मनुष्य रात्रि और दिवस के सन्धि समय में नित्य उपासना करे। जो प्रकाश और अप्रकाश का संयोग है, वही संध्या का काल जानना। और उस समय में जो सन्ध्योपासन की ध्यान क्रिया करनी होती है, वही सन्ध्या है। और जो एक ईश्वर को छोड़ के दूसरे की उपासना न करनी तथा सन्ध्योपासन कभी न छोड़ देना, इसी को सन्ध्योपासन कहते हैं ॥ ३ ॥

(उद्यन्तमस्तं यन्त०) जब सूर्य्य के उदय और अस्त का समय आवे, उसमें नित्य प्रकाशस्वरूप आदित्य परमेश्वर की उपासना करता हुआ, ब्रह्मोपसक ही मनुष्य सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है। इस से सब मनुष्यों को उचित है कि दो समय में परमेश्वर की नित्य उपासना किया करें ॥ ४ ॥

इसमें मनुस्मृति की भी साक्षी है कि दो घड़ी रात्रि से लेके सूर्योदय पर्य्यन्त प्रातःसन्ध्या, और सूर्य्यास्त से लेकर तारों के दर्शन पर्य्यन्त सायंकाल में सविता अर्थात् सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले परमेश्वर की उपासना गायत्र्यादि मन्त्रों के अर्थ विचारपूर्वक नित्य करें ॥ ५ ॥

(न तिष्ठति तु०) जो मनुष्य नित्य प्रातः और सायं सन्ध्योपासन को नहीं करता, उसको शूद्र के समान समझकर द्विजकुलसे अलग करके शूद्र कुल में रख देना चाहिये। वह सेवा कर्म किया करे, और उसके विद्या का चिन्ह यज्ञोपवीत भी न रहना चाहिये। इससे सब मनुष्यों को उचित है कि सब कामों से इस काम को मुख्य जानकर, पूर्वोक्त दो समयों में जगदीश्वर की उपासना नित्य करते रहें ॥ ६ ॥

इत्यग्निहोत्रसन्ध्योपासनप्रमाणानि ॥

अथ द्वितीयोऽग्निहोत्रो देवयज्ञः प्रोच्यते

उसका आचरण इस प्रकार से करना चाहिये कि संन्ध्योपासन करने के पश्चात् अग्निहोत्र का समय है। उसके लिये सोना, चांदी, तांबा, लोहा वा मिट्टी का कुण्ड बनवा लेना चाहिये। जिसका परिमाण सोलह अंगुल चौड़ा, सोलाह अंगुल गहरा और उसका तला चार अंगुल का लम्बा चौड़ा रहे। एक चमसा जिसकी डंडी सोलह अंगुल और उसके अग्रभाग में अंगूठा की यवरेखा के प्रमाण से लम्बा चौड़ा आचमनी के समान बनवा लेवें। सो भी सोना, चांदी वा पलाशादि लकड़ी का हो। एक आज्यस्थाली अर्थात् घृतादि सामग्री रखने का पात्र सोना, चांदी वा पूर्वोक्त लकड़ी का बनवा लेवे। एक जल का पात्र तथा एक चिमटा और पलाशादि की लकड़ी समिधा के लिये रख लेवे।

पुनः घृत को गर्म कर छान लेवे। और एक सेर घी में एक रत्ती कस्तूरी, एक माशा केसर पीस के मिलाकर, उक्त पात्र के तुल्य दूसरे पात्र में रख छोड़े। जब अग्निहोत्र करे, तब शुद्ध स्थान में बैठ के पूर्वोक्त सामग्री पास रख लेवे। जल के पात्र में जल और घी के पात्र में एक छटांक वा अधिक जितना सामर्थ्य हो, उतने शोधे हुए घी को निकाल कर अग्नि में तपा के सामने रख लेवे। तथा चमसे को भी रख लेवे। पुनः पलाशादि वा चन्दनादि लकड़ियों को वेदि में रखकर, उनमें आगी धरके पंखे से प्रदीप्त कर नीचे लिखे मन्त्रों में से एक एक मंत्र से एक एक आहुति देता जाय, प्रातःकाल वा सायंकाल में। अथवा एक समय में करें, तो सब मंत्रों से सब आहुति किया करे।

अथाग्निहोत्रहोमकरणार्थाः मन्त्राः

ओं सूर्य्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्य्यः स्वाहा ॥ १ ॥
ओं सूर्य्यो वर्च्चो ज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा ॥ २ ॥
ओं ज्योतिः सूर्य्यः सूर्य्यो ज्योतिः स्वाहा ॥ ३ ॥
ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या ।
जुषाणः सूर्य्यो वेतु स्वाहा ॥ ४ ॥

एते चत्वारो मन्त्राः प्रातःकालस्य सन्तीति बोध्यम् ।

ओमग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥ १ ॥

ओमग्निर्वर्च्चो ज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा ॥ २ ॥
ओमग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥ ३

इति मन्त्रं मनसोच्चार्य्य तृतीयाहुतिर्देया ।

ओं सजूर्देवेन सवित्रा सजू रात्र्येन्द्रवत्या ।
जुषाणोऽग्निर्वेतु स्वाहा ॥ ४ ॥

य० अ० ३ । मं० ९, १० ॥

एते सायंकालस्य मन्त्राः सन्तीति वेदितव्यम् ।

अथोभयोः कालयोरग्नि होत्रे-होमकरणार्थास्समाना मन्त्राः—

ओं भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ॥ १ ॥
ओं भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा ॥ २ ॥
ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा ॥ ३ ॥
ओं भूर्भुवःस्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापान-व्यानेभ्यःस्वाहा ॥ ४ ॥
ओं आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों स्वाहा ॥ ५ ॥
ओं सर्वं वै पूर्णं॰ स्वाहा ॥ ६ ॥

भाष्यम्—(सूर्य्यो०) यश्चराचरात्मा ज्योतिषां प्रकाशकानामपि ज्योतिः प्रकाशकः सर्वप्राणः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै स्वाहाऽर्थात् तदाज्ञापालनार्थं सर्व जगदुपकारायैकाहुतिं दद्मः ॥१॥

(सूर्यो व०) यो वर्च्चः सर्वविद् यो ज्योतिषां ज्ञानवतां जीवानामपि वर्चोऽन्तर्यामितया सत्योपदेष्टा, सर्वात्मा सूर्य्यः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै० ॥२॥

(ज्योतिः सूर्य्यः०) यः स्वयंप्रकाशः, सर्वजगत्प्रकाशकः सूर्यो जगदीश्वरोऽस्ति, तस्मै० ॥३॥

(सजू०) यो देवेन द्योतकेन सवित्रा सूर्य्यलोकेन जीवेन च सह, तथा (इन्द्रवत्या) सूर्य्यप्रकाशवत्योषसाथवा जीववत्या मानसवृत्त्या (सजूः) सह वर्त्तमानः परमेश्वरोऽस्ति, सः (जुषाणः) संप्रीत्या वर्त्तमानः सन् (सूर्य्यः) सर्वात्मा कृपाकटाक्षेणास्मान् (वेतु) विद्यादिसद्गुणेषु जातविज्ञानान् करोतु, तस्मै० ॥ ४ ॥

इमाश्चतस्र आहुतीः प्रातरग्निहोत्रे कुर्वन्तु ।

सायंकालाहुतयः—(अग्नि०) योऽग्निर्ज्ञानस्वरूपो ज्ञानप्रदश्च, ज्यतिषां ज्योतिः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै० ॥ १ ॥

(अग्निर्वर्च्चो०) यः पूर्वोक्तोऽग्निरनन्तविद्य, आत्मप्रकाशकः, सर्वपदार्थप्रकाशकश्च सूर्यादिद्योतकोऽस्ति, तस्मै० ॥ २ ॥

(अग्निर्ज्योतिः) इत्येनेनैव तृतीयाहुतिर्देया तदर्थश्च पूर्ववत् ॥ ३ ॥

(सजूर्दे०) यः पूर्वोक्तेन देवेन सवित्रा सह परमेश्वरः सजूरस्ति । यश्चेन्द्रवत्या वायुश्चन्द्रवत्या राज्या सह सजूर्वर्तते, सोऽग्निः (जुषाणः) संप्रीतोऽस्मान् (वेतु) नित्यानन्दमोक्षसुखया स्वकृपया कामयतु । तस्मै जगदीश्वराय स्वाहेति पूर्ववत् ॥ ४ ॥

एताभिः सायंकालेऽग्निहोत्रिणो जुह्वति । एकस्मिन् काले सर्वाभिर्वा ।

(ओं भूर०) एतानि सर्वाणीश्वरनामान्येव वेद्यानि । एतेषामर्थो गायत्र्यर्थे द्रष्टव्याः ॥ १–५ ॥

(सर्वं वै०) हे जगदीश्वर ! यदिदमस्माभिः परोपकारार्थं कर्म क्रियते भवत्कृपया परोपकारायालं भवत्विति, एतदर्थमेतत्कर्म तुभ्यं समर्प्यते ॥ ६ ॥

एवं प्रातः सायं सन्ध्योपासनकरणानन्तरमेतैर्मन्त्रैर्होमं कृत्वाऽग्रे यावदिच्छा तावद्गायत्रीमन्त्रेण स्वाहान्तेन होमं कुर्यात् ।

अग्नये परमेश्वराय जलवायुशुद्धिकरणाय च होत्रं हवनं यस्मिन् कर्मणि क्रियते 'तदग्निहोत्रम्' । सुगंधपुष्टिमिष्टबुद्धिवृद्धिशौर्यधैर्यबलकरैर्गुणैर्युक्तानां द्रव्याणां होमकरणेन वायुवृष्टिजलयोः शुद्ध्या पृथिवीस्थपदार्थानां सर्वेषां शुद्धवायुजलयोगाद् अत्यन्तोत्तमतया सर्वेषां जीवानां परमसुखं भवत्येव । अतस्तत्कर्मकर्तॄणां जनानां तदुपकारतयाऽत्यन्तसुखलाभो भवतीश्वरप्रसन्नता चेत्येतदाद्यर्थमग्निहोत्रकरणम् ।

भाषार्थ—(सूर्यो ज्यो०) जो चराचर का आत्मा प्रकाशस्वरूप और सूर्यादिप्रकाशक लोकों का भी प्रकाशक है, उस की प्रसन्नता के लिए हम लोग होम करते हैं ॥ १ ॥

(सूर्यो व०) जो सूर्य परमेश्वर हम को सब विद्याओं का देने वाला, और हम लोगों से उनका प्रचार कराने वाला है, उसी के अनुग्रह के लिए हम लोग अग्निहोत्र करते हैं ॥ २ ॥

(ज्योतिः सूर्यः०) जो आप प्रकाशमान और जगत् का प्रकाश करने वाला, सूर्य अर्थात् सब संसार का ईश्वर है, उसकी प्रसन्नता के अर्थ हम लोग होम करते हैं ॥ ३ ॥

(सजूर्देवेन०) जो परमेश्वर सूर्यादि लोकों में व्यापक, वायु और दिन के साथ परिपूर्ण सब पर प्रीति करने वाला और सबके अङ्ग अंग में व्याप्त है। वह अग्नि परमेश्वर हमको विदित हो। उसके अर्थ हम होम करते हैं ॥ ४ ॥

इन चार आहुतियों को प्रातःकाल अग्निहोत्र में करना चाहिये।

(अग्निर्ज्यो०) अग्नि जो परमेश्वर ज्योतिःस्वरूप है, उसकी आज्ञा से हम परोपकार के लिये होम करते हैं और रचा हुआ जो यह भौतिकाग्नि है, जिसमें द्रव्य डालते हैं सो इसलिये है कि उन द्रव्यों को परमाणु करके जल और वायु, वृष्टि के साथ मिलाके उनको शुद्ध करदे। जिससे सब संसार सुखी हो के पुरुषार्थी हो ॥ १ ॥

(अग्निर्वर्चो०) अग्नि जो परमेश्वर वर्च अर्थात् सब विद्याओं का देने वाला, तथा भौतिक अग्नि आरोग्य और बुद्धि बढ़ाने का हेतु है। इसलिये हम लोग होम करके परमेश्वर की प्रार्थना करते हैं। यह दूसरी आहुति हुई ॥ २ ॥

तीसरी आहुति प्रथम मन्त्र से मौन करके करनी चाहिये ॥ ३ ॥

और चौथी (सजूर्देवेन०) जो परमेश्वर प्राणादि में व्यापक, वायु और रात्रि के साथ पूर्ण, सब पर प्रीति करने वाला और सब के अंग अंग में व्याप्त है, वह अग्नि परमेश्वर हमको प्राप्त हो। जिसके लिये हम होम करते हैं ॥४॥

जिन मन्त्रों से दोनों समय में होम किया जाता है, उनको लिखते हैं—

(ओं भू०) इन मन्त्रों में जो जो नाम हैं, वे सब ईश्वर के ही जानो। उनके अर्थ गायत्री मन्त्र के अर्थ में देखने योग्य हैं ॥ १—४ ॥

और (आपो०) 'आप' जो प्राण परमेश्वर प्रकाश को प्राप्त होके रस अर्थात् नित्यानन्द मोक्षस्वरूप है, उस ब्रह्म को प्राप्त होकर तीनों लोकों में हम लोग आनन्द से विचरें ॥५॥

[(सर्वं वै०) हे जगदीश्वर! हम परोपकार के लिये जिस कर्म को करते हैं, वह कर्म आपकी कृपा से परोपकार के लिये समर्थ हो। इस लिये यह कर्म आपके समर्पण है ॥ ६ ॥]*

इस प्रकार प्रातः और सायंकाल संध्योपासन के पीछे इन पूर्वोक्त मन्त्रों से होम करके, अधिक होम करने की जहां तक इच्छा हो वहां तक 'स्वाहा' अन्त में पढ़कर गायत्री मन्त्र से होम करें।

अग्नि वा परमेश्वर के लिये, जल और पवन की शुद्धि वा ईश्वर की आज्ञा पालन के अर्थ होत्र जो हवन अर्थात् दान करते हैं, उसे 'अग्निहोत्र' कहते हैं। केशर, कस्तूरी आदि सुगन्ध; घृत दुग्ध आदि पुष्ट; गुड़ शर्करा आदि मिष्ट तथा सोमलतादि औषधि रोगनाशक, जो ये चार प्रकार के बुद्धि, वृद्धि, शूरता, धीरता, बल और आरोग्य करनेवाले गुणों से युक्त पदार्थ हैं, उनका होम करने से पवन और वर्षाजल की शुद्धि करके शुद्ध पवन और जल के योग से पृथिवी के सब पदार्थों की जो अत्यन्त उत्तमता होती है, उससे सब जीवों को परम सुख होता है। इस कारण उस अग्निहोत्र कर्म करने वाले मनुष्यों को भी जीवों के उपकार करने से अत्यन्त सुख का लाभ होता है। तथा ईश्वर भी उन मनुष्यों पर प्रसन्न होता है। ऐसे ऐसे प्रयोजनों के अर्थ अग्निहोत्रादि का करना अत्यन्त उचित है।

इत्यग्निहोत्रविधिः समाप्तः ॥

*यह कोष्ठान्तर्गत पाठ प्रथम संस्करण में नहीं है। संस्कृतानुसार पूरा किया है ॥

अथ तृतीयः पितृयज्ञः

तस्य द्वौ भेदौ स्तः—एकस्तर्पणाख्यो, द्वितीयः श्राद्धाख्यश्च। तत्र येन कर्मणा विदुषो देवानृषीन् पितृंश्च तर्पयन्ति सुखयन्ति तत् 'तर्पणम्'। तथा यत्तेषां श्रद्धया सेवनं क्रियते तच्छ्राद्धं वेदितव्यम्। तदेतत् कर्म विद्वत्सु विद्यमानेष्वेव घटते, नैव मृतकेषु। कुतः, तेषां सन्निकर्षाभावेन सेवनाशक्यत्वात्। मृतकोद्देशेन यत्क्रियते, नैव तेभ्यस्तत्प्राप्तं भवतीति व्यर्थापत्तेः। तस्माद्विद्यमानाभिप्रायेणैतत् कर्मोपदिश्यते। सेव्यसेवकसन्निकर्षात् सर्वमेतत्कर्तुं शक्यत इति।

तत्र सत्कर्त्तव्यास्त्रयः सन्ति—देवा, ऋषयः, पितरश्च। तत्र—

देवेषु प्रमाणम् +

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा।१।

य० अ० १६। मं० ३६॥

द्वयं वाऽइदं न तृतीयमस्ति सत्यं चैवानृतं च। सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या, इदमहमनृतात्सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति। स वै सत्यमेव वदेत्। एतद्धि वै देवा व्रतं चरन्ति यत् सत्यं, तस्मात् ते यशो यशो ह भवति य एवं विद्वान्त्सत्यं वदति॥ २॥

शत० कां० १। अ० १ ब्रा० १ कं ४, ५॥

विद्वाँसो हि देवाः॥ ३॥

शत० कां० ३। अ० ७ ब्रा० ६। कं० १०॥

भाष्यम्—हे (जातवेदः) परमेश्वर ! (मा) मां (पुनीहि) सर्वथा पवित्रं कुरु। भवन्निष्ठा भवदाज्ञापालिनो (देवजनाः) विद्वांसः श्रेष्ठा ज्ञानिनो विद्यादानेन (मा) मां (पुनन्तु) पवित्रं कुर्वन्तु। तथा (पुनन्तु मनसा धियः) भवद्दत्तविज्ञानेन भवद्विषयध्यानेन वा नो बुद्धयः पुनन्तु पवित्रा भवन्तु। (पुनन्तु विश्वा भूतानि) विश्वानि सर्वाणि संसारस्थानि भूतानि पुनन्तु भवत्कृपया पवित्राणि सुखानन्दयुक्तानि भवन्तु॥१॥

(द्वयं वा०) मनुष्याणां द्वाभ्यां लक्षणाभ्यां द्वे एव संज्ञे भवतः—देवाः, मनुष्याश्चेति। तत्र सत्यं चैवानृतं च कारणे स्तः। (सत्यमेव०) यत् सत्यवचनं सत्यमानं सत्यं कर्म तद्देवानां लक्षणं भवति। तथैतदनृतं वचनमनृतं मानमनृतं कर्म चेति मनुष्याणाम्। योऽनृतात् पृथग्भूत्वा सत्यमुपेयात्, स देवजातौ परिगण्यते। यश्च सत्यात् पृथग्भूत्वाऽनृतमुपेयात् स मनुष्यसंज्ञां लभेत। तस्मात्सत्यमेव सर्वदा वदेन्मन्येत कुर्याच्च। यत् सत्यं व्रतमस्ति, तदेव देवा आचरन्ति। स यशस्विनां मध्ये यशस्वीति देवो भवति, तद्विपरीतो मनुष्यश्च॥२॥

तस्मादत्र विद्वांस एव देवास्सन्तीति॥३॥

भाषार्थ—अब तीसरा पितृयज्ञ कहते हैं। उसके दो भेद हैं:—एक तर्पण दूसरा श्राद्ध। 'तर्पण' उसे कहते हैं, जिस कर्म से विद्वान्रूप देव ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करते हैं। उसी प्रकार जो उन लोगों का श्रद्धा से सेवन करना है, सो 'श्राद्ध' कहाता है। यह तर्पण आदि कर्म विद्यमान अर्थात् जो प्रत्यक्ष हैं, उन्हीं में घटता है, मृतकों में नहीं। क्योंकि उनकी प्राप्ति और उनका प्रत्यक्ष होना दुर्लभ है। इसी से उनकी सेवा भी किसी प्रकार से नहीं हो सकती। किन्तु जो उनका नाम लेकर देवे वह पदार्थ उनको कभी नहीं मिल सकता, इसलिये मृतकों को सुख पहुंचाना सर्वथा असंभव है। इसी कारण विद्यमानों के अभिप्राय से तर्पण और श्राद्ध वेद में कहा है। सेवा करने योग्य और सेवक अर्थात् सेवा करने वाले इनके प्रत्यक्ष होने पर यह सब काम हो सकता है।

तर्पण आदि कर्म में सत्कार करने योग्य तीन हैं—देव, ऋषि और पितर। उनमें से देवों में प्रमाण—

(पुनन्तु) हे जातवेद परमेश्वर! आप सब प्रकार से मुझको पवित्र करें। जिनका चित्त आप में है, तथा जो आपकी आज्ञा पालते हैं, वे विद्वान् श्रेष्ठ ज्ञानी पुरुष भी विद्यादान से मुझ को पवित्र करें। उसी प्रकार आपका दिया जो विशेष ज्ञान वा आपके विषय का ध्यान उससे हमारी बुद्धि पवित्र हो। (पुनन्तु विश्वा भूतानि) और

+ जातावेकवचनम्, एवं सर्वत्र॥

संसार के सब जीव आपकी कृपा से पवित्र और आनन्द-
ें । १ ॥

(द्वयं वा०) दो लक्षणों से मनुष्यों को दो संज्ञा होती हैं अर्थात् देव और मनुष्य। वहां सत्य और झूठ दो कारण हैं। (सत्यमेव०) जो सत्य बोलने, सत्य मानने और सत्य कर्म करनेवाले हैं वे 'देव', और वैसे ही झूंठ बोलने, झूंठ जानने और झूंठ कर्म करनेवाले 'मनुष्य' कहाते हैं। जो झूंठ से अलग होके सत्य को प्राप्त होवें, वे देवजाति में गिने जाते हैं। और जो सत्य से अलग होके झूंठ को प्राप्त हों, वे मनुष्य असुर और राक्षस कहे हैं। इससे सब काल में सत्य ही कहे, माने और करे। सत्यव्रत का आचरण करने वाला मनुष्य यशस्वियों में यशस्वी होने से देव और उससे उलटे कर्म करनेवाला असुर होता है ॥ [(विद्वांसो०)] इस कारण से यहां विद्वान् ही देव हैं ॥ ३ ॥

अथर्षिप्रमाणम्

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ।१।
य० अ० ३१ । मं० ९ ॥

अथ यदेवानुब्रुवीत । तेनर्षिभ्य ऋणं जायते, तद्ध्येभ्य एतत् करोत्यृषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः ॥ २ ॥
शत० कां० १ । अ० ७ । कं० ३ ॥

अथार्षेयं प्रवृणीते । ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद्देवेभ्यश्च निवेदयत्ययं महावीर्यो यो यज्ञं प्रापदिति, तस्मादार्षेयं प्रवृणीते ॥३॥
शत० कां० १ । प्रपा० ३ । अ० ४ । कं० ३ ॥

भाष्यम्—(तं यज्ञम०) इति मन्त्रः सृष्टिविद्याविषये × व्याख्यातः ॥ १ ॥

(अथ यदेवा०) अथेत्यनन्तरं यत् सर्वविद्यां पठित्वानुवचनमध्यापनं कर्मास्ति, तदृषिकृत्यमस्ति। तेनाध्ययनाध्यापनकर्मणर्षिभ्यो देयमृणं जायते। यत् तेषामृषीणां सेवनं करोति, तदेतेभ्य एव सुखकारी भवति। यः सर्वविद्याविद् भूत्वाध्यापयति तमनूचानमृषिमाहुः ॥ २॥

(अथार्षेयं प्रवृणीते०) यो मनुष्यः पठित्वा पाठनाख्यं कर्म प्रवृणीते, तदार्षेयं कर्मास्ति। य एवं कुर्वन् तेभ्य ऋषिभ्यो देवेभ्यश्चैतत् प्रियकरं वस्तु सेवनं च निवेदयति, सोऽयं विद्वान् महावीर्यो भूत्वा यज्ञंविज्ञानाख्यं प्रापत् प्राप्नोति। ते चैनं विद्यार्थिनं विद्वांसं कुर्युः। यश्च विद्वानस्ति यश्चापि विद्यां गृह्णाति स ऋषिसंज्ञां लभते। तस्मादिदमार्षेयं कर्म सर्वैर्मनुष्यैः स्वीकार्यम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(तं यज्ञं०) इस मंत्र का अर्थ भूमिका+ के सृष्टिविद्या विषय में कह दिया है ॥ १ ॥

(अथ यदेवा०) अब इसके अनन्तर सब विद्याओं को पढ़ के जो पढ़ाना है, वह 'ऋषिकर्म' कहाता है। उस पढ़ने और पढ़ाने से ऋषियों का ऋण अर्थात् उनको उत्तम उत्तम पदार्थ देने से निवृत्त होता है। और जो इन ऋषियों की सेवा करता है, वह उसको सुख करने वाला होता है। यही व्यवहार अर्थात् विद्या कोश की रक्षा करने वाला होता है। जो सब विद्याओं को जान के सबको पढ़ाता है, उसको 'ऋषि' कहते हैं ॥ २ ॥

(अथार्षेयं प्रवृणीते०) जो पढ़के पढ़ाने के लिये विद्यार्थी का स्वीकार करना है, सो आर्षेय अर्थात् ऋषियों का कर्म कहाता है। जो उस कर्म को करता हुआ उन ऋषियों और देवों के लिये प्रसन्न करने वाले पदार्थों का निवेदन तथा सेवा करता है, वह विद्वान् अति पराक्रमी हो के विशेष ज्ञान को प्राप्त होता है। जो विद्वान् और विद्या को ग्रहण करने वाला है, उसका 'ऋषि' नाम होता है। इस कारण से इस आर्षेय कर्म को सब मनुष्य स्वीकार करें ॥

अथ पितृषु प्रमाण

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम् ।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥१॥
य० । अ० २ । मं० ३४॥

भाष्यम्—ईश्वरः सर्वान् प्रत्याज्ञां ददाति—सर्वे मनुष्या एवं जानीयुर्वदेयुश्चाज्ञापयेयुरिति—(मे पितॄन्) मम पितृपितामहादीन् आचार्यादींश्च यूयं सर्वे मनुष्याः (तर्पयत) सेवया प्रसन्नान् कुरुत। तथा (स्वधा स्थ) सत्यविद्याभक्तिस्वपदार्थधारिणो भवत।

× ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायामिति शेषः ॥

+ यहां भूमिका शब्द से 'ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका' अभिप्रेत है ॥

केन केन पदार्थेन ते सेवनीया इत्याह—(ऊर्जं वहन्तीः) पराक्रमं प्रापिकाः सुगन्धिता हृद्या अपस्तेभ्यो नित्यं दद्युः। (अमृतम्) अमृतात्मकमनेकविधरसं (घृतम्) आज्यं (पयः) दुग्धं (कीलालम्) अनेकविधसंस्कारैः सम्पादितमन्नं माक्षिकं मधु च (परिस्रुतम्) कालपक्वं फलादिकं च दत्त्वा पितृन् प्रसन्नान् कुर्युः॥ १॥

भाषार्थ—(ऊर्जं वहन्ती०) [ईश्वर सब को आज्ञा देता है कि] पिता व स्वामी अपने पुत्र पौत्र स्त्री वा नौकरों को सब दिन के लिये आज्ञा देके कहे कि—(तर्पयत मे पितृन्) जो मेरे पिता पितामहादि, माता मातामहादि तथा आचार्य और इन से भिन्न भी विद्वान् लोग अवस्था अथवा ज्ञान से वृद्ध, मान्य करने योग्य हों, उन सब के आत्माओं को यथायोग्य सेवा से प्रसन्न किया करो। सेवा करने के पदार्थ ये हैं—(ऊर्जं वहन्ती) जो उत्तम २ जल, (अमृतम्) अनेकविधरस, (घृतम्) घी, (पयः) दूध, (कीलालम्) अनेक संस्कारों से सिद्ध किये रोगनाश करने वाले उत्तम २ अन्न [और मधु], (परिस्रुतम्) सब प्रकार के उत्तम २ फल हैं, इन सब पदार्थों से उनकी सेवा सदा करते रहो। जिससे उनका आत्माप्रसन्न होके तुम लोगों को आशीर्वाद देता रहे कि उससे तुम लोग भी सदा प्रसन्न रहो। (स्वधा स्थ०) हे पूर्वोक्त पितृ लोगो! तुम सब हमारे अमृत रूप पदार्थों के भोगों से सदा सुखी रहो। और जिस २ पदार्थ की तुमको अपने लिये इच्छा हो, जो जो हम लोग कर सकें, उस २ की आज्ञा सदा करते रहो। हम लोग मन वचन कर्म से तुम्हारे सुख करने में स्थित हैं। तुम लोग किसी प्रकार का दुःख मत पाओ। जैसे तुम लोगों ने बाल्यावस्था और ब्रह्मचर्य्याश्रम में हम लोगों को सुख दिया है, वैसे हम को भी आप लोगों का प्रत्युपकार करना अवश्य चाहिये, जिससे हमको कृतघ्नता दोष न प्राप्त हो॥१॥

अथ पितॄणां परिगणनम्

येषां पितृसंज्ञा ये सेवितुं योग्याश्च, ते क्रमशो लिख्यन्ते—

१–सोमसदः। २–अग्निष्वात्ताः। ३–बर्हिषदः। ४–सोमपाः। ५–हविर्भुजः। ६–आज्यपाः। ७–सुकालिनः। ८–यमराजाश्चेति॥

भाष्यम्—(सो०) सोमे ईश्वरे सोमयागे वा सीदन्ति, ये सोमगुणाश्च ते 'सोमसदः'।

(अ०) अग्निरीश्वरः सुष्ठुतया आत्तो गृहीतो यैस्ते 'अग्निष्वात्ताः'।

यद्वा अग्नेर्गुणज्ञानात् पृथिवीजलव्योमयानयन्त्ररचनादिकाः पदार्थविद्या सुष्ठुतया आत्ता गृहीता यैस्ते।

(ब०) बर्हिषि सर्वोत्कृष्टे ब्रह्मणि शमदमादिषूत्तमेषु गुणेषु वा सीदन्ति ते 'बर्हिषदः'।

(सो०) यज्ञेनोत्तममौषधिरसं पिबन्ति पाययन्ति या ते 'सोमपाः'।॥ १—४॥

(ह०) हविर्हुतमेव यज्ञेन शोधितवृष्टिजलादिकं भोक्तुं भोजयितुं वा शीलमेषां ते 'हविर्भुजः'।

(आ०) आज्यं घृतम्, यद्वा 'अज गतिक्षेपणयोः धात्वर्थादाज्यं विज्ञानम्, तद्दानेन पान्ति रक्षन्ति पालयन्ति रक्षयन्ति ये विद्वांसस्ते 'आज्यपाः'।

(सु०) ईश्वरविद्योपदेशकरणस्य ग्रहणस्य च शोभनः कालो येषां ते। यद्वा ईश्वरज्ञानप्राप्त्या सुखरूपः सदैव कालो ते 'सुकालिनः'।

(य०) ये पक्षपातं विहाय न्यायव्यवस्थाकर्त्तारस्सन्ति ते 'यमराजाः'।॥ ५—८॥

भाषार्थ—(सो०) जो ईश्वर और सोमयज्ञ में निपुण, और जो शान्त्यादिगुण सहित हैं, वे 'सोमसद्' कहाते हैं।

(अ०) अग्नि जो परमेश्वर व भौतिक उनके गुण ज्ञात करके जिनने अच्छे प्रकार अग्निविद्या सिद्ध की है, उनको 'अग्निष्वात्त' कहते हैं।

(ब०) जो सब से उत्तम परमब्रह्म में स्थिर होके शम-दम-सत्य-विद्यादि उत्तम गुणों में वर्त्तमान हैं, उनको 'बर्हिषद' कहते हैं।

(सो०) जो यज्ञ करके सोमलतादि उत्तम औषधियों के रस के पान करने और कराने वाले हैं, तथा जो सोम-विद्या को जानते हैं, उनको 'सोमपा' कहते हैं॥ १—४॥

(ह०) जो अग्निहोत्रादि यज्ञ करके वायु और वृष्टि जल की शुद्धि द्वारा सब जगत् का उपकार करते, और जो यज्ञ से अन्नजलादि की शुद्धि करके खाने पीने वाले हैं, उनको 'हविर्भुज' कहते हैं।

(आ०) आज्य कहते हैं घृत, स्निग्धपदार्थ और विज्ञान को, जो उसके दान से रक्षा करने वाले हैं, उनको 'आज्यपा' कहते हैं।

(सु०) मनुष्य-शरीर को प्राप्त होकर ईश्वर और सत्यविद्या के उपदेश का जिनका श्रेष्ठ समय, और जो सदा उपदेश में ही वर्त्तमान हैं, उनको 'सुकालिन' कहते हैं।

(य०) जो पक्षपात को छोड़ के सदा सत्य न्याय व्यवस्था ही करने में रहते हैं, उनको 'यमराज' कहते हैं ॥ ५—८ ॥

९—पितृपितामहप्रपितामहाः।

१०—मातृपितामहीप्रपितामह्यः।

११—सगोत्रः।

१२—[आचार्यादि] सम्बन्धिनः ॥

भाष्यम्—(पि०) ये सुष्ठुतया श्रेष्ठान् विदुषो गुणान् वासयन्तस्तत्र वसन्तश्च, विज्ञानाद्यनन्तधनाः स्वान् जनान् धारयन्तः पोषयन्तश्च, चतुर्विंशतिवर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्येण विद्याऽभ्यासकारिणः स्वे जनकाश्च सन्ति, ते पितरो वसवो विज्ञेया ईश्वरोऽपि। (पिता०) ये पक्षपातरहिता दुष्टान् रोदयन्तश्चतुश्चत्वारिंशद्वर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्यसेवनेन कृतविद्याभ्यासास्ते रुद्राः स्वे पितामहाश्च ग्राह्यास्तथा रुद्र ईश्वरोऽपि। (प्रपि०) आदित्यवदुत्तमगुणप्रकाशका विद्वांसोऽष्टचत्वारिंशद्वर्षेण ब्रह्मचर्येण सर्वविद्यासम्पन्नाः सूर्यवद्विद्याप्रकाशाः [त आदित्याः] स्वे प्रपितामहाश्च ग्राह्यास्तथाऽऽदित्योऽविनाशीश्वरो वात्र गृह्यते।

(मा०) पित्रादिसदृश्यो मात्रादयः सेव्याः ॥ ९-१०॥

प्राप्ताः ये (स०) स्वसमीपं पुत्रादयस्ते श्रद्धया पालनीयाः।

(आ० सं०) ये गुर्वादिसःख्यन्तास्सन्ति ते हि सर्वदा सेवनीयाः ॥ ११-१२ ॥

भाषार्थ—(पि०) जो वीर्य के निषेकादि कर्मों को करके उत्पत्ति और पालन करे, और चौबीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम से विद्या को पढ़े, उसका नाम 'पिता' और 'वसु' है। (पिता०) जो पिता का पिता हो और चवालीस वर्ष पर्यन्त [ब्रह्मचर्य से विद्याभ्यास कर पक्षपात रहित होकर दुष्टों को रुलानेवाला है, उसका नाम 'पितामह' और 'रुद्र' है। (प्रपितामहः) जो पितामह का पिता और आदित्य के समान उत्तम गुणों का प्रकाशक अड़तालीस वर्ष पर्यन्त]* ब्रह्मचर्याश्रम से विद्या पढ़ के सब जगत् का उपकार करता हो, उसको 'प्रपितामह' और 'आदित्य' कहते हैं। तथा जो पित्रादिकों के तुल्य पुरुष हैं उनकी भी पित्रादिकों के तुल्य सेवा करनी चाहिये।

(मा०) पित्रादिकों के समान विद्या स्वभाव वाली स्त्रिय की भी अत्यन्त सेवा करनी चाहिये ॥ ९—१० ॥

(सगो०) जो समीपवर्ती ज्ञाति के योग्य पुरुष हैं, वे भ सेवा करने के योग्य हैं।

(आचार्यादिसं०) जो पूर्ण विद्या के पढ़ाने वाले और श्वसुरादि सम्बन्धी तथा उनकी स्त्री हैं, उनकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिये ॥ ११—१२ ॥

एतेषां विद्यमानानां सोमसदादीनां सुखार्थं प्रीत्या यत् सेवनं क्रियते तत् तर्पणम्, श्रद्धया यत् सेवनं क्रियते तत् श्राद्धम्। ये सत्यविज्ञानदानेन जनान् पान्ति रक्षन्ति ते पितरो विज्ञेयाः। अत्र प्रमाणानि—

'ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासः'१ इत्यादीनि यजुर्वेदस्यैकोनविंशतितमेऽध्याये सप्तसु सोमसदादिषु पितृषु द्रष्टव्यानि।

तथा 'ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये'२ इत्यादीनि यमराजेषु।

'पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः'३ इत्यादीनि पितृपितामहप्रपितामहादिषु।

एवं 'नमो वः पितरो रसाय'४ इत्यादीनि पितृणां सत्कारे च। इति ऋग्यजुरादिवचनानि सन्तीति बोध्यम्। अन्यच्च—

वसून् वदन्ति वै पितॄन् रुद्रांश्चैव पितामहान्।
प्रपितामहांश्चादित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी ॥
म० अ० ३। श्लो० २८४॥

---

* यह पाठ प्रथम सं० में नहीं है। संस्कृतानुसार पूरा किया है।

१. यजुः १९।५१॥ ऋ० १०।१५।८॥ ३. यजुः १९। ३६
२. यजुः १९। ४६॥ ४. यजुः २। ३२॥

भाषार्थ—जो सोमसदादि पितर विद्यमान अर्थात् जीवते हों, उनको प्रीति से सेवनादि से तृप्त करना 'तर्पण' और जो श्रद्धा से अत्यन्त प्रीतिपूर्वक सेवन करना है, सो 'श्राद्ध' कहाता है। जो सत्य विज्ञानदान से जनों को पालन करते हैं, वे 'पितर' हैं। इस विषय में प्रमाण :—

'ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासः' इत्यादि मन्त्र सोमसदादि सातों पितरों में प्रमाण हैं। 'ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये' इत्यादि मन्त्र यमराजों, 'पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः' इत्यादि मन्त्र पिता पितामह प्रपितामहादिकों। तथा 'नमो वः पितरो रसाय' इत्यादि मन्त्र पितरों की सेवा और सत्कार में प्रमाण हैं। ये ऋग् यजुर्वेद आदि के वचन हैं।

और मनु जी ने भी कहा है कि—'पितरों को वसु पितामहों को रुद्र और प्रपितामहों को आदित्य कहते हैं, यह सनातन श्रुति है।

मनु० अ० ३। श्लो० २८४॥

इति पितृयज्ञविधिः समाप्तः॥

—※—

अथ बलिवैश्वदेवविधिर्लिख्यते

यदन्नं पक्वम-क्षारलवणं भोजनार्थं भवेत्तेनैव बलिवैश्वदेवकर्म कार्य्यम्—

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम्।
आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम्॥

मनु० अ० ३। श्लो० ८४॥

भाषार्थ—[अब चौथे बलिवैश्वदेव की विधि लिखी जाती है—अर्थात् जब भोजन सिद्ध हो, तब जो कुछ भोजनार्थ बने उसमें से खट्टा लवणान्न और क्षार को छोड़कर घृतमिष्टयुक्त अन्न जो कुछ पाकशाला में सिद्ध हो, उसको दिव्यगुणों के अर्थ पाकाग्नि में विधिपूर्वक नित्य होम करे।]*

अथ बलिवैश्वदेवकर्म्मणि प्रमाणम्

अहरहर्बलिमित्ते हरन्तो
ऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो
माते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम॥१॥

अथर्व० कां० १९। सू० ५५। मं०७ १॥

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा॥२॥

य० अ० १९। मं० ३९॥

भाष्याम—हे (अग्ने) परमेश्वर! ये (अहरहर्बलि०) भवदाज्ञया बलिवैश्वदेवं नित्यं कुर्वन्तो मनुष्यास्ते (रायस्पोषेण समिषा) चक्रवर्त्तिराज्यलक्ष्म्या घृतदुग्धादिपुष्टिकारकपदार्थप्राप्त्या च सम्यक् शुद्धेच्छया (मदन्तः) नित्यानन्दप्राप्ताः सन्तः, मातुः पितुराचार्य्यादीनां चोत्तमपदार्थैः प्रीतिपूर्विकां सेवां नित्यं कुर्युः। (अश्वायेव तिष्ठते घासम्) यथाऽश्वस्य सन्मुखे तद्भक्ष्यं तृणवीरुधादि वा तत्पानार्थं जलादि पुष्कलं स्थाप्यते, तथा सर्वेषां सेवनाय बहून्युत्तमानि वस्तूनि दद्युर्यतस्ते प्रसन्ना भवेयुः। (मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम) हे परमगुरो अग्ने परमेश्वर! भवदाज्ञातो ये विरुद्धव्यवहारास्तेषु वयं कदाचिन्न प्रविशेम। अन्यायेन कदाचित्प्राणिनः पीडां न दद्याम। किन्तु सर्वान् स्वमित्राणीव स्वयं सर्वेषां मित्रमिवेति ज्ञात्वा परस्परमुपकारं कुर्य्यामेतीश्वराज्ञास्ति।१।

(पुनन्तु०) अस्यार्थो देवप्रकरणे ※ उक्तः॥२॥

भाषार्थ—हे (अग्ने) परमेश्वर! आपकी आज्ञा से (अहरहर्बलि०) नित्यप्रति बलिवैश्वदेव कर्म करते हुए हम लोग (रायस्पोषेण समिषा) चक्रवर्त्तिराज्यलक्ष्मी, घृतदुग्धादि पुष्टिकारक पदार्थों की प्राप्ति और सम्यक् शुद्ध इच्छा से (मदन्तः) नित्य आनन्द में रहें। तथा माता पिता आचार्य्य आदि की उत्तम पदार्थों से नित्य प्रीतिपूर्वक सेवा करते रहें। (अश्वायेव तिष्ठते घासम्) जैसे घोड़े के सामने बहुत से उत्तम उत्तम पदार्थ देवें। जिनसे वे प्रसन्न होके हम पर नित्य प्रसन्न रहें। (मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम) हे परमगुरु अग्नि परमेश्वर! आप और आपकी आज्ञा से विरुद्ध व्यवहारों में हम लोग कभी प्रवेश न करें, और अन्याय से

* यह कोष्ठान्तर्गत पाठ प्रथम सं० में नहीं है। संस्कृतानुसार पूरा किया है॥

※ पितृयज्ञान्तर्गते इति शेषः॥ पञ्चमहा० पृ० ४५॥

किसी प्राणी को पीड़ा न पहुंचावें, किन्तु सबको अपना मित्र और अपने को सबका मित्र समझ के परस्पर उपकार करते रहें ॥१॥

(पुनन्तु०) इसका अर्थ देवतर्पणविषय×में कर दिया है ॥२॥

अथ होम मन्त्राः

ओमग्नये स्वाहा ॥ १ ॥
ओं सोमाय स्वाहा ॥२॥
ओमग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥३॥
ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥४॥
ओं धन्वन्तरये स्वाहा ॥ ५ ॥
ओं कुह्वै स्वाहा ॥ ६ ॥
ओमनुमत्यै स्वाहा ॥ ७ ॥
ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ ८ ॥
ओं सह द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा ॥९॥
ओं स्विष्टकृते स्वाहा ॥१०॥

भाष्यम्---(ओम०) अग्न्यर्थ उक्तः[१]। (ओं सो०) सर्वानन्दप्रदो यः सर्वजगदुत्पादक ईश्वरः सोऽत्र ग्राह्यः। [(ओमग्नी०) प्राणापानाभ्याम्, अनयोरर्थो[२] गायत्री-मन्त्रार्थ उक्तः[३]।][४] (ओं वि०) विश्वेदेवा विश्व-प्रकाशका ईश्वरगुणाः, सर्वे विद्वांसो वा। (ओं धन्व०) सर्वरोगनाशक ईश्वरोऽत्र गृह्यते। (ओं कु०) दर्शेष्ट्य-र्थोऽयमारम्भः। अमावास्येष्टिप्रतिपादितायै चितिशक्तये वा ॥ १—६ ॥

(ओम०) पौर्णमासेष्ट्यर्थोऽयमारम्भः विद्यापठना-न्तरं मतिर्मननं ज्ञानं यस्याश्चित्तिशक्तेः सा चित्तिरनु-मतिर्वा। (ओं प्र०) सर्वजगतः स्वामी रक्षक ईश्वरः। (ओं सह०) ईश्वरेण प्रकृष्टगुणैः सहोत्पादितयोः पुष्टिकरणाय। (ओं स्विष्ट०) यः सुष्ट शोभनमिष्टं सुखं करोति स चेश्वरः ॥ ७–१० ॥

एतैर्मन्त्रैर्होमं कृत्वाऽथ बलिदानं कुर्य्यात्—

भाषार्थ—(ओम०) अग्नि शब्दार्थ कह आये[१] हैं। (ओं सो०) जो सब पदार्थों को उत्पन्न और पुष्ट करने से सुख देनेहारा है, उसको 'सोम' कहते हैं। (ओमग्नी०) जो प्राण सब प्राणियों के जीवन का हेतु, और अपान अर्थात् दुःख के नाश का हेतु है, इन दोनों को 'अग्नीषोम' कहते हैं। (ओं वि०) यहां संसार को प्रकाश करने वाले ईश्वर के गुण, अथवा विद्वान् लोगों का 'विश्वेदेव' शब्द से ग्रहण होता है। (ओं ध०) जो जन्ममरणादि रोगों का नाश करनेहारा परमात्मा है वह 'धन्वन्तरि' कहाता है। (ओंकु०) जो अमावास्येष्टि का करना है ॥१—६॥

(लोम०) जो पौर्णमास्येष्टि वा सर्वशास्त्रप्रतिपादित परमेश्वर की चित्ति शक्ति है यहां उसका ग्रहण है। (ओं प्र०) जो सब जगत् का स्वामी जगदीश्वर है, वह 'प्रजापति' कहाता है। (ओं स०) ईश्वर से उत्पादित अग्नि और पृथिवी की पुष्टि करने के लिये। (ओं स्वि०) जो इष्ट सुख करनेहारा परमेश्वर है, वही 'स्विष्टकृत्' कहाता है। ये दश अर्थ दश मन्त्रों के हैं ॥ ७—१० ॥ १—१६ ॥

ओं सानुगायेन्द्राय नमः ॥ ओं सानुगाय यमाय नमः ॥ ओं सानुगाय वरुणाय नमः ॥ ओं सानुगाय सोमाय नमः ॥ ओं मरुद्भ्यो नमः ॥ ओम् अद्भ्यो नमः ॥ ओं वनस्पतिभ्यो नमः ॥ ओं श्रियै नमः ॥ ओं भद्रकाल्यै नमः ॥ ओं ब्रह्मपतये नमः ॥ ओं वास्तुपतये नमः ॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः ॥ ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः ॥ ओं नक्तंचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः ॥ ओं सर्वात्मभूतये नमः ॥ ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः ॥

भाष्यार्थ–(ओं सा०) 'णम प्रह्वत्वे शब्दे च' इत्यनेन सत्क्रियापुरस्सरविचारेण मनुष्याणां यथार्थं विज्ञानं भवतीति वेद्यम्। नित्यैर्गुणैस्सह वर्त्तमानः परमैश्वर्यवानीश्वरोऽत्रेन्द्रशब्देन गृह्यते। (ओं सानु०) पक्षपातरहितो न्यायकारित्वादिगुणयुक्तः परमात्मात्र

× पञ्चमहा० पृ० ४५ ॥
१. पञ्चमहा० पृ० ३८ ॥
२. अनयोः प्राणापानयोरित्यर्थः ॥
३. महाव्याहृत्यर्थं, पृ० ३९
४. यह पाठ प्रथम संस्करण में नहीं है। किन्तु इन मन्त्रों का अर्थ ऋ० भाष्य भूमिका में ऐसा ही किया है ॥

१. पञ्चमहा० पृ० ४० ॥

यमशब्दार्थेन वेद्यः। (ओं सा०) विद्यायुक्तसगुण-विशिष्टः सर्वोत्तमः परमेश्वरोऽत्र वरुण शब्देन ग्रहीतव्यः। (ओं सानुगाय सो०) अस्यार्थः उक्तः१॥

(ओं म०) य ईश्वराधारेण सकलं विश्वं धारयन्ति चेष्टयन्ति ते अत्र मरुतो गृह्यन्ते। (ओं अद्भ्य) अस्यार्थः 'शन्नोदेवी' रित्यत्रोक्तः२। (ओं व०) वनानां लोकानां पतय ईश्वरगुणाः परमेश्वरो वा। बहुवचनं सत्कारार्थम्। यद्वोत्तमगुणयोगेनेश्वरेणोत्पादितेभ्यो महावृक्षेभ्यश्चेति बोध्यम्। (ओं श्रि०) श्रीयते सेव्यते सर्वैर्जनैस्सः श्रीरीश्वरस्सर्वसुखशोभावत्वाद् गृह्यते। यद्वा तेनोत्पादिता विश्वशोभा च। (ओं भ०) भद्रं कल्याणं सुखं कालयितुं शीलमस्याः सा भद्रकालीश्वरशक्तिः।

(ओं ब्र०) ब्रह्मणः सर्वशास्त्रविद्यायुक्तस्य वेदस्य ब्रह्माण्डस्य वा पतिरीश्वरः। ओं (ओं वा०) वसन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मिंस्तद्वास्त्वाकाशं तत्पतिरीश्वरः। (ओं वि०) अस्यार्थ उक्तः१। (ओं दि०) (ओं नक्तं) ईश्वरकृपयैवं भवेद् दिवसे यानि भूतानि विचरन्ति रात्रौ च. तान्यस्मासु विघ्नं मा कुर्वन्तु तैः सहास्माकमविरोधोऽस्तु। एतदर्थोऽयमारम्भः। (ओं स०) सर्वेषां जीवात्मनां भूतिर्भवनं सत्तेश्वरो नान्यः। (ओं पि०) अस्यार्थः पितृतर्पणे प्रोक्तः३। नम इत्यस्य निरभिमानद्योतनार्थः। परमोत्कृष्टतया मान्यज्ञापनार्थश्चारम्भः॥ १–१६॥

भाषार्थ—(ओं सा०) जो सर्वैश्वर्ययुक्त परमेश्वर और जो उसके गुण हैं, वे 'सानुग इन्द्र' शब्द से ग्रहण होते हैं, (ओं सा०) जो सभासद् हैं, 'सानुग यम' शब्दार्थ से ग्रहण होते हैं। (ओं सा०) जो सबसे उत्तम परमात्मा और उसके धार्मिक भक्त हैं, वे 'सानुग वरुण' शब्दार्थ से जानने चाहियें। (ओं सा०) पुण्यात्माओं को आनन्दित करने वाला और जो पुण्यात्मा लोग हैं, वे 'सानुग सोम' शब्द से ग्रहण किये हैं।

(ओं मरु०) जो प्राण अर्थात् जिनके रहने से जीवन और निलकने से मरण होता है, 'मरुत्' कहते हैं। इनकी रक्षा अवश्य करनी चाहिये। (ओं अद्भ्यो०) इसका अर्थ 'शन्नो देवी' इस मन्त्र के अर्थ में लिखा है। (ओं व०) जिनसे वर्षा अधिक होती और जिनके फलादि से जगत् का उपकार होता है, उनकी भी रक्षा करनी योग्य है। (ओं श्रि०) जो सब के सेवा करने योग्य परमात्मा है, उस की सेवा से राज्यश्री की प्राप्ति के लिये सदा उद्योग करना चाहिए। (ओं भ०) जो कल्याण करने वाली परमात्मा की शक्ति अर्थात् सामर्थ्य है, उसका सदा आश्रय करना चाहिये।

(ओं ब्र०) जो वेद का स्वामी ईश्वर है, उसकी प्रार्थना और उद्योग विद्या प्रचार के लिये अवश्य करना चाहिये। (ओं वा०) जो वास्तुपति गृह सम्बन्धी पदार्थों का पालन करने हारा मनुष्य अथवा ईश्वर है, इनका सहाय सर्वत्र होना चाहिये। (ओं वि०) इसका अर्थ कह दिया। (ओं दि०) ज दिन में विचरने वाले प्राणियों से उपकार लेना और उनको सुख देना है, सो मनुष्य जाति का ही काम है। (ओं नक्तं०) जो रात्रि में विचरने वाले प्राणी हैं, उनसे भी उपकार लेना और जो उनको सुख देना है, इसलिये यह प्रयोग है। (ओं सर्वात्म०) सब में व्याप्त परमेश्वर की सत्ता को सदा ध्यान में रखना चाहिये। (ओं पि०) माता, पिता, आचार्य, अतिथि, पुत्र, भृत्यादिकों को भोजन कराके पश्चात् गृहस्थ को भोजनादि करना चाहिये। 'स्वाहा' शब्द का अर्थ पूर्व कर दिया है।१ और 'नमः'१ शब्द का अर्थ यह है कि आप अभिमान रहित होके दूसरे का मान्य करना॥ ६–१६॥

इसके पीछे छः भागों को लिखते हैं :—

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।
वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि॥२

अनेन षड्भागान् भूमौ दद्यात्। एवं सर्वप्राणिभ्यो भागान् विभज्य दत्त्वा च तेषां प्रसन्नतां संपादयेत्।

भाषार्थ—कुत्तों, कङ्गालों, कुष्ठी आदि रोगियों काक आदि पक्षियों और चींटी आदि कृमियों के लिये छः भाग अलग-अलग बांट के दे देना और उनकी प्रसन्नता सदा करना।

यह वेद और मनुस्मृति की रीति से बलिवैश्वदेव की विधि लिखी॥

इति बलिवैश्वदेवविधिः समाप्तः॥

---

१. पञ्चमहा० पृ० ५०॥ २. पञ्चमहा० पृ० ३०॥
३. पञ्चमहा० पृ० ४७॥

पञ्चमहा० ३७ ४६॥
१. पञ्चमहा० पृ० १७॥ २. मनु० ३। ९२॥

अथ पञ्चमोऽतिथियज्ञः प्रोच्यते

यत्रातिथीनां सेवनं यथावत् क्रियते तत्रैव कल्याणं भवति। ये पूर्णा विद्यावन्तः परोपकारिणो जितेन्द्रिया धार्मिका सत्यवादिनश्छलादिदोषरहिता नित्यभ्रमणकारिणो मनुष्यास्सन्ति तानतिथीन् कथयन्ति। अत्रानेके प्रमाणभूता वैदिकमन्त्रास्सन्ति, परन्त्वत्र संक्षेपतो द्वावेव लिखामः—

तद्यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥१॥ स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वा वात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति ॥२॥

अथर्व० कां० १५। सू० ११। मं० १, २॥

भाष्यम्—(तद्य०) यस्य गृहे पूर्वोक्तविशेषणयुक्तो विद्वान् (व्रात्यो०) महोत्तमगुणविशिष्टः सेवनीयोऽतिथिरर्थाद्यस्यागमनगमनयोर्नियततिथिर्न भवति, किन्तु स्वेच्छयाऽकस्मादागच्छेद् गच्छेच्च, स यदा गृहस्थानां गृहेषु प्राप्नुयात् ॥ १ ॥

(स्वयमेनम०) गृहस्थोऽत्यन्तप्रेम्णोत्थाय नमस्कृत्य च तं महोत्तमासने निषादयेत्। तदनन्तरं पृच्छेद्भवतां जलादेरन्यस्य वा वस्तुन इच्छास्ति चेत्तद् ब्रूहि। सेवां कृत्वा तत्प्रसन्नतां संपाद्य स्वस्थचित्तस्सन्नेवं पृच्छेत्।

(व्रात्य क्वावात्सीः) हे व्रात्य पुरुषोत्तम! त्वमितः पूर्वं क्व अवात्सीः कुत्र निवासं कृतवान्। (व्रात्योदकम्) हे अतिथे! जलमेतद् गृहाण। (व्रात्य तर्पयन्तु) भवान् स्वकीयसत्योपदेशेनास्मांश्च तर्पयतु प्रीणयतु, तथा भवत्सत्योपदेशेन तत्सर्वाणि मम मित्राणि भवन्तं तर्पयित्वा विज्ञानवन्तो भवन्तु। (व्रात्य यथा०) हे विद्वन्! यथा भवतः प्रसन्नता स्यात्तथा वयं कुर्य्याम। यद्वस्तु भवत्प्रियमस्ति तस्याज्ञां कुरु। (व्रात्य यथा ते०) हे अतिथे! तथेच्छतु भवान् तदनुकूलानस्मान् भवत्सेवाकरणे निश्चिनोतु (व्रात्य यथा ते०) यथा भवदिच्छापूर्तिस्स्यात् तथा भवत्सेवां वयं कुर्याम। यतो भवान् वयं च परस्परं सेवासत्सङ्गपूर्विकया विद्यावृद्ध्या सदानन्दे तिष्ठेम ॥ २ ॥

भाषार्थ—अब जो पांचवां अतिथियज्ञ कहाता है, उसको लिखते हैं—

जिसमें अतिथियों की यथावत् सेवा करनी होती है। जो पूर्ण विद्वान्, परोपकारी, जितेन्द्रिय, धार्मिक सत्यवादी छल-कपट-रहित, नित्य भ्रमण करनेवाले मनुष्य होते हैं, उनको 'अतिथी' कहते हैं।

इसमें अनेक वैदिक मन्त्र प्रमाण हैं। परन्तु यहां संक्षेप के लिये दो ही मन्त्र लिखते हैं:—

(तद्यस्यैवं विद्वान्) जिनके घर में पूर्वोक्त गुणयुक्त विद्वान् (व्रात्य०) उत्तम गुण विशिष्ट सेवा करने के योग्य अतिथि, अर्थात् जिसकी आने जाने की कोई भी निश्चित तिथि नहीं हो, जो अकस्मात् आवे और जावे, जब ऐसा मनुष्य गृहस्थों के घर में प्राप्त हो ॥ १ ॥

(स्वयमेनम०) तब उसको गृहस्थ अत्यन्त प्रेम से उठकर नमस्कार करके, उत्तम आसन पर बैठाके, पश्चात् पूछे कि आपको कुछ जल वा किसी अन्य वस्तु की इच्छा हो सो कहिये। इस प्रकार उसको प्रसन्न कर और स्वयं स्वस्थचित्त होके उससे पूछे कि—

(व्रात्य क्वावात्सीः) हे व्रात्य उत्तम पुरुष! आपने यहां आने के पूर्व कहां वास किया था। (व्रात्योदकम्) हे अतिथि! यह जल लीजिये। (व्रात्य तर्पयन्तु) और हम लोग अपने सत्य प्रेम से आपको तृप्त करते हैं, और सब हमारे इष्ट मित्र लोग आपके उपदेश से विज्ञानयुक्त होके सदा प्रसन्न हों। (व्रात्य यथा०) हे विद्वान् व्रात्य! जिस प्रकार से आपकी प्रसन्नता हो वैसाही हम लोग काम करें, और जो पदार्थ आपको प्रिय हो उसकी आज्ञा किजिये। (व्रात्य यथा०) जिस प्रकार से आपकी कामना पूर्ण हो वैसी आपकी सेवा हम लोग करें। जिससे आप और हम लोग परस्पर सेवा और सत्संगपूर्वक विद्यावृद्धि से सदा आनन्द में रहें ॥ २ ॥

इति संक्षेपतोऽतिथियज्ञः ॥

श्रीयुतविक्रमादित्यमहाराजस्य चतुस्त्रिंशोत्तरे एकोनविंशे संवत्सरे भाद्रपौर्णिमायां समापितः ॥

इति पञ्चमहायज्ञविधिः समाप्तः ॥

ओ३म्

॥ वेदान्ति-ध्वान्त-निवारण ॥

सम्पादक का निवेदन

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'थ्यासोफिकल सोसाइटी' अमेरिका के अध्यक्ष श्री हैनरी एस० औलकौट महोदय के पत्र के उत्तर में एक पत्र संस्कृत में लिखा था। यह पत्र बहुत प्रसिद्ध और बहुत महत्वपूर्ण है। इस में महर्षि ने आर्य समाज के मूलभूत उद्देश्यों का सप्रमाण उल्लेख किया है। "ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन" नामक पुस्तक में इस पत्र की संख्या ५५ है और यह पृष्ठ १०५ से ११४ तक में मुद्रित हुआ है। इस पत्र में पृष्ठ ११० के आरम्भ में ही महर्षि का यह लेख प्राप्त होता है:—

"ये च मया वेदभाष्यासन्ध्योपासनार्याभिविनयवेदविरुद्धमतखण्डनवेदान्तिध्वान्तनिवारणसत्यार्थ प्रकाशसंस्कारविध्यार्योद्देश्यरत्नमालाद्याख्या ग्रन्था निर्मितास्तद्दर्शनेनापि वेदोद्देश्यविज्ञानं भवितुमर्हतीति विजानीत ॥"

इसका अर्थ यह है:—

"और मैंने जो वेदभाष्य, सन्ध्योपासना, आर्याभिविनय, वेद-विरुद्धमतखण्डन, वेदान्ति-ध्वान्त-निवारण, सत्यार्थ प्रकाश, संस्कार विधि, आर्योद्देश्यरत्नमाला, आदि ग्रन्थ बनाये हैं, उनके देखने से भी वेद के उद्देश्य का ज्ञान हो सकता है।"

यहां महर्षि ने अन्य ग्रन्थों के साथ ही "वेदान्ति-ध्वान्त-निवारण" ग्रन्थ का लेखक होना स्वीकार किया है। परन्तु हम बहुत विचार करके भी यह समझने में अभी तक असमर्थ हैं कि वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, से इस पुस्तक के जो कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, उन पर लेखक के रूप में महर्षि का शुभ नाम क्यों नहीं मुद्रित किया जाता। हाँ, वैदिक यन्त्रालय इस ग्रन्थ के दूसरे पृष्ठ पर एक श्लोक अवश्य छापा करता है, जिस से महर्षि का इस ग्रन्थ का लेखक होना ध्वनित होता है। हमने उक्त श्लोक पुस्तक के आरम्भ में छपवा दिया है।

'ध्वान्त' शब्द का अर्थ अन्धकार होता है। इस ग्रन्थ में महर्षि ने नवीन-वेदान्त के मत का, युक्तियों और प्रमाणों से भली प्रकार खण्डन और वेदानुकूल ईश्वर, जीव और प्रकृति का, त्रैतवाद का मण्डन किया है। तथाकथित वेदान्तियों के फैलाये हुए अज्ञान का निवारण करना, इस ग्रन्थ का ध्येय है, यह इसके नाम से ही स्पष्ट है।

'नवीन-वेदान्त' इस परिभाषा के आविष्कारक और प्रचारक भी महर्षि दयानन्द ही हैं। महर्षि के इस आविष्कार का परिणाम संसार के लिये अल्पकाल में ही बहुत हितकारक सिद्ध हुआ है और इससे भविष्य में भी संसार का बहुत लाभ अवश्य ही होगा। 'नवीन-वेदान्त' इन शब्दों के प्रयोग से 'प्राचीन-वेदान्त की कल्पना स्वयमेव उद्भूत होती है, और महर्षि के प्रचार का ध्येय तथा मन्तव्य—यह प्राचीन वेदान्त ही है। महर्षि की इस 'नवीन-वेदान्त' की परिभाषा के आविष्कार ने दार्शनिक जगत् में एक भारी क्रान्ति की है। और, नवीन एवं प्राचीन-वेदान्त के मध्य में एक स्पष्ट रेखा खींच कर दोनों, के स्वरूप को पृथक-पृथक निश्चित कर दिया है।

जिस समय महर्षि ने अपना वेद-प्रचार-आन्दोलन आरम्भ किया था—भारत में सर्वत्र अहं ब्रह्मास्मि—का राग आलापने वाले विचित्र-वेदान्तियों की सर्वत्र भरमार हो रही थी। और, मायावाद की माया ने भारी अकर्मण्यता सर्वत्र फैला रखी थी। यह तो सभी जानते हैं कि इस नवीन वेदान्त के, अथवा मायावाद के आद्य प्रचारक के रूप में श्री शंकराचार्य जी का नाम सर्वत्र प्रसिद्ध है। अतः यह भी स्पष्ट है कि महर्षि दयानन्द श्री शंकराचार्य जी

के मत के प्रबल विरोधी थे। आपने सत्यार्थ प्रकाश आदि ग्रन्थों में भी महर्षि ने विस्तारपूर्वक श्री शंकराचार्य जी के मत का खण्डन किया है। महर्षि के प्रचार का ही यह सुफल है कि नवीन-वेदान्त की माया आज छिन्न-भिन्न हो चुकी है और अकर्मण्यता का स्थान पुरुषार्थ की श्रेष्ठ प्रवृत्ति ने ले लिया है।

यहां पाठक यह भी जान लें कि महर्षि दयानन्द श्री शकराचार्य जी के मत के प्रबल विरोधी अवश्य थे, परन्तु इसके साथ ही महर्षि के हृदय में श्री शंकराचार्य जी के प्रति अगाध प्रेम और सन्मान के भाव भी विद्यमान थे। सत्यार्थ प्रकाश में वे लिखते हैं:—

"बाईससौ वर्ष हुए कि एक शंकराचार्य द्रविड़ देशोत्पन्न ब्राह्मण ब्रह्मचर्य से व्याकरणादि सब शास्त्रों को पढ़कर सोचने लगे कि अहह! सत्य आस्तिक मत का छूटना और जैन नास्तिक मतका चलना बड़ी हानि की बात हुई है।"

[सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास—११]

यहाँ महर्षि श्री शंकराचार्य जी के ब्रह्मचर्य पालन और शास्त्रज्ञान का प्रसन्नता पूर्वक उल्लेख करते हैं। श्री शंकराचार्य जी की मृत्यु का उल्लेख भी महर्षि ने अत्यन्त करुणाजनक शब्दों में किया है:—

"जब वेद मत का स्थापन हो चुका और विद्या प्रचार करने का विचार करते ही थे। उतने में दो जैन ऊपर से कथन मात्र वेद मत और भीतर से कट्टर जैन अर्थात् कपटमुनि थे। शंकराचार्य उन पर अति प्रसन्न थे। उन दोनों ने अवसर पाकर शंकराचार्य को ऐसी विषयुक्त वस्तु खिलाई कि उनकी क्षुधा मन्द हो गई। पश्चात् शरीर में फोड़े, फुन्सी होकर छः महीने के भीतर शरीर छूट गया। तब सब निरुत्साही हो गये और जो विद्या का प्रचार होने वाला था, वह न होने पाया।"

जिस समय महर्षि ने ये शब्द लिखे थे, तब उन्हें क्या पता था कि निकट भविष्य में ही भारत में एक बार फिर श्री शंकराचार्य जी के साथ किये गये विश्वास-घात की घटना का पुनरावर्तन होगा। स्वयं मेरे ही साथ विश्वास-घात होगा। बहुत बड़े लोकोपकार में बाधा पड़ेगी और वेदोद्धार का बहुत बड़ा कार्य अपूर्ण रह जायगा।

'वेदान्ति-ध्वान्त निवारण' के विषयमें श्रीदेवेन्द्रनाथ जी मुखोपाध्या द्वारा संग्रहीत महर्षि दयानन्द के जीवन-चरित्र के पृष्ठ २६५ पर लिखा है:—

"श्री स्वामी जी ने अद्वैतवाद के खण्डन में वेदान्ति-ध्वान्त-निवारण पुस्तक रचा और आश्चर्य है कि उसे पण्डित जी (कृष्णराम इच्छाराम जी जोकि घोर अद्वैतवादी थे,) से ही लिखवाया। स्वामी जी ने इस पुस्तक को दो ही दिनों में समाप्त कर दिया।"

महर्षि ने संवत् १६३१ विक्रमी के कार्तिक मास में बम्बई में इसकी रचना की थी। इस का प्रथम संस्करण ओरियन्टल प्रेस बम्बई में मुद्रित हुआ था।

यहाँ एक तथ्य और भी जानने योग्य है। महर्षि दयानन्द द्वारा संस्थापित वैदिक यन्त्रालय के प्रबन्धक श्री मुंशी समर्थदान ने श्रावण शुक्ला १५ संवत् १६३६ वि० के यजुर्वेद-भाष्य के टाइटिल पर यह सूचना प्रकाशित की थी:—

"सब सज्जनों को प्रगट हो कि यह पुस्तक प्रथम वार मुम्बापुरी में मुद्रित हुआ था। उसमें भाषा बहुत अशुद्ध थी। इसलिये मैंने जहाँ तक उचित समझा द्वितीयावृत्ति में इसको शुद्ध करके छापा है। परन्तु मैंने केवल भाषा-मात्र शुद्ध की है, क्योंकि अधिक फेर-फार करने से ग्रन्थ-कर्ता के अभिप्राय में अन्तर आ जाता है।"

यह दूसरा संस्करण भी महर्षि दयानन्द के जीवन काल में ही प्रकाशित हो गया था।

आगे 'वेदान्ति-ध्वान्त-निवारण' का जो पाठ प्रकाशित किया जा रहा है, वह वैदिक यन्त्रालय अजमेर द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ के सम्वत् २००५ में प्रकाशित, नवम-संस्करण के अनुसार है।

—सम्पादक

—*—

॥ ओ३म् ॥

अथ वेदान्ति-ध्वान्त-निवारणम्

छन्दः शिखरिणी

दया पूर्वोपेतं परमपरमाख्यातुमनघाः,
गिरायानं जानन्त्यमतिमतविध्वंसविधिना ।
स वेदान्तभ्रान्तानभिनवमतभ्रान्तमनसः,
समुद्धर्त्तुं श्रौतं प्रकटयति सिद्धान्तमनिशम् ॥

नवीनतर वेदान्ती लोग कपोलकल्पित अर्थ अनर्थरूप करके जगत् की हानिमात्र कर लेते हैं, तथा मनुष्यों को हठ अभिमानादि दोषों में प्रवृत्त कराके दुःखसागर में डुबा देते हैं। सो केवल अल्पज्ञानी लोग इन के उपदेशजाल में फँस के, मत्स्यवत् मरण क्लेशयुक्त होके, अधर्म्म, अनैश्वर्य और पराधिनतादि दुःखस्वरूप कारागृह में सदा बद्ध रहते हैं।

एक बात इनकी यह है कि--जीव को ब्रह्म मानना।

दूसरी यह है कि—स्वयं पाप करें और कहें कि हम अकर्त्ता और अभोक्ता हैं।

तीसरी बात यह है कि-जगत् को मिथ्या कल्पित मानते हैं।

[चौथी बात यह है कि]—मोक्ष में जीव का लय मानते हैं तथा न वास्तव मोक्ष और न बन्ध।

इत्यादि अनेक इनकी मिथ्या बातें हैं, परन्तु नमूने के लिये इन चार बातों का मिथ्यात्व संक्षेप से दिखलाते हैं:—

१—जीव को ब्रह्म मानने में इस वाक्य का प्रमाण देते हैं कि—

"प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म"

इसको ऋग्वेद का वाक्य कहते हैं। परन्तु ऋग्वेद [के] अष्टकों में यह वाक्य कहीं नहीं है। किन्तु वेद का व्याख्यान जो 'ऐतरेय ब्राह्मण' उस में यह वाक्य है। सो ऐसा पाठ है कि--

"प्रज्ञानं ब्रह्म"

सो इस वाक्य में ब्रह्म का स्वरूप निरूपण किया है कि--

"प्रकृष्टं ज्ञानं यस्मिन् तत्प्रज्ञानं अर्थात् प्रकृष्टज्ञानस्वरूपम्"

(व्याख्या)—जिस में प्रकृष्ट सर्वोत्तम अनन्त ज्ञान है, वह 'प्रज्ञान' कहावे। अर्थात् प्रकृष्टज्ञानस्वरूप प्रज्ञान विशेषण से ऐसा निश्चित हुआ कि जिसको कभी अविद्यान्धकार अज्ञान के लेशमात्र का भी सम्बन्ध नहीं होता, न हुआ और न होगा। "ब्रह्म जो सब से वृद्ध (बड़ा) और सब जगत् का बढ़ानेवाला, स्वभक्तों को अनन्त मोक्षसुख से अनन्तानन्द में सुख बढ़ानेवाला तथा व्यवहार में भी बृहत (बड़े) सुखका देने वाला, ऐसा परमात्माका स्वभाव और स्वरूप है।

इस वाक्य का नाम "महावाक्य" नवीन वेदान्तीयों ने रक्खा है, सो अप्रमाण है। क्योंकि किसी ऋषिकृत ग्रन्थ में इन का "महावाक्य ना[म] नहीं लिखा है।

"अहं ब्रह्मास्मि"

इस वाक्य का वेदान्ती लोग ऐसा अर्थ करते हैं कि मैं ब्रह्म हूँ अर्थात् भ्रान्ति से मैं जीव बना था, सो अब मैंने जान लिया कि साक्षात् ब्रह्म हूँ।

यह अनर्थ इनका विल्कुल खोटा है। क्योंकि पूर्वापर ग्रन्थ का संबन्ध देखे विना चोर की नाईं बीच में से एक टुकड़ा लेके, अपना मतलबसिन्धु का अर्थ करके, स्वार्थसिद्धि करते हैं। देखो, इस वचन का पूर्वापर संबन्ध इस प्रकार है।

शतपथ ब्राह्मण, काण्ड १४। प्रपाठक २। ब्राह्मण २। कण्डिका १८—

'आत्मेत्येवोपासीत। अत्र ह्येते सर्वऽएकं भवन्ति' इत्युपक्रम्य—

यदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽअन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा। स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियथं रोत्स्यतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत। स य आत्मानमेव प्रियमुपासते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति ॥ १९ ॥

तदाहुः। यद् ब्रह्मविद्या सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमु तद् ब्रह्मावेदास्मात्तत् सर्वमभवदिति ॥२०॥

ब्रह्म वाऽइदमग्रऽआसीत्। तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात्तत् सर्वमभवत्तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथऽर्षीणां तथा मनुष्याणाम् ॥ २१ ॥

तद्धैतत् पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे। अहं मनुरभवथंसूर्यश्चेति। तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स इदथं सर्वं भवति। तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशतऽआत्मा ह्येषाथं स भवत्यथ योऽन्यां देवतामुपासतेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद, यथापशुरेवथं स देवानां, यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान् भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादियमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः ॥ २२ ॥

'अतति सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा परमेश्वरः।' इस प्रकरण में यह है कि सब जीव परमेश्वर की उपासना करें और किसी की नहीं। क्योंकि सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामी जो परब्रह्म, वह सब से प्रियस्वरूप है, उसी को जानना। पुत्र, वित्त, धन तथा सब जगत् के सत्य पदार्थों से वही ब्रह्म प्रियतर है। तथा अन्तरतर आत्मा का अन्तर्यामी परमात्मा है, जो कि अपने सबों का आतमा है। जो कोई इस आत्मा से अन्य को प्रिय कहता है, उसके प्रति (ब्रूयात्) कहे कि परमात्मा से तू अन्य को प्रिय बतलाता है, सो तू दुःखसागर में गिर के सदा रोवेगा। और जो कोई परमात्मा को छोड़ के अन्य की उपासना वा प्रीति करेगा, सो सदा रोवेगा। जो पाषाणादि जड़ पदार्थों की उपासना करेगा, सो सदैव रोवेगा। (आत्मानमेव प्रियमुपासीत। स य आत्मानमेव प्रियमुपासते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति) और जो सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, निराकार, अज इत्यादि विशेषणयुक्त परमेश्वर की उपासना करता है, वह इस लोक जन्म तथा परलोक परजन्म तथा मोक्ष में सर्वानन्द को प्राप्त हो जाता है। और उसी ईश्वर की कृपा से (ईश्वरो ह तथैव स्यात्) मनुष्यों के बीच में परमैश्वर्य को प्राप्त हो के समर्थ सत्त्ववान् होता है, अन्य नहीं। तथा (न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति) यह जो परब्रह्म का उपासक उसका आनन्द सुख 'प्रमायुक्त' नष्ट कभी नहीं होता, किन्तु उसको सदैव स्थिर सुख रहता है। क्योंकि (अत्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति) जिस ब्रह्म ज्ञान में सब परस्पर प्रीतिमान् होके, जैसा अपने को सुख वा दुख प्रिय और अप्रिय जान पड़ता है, वैसा ही सब प्राणीमात्र का सुख और दुख तुल्य समझ के, न्यायकारित्वादिगुणयुक्त और सब मनुष्यमात्र के सुख में एकीभूत होके, एकीरूप सुखोन्नति करने में प्रयत्न सब करते हैं। क्योंकि जैसा अपना आत्मा है, वैसा सब के आत्माओं को वह जानता है ॥ १९ ॥

(तदाहुः इत्यादि) जो मनुष्य ब्रह्मविद्यायुक्त हैं, वे ऐसा कहते हैं कि परमेश्वर के सामर्थ्य से सब जगत् उत्पन्न हुआ और सब जगत् की उत्पत्ति करने वाला वही है, ऐसा ब्रह्म विद्यावालों का निश्चय है। सब जगत् में (ब्रह्मावेत्) व्याप्त होके सबकी रक्षा कर रहा है, (किमु) और कोई अन्य जगत् का कारण नहीं है ॥ २० ॥

(ब्रह्म वा इदमित्यादि) सृष्टि के आदि में एक सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ही वर्तमान था, सो अपने आ[illegible] को (अहं ब्रह्मास्मीति तदेवावेत) स्वस्वरूप का [illegible]

विस्मरण उसको कभी नहीं होता। उस परमात्मा के सामर्थ्य से जगत् उत्पन्न हुआ, ऐसा विद्वानों के बीच में से, जो ब्रह्म अविद्यानिद्रा से उठके जानता है, सो ही ब्रह्मानन्द सुखयुक्त होता है। तथा ऋषि और मनुष्य इनके बीच में जो अज्ञाननिन्द्रा से उठके, ब्रह्म-विद्यारूप प्रकाश को प्राप्त होता है, सो ब्रह्म के नित्य सुख को प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

(एद्वैतदित्यादि) इस ब्रह्म को वामदेव ऋषि देखता और प्राप्त हुआ मैं मनु और सूर्य्य नामक ऋषि देहधारी अथवा सूर्य्यलोकस्थ जन्मवाला हुआ था, ऐसा विज्ञान समाधिस्थ परमेश्वर के ध्यान में तत्पर, जो वामदेव ऋषि उसको प्राप्त हुआ था। सो विज्ञान जिसको इस प्रकार से होगा। सो भी इस प्रकार जानेगा कि (य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति) मैं ब्रह्म हूँ, अर्थात् ब्रह्मस्थ हूँ कि मेरे बाहर और भीतर ब्रह्म ही व्यापक (भर रहा) है। जो इस प्रकार ज्ञानवाला पुरुष होता है, सो इस सब सुख को प्राप्त होता है। उसके सामने अनैश्वर्यवाले जो देव, इन्द्रिय वा अन्य विद्वान् ऐश्वर्यवाले नहीं होते। किन्तु ऐसा जो ब्रह्म का उपासक, सो इन इन्द्रिय और अन्य विद्वानों का आत्मा अर्थात् प्रियस्वरूप होता है।

जैसे आकाश से घर भिन्न नहीं होता तथा आकाश घर से भिन्न नहीं, और आकाश तथा घर एक नहीं, किन्तु पृथक् पृथक् दोनों हैं, एवं जीवात्मा और परमात्मा व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से भिन्न वा अभिन्न नहीं हो सकता। सो इसी "बृहदारण्यक के छठे प्रपाठक" में स्पष्ट लिखा है, सो यह वचन है:—

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥

(व्याख्या)—हे जीवात्मन् ! जो परमात्मा तेरा अन्तर्यामी अमृतस्वरूप उपास्य है, 'तेरे में व्यापक हो के भर रहा है, तेरे साथ है और तेरे से अलग है तथा मिल भी रहा है, जिसको तू नहीं जानता, क्योंकि जिसका तू शरीर है, जैसे यह स्थूल शरीर जीव का है, वैसे परमात्मा का तू भी शरीरवत् है। जो तेरे बीच में रह के, तेरा नियन्ता है, उस अन्तर्यामी को छोड़ के दूसरे पदार्थों की उपासना मत कर।

जो अन्य देव अर्थात् ईश्वर से भिन्न श्रोत्रादि इन्द्रिय अथवा किसी देहधारी विद्वान् देव को ब्रह्म जाने, अथवा उपासना करे, वा ऐसा अभिमान करे कि मैं तो ईश्वर का उपासक नहीं, उससे मैं भिन्न हूँ, तथा वह मेरे से भिन्न है, उस से मेरा कुछ प्रयोजन नहीं, किंवा ईश्वर नहीं है, अथवा ऐसा कहता है कि मैं ही ब्रह्म हूँ, सो इन्द्रियों वा देहधारी विद्वानों का पशु है। जैसा कि बैल वा गर्दभ वैसा वह मनुष्य है, जो परमेश्वर की उपासना नहीं करता ॥ २२ ॥

इत्यादि प्रकरण विचार के बिना चार अक्षर को पकड़ के चोरवत् कपोलकल्पित अर्थ का प्रमाण नहीं होता है। ग्रन्थविस्तार भय से अधिक नहीं लिखते हैं। यह भी यजुर्वेद का वचन नहीं है, किन्तु शतपथ ब्राह्मण का यह पूर्वोक्त वचन है।

वैसे ही "तत्वमसि" यह भी सामवेद का वचन नहीं है किन्तु सामब्राह्मणान्तगर्त 'छान्दोग्य' उपनिषद् का है। इसका भी पूर्वापर प्रकरण छोड़ के नवीन वेदान्तियों ने अनर्थ कर रक्खा है। उस में ऐसा प्रकरण है कि:—

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँ सर्व्वं तत् सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति ॥

उद्दालक अपने श्वेतकेतु पुत्र को उपदेश देते हैं कि—सो पूर्वोक्त परमात्मा सब जगत् का आत्मा है। सो कैसा है कि जो (अणिमा) अत्यन्त सूक्ष्म है कि प्रकृति, आकाश और जीवात्मा से भी अत्यन्त सूक्ष्म तथा वही सत्य है। हे श्वेतकेतो ! यही सब जगत् का अन्तर्यामी, आधारभूत, सर्वाधिष्ठान है। सो ब्रह्म सनातन, निर्विकार, सत्यस्वरूप, अविनश्वर है।

(प्रश्न)—जैसे ईश्वर सब जीवादि जगत् का आत्मा है, वैसे ईश्वर का भी कोई अन्य आत्मा है वा नहीं ?

(उत्तर)–(स आत्मा) परमेश्वर का आत्मान्तर कोई नहीं, किन्तु उसका आत्मा वही है। हे श्वेत-

केतो ! जो सर्वात्मा है, सो तेरा भी अन्तर्यामी अधिष्ठान आत्मा वही है। अर्थात्—

'तदन्तर्यामी तदधिष्ठानस्तदात्मकस्त्वमसीति फलितोऽर्थः"।

तत्सहचरण वा तत्सहचार उपाधि इस वाक्य में जानना।

यष्टिकां भोजय अर्थात् यष्टिकया सहचरितं ब्राह्मणं भोजयेति गम्यत, तथैव तद् ब्रह्म सहचरितंस्त्वमसीत्यवगन्तव्यम्। तथा, अहं ब्रह्मास्मीत्यत्राहं ब्रह्मसहचरितो वा ब्रह्मस्थोऽस्मीत विज्ञेयोऽर्थः। तातस्थ्योपाधिना यथा मञ्चाः क्रोशन्तीत्यत्र मञ्चस्थाः क्रोशन्तीति विज्ञायते, एवं यत्र यत्रासम्भव आगच्छेत्तत्र तत्रोपाधिनाऽर्थो वेदितव्यः। अत्र न्यायदर्शनस्य द्वितीयाध्यायस्थं चतुष्षष्टितमं सूत्रं प्रमाणमस्ति—

सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दनगङ्गाशाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावेपि तदुपचारः ॥

एषु दशविधासम्भवेषु वाक्यार्थेषु दशोपाधयो भवन्तीति वेद्यम् ॥

यहां भी सर्वशक्तिमत्व भ्रान्त्यादिदोषरहितत्वादिगुणवाले ब्रह्म का संभव जीव में कभी नहीं हो सकता है, क्योंकि अल्पशक्तित्व, भ्रान्त्यादि दोषसहितत्वादि गुण वाला जीव है। इससे ब्रह्म जीव की एकता मानना केवल भ्रान्ति है।

चौथा "अयमात्मा ब्रह्म" इसको अथर्ववेद का वाक्य बतलाते हैं। यह अथर्ववेद का तो वाक्य नहीं है किन्तु माण्डूक्योपनिषदादिकों का है। इसका तो स्पष्ट अर्थ है कि विचारशील पुरुष अपने अन्तर्यामी को प्रत्यक्ष ज्ञान से देखके कहता है कि यह जो मेरा अन्तर्यामी है, यही ब्रह्म है, अर्थात् मेरा भी यह आत्मा है। अपने उपास्य का प्रत्यक्षानुभव विधायक जीव के समझाने के लिये यह वाक्य है। तथा—

"योऽसावादित्ये पुरुषस्सोऽसावहम्"

यह यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का वाक्य है। जो आदित्य में अर्थात प्राण में पुरुष है, वह मैं जीवात्मा हूँ।

"आदित्यो वै प्राणः"

शतपथब्राह्मणे। तथा—

"आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः"

इति मुण्डकोपनिषदि।

इस प्रमाण से जो प्राण में पूर्ण, प्राण में सोता, प्राण का प्रेरक सो जीवात्मा पुरुष मैं हूँ।

"यद्वा परमेश्वरोऽभिवदति—हे जीवाः ! यः असौ आदित्ये बाह्ये सूर्ये किं वा अन्तर्गते प्राणे स असौ अहमेवास्मीति मां वित्त"।

हे जीवो ! मुझको बाहर और भीतर तुम लोग जानो, कि सूर्यादि सब स्थूल जगत् तथा आकाश और जीवादि सूक्ष्म जगत् के बीच में मैं जो ईश्वर सो परिपूर्ण हूँ। ऐसा तुम लोग मुझको जानो। क्योंकि इस मंत्र के आगे "अग्ने नयेत्यादि" मोक्षार्थ ईश्वर की प्रार्थना कथित है, तथा "ओं खं ब्रह्म" ओं जिसका सर्वोत्तम नाम है, खं आकाश की नाईं व्यापक सर्वाधिष्ठान जो है, सो सब से बड़ा सब जीवों का उपास्य ब्रह्म है।

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।"

यह छान्दोग्योपनिषद् का वचन है। इसका अर्थ भी तातस्थ्योपाधि से करना—

"इदं सर्वं जगत् ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मस्थम्। यद्वा इदं यज्जगदधिष्ठानं तत्सर्वं ब्रह्मैव नात्र किञ्चिद्वस्त्वन्तरं मिलितमिति विज्ञेयम, यथेदं सर्वं घृतमेव नेदं तैलादिभिर्मिश्रितमिति॥"

यह सब जगत् ब्रह्म नाम ब्रह्मस्थ ही है, अथवा यह प्रत्यक्षान्तर्यामी, जो चेतन, सो केवल एकरस ब्रह्म वस्तु है। इसमें दूसरी कोई वस्तु मिली नहीं, जैसे किसी ने कहा कि यह सब घृत है अर्थात् तैलादिक से मिश्रित नहीं है, वैसे उस ब्रह्म की उपासना शांत होके जीव अवश्य करे, और किसी की नहीं॥

२—दूसरी यह बात है कि इस शरीर में कर्त्ता और भोक्ता जीव ही है, क्योंकि अन्य सब बुद्ध्यादि

जड़ पदार्थ जीवाधीन हैं। सो पाप और पुण्य का कर्त्ता और भोक्ता जीव से भिन्न कोई नहीं। क्योंकि 'बृहदारण्यकादि' उपनिषद् तथा 'व्याससूत्र' और 'वेदादिशास्त्रों' में यही सिद्धांत है—

"श्रोत्रेण शृणोति, चक्षुषा पश्यति, बुद्धया निश्चिनोति, मनसा संकल्पयति।"

इत्यादिक प्रतिपादन किये हैं। जैसे—

'असिना छिनत्ति शिरः'

तलवार को लेके किसी का शिर काटता है। इसमें काटने का कर्त्ता मनुष्य ही है। काटने का साधन तलवार है तथा काटने का कर्म शिर है। इसमें पाप और दण्ड मनुष्य (जो मारने वाला है उस) को होता है, तलवार को नहीं। इसी प्रकार श्रोत्रादिकों से पाप-पुण्य का कर्त्ता, भोक्ता, जीव ही है, अन्य नहीं। यह 'गोतम मुनि' तथा 'व्यासादिकों' ने सिद्ध किया है कि:—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति ॥

ये छः (इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान) आत्मनिष्ठ हैं।

"तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति।"

इसमें भी जीव सुख दुःख का भोक्ता और पाप पुण्य का कर्त्ता सिद्ध होता है। अनुभव से भी जीवात्मा ही कर्त्ता और भोक्ता है। इसमें कुछ संदेह नहीं कि केवल इन्द्रियाराम होके विषयभोगरूप स्वमतलब साधने के लिये, यह बात बनाई है कि—जीव अकर्त्ता, अभोक्ता और पाप-पुण्य से रहित है। यह बात नवीन वेदांती लोगों की मिथ्या ही है॥

३—तीसरे इनकी यह बात है कि जगत् को मिथ्या कल्पित कहते और मानते हैं। सो इनका केवल अविद्यांधकार का माहात्म्य है। ग्रन्थ अधिक न हो, इसलिये जगत् सत्य होने में एक ही प्रमाण पुष्कल है:—

सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।

यह छान्दोग्य उपनिषद् का वचन है।

(अर्थ)—जिसका मूल सत्य है, उसका वृक्ष मिथ्या कैसे होगा। तथा जो परमात्मा का सामर्थ्य जगत् का कारण है, सो नित्य है, क्योंकि परमात्मा नित्य है, तो उसका सामर्थ्य भी नित्य है। उसी से यह जगत् हुआ है। सो यह मिथ्या किसी प्रकार से नहीं होता।

जो ऐसा कहो कि—

"आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा।"

सो यह बात अयुक्त है, क्योंकि जो पूर्व नहीं है, सो फिर नहीं आ सकता। जिस कूप में जल नहीं है, उससे पात्र में जल नहीं आता। इसलिये ऐसा जानना चाहिये कि ईश्वर के सामर्थ्य में अथवा सामर्थ्य रूप जगत् पूर्व था, सो इस समय है और आगे भी रहेगा।

कोई ऐसा कहे कि संयोगजन्य पदार्थ संयोग से पूर्व नहीं, हो सकता, वियोगान्त में नहीं रहता, सो वर्त्तमान में भी नहीं, सो जानना चाहिये।

इसका यह उत्तर है कि—विद्यमान सत् पदार्थों का ही संयोग होता है। जो पदार्थ नहीं हों, उनका संयोग भी नहीं होता। इससे वियोग के अन्त में भी पृथक् पृथक् वे पदार्थ सदैव रहते हैं। कितना ही वियोग हो तो भी अन्त में अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ रह ही जाता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं। इतना कोई कह सकता है कि संयोग और वियोग तो अनित्य हुआ, सो भी मान्य करने के योग्य नहीं। क्योंकि जैसे वर्तमान में संयुक्त पदार्थ होके पृथिव्यादि जगत् बना है, सो पदार्थों के मिलने के स्वभाव के बिना कभी नहीं मिल सकते, तथा वियोग होने के बिना वियुक्त नहीं हो सकते। सो मिलना और पृथक् होना यह पदार्थों का गुण ही है। जैसे मिट्टी में मिलने का गुण होने से घटादि पदार्थ बनते हैं, बालुका से नहीं, सो मिट्टी में मिलने और अलग होने का गुण ही है, सो गुण सहज स्वभाव से है। वैसे ईश्वर का सामर्थ्य जिससे यह जगत् बना है, उसमें संयोग और वियोगात्मक गुण सहज (स्वाभाविक) ही है। इससे निश्चित हुआ कि जगत् का कारण, जो ईश्वर का सामर्थ्य, सो नित्य है।

तो उसके वियोग आदि गुण भी नित्य हैं। इससे जो जगत् को मिथ्या कहते हैं, उनका कहना और सिद्धांत मिथ्याभूत है, ऐसा निश्चित जानना॥

४—चौथी इनकी यह बात है कि जीव का लय ब्रह्म में मोक्ष समय में मानते हैं, जैसे समुद्र में बहुत बिंदुका मिलना। यह भी इनकी बात मिथ्या है। इसके मिथ्या होने में प्रमाण हैं, परन्तु ग्रन्थ विस्तार न हो इसीलिये संक्षेप से लिखते हैं—

'कठवल्ली' तथा 'बृहदारण्यकादि' उपनिषदों में मोक्ष का निरूपण किया है कि:—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमा गतिम्॥

(अर्थ)—जब जीव का मोक्ष होता है, तब पांच ज्ञानेन्द्रियों का ज्ञानस्वरूप जीवात्मा परमात्मा में परमानन्द स्वरूप युक्त होके सदा आनन्द में रहता है। उसी को परमगति अर्थात् मोक्ष कहते हैं॥

सो अन्यत्र भी कहा है कि:—

परमज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।
इति श्रुतिर्बृहदारण्यकस्य॥

परम ज्योति, जो परमात्मा, उसको (उपसंपद्य) अर्थात् अत्यन्त समीपता को प्राप्त होके, (स्वेन रूपेण) अर्थात् अविद्यादि दोषों से पृथक् होके, शुद्ध, युक्त ज्ञानस्वरूप और स्वसामर्थ्य वाला जीव मुक्त हो जाता है॥

वही स्वरूप 'शारीरक सूत्रों' के चतुर्थाध्याय के चतुर्थपाद में निरूपण किया है कि:—

अभावं बादरिराह ह्येवम्॥

मोक्ष समय में मन को छोड़ के अन्य इन्द्रिय वा शरीर जीव के साथ नहीं रहते, किन्तु मन तो रहता ही है। औरों का अभाव होता है, यह निश्चय बादरि आचार्य का है।

तथा:—

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्॥

जैमिनि आचार्य्य का यह मत मोक्ष विषयक है कि जैसे मोक्ष में मन जीव के साथ रहता है, वैसे इन्द्रियों तथा स्वशक्ति स्वरूप शरीर का सामर्थ्य भी मोक्ष में रहता है। अर्थात् शुद्ध स्वाभाविक सामर्थ्य-युक्त जीव मोक्ष में भी रहता है॥

तथा बादरायण (व्यासजी) का मत ऐसा है कि—

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः॥

जैसे मृत शौच की निवृत्ति के पश्चात् द्वादशवां जो दिन, सो सन्न्यागरूप माना है और भिन्न भी माना जाता है। उस दिन में यज्ञ के भाव और अभाव दोनों हैं, तद्वत् मोक्ष में भी भाव और अभाव रहता है। अर्थात् स्थूल शरीर तथा अविद्यादि क्लेशों का अत्यन्त अभाव और ज्ञान तथा शुद्ध स्वशक्ति का भाव सदा मोक्ष में बना रहता है। सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप परमात्मा के साथ सब जन्म-मरणादि दुःखों से छूट के, सदा आनन्द में युक्त जीव रहता है। यह बादरायण जो व्यासजी, उनका मत है॥

और 'गोतम ऋषि' का भी ऐसा ही मत है। न्यायदर्शन अ० १। आ० १—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्त-
रापाये तदनन्तरापायादपवर्गः॥ २॥

बाधनालक्षणं दुःखम्॥ २१॥

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः॥ २२॥

मिथ्या ज्ञान ऐसा है कि जड़ में चेतनबुद्धि और चेतन में जड़बुद्धि, इत्यादि अनेक प्रकार का मिथ्या-ज्ञान है। उसकी निवृत्ति होने से अविद्यादि जीव के दोष निवृत्त हो जाते हैं। दोष की निवृत्ति होने से प्रवृत्ति, जो कि विषयासक्ति और अन्याय में आसक्त है, वह निवृत्ति हो जाती है। प्रवृत्ति के छूटने से जन्म छूट जाता है। जन्म के छूटने से दुःख छूट जाता है। सब दुःखों के छूटने से अपवर्ग, जो मोक्ष, वह यथावत् होता है॥ २॥

बाधना—विविध प्रकार की पीड़ा अर्थात् जो दुःख हैं, उनकी अत्यन्त निवृत्ति के होने से जीव को अपवर्ग, जो मोक्ष ईश्वर के आधार में अत्यन्तानन्द, वह सदा के लिये प्राप्त होता है। इसका नाम अप-वर्ग अर्थात् मोक्ष है॥ २१–२२॥

इत्यादिक अनेक प्रमाण हैं कि मोक्ष में जीव का लय नहीं होता, किन्तु अत्यन्तानन्दरूप जीव रहता

है। एक अन्य भी प्रमाण देते हैं कि—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद
निहितं गुहायां परमे व्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान्
ब्रह्मणा सह विपश्चितेति ॥
—तैत्तिरीयोपनिषद्वचनम् ॥

जो जीव सत्य, ज्ञान और अनन्तस्वरूप ब्रह्म स्वान्तर्यामी की स्वबुद्धि ज्ञान में निहित, (स्थित) जानता व प्राप्त होता है, वह परम व्योम व्यापक-स्वरूप जो परमात्मा उसमें मोक्ष समय में स्थिर होता है। पश्चात् सर्वविद्यायुक्त, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, जो ब्रह्म उसके साथ सब कामों को प्राप्त होता है। अर्थात् सब दुःखों से छूट के परमेश्वर के साथ सदानन्द में रहता है॥

जो लोग जीव का लय मानते हैं, उनके मत में अनिर्मोक्षप्रसङ्ग दोष आता है। तथा मोक्ष के साधन भी निष्फल हो जाते हैं। क्योंकि जैसे सृष्टि के पूर्व ब्रह्म मुक्त था, वही अविद्याधन अज्ञानोपाधि के साथ होने से बद्ध हो गया है। वैसे ही प्राप्तमोक्ष चेतन को फिर भी अविद्योपाधि का सङ्ग हो जायगा इससे मोक्ष की नित्यता नहीं रही। तथा जिस मोक्ष के लिये विवेकादि साधन किये जाते हैं, उस मोक्ष को प्राप्त होने वाले जीव का लय ही होना है, फिर सब साधन निष्फल हो जायंगे। क्योंकि मुक्ति सुख का आनन्द भोगने वाले जीव का नाम निशान भी नहीं रहता।

तथा जीव ब्रह्म की एकता मानने वालों के मत में ब्रह्म ही भ्रान्त अज्ञानी हो जाता है। क्योंकि जब सृष्टि की उत्पत्ति नहीं हुई थी, तब ज्ञानस्वरूप शुद्ध ब्रह्म था, वही ब्रह्म अविद्यादि दोषयुक्त होके दोषी हो गया। सो यह वेद उपनिषद् तथा वेदान्त शास्त्रों से अत्यन्त विरुद्ध मत है—

'शुद्धमपापविद्धं कविः'

इत्यादि यजुर्वेद संहितादि के वचन हैं कि ब्रह्म सदा शुद्ध, पापरहित और सर्वज्ञादि विशेषणयुक्त है, उस में अज्ञानादि दोष कभी नहीं आ सकते। क्योंकि देश काल वस्तु का परिच्छेद ईश्वर में नहीं, भ्रान्त्यादि दोष अल्पज्ञ जीव में होते हैं, नान्यत्र।

(प्रश्न)—तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्, अनेनात्मना जीवेनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि॥

ये तैत्तिरीयोपनिषदादि के वचन हैं॥

वही ब्रह्म जगत् को उत्पन्न करके, फिर प्रविष्ट हुआ। इस में जीवात्मारूप अन्तःकरण में प्रविष्ट होके नाम रूप का व्याकरण करूँ। इससे यह सिद्ध होता है कि वही ब्रह्म जीवरूप बना है।

(उत्तर)—यह आप लोगों का अनर्थकरण है। क्योंकि परिपूर्ण, एकरस, सब में जो भरा है, वह प्रवेश वा निकलना नहीं कर सकता, किन्तु जीव बुद्धि से जब तक अज्ञानी रहता है, और उसी बुद्धि से जीव को जब ज्ञान होता है, तब उसी में परमात्मा प्राप्त होता है, अन्यत्र नहीं। इससे जीव को ऐसा मालूम पड़ता है कि ब्रह्म मेरे में प्रविष्ट हुआ था। वा जब जब जिस जिस जीव को ईश्वर का ज्ञान होता है, तब-तब उस-उस को अपने आत्मा में ही होता है। इस से यह भी निश्चित होता है कि प्रवेश का करने वाला तथा जिस में प्रवेश करता है, उन दोनों का अलग ही होना निश्चित है।

तथा एक प्रवेश का करने वाला और दूसरा अनुप्रवेश करने वाला होता है। क्योंकिः—

"शरीरं प्रविष्टो जीवः, जीवमनुप्रविष्ट ईश्वरोऽस्तीति गम्यते"।

इस प्रकार अर्थ करने से ही यथार्थ अभिप्राय इन वचनों का विदित होता है।

किंवा सहायार्थ में तृतीया विभक्ति है—

"अनेन जीवात्मना शरीरं प्रविष्टेन सह तं जीवमनुप्रविश्याहमीश्वरः नामरूपे व्याकरवाणीत्यन्वयः"।

अत्र प्रमाणम्—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते॥

एक शरीर में जीवात्मा और परमात्मा का

विधान और सङ्ग प्रतिपादन है। इस से जीव और ईश्वर का एक मानना केवल जङ्गली पुरुषों की कथा है, ऋषि मुनि विद्वानों की यह कथा नहीं।

ईश्वर ने अपने सामर्थ्य से जगत् को बनाया है। इस में प्रमाण:—

त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः
स्वभूत्योजा अवसे धृषन्मनः।
चकृषे भूमिं प्रतिमानमोजसो-
ऽपः स्वः परिभूरेष्या दिवम् ॥१॥

ऋ० सं० अ० १। अ० ४। व० १३। मंत्र १२॥

(अर्थ)—हे परमेश्वर! आपने (स्वभूत्या) स्वसामर्थ्य तथा (ओजा) अनन्त पराक्रम से भूमि, जल, स्वर्ग तथा दिव अर्थात् भूमि से लेके सूर्यपर्यन्त सब जगत् को बनाया है, रक्षण और धारण तथा प्रलय आप ही करते हो ॥ १ ॥

न यस्य द्यावापृथिवी अनुव्यचो
न सिन्धवो रजसो अन्तमानशुः।
नोत स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यत
एको अन्यच्चकृषे विश्वमानुषक् ॥ २ ॥

ऋ० सं० अ० १। अ० ४। व० १४। मन्त्र १४॥

(अर्थ)—हे परमेश्वर! एक असहाय विश्व सब जगत् जो कि आप का अनुसङ्गी आप के रचन और धारण से विद्यमान हो रहा है, सो आप से अलग ही है। आप का स्वरूपभूत नहीं। क्योंकि—

'अन्यद्विश्वं स्वस्माद्भिन्नं त्वं चकृषे कृतवानसि'

इस सब जगत् को आपने स्वरूप से अन्यत् भिन्न वस्तुभूत रचा है, आप जगत्रूप नहीं बने ॥२॥

तथा—

अणोरणीयान्महतो महीयाना-
त्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ ३ ॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ ४ ॥

जो सूक्ष्म से सूक्ष्म, बड़े से बड़ा परमात्मा इस जीव के ज्ञान अर्थात् जीव के बीच निहित (स्थित) है, परन्तु उस सर्वात्मा को अभिमानशून्य, शोकादिदोष रहित, परमात्मा का कृपापात्र जीव ज्ञान से देखता है। और उस आत्मा अन्तर्यामी परमात्मा की महिमा सर्वशक्तिमत्व और व्यापकत्वादि गुण को भी वही देखता है, अन्य नहीं ॥ ३ ॥

इसमें भी जीव ईश्वर का भेद निरूपित है।

और जो परमात्मा प्रकृति और जीवादि के बीच में नित्य है, तथा चेतन जो जीव उनके बीच में चेतन है, बहुत असंख्यात जीवादि पदार्थों के बीच में जो एक है, तथा जो पृथिव्यादि स्वर्गपर्यन्त पदार्थों का रचन किंवा ज्ञान से सब कामों का विधान प्राप्त करता है, उस परमात्मा को, जो जीव अपने आत्मा में ध्यान से देखते हैं, उन जीवों को ही निरन्तर शान्ति सुख प्राप्त होता है, अन्य को नहीं ॥ ४ ॥

इससे भी 'आत्मस्थ' शब्द प्रत्यक्ष होने से ईश्वर और जीव का व्यापक व्याप्य, तथा अन्तर्यामी अन्तर्यम्य सम्बन्ध होने से जीव और ब्रह्म एक कभी नहीं होते। व्याससूत्र—

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥

इतर जीव से जगत् रचना की चेष्टा नहीं हो सकती ॥

भेदव्यपदेशाच्च ॥

ब्रह्म और जीव दोनों भिन्न ही हैं।

मुक्तोपसृप्य व्यपदेशात् ॥

मुक्त पुरुष ब्रह्म के समीप को प्राप्त होके आनन्दी होते हैं ॥

प्राणभृच्च ॥

प्राणधारी जीव जगत् का कारण नहीं ॥

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां नेतरौ ॥

विशेषण दिव्य और सर्वज्ञादि भेदव्यपदेश, जीव

और प्रकृत्यादि से परमात्मा परे है ॥

इससे जीव और प्रकृति जगत् के कारण नहीं हैं। जो जीव और ब्रह्म पृथक् न होते, तो जगत् के कारण होने में निषेध न करते। और जो जीव ब्रह्म एक होते, तो निषेध का संभव नहीं हो सकता। इत्यादि व्यास के शारीरिक सूत्रों से भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि जीव और ब्रह्म एक नहीं, किन्तु अलग-अलग हैं ॥

तथा नवीन वेदांती लोगों ने पंचीकरण की कल्पना निकाली है, सो भी अयुक्त है। त्रिवृत्करण छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है, क्योंकि आकाश का पंचीकरण विभाग वा संयोग करना असम्भव है।

नवीन वेदांती लोगों के प्रचार से मनुष्य के सुखादि की अत्यन्त हानि होती है। क्योंकि इन लोगों में दो बड़े दोष हैं, एक जगत् को मिथ्या मानना और दूसरा जीव ब्रह्म को एक मानना।

जगत मिथ्या मानने में ऐसा कहते हैं कि यह जगत स्वप्न के तुल्य है। सो यह उनका कहना मिथ्या है। जिसकी उपलब्धि होती है और जिसका कारण सत्य है, उसको मिथ्या कहने वाले का कहना मिथ्या है। स्वप्न भी दृष्ट और श्रुत संस्कार से होता है। दृष्ट और श्रुत संस्कार प्रत्यक्षानुभव के बिना स्वप्न ही नहीं होता। सर्वज्ञ और अवस्थादि रहित होने से परमात्मा को तो स्वप्न ही नहीं होता।

जो जीव ब्रह्म हो, तो जैसी ब्रह्म ने यह असंख्यात सृष्टि की है, वैसे एक मक्खी वा मच्छर को भी जीव क्यों नहीं कर सकता ? इससे जगत को मिथ्या और ब्रह्म की एकता मानना ही मिथ्या है। जगत को मिथ्या मानने में जगत की उन्नति परस्पर प्रीति और विद्यादि गुणों की प्राप्ति करने में पुरुषार्थ और श्रद्धा अत्यन्त नष्ट होने से, जगत के जितने उत्तम कार्य हैं, वे सब नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं।

जीव और ब्रह्म को एक मानने से परमार्थ सब नष्ट हो जाता है। क्योंकि परमेश्वर की आज्ञा का पालन, स्तुति, प्रार्थना, उपासना करने की प्रीति बिलकुल छूटने से केवल मिथ्याभिमान, स्वार्थसाधनतत्परता, अन्याय का करना पाप में प्रवृत्ति, इन्द्रियों से विषयों के भोग में फंसने से, अत्यन्त पामरता और पतितादिक दोषयुक्त होके अपने मनुष्यजन्म धारण करने के जो कर्तव्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों फल नहीं होने से, मूर्तिपूजनादि व्यवहारों के करने से, उस जीव का जन्म निष्फल हो जाता है।

इससे मनुष्यों को उचित है कि सद्विद्यादिक उत्तम गुणों का जगत् में प्रचार करना, व्यवहार परमार्थ की शुद्धि और उन्नति करना तथा वेदविद्यादि सनातन ग्रन्थों का पठनपाठन और नाना भाषाओं में वेदादि सत्यशास्त्रों का सत्यार्थप्रकाश करना, एक निराकार परमात्मा की उपासनादि का विधान करना, कलाकौशलादि से स्वदेशादि मनुष्यों का सुखविधान, परस्पर प्रीति का करना, हठ, दुराग्रह, दुष्टों के संगादि को छोड़ना, उत्तम-उत्तम पुरुष तथा स्त्री लोगों की सभाओं से सब मनुष्यों का हिताहित विचारना और सत्य व्यवहारों की उन्नति करना, इत्यादि मनुष्यों को अवश्य कर्तव्य है। इन को सब विरोध छोड़ के सिद्ध करना, यही सब सज्जनों से हमारा विज्ञापन है। इसको सज्जन लोग अवश्य स्वीकार करेंगे, ऐसी मुझ को पूर्ण आशा है।

सो इसकी सिद्धि के लिये सर्वशक्तिमान्, सब जगत् के पिता माता, राजा, बन्धु, जो परमात्मा, उनसे मैं अत्यन्त नम्र हो के प्रार्थना करता हूँ कि सब मनुष्यों पर कृपा करके, असन्मार्ग से हटा के, सन्मार्ग में चलावें, वही हमारा परम गुरु है ॥

॥ समाप्तम् ॥

॥ ओ३म् ॥

वेदविरुद्धमतखण्डन

सम्पादक का निवेदन

'वेदविरुद्धमतखण्डन' पुस्तक की रचना महर्षि दयानन्द ने सम्वत् १९३१ वि० में बम्बई में की थी। आलोचकों का कथन है कि इस ग्रन्थ में अपेक्षाकृत अधिक कठोर-भाषा का प्रयोग किया गया है। इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण निर्णय सागर प्रेस बम्बई से छपा था। उसमें महर्षि के मूल लेख के साथ ही साथ गुजराती अनुवाद भी प्रकाशित किया गया था। उस गुजराती अनुवाद के कर्ता भारत के सशस्त्र क्रान्तिकारी आन्दोलन के सुप्रसिद्ध नायक और महर्षि के सुयोग्य शिष्य श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा थे। श्री वर्मा जी को महर्षि ने अपने स्वीकार-पत्र के अनुसार परोपकारिणी सभा का सदस्य भी नियुक्त किया था और संस्कृत पढ़ाने के लिये महर्षि ने ही इन को प्रथम इङ्गलैंड भेजा था। श्री वर्मा जी के क्रान्तिकारी कार्यों से भयभीत होकर भारत की तत्कालीन विदेशी सरकार ने श्री वर्मा जी को वापिस भारत आने से रोक दिया था और भारत के इस वीर सपूत का निधन विदेश में ही हुआ था।

इस 'वेदविरुद्धमतखण्डन' का ही दूसरा नाम 'वल्लभाचार्यमतखण्डन' भी है। श्री देवेन्द्रनाथ जी कृत महर्षि के जीवन-चरित्र में पृष्ठ २९६ पर इस ग्रन्थ के विषय में लिखा है:—

"स्वामी जी ने बम्बई के निवास के दिनों में ही नवम्बर १८७४ ई० में वल्लभ सम्प्रदाय के खण्डन में 'वल्लभाचार्यमतखण्डन' नामक ट्रैक्ट रचा था। जो पहिली बार बम्बई के सुप्रसिद्ध निर्णय सागर प्रेस में छपा था।"

वलल्लभ-सम्प्रदाय का बम्बई एवं गुजरात प्रान्त में बहुत प्रचार है। यद्यपि आज-कल इस सम्प्रदाय की विशेष प्रगति नहीं हो रही है, तथापि महर्षि के जीवन काल में इसकी गुजरात में खूब धूम थी। और, उन दिनों धर्म के नाम पर इस सम्प्रदाय में अनेक प्रकार की पोपलीलाओं की भरमार थी। ज्यों ही महर्षि को गोकुलिये गोसाइयों की पाप-लीला का प्रामाणिक विवरण प्राप्त हुआ, उन्होंने तुरन्त ही अपना खण्डन-कुठार सम्भाल लिया। दैनिक सत्संगों में गोसाइयों के मत के खण्डन में भाषणों का क्रम चलाया और यह 'वेदविरुद्धमतखण्डन' ग्रन्थ तैयार करके प्रकाशित करवाया।

'वेदविरुद्धमतखण्डन' पुस्तक के प्रकाशित होते ही 'वल्लभाचार्य-मतानुयायी जनों में भारी हलचल मची थी। वे लोग महर्षि के घोर शत्रु बन गये थे। कुछ दुष्टों ने तो महर्षि पर, तब कई बार प्राण-घातक आक्रमण भी किये थे। श्री देवेन्द्रनाथ जी महर्षि के जीवन-चरित्र में पृष्ठ २८६ पर लिखते हैं:—

"वैष्णव-मत के विरुद्ध सम्मति प्रगट करने और दैनिक सत्संग में उस का तीव्र खण्डन करने के कारण वल्लभ सम्प्रदाय के लोग स्वामी जी के शत्रु हो गये थे। इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य गोसाईं जीवन जी थे।"

"एक दिन गोकुलिये गोसाईंयों के अनुयायी कच्छी बनियों के बीस मनुष्यों की टोली स्वामी जी को पीटने के उद्देश्य से वालकेश्वर गई थी; परन्तु अपनी दुष्ट-चेष्टामें सफल न हो सकी।

एक बार गोस्वामी जी ने महर्षि के पाचक बलदेव को अपने षड़यन्त्र में फांस कर महर्षि को विष दिलवाने का उद्योग भी किया था। परन्तु ठीक समय पर भाण्डा फूट गया और गोस्वामी जी की पोल खुल गई। फिर गोस्वामी जी ने महर्षि के वध

के लिये घातक पुरुषों को नियुक्त किया; परन्तु उन्हें महर्षि पर हाथ उठाने का साहस न हुआ। [देखो श्री देवेन्द्रनाथ जी कृत महर्षि का बृहद् जीवन-चरित्र पृष्ठ–२८८]

एक बार श्री महर्षि के बहुत ललकारने पर गोकुलिये गोसाइयों ने शास्त्रार्थ का आयोजन भी किया था; परन्तु वे साधारण पत्र व्यवहार तथा विज्ञापन बाजी में ही उलझकर रह गये। महर्षि के सामने आने का उनको साहस ही नहीं हुआ।

वर्तमान समय में वैदिक यन्त्रालय अजमेर द्वारा प्रकाशित जो ग्रन्थ उपलब्ध होता है, उसमें महर्षि के संस्कृत लेख के साथ ही साथ महर्षि के प्रसिद्ध शिष्य श्री भीमसेन शर्मा कृत हिन्दी अनुवाद भी साथ ही साथ छापा गया है। श्री श्याम जी कृष्ण वर्मा ने 'वेदविरुद्धमतखण्डन' का जो गुजराती अनुवाद किया था, वह एक संन्यासी श्री स्वामी पूर्णानन्द जी की प्रेरणा से किया गया था। गोकुलिये गुसाइयोंके खण्डन-मण्डन, एवं विचार विमर्श कार्यों में इन स्वामी जी का उल्लेख महर्षि के जीवन-चरित्र में कई बार आता है। ये स्वामी जी के दृढ़ भक्त थे। आगे 'वेदविरुद्धमतखण्डन' ग्रन्थ--वैदिक यन्त्रालय अजमेर द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ के ग्यारहवें संस्करण के अनुसार प्रकाशित हो रहा है। इसके मुख पृष्ठ पर--"सम्प्रतिरत्र वेदमतानुयायि पूर्णानन्दस्वामिन:", ये शब्द श्री स्वामी पूर्णानन्द जी की स्मृति में विद्यमान हैं।

गोकुलिये गोसाइयों के विरुद्ध एक विज्ञापन में महर्षि दयानन्द ने अपनी यह इच्छा प्रकाशित की थी:--

"यदि हम आर्य लोग वेदोक्त धर्म के विषय में प्रीति पूर्वक पक्षपात को छोड़ कर विचार करें, तो सब प्रकार का कल्याण ही है। यही मेरी इच्छा है।"

[देखो—श्री देवेन्द्रनाथ कृत महर्षि दयानन्द का जीवन-चरित्र पृष्ठ २८७]

प्रीतिपूर्वक विचार-विमर्श के लिये ही हमारा यह प्रयास है।

—सम्पादक

उपनिषदार्य-भाष्य

[भाष्यकार—महामहोपाध्याय स्वर्गीय श्री पण्डित आर्यमुनी जी]

उपनिषद्-ग्रन्थों के भाष्यकारों में श्री पण्डित आर्यमुनि जी के भाष्य आर्य सिद्धान्तों की दृष्टि से विशेष माननीय हैं। उनकी आठ उपनिषदों ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय और तैत्तिरीय—का यह 'उपनिषदार्य-भाष्य' कई वर्ष की प्रतीक्षा के बाद तीसरी बार बहुत सुन्दर रूप में प्रकाशित हुआ है। भाष्य की शैली, सरल, रोचक और वैदिक है। पृष्ठ संख्या ७०० से अधिक और सजिल्द ग्रन्थ का मूल्य केवल ६) रु० मात्र है।

छान्दोग्योपनिषद् [स्व० श्री प्रो० राजारामजी कृत भाष्य] मू० २।।)
बृहदारण्यकोपनिषद् [स्व० श्री महात्मा नारायण स्वामी कृत भाष्य] मू० ४)
श्वेताश्वेतरोपनिषद् [स्व० श्री पंडित भीमसेन कृत भाष्य] मू० १)

मिलने का पता—
गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, देहली

॥ ओ३म् ॥

वेदविरुद्धमतखण्डनः

अयङ्ग्रन्थः श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीनिर्मितः

तच्छिष्यभीमसेनशर्म्मकृतभाषानुवादसहितः

अथ वल्लभादिमतस्थान् प्रति प्रश्नाः खण्डनं च

१—(प्र०) कोऽयं वल्लभो नाम, कश्चास्यार्थः ?

१—(प्र०) वल्लभनामक पुरुष कौन है, और इस शब्द का अर्थ क्या है ?

२—(उ०) वल्लभोऽस्मदाचार्यः, प्रियत्वगुणविशिष्टोऽस्यार्थः ।

२—(उ०) वल्लभ हमारा आचार्य है, इस वल्लभ शब्द का अर्थ प्रीति गुणयुक्त प्यारा है।

३—(प्र०) किमाचार्यत्वं नाम, भवन्तश्च के ?

३—(प्र०) आचार्यपन क्या है, और आप कौन हैं ?

४—(उ०) गुरुराचार्यः, वयं वर्णाश्रमस्थाः ।

४—(उ०) गुरु को आचार्य कहते हैं, और हम लोग वर्णाश्रमधर्मस्थ हैं।

५—(प्र०) किं गुरुत्वमस्ति ?

५—(प्र०) गुरुपन क्या वस्तु है ?

६—(उ०) उपदेष्टृत्वमिति वदामः ।

६—(उ०) उपदेश करना, इसको हम गुरुपन कहते हैं।

७—(प्र०) स वल्लभो धर्मात्मनां विदुषां प्रियः, उताधर्मात्मनां मूर्खाणां च ?

७—(प्र०) वह वल्लभनामी पुरुष धर्मात्मा विद्वानों को प्रिय है, अथवा अधर्मी और मूर्खों को प्रिय है ?

८—(उ०) नाद्यः, कुतो भवतां सर्वेषान्तु धर्माचरणविद्यात्वाभावात्, किन्तु कश्चित्तादृशोऽस्ति । न चरमोऽधर्मात्मनां मूर्खाणां तत्र प्रीत्या स एवाश्रेष्ठः स्यात्, स्वजातिपरत्वप्रवाहस्य विद्यमानत्वात् । अन्यच्च , सजीवान्प्रति सर्वेषां प्रीतेः सत्त्वान्मृतांश्च प्रति प्रीतेरभावान्नैष्फल्याच्च तत्र वल्लभत्वमेव दुर्घटम् । मतस्याचार्यत्वकरणासंभवात् ।

"समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठंगुरुं समुपगच्छेद्"

इति श्रुतेर्वर्त्तमानाभिप्रायत्वात् ।

"उपनीय तु यश्शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।

सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्य्यम्प्रचक्षते" ॥

इति मनुमतविरोधात् । मरणानन्तरमध्ययनाऽध्यापनयोरशक्यत्वात् शरीरमात्रसंबन्धाभावाच्चेति युक्त्या तस्मिन्नाचार्य्यत्वमेवासङ्गतम् । यथा च मृतम्प्रति प्रीतिरशक्या निष्फला च । तत्र प्रियत्वगुणविशिष्टवचनत्वमप्यसङ्गतन्तस्य भ्रान्तिनिष्ठत्वात् ।

८-(उ०) आद्यपक्ष अर्थात् धर्मात्मा विद्वानों को वह प्रिय नहीं हो सकता, क्योंकि आप सब लोगों का धर्माचरण और विद्यावान् होना सम्भव नहीं, किन्तु कोई वैसा है। द्वितीयपक्ष इसलिये ठीक नहीं, कि वल्लभ मूर्खों को प्रिय हो तो उसमें मूर्खों का प्रीति होने से वह ही अश्रेष्ठ समझा जावे, क्योंकि अपने अपने सजातीय में प्रीति होने का प्रवाह प्रसिद्ध है। अर्थात् विद्वानों की विद्वानों में और मूर्खों की मूर्खों में प्रीति विशेष होती है। और, भी देखो कि जीवितों में सब की प्रीति होने, मरे हुओं में न होने, और मरों में प्रीति करना भी निष्फल होने से, उस पुरुष में वल्लभत्व अर्थात् प्रियपन होना ही नहीं घट सकता। और मरे हुए को गुरु करना भी असम्भव है। वेद में लिखा है कि—

"वेदवेत्ता ब्रह्मज्ञानी गुरु के पास हाथ में समिध लेके जावे।"

इससे सिद्ध है कि मरे हुए के पास में समिध लेके जाना असम्भव है। और—

"जो—यज्ञोपवीत कराके कल्पसूत्र और वेदान्त सहित शिष्यको वेद पढ़ावे, उसको आचार्य कहते हैं।"

इस मानव-धर्मशास्त्र की सम्मति से भी वल्लभ का आचार्यत्व होना विरुद्ध है। मरने के पश्चात् पढ़ना पढ़ाना आदि जो आत्मधर्म हैं, वे नहीं हो सकते, क्योंकि इन धर्मों का शरीरमात्र से सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार की युक्तियों से वल्लभ को आचार्य मानना ही असङ्गत है। इसी कारण मरे से प्रीति करना अशक्य और निष्फल है। और वल्लभके भ्रान्तिग्रस्त होनेसे उसको प्रियत्व गुणयुक्त कहना भी असङ्गत है।

९—किं गुरुत्वं, सत्योपदेष्टृत्वमाहोस्विदसत्योपदेष्टृत्वञ्च ?

९—(प्र०) गुरुपन क्या वस्तु है ?, क्या सत्योपदेश करना वा असत्य उपदेश करना ही गुरुपन कहाता है ?

१०—(उ०) नादिमः, कुतो भवत्सु श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठत्वासत्वादस्ति चेन्न सङ्गच्छते, विषयसेवायां प्रीतेर्दर्शनात्।

"अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते"।

इति मनुसाक्ष्यविरोधाद्भवतामर्थकामेष्वेवासक्तेः प्रत्यक्षत्वात्स्त्रीषु धनेषु चात्यन्तप्रीतेर्विद्यमानत्वात्, मरणसमयेऽपि स्वशिष्याणां वक्षःस्थलस्योपरि पादं स्थापयित्वा धनादीनां पदार्थानां संग्राहकत्वाद्यथा मृतकस्य शरीरस्य वस्त्राऽऽभूषणादीन् पदार्थान् कश्चिद् गृह्णाति भवतान्तेन तुल्यत्वाच्च।

नान्त्यः, असत्योपदेशस्यानभिधानाद् द्वयोर्दुःखफलस्य प्रापकत्वाच्च। स्वपुत्रादीन्प्रति पितुर्गुरुत्वाऽधिकारादन्यान्प्रति गुरुत्वाभिमानानभिधानाद्भवत्सु गुरुत्वस्य विरह एवेत्यवगन्तव्यम्।

"निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते॥"

इति मनुसाक्ष्यविरोधादविवाहितस्त्रियां वीर्यनिषेकस्य पापफलत्वाच्चेति। भवन्तो वर्णाश्रमस्थाश्चेत्तर्हि वेदोक्तानि वर्णाश्रमस्थकर्तव्यानि कर्माणि कुतो न क्रियन्ते, क्रियन्ते चेन्मूर्तिपूजनं कण्ठीधारणन्तिलकं समर्पणं वेदानुक्तमन्त्रोपदेशञ्च त्यजन्तु, नो चेद्वेदोक्तधर्माचरणविरोधाद्भवन्तो वर्णाश्रमस्था एव नेति मन्तव्यम्।

१०—(उ०) प्रथम पक्ष अर्थात् सत्योपदेश करना रूप गुरुत्व नहीं घटता, क्योंकि सत्योपदेष्टा गुरु तुम में इससे नहीं हो सकते कि आप लोगों में वेदवेत्ता ब्रह्मज्ञानी जन नहीं हैं। यदि कहो कि हैं, तो तुम्हारा कहना असङ्गत है, क्योंकि तुम लोगों की प्रीति विषयों की सेवा में प्रसिद्ध दीखती है। धर्मशास्त्र में कहा है कि—

"अर्थ और काममें जो आसक्त नहीं, उनके लिये धर्मज्ञान का विधान है।"

इससे विरुद्ध आप लोगों की आसक्ति द्रव्य और कामचेष्टा ही में प्रसिद्ध है। स्त्रियों और धनों में तुम्हारी प्रीति प्रत्यक्ष विद्यमान है। और, मरण समय

में भी अपने शिष्यों की छाती पर पैर रखकर, धनादि पदार्थों का संग्रह करते हो और महाब्राह्मण वा चाण्डालादि के तुल्य मृतक के आभूषणादि पदार्थों को लेते हो, इससे महाब्राह्मण के तुल्य हुए।

और द्वितीय पक्ष, असत्योपदेश करने से भी वल्लभ गुरु नहीं हो सकते, क्योंकि असत्योपदेश से गुरु मानना शास्त्रविरुद्ध और दोनों गुरु शिष्य दुःख फलभागी होते हैं। अपने पुत्रों के प्रति गुरु होने का मुख्य अधिकार पिता को है। अन्य किसी का स्वयमेव गुरु बन बैठने का धर्म-शास्त्र में विधान न होने से आप लोगों में गुरुत्व कदापि संघटित नहीं हो सकता। धर्मशास्त्र में कहा भी है—

"जो विधिपूर्वक गर्भाधानादि कर्मों को करता और अन्नादि से पालन करता है, वह ब्राह्मण गुरु कहाता है"।

इससे अन्य को गुरु मानना विरुद्ध है। और अविवाहित स्त्री में गर्भाधान करना पाप है। इससे मुख्य कर पिता ही गुरु हो सकता है। यदि आप लोग वर्णाश्रमधर्मस्थ अपने को मानते हैं, तो वर्णाश्रम के कर्तव्य वेदोक्त कर्म क्यों नहीं करते? यदि करते हो, तो पाषाणादि मूर्तिपूजन, कण्ठी बांधना, तिलक लगाना, समर्पण करना और वेद में न कहे हुए मन्त्रों का उपदेश करना छोड़ देओ। यदि ऐसा नहीं करते, तो वेदोक्त वर्णाश्रमधर्म के आचरण से विरुद्ध होने से, आप लोग वर्णाश्रमधर्मस्थ नहीं हो सकते, यह निश्चय जानना चाहिये।

११—भवन्तो गुरवः शिष्या मध्यस्था वा?

११-(प्र०) आप लोग गुरु, शिष्य वा मध्यस्थ हो?

१२—(उ) गुरवश्चेदर्थज्ञानपूर्वकान् वेदान् पाठशालां कृत्वा कुतो नाध्यापयन्ति? शिष्याश्चेत्कथं न पठन्ति? मध्यस्थाश्चेद् ब्राह्मणाचार्याभिमानो भवत्सु व्यर्थोऽस्तीत्यवगन्तव्यम्।

१२—(उ०) यदि गुरु हो, तो पाठशाला कर अर्थज्ञानपूर्वक वेदों को क्यों नहीं पढ़ाते? यदि शिष्य हो तो क्यों नहीं पढ़ते और यदि मध्यस्थ हो तो आप में ब्राह्मण और आचार्य होने का अभिमान व्यर्थ है, यह निश्चय जानना चाहिये।

१३—भवन्तो वेदमतानुयायिनस्तद्विरोधिनो वा?

१३—(प्र०) आप लोग वेदमतानुयायी हो, वा वेदमत के विरोधी हो?

१४—(उ०) यदि वेदमतानुयायिनस्तर्हि वेदोक्तविरुद्धं स्वकपोलकल्पितं वल्लभसंप्रदायमन्यं वा किमर्थं मन्यन्ते? वेदविरोधिनश्चेन्नास्तिकत्वं शूद्रत्वञ्च किमर्थं न स्वीक्रियते—"नास्तिको वेदनिन्दकः"।

"योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥"

इति मनुसाक्ष्यविरोधात्। पुनर्हि जन्ममरणवतो देहधारिणः कृष्णादीन् जीवानीश्वरत्वेन किमर्थं व्यवहरन्ति?, नो चेन्मन्दिरे जडमूर्तिस्थापनं कृत्वा घण्टादिनादञ्चाज्ञानिनां मिथ्योपदेशव्याजेन धनादीन् पदार्थान्किमर्थमाहरन्ति?

१४—(उ०) यदि वेदमतानुयायी हो, तो वेदविरुद्ध अपने कपोलकल्पित वल्लभ वा अन्य सम्प्रदाय को क्यों मानते हो?, यदि वेदविरोधी हो, तो अपने को नास्तिक और शूद्रकक्षा में क्यों नहीं मानते?, यही धर्मशास्त्र में लिखा है कि—

"वेदनिन्दक ही नास्तिक होता है।"

और "जो वेद को न पढ़ के अन्य ग्रन्थों में परिश्रम करता है, वह अपने कुटुम्ब सहित जीवते ही शूद्र हो जाता है।"

इससे नास्तिक और शूद्रकक्षा के योग्य हो। फिर जन्मने मरने वाले श्रीकृष्णजी आदि देहधारी जीवों में ईश्वर के भाव का व्यवहार क्यों करते हो?, यदि कहो कि हम श्रीकृष्णादि को ईश्वर नहीं मानते, तो मन्दिरों में उनकी जड़मूर्ति स्थापन और घण्टादि बजा कर उपदेश के छल से अज्ञानियों के धनादि पदार्थ क्यों हरते हो?

१५—(प्र०) भवन्तः स्वस्मिन् कृष्णत्वं मन्यन्त उत मनुष्यत्वम् ?

१५—(प्र०) आप लोग अपने में कृष्णपन की भावना करते हैं, वा मनुष्यपन की ?

१६—(उ०) कृष्णत्वं मन्यन्ते चेद्यादवक्षत्रियाभिमानित्वं कुतो न स्वीक्रियते ?, तादृशः पराक्रमो भवत्सु कुतो न दृश्यते ?, कृष्णस्तु परमपदं प्राप्तो भवन्तः कथञ्जीवनवन्तश्च ?, मनुष्यत्वं चेत्तर्हि स्वोत्तमाभिमानस्त्यज्यताम् ।

१६—(उ०) यदि अपने को कृष्ण मानते हो तो यादव क्षत्रियों के युद्धादि सब कर्मों को क्यों नहीं ग्रहण करते ?, श्रीकृष्णजी के सदृश पराक्रम आप लोगोंमें क्यों नहीं दीख पड़ता ? श्रीकृष्णजी तो परमपद को प्राप्त हो गये, आप लोग कैसे जीते बने हो ? और यदि अपने को मनुष्य मानते हो, तो अपने को उत्तम मानने का अभिमान छोड़ देओ ।

१७—(प्र०) भवन्तो वैष्णवा उतान्ये, वैष्णवाश्चेत् कीदृगर्थो वैष्णवशब्दस्य स्वीक्रियते ?

१७—(प्र०) आप लोग वैष्णव हो, वा अन्य ?, यदि वैष्णव हो, तो वैष्णव शब्द का अर्थ कैसा स्वीकार करते हो ?

१८—(उ०) विष्णोरयं भक्तो वैष्णव इति वदाम इति चेन्नैवं शक्यन्तस्येदमिति सूत्रस्य सामान्यार्थे वर्त्तमानत्वाद्विष्णोरयमित्येतावानर्थो ग्रहीतुं शक्यो, विशेषार्थग्रहणस्यनियमाभावात् । यथा भवद्भिर्भक्तशब्दो गृहीतस्तथा विष्णोरयं शत्रुः पुत्रः पिता प्रभावश्शिष्यो गुरुश्चेत्यादयोऽर्था अन्येनापि ग्रहीतुं शक्या । अतो भवत्कृतोऽर्थोऽनुचितः ।

१८—(उ०) यदि कहते हो कि विष्णु का भक्त वैष्णव है, तो ठीक नहीं । क्योंकि व्याकरण के 'तस्येदम्' इस सूत्र से विष्णु का सम्बन्धीरूप सामान्य अर्थ लेने में कोई नियम नहीं । जैसे आप लोगों ने विष्णु का सम्बन्धी भक्तरूप अर्थ का ग्रहण किया, वैसे कोई विष्णु शब्द के शत्रु, पुत्र, पिता, प्रभाव, शिष्य, गुरु आदि अर्थों का ग्रहण कर, शत्रु आदि को भी वैष्णव कह सकता है । इसलिये आप लोगों का कल्पित अर्थ ठीक नहीं हो सकता ।

१९—(प्र०) भवद्भिर्विष्णुः कीदृशो गृहीतः ?

१९—(प्र०) आप लोगों ने विष्णु को किस प्रकार का समझा है ?

२०—(उ०) गोलोकवैकुण्ठवासी चतुर्भुजो द्विभुजो लक्ष्मीपतिर्देहधारित्यादिर्वेति वदाम, इति चेद् व्यापकत्वं त्यज्यताम् । चतुर्भुजादिकं मन्यते चेत् सावयवत्वमनित्यत्वञ्च स्वीक्रियतामीश्वरत्वञ्च त्यज्यताम् । कुतः, संयोगमन्तरा सावयवत्वमेव न सिद्ध्यति । संयोगश्चानित्यस्तस्माद्भिन्न एवेश्वर इति स्वीकारे मङ्गलन्नान्यथा । ईश्वरस्य सावयत्वग्रहणं वेदविरुद्धमेव—

"स पर्यगा च्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्"

इत्यादिश्रुतिविरोधात्

२०—(उ०) यदि गोलोक वैकुण्ठ का निवासी, चतुर्भुज, द्विभुज, लक्ष्मी का पति, देहधारी कहते हो, तो व्यापक होना छोड़ो । यदि चतुर्भुजादि आकृति वाला मानते हो, तो सावयव, उत्पत्ति धर्मवाला, अनित्य मानो और उसमें ईश्वरत्व छोड़ो । क्योंकि संयोग के बिना सावयव होना नहीं सिद्ध होता । और संयोग अनित्य है, इससे संयोग वियोग वाले से भिन्न को ईश्वर मानने में ही कल्याण है, अन्यथा नहीं । और, ईश्वर को सावयव मानना वेदविरुद्ध ही है । वेद में कहा कि—

"ईश्वर शरीर, छेदन और नाड़ी आदि बन्धन से रहित, शुद्ध, निष्पाप, सर्वत्र व्यापक है ।"

इससे तुम्हारा कहना विरुद्ध है ।

२१—(प्र०) कण्ठीतिलकधारणे मूर्तिपूजने च पुण्यं भवत्युतापुण्यम् ?

२१—(प्र०) कण्ठी तथा तिलक धारण और मूर्त्ति के पूजने में पुण्य होता है, वा अपुण्य ?

२२—(उ०) पुण्यं भवति, न च पापमिति ब्रूमः । स्वल्पकण्ठीतिलकधारणे मूर्तिपूजने च पुण्यं भवति चेत्तर्हि कण्ठीभारधारणे सर्वमुखशरीरलेपने पृथिवीपर्वतपूजने च महत्पुण्यं भवतीति मन्यताङ्क्रियताञ्च । तत्र वेदविधिप्रतिष्ठाया अभावान्न क्रियत, इति जल्पामः । वेदेषु तु खलु कण्ठीतिलकधारणस्य पाषाणमूर्तिपूजनस्य च लेशमात्रोऽपि विधिः प्रतिष्ठा च न दृश्यते । अतो भवत्कथनं व्यर्थमेव ।

२२—(उ०) पुण्य होता है पाप नहीं, ऐसा कहते हो सो ठीक नहीं, क्योंकि यदि थोड़े कण्ठी तथा तिलक के धारण और मूर्त्तिपूजन में पुण्य होता है, तो बहुत कठियों का भार लादने, चन्दन से सब मुख और शरीर के लेपन करने तथा सम्पूर्ण पृथिवी और पर्वतों के पूजने में बड़ा पुण्य होता है, ऐसा मानो और करो । यदि कहो कि पृथिवी और पहाड़ के पूजने के लिये वेद में प्रतिष्ठा का विधान न होने से नहीं करते, तो वेदों में कंठी, तिलकधारण और पाषाणमूर्त्तिपूजन का लेशमात्र भी विधान नहीं और न प्रतिष्ठा का कहीं नाम है । इसलिये आपका कथन व्यर्थ है।

२३—(प्र०) किं प्रतिष्ठाकरणन्नाम ?

२३—(प्र०) प्रतिष्ठा करना क्या वस्तु है ?

२४—(उ०) पाषाणादिमूर्तिषु प्राणादीनाहूय तत्र स्थापनमिति ब्रूम इति, नैवं शक्यं वक्तुम् । कथं, प्राणादीनान्तत्कर्मणान्चादर्शनात् । यदि तत्र प्राणादयो वसेयुस्तर्हि गमनभाषणभोजनमलविसर्जनादिकर्माणि कुतो न दृश्यन्ते ?, तानि कथं न कुर्वन्ति ?, यदि प्राणादीनां यत्र कुत्र स्थापने शक्तिरस्ति चेत्तर्हि मृतकशरीराणां मध्ये प्राणादीन् स्थापयित्वा कुतो न जीवयन्ति भवतामनेनैव महान् धनलाभः प्रतिष्ठा च भविष्यति । किञ्च, पाषाणादिमूर्तीनाम्मध्ये प्राणादीनाङ्गमनागमनयोरवकाश एव नास्ति, न नाड्यश्छिद्राणि च । मृतकशरीराणां मध्ये तु यथावत्सामग्री वर्त्तत एव, प्राणादिभिर्विना दाहादिकाः क्रियाः जनैः क्रियन्ते । यदा भवन्तः प्राणादीनान्तत्र स्थापनं कुर्युस्तदा कस्यापि मरणमेव न भवेदनेन महत्पुण्यम्भविष्यति, तस्माच्छीघ्रमेदङ्कर्म कर्त्तव्यमिति निश्चेतव्यम् ।

यदि कश्चिन्मृतं शरीरञ्जीवयेत्तादृशो मनुष्यो न भूतो न भविष्यतीति वयं जानीमः । कुत, ईश्वरस्य नियमस्यान्यथाकरणे कस्यापि सामर्थ्यन्न जातन्न भविष्यतीत्यवगन्तव्यम् । तद्यथा जिह्वयैव रसज्ञानम्भवति नान्यथेतीश्वरनियमोऽस्ति । एतस्यान्यथाकरणे कस्यापि यथा सामर्थ्यन्नास्ति तथा सर्वेष्वीश्वरकृतेषु नियमेष्विति बोध्यम् । ईश्वरेण ये जड़ाः पदार्था रचितास्ते कदाचिच्चेतना न भवन्ति, तथा चेतना जड़ाः कदाचिन्नैव भवन्तीति निश्चयः ।

ईश्वरः सर्वव्याप्यस्त्यतः पाषाणादिमूर्तिमध्येऽप्यस्ति, पुनस्तत्पूजने को दोषः, खण्डनञ्च किमर्थं क्रियते ?, एवञ्जानन्ति चेत्तर्हि पुष्पपत्रोदकचन्दनवर्षणन्नमस्कारञ्च किमर्थं कुर्वन्ति ?, कुतः, सर्वत्रेश्वरस्य व्यापकत्वात् । नोचेदन्यघृणितपदार्थानाञ्च पूजनंकिमर्थं न कुर्वन्ति ? सर्वव्यापिनीश्वरे सिद्धे खल्वेकस्मिन्वस्तुनि स्वीकृते महत्पापं भवति । तद्यथा चक्रवर्तिनं राजानम्प्रति कश्चिद् ब्रूयाद्भवान्दशहस्तप्रमितायाः

भूमे राजास्तीति, सम्प्रति राज्ञो महान्कोपो यथा भवति, तथेश्वरस्यैवं स्वीकारे चेति वेदितव्यम्।

२४—(उ०) यदि कहते हो कि पाषाण आदि की मूर्त्तियों में वेदमन्त्रद्वारा प्राण आदि का आह्वान कर स्थापन करना प्रतिष्ठा है, तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि प्राण आदि और उनकी क्रिया मूर्त्तियों में नहीं दीख पड़ती। जो उन मूर्त्तियों में प्राण वा इन्द्रिय रहते, तो चलना, बोलना, खाना, मलमूत्र त्याग करना आदि कर्म क्यों नहीं दीख पड़ते ?, और वे मूर्त्तियां उन कामों को क्यों नहीं करतीं ?; यदि प्राणादिकों को जहां कहीं स्थापन करने की शक्ति तुम लोगों में है, तो मृतक शरीरों के बीच प्राणादि को स्थापन कर क्यों नहीं जिला देते ? केवल इसी एक कर्म से तुम को बहुत धन की प्राप्ति और प्रतिष्ठा होगी। और यह भी विचारो कि पाषाणादि मूर्तियों में तो प्राणादि के जाने आने का अवकाश ही नहीं, न नाड़ी और इन्द्रिय छिद्र हैं, और मृतक शरीरों में तो सब अवकाश, नाड़ी और इन्द्रियों के छिद्र आदि सामग्री विद्यमान ही रहती है, केवल प्राणादि के न रहने से वे शरीर जला दिये जाते हैं। सो जब आप लोग उन शरीरों में आह्वान कर प्राणादि को स्थिर कर देओ, तब तो किसी का मरण ही न होवे, इससे बड़ा पुण्य होगा। इसलिये शीघ्र ही निश्चय कर यह कर्म करना चाहिये।

हम जानते हैं कि यदि कोई मरे हुए को जिला देवे, ऐसा मनुष्य न हुआ न होगा, क्योंकि ईश्वर के नियम के अन्यथा करने में किसी का सामर्थ्य न हुआ न होगा, यह निश्चय जानना चाहिये। जैसे जीभ से ही रस का ज्ञान हो सकता है, अन्य इन्द्रिय से नहीं, यह ईश्वरकृत नियम है। इसके अन्यथा करने में जैसे किसी का सामर्थ्य नहीं है, वैसे ही ईश्वर के किये सब नियमों में जानना चाहिये। ईश्वर ने जो पदार्थ जड़ बनाये हैं, वे कभी चेतन नहीं होते। वैसे ही चेतन कभी जड़ नहीं हो जाते, यह निश्चय है।

यदि कहो कि ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है, इससे पाषाणादि मूर्त्तियों में भी है, तो पाषाणादि मूर्तियों के पूजने में क्या दोष है और क्यों खण्डन करते हो, तो उत्तर यह है कि यदि ऐसी भावना रख पूजा करते हो, तो पुष्प तोड़ना, चंदन घिसना और हाथ जोड़ कर नमस्कार आदि कर्म क्यों करते हो ?, क्योंकि ईश्वर पुष्प, चन्दन, हाथ और मुख आदि में भी व्यापक है। जैसे पाषाणादि में व्यापक होने से ईश्वर पूजित होगा, वैसे पुष्पादि के साथ टूटना घिस जाना भी सम्भव है। यदि नहीं मानते तो अन्य घृणित पदार्थों का पूजन क्यों नहीं करते ?, जब ईश्वर सर्वव्यापक सिद्ध है, तो एक छोटी सी किसी मूर्त्ति आदि वस्तु में उसको मानना बड़ा पाप है। तद्यथा—जैसे चक्रवर्त्ति राजा से कोई कहे कि आप दश हाथ भूमि के राजा हैं। उसके प्रति जैसे राजा का बड़ा कोप होता है, वैसे ईश्वर के इस प्रकार स्वीकार करने में ईश्वर बड़ा कोप करेगा, यह जानना चाहिये।

२५—(प्र०) किञ्चन्मात्राणाम्पाषाणपित्तलादिमूर्तीनां पूजने पुण्यं भवत्युत पापम् ?

२५—(प्र०) छोटी २ बनी हुई पाषाण पित्तलादि की मूर्त्तियों के पूजन में पुण्य होता है, वा पाप ?

२६—(उ०) नाद्यः, कुतः किञ्चिन्मात्रस्य पित्तलादेर्मूर्तिपूजने पुण्यञ्भवति चेत्तर्हि महत्याः पित्तलादिमूर्त्तेर्दण्डप्रहारेण महत्पापं भवतीति बुध्यताम्। अन्यच्च, वेदानभिहितपाषाणादिमूर्तिपूजने महत्पापमेव भवतीति स्वीक्रियतान्नोचेन्नास्तिकत्वं स्वीकार्यम्। न चरमः, कुतः पापाचरणस्य वेदेऽनभिधानात्। मनुष्यजन्मानेन व्यर्थमेव गच्छतीत्यतः। तत्पूजनम्मुक्तिसाधनञ्चेन्न तस्या मूर्त्तेरपि शिल्पिना पूजारिणा वैकत्र बद्धत्वात्स्वयंजडत्वाच्चेति।

२६—(उ०) पहिला पक्ष पुण्य होना ठीक नहीं, क्योंकि यदि छोटी-छोटी पीतल आदि की मूर्त्तियों के पूजने में पुण्य होता है, तो बड़ी-बड़ी पीतल आदि की घण्टादि रूप मूर्त्तियों में दण्डा मारने से बड़ा पाप होता है, ऐसा जानो। और भी देखो कि वेद में ही कहे पाषाणादि मूर्त्ति के पूजन में महापाप

ही होता है, ऐसा मानो। यदि न मानो, तो वेदविरोधी होने से नास्तिक बनो। और पाप होना रूप द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं। क्योंकि पाप करना भी वेद में नहीं कहा, तो मनुष्य जन्म इससे व्यर्थ जाता है। यदि कहो कि मूर्तियों का पूजना मुक्ति का साधन है, तो ठीक नहीं। क्योंकि उस मूर्त्ति को कारीगर वा पुजारी ने एक स्थान में स्थिरबद्ध किया, और स्वयं जड़ है, तो अन्य को क्या मुक्ति दे सकेगी।

२७—(प्र०) ईदृक्कण्ठीतिलकधारणे किं मानं का वा युक्तिः ?

२७—(प्र०) ऐसे विशेष चिह्नरूप कण्ठी और तिलक के धारण में क्या प्रमाण वा युक्ति है ?

२८—(उ०) हरिपदाकृतित्वम्। कृष्णललाटे राधया कुंकुमयुक्तेन चरणेन कृतं ताडनं, ललाटस्य शोभार्थञ्चेति ब्रूमः। हरिशब्देन कस्य ग्रहणम् ? विष्णोरेवेति वदामः। नैतदेकान्ततः शक्यं ग्रहीतुम्। अश्वसिंहसूर्यवानरमनुष्यादीनामपिग्रहणाद्वेदानुक्तत्वादत एव पापजनकन्तिलकमिति वेद्यम्। किञ्च तिलकत्वमिति ? त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्ररचनत्वमिति वदामः। नैवं वक्तुमुचितम्। तिलस्य प्रतिकृतिस्तिलकमल्पस्तिलस्तिलकं वेत्यर्थस्य जागरूकत्वादेतावतोदीर्घस्य ललाटे लिप्तस्य तिलकसंज्ञायां मतायां भवत्सु प्रमत्तत्वापत्तिर्भवतीति वेद्यम्।

२८—(उ०) श्रीकृष्ण के पग के आकार तिलक इसलिये धारण करते हैं कि कृष्ण के मस्तक पर राधाजी ने लालचन्दन युक्त लात मारी थी, और वैसी लात मारने से शोभा भी समझते हैं। हरि शब्द से विष्णु का ग्रहण करते हैं। यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि घोड़ा, सिंह, सूर्य, वानर और मनुष्यादि का नाम भी हरि है, उनका ग्रहण क्यों नहीं होता ? वेदोक्त न होने से तिलक लगाना अयुक्त है, इसी से पापकारी है, यह जानना चाहिये। तिलक क्या वस्तु है ? यदि त्रिपुण्ड्र और ऊर्ध्वपुण्ड्र रचना को तिलक कहते हो, तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि व्याकरण रीति से तिल के प्रतिबिम्ब को तिलक वा छोटे तिल को तिलक कहना चाहिये, यह सिद्ध है, तो इस प्रकार के लम्बीभूत चन्दनादि ललाट पर के लेपन की तिलक संज्ञा मानने में आप लोगों में प्रमाद प्राप्त होता है, यह निश्चय जानना चाहिये।

२९—(प्र०) मूर्त्तिपूजनादिषु पुण्यं भवत्युत पापम् ?

२९—(उ०) मूर्त्तिपूजनादि में पुण्य होता है, वा पाप ?

३०—(उ०) मूर्त्तिपूजनेकण्ठीतिलकधारणे च दोषो नास्ति, कुतः, 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' इत्यतः।

३०—(उ०) मूर्त्तिपूजन और कण्ठी तिलक धारण करने में कुछ दोष नहीं है, क्योंकि 'जिसकी भावना जैसी होती है, उसकी वैसी ही सिद्धि हो जाती है,।

३१—(प्र०) भावना सत्यास्त्युत मिथ्या ?

३१—(प्र०) भावना सत्य है वा मिथ्या ?

३१—(उ०) न प्रथमः, कुतो दुःखस्य भावनां कोपि न करोति सदैव सुखस्यैव च, पुनः सुखं न भवति दुःखञ्च भवत्यतो भावना न सत्या। न द्वितीयः, कथं विद्याधर्मार्थकाममोक्षाणां भावनया विना सिद्धिरेव न भवतीत्यतः। यदि भावना सत्यास्ति चेत्तर्हि भवच्छरीरे रेलाख्ययानभावनां कुर्वोपर्यासीमहि, यावता कालेन यावद्देशान्तरन्तद्यानङ्गच्छति तावता कालेनैव भवच्छरीरन्तावद्देशान्तरमस्मान् गमयेच्चेत्तदा तु भावना सत्या नान्यथा।

पुनः पाषाणादिषु हीरकादिरत्नभावनाञ्जले दधिघृतदुग्धभावनान्धूल्याङ्गोधूमपिष्टशर्कराभावनां शर्करायान्तन्दुलभावनान्तथा जडे चेतनभावनां चेतने जडभावनान्दरिद्रः स्वस्मिश्चक्र-

वर्तिभावनाञ्चक्रवर्त्ती स्वस्मिन्दरिद्रभावनाञ्च कुर्यात्सा तथैव सिद्धा भवेच्चेत्तदा तुसत्याऽन्यथा मिथ्येति बोद्धव्यम् ।

तर्हि भावना का नाम ?, भावना तु पाषाणे पाषाणभावना रोटिकायां रोटिकाभावनेति यथार्थं ज्ञानमिति ब्रूमस्तस्मिंस्तद्बुद्धिरिति । तथा रोटिकायां पाषाणभावना पाषाणे रोटिकाभावनाऽयथार्थज्ञानमतस्मिंस्तद्बुद्धिभ्रमो ह्यभावना चेति ।

३२—(उ०) पहिला पक्ष—भावना का सत्य मानना ठीक नहीं, क्योंकि दुःख की भावना कोई नहीं करता, किन्तु सदैव सुख की भावना करते हैं, फिर भी सब को सुख नहीं मिलता, किन्तु दुःख होता ही है । इससे भावना सत्य नहीं । दूसरा पक्ष—भावना का मिथ्या मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि भावना के बिना विद्या, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि ही नहीं हो सकती । इससे यथायोग्य भावना करना ठीक है । यदि अन्य में अन्य की भावना करना सत्य है, तो आप के शरीर में रेल की भावना करके, हम बैठें, तो जितने समय में जितनी दूर रेल पहुँचती है, उतने समय में उतनी दूर आपका शरीर हम को पहुँचा देवे, तब तो भावना ठीक, नहीं तो मिथ्या ।

फिर पत्थर आदि में हीरे आदि रत्नों की भावना, जल में दूध दही घी की भावना, धूलि में आटा और शक्कर की, शक्कर में तण्डुल की, जड़ में चेतन, चेतन में जड़, निर्धनी दरिद्र अपने में चक्रवर्त्ती राजा की और चक्रवर्ती राजा अपने में दरिद्र की भावना करे और वह वैसा ही ठीक-ठीक सिद्ध हो जावे, तब तो सत्य, अन्यथा मिथ्या जाननी चाहिये ।

तो फिर भावना किस का नाम है ?, पत्थर में पत्थर, रोटी में रोटी की भावना करना यथार्थ ज्ञान कहाता है । अर्थात् जैसे को वैसा जानना भावना है । रोटी में पत्थर और पत्थर में रोटी की भावना करना मिथ्या ज्ञान । अन्य में अन्य बुद्धि, भ्रमरूप अभावना कहाती है ।

३३—(प्र०) प्रतिमाशब्देन किंगृह्यते ?

३३—(प्र०) प्रतिमा शब्द से क्या लेते हो ?

३४—(उ०) पूजनार्था चतुर्भुजादिमूर्त्तिरिति वदामः ।

३४—(उ०) पूजने योग्य चतुर्भुज आदि की मूर्त्ति को लेते हैं ।

३५—(प्र०) प्रतिमाशब्दस्य कोऽर्थः क्रियते ?

३५—(प्र०) प्रतिमा शब्द का क्या अर्थ करते हो ?

३६—(उ०) प्रतिमीयते यया सा प्रतिमा । किञ्चाऽनया प्रतिमीयते ?, ईश्वरशिवनारायणादयश्चेति वदामः । किञ्च भोरनया पाषाणादिमूर्त्येश्वरस्य शिवादिशरीराणाञ्च प्रत्यक्षतया भवद्भिस्तोलं कृतङ्किमतोऽयमर्थः क्रियते ?

"तुलामानं प्रतीमानं सर्वञ्च स्यात्सुलक्षितम् ।
षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेद्" ॥

इति मनुसाक्ष्यं बोध्यम् । प्रतिमाशब्देन गुडघृतादीनान्तोलनसाधनानां पलसेटकादीनां मासादीनां च ग्रहणमिति निश्चयः ।

"न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम महद्यशः"

इति यजुस्संहितायां द्वात्रिंशेऽध्याये । ईश्वरस्य प्रतिमातोलनसाधनमेव न भवति तस्याऽतुलत्वात् । अतएव भवत्कृतोऽर्थो व्यर्थ एवेति बोध्यम् ।

३६—(उ०) जिससे पदार्थ का स्वरूप वा अवधि जानी जावे, वह प्रतिमा है, ऐसा अर्थ करते हो, तो किसका स्वरूप इससे जाना जाता है ? यदि कहो कि ईश्वर, शिव और नारायण आदि का बोध प्रतिमा से होता है, तो हम पूछते हैं कि क्या इस पाषाणादि मूर्तिसे ईश्वर और शिवादि के शरीरोंको आपने प्रत्यक्ष तोल लिया है कि जिससे ऐसा अर्थ करते हैं ? धर्मशास्त्रस्थ राजधर्म में लिखा है कि—

"तराजू और प्रतिमान=बाट सब ठीक ठीक रखने चाहियें, और छः छः महीने में इनकी परीक्षा राजा करावे।"

इस प्रमाण के अनुकूल प्रतिमा शब्द से गुड़ घृत आदि के तोलने के साधन सेर आदि वा मासा आदि बटखरों का ग्रहण होना निश्चय है। और यजुर्वेद बत्तीसवें अध्याय के तीसरे मन्त्र में ईश्वर की प्रतिमा अर्थात् तोल का साधन का निषेध किया है, क्योंकि ईश्वर अतुल है। इसी से आप का किया अर्थ व्यर्थ ही जानना चाहिये।

३७—(प्र०) पुराणशब्देन किङ्गृह्यते ?

३७—(प्र०) पुराण शब्द से क्या लेते हो।

३८ (उ०) ब्रह्मवैवर्त्तादीन्यष्टादशपुराणोपपुराणानि चेति ब्रूमः। नैवं शक्यम्, पुराणशब्दस्य विशेषणवाचत्वेन व्यावर्त्तकार्थत्वात्। यथा पुरातनप्राचीनादयश्शब्दा नवीनार्वाचीनादीञ्छब्दार्थान् व्यावर्त्तयन्ति तथा पुराणादयश्शब्दा नवीनाद्यर्थांश्चेति। तद्यथा, केनचिदुक्तम्पुराणं घृतं पुराणो गुडः पुराणी शाटी चेत्यर्थान्न नवीनं घृतञ्चेत्यादि व्यावर्त्तते, तस्मात् पुराणशब्देन वेदानान्तद्व्याख्यानब्राह्मणादीनाञ्च ग्रहणं भवति, नब्रह्मवैवर्त्तादीनाञ्चेति।

"ब्राह्मणानीतिहासः पुराणानीति", "दशमेऽहनि किञ्चित्पुराणमाचक्षीत", "पुराणविद्यावेदो दशमेऽहनि श्रोतव्यः"।

इत्याद्यश्वमेधस्य पूर्व्यनन्तरन्नवदिनपर्यन्त मृग्वेदादिकं श्रुत्वाऽऽख्याय च दशमेऽहनि ब्रह्मज्ञानप्रतिपादकमुपनिषत्पुराणं शास्त्रं यजमानादय आचक्षीरञ्छृणुयुश्चेति ब्राह्मणवेदानामेव ग्रहणन्नान्यस्येति, साक्षात्सर्वेभ्यो वेदानामेव पुरातनत्वाच्चेति। परन्तु मतमस्माकं खलु वेदा नान्यदिति सिद्धान्तः। ब्रह्मवैवर्त्तादीनि व्यासनामव्याजेन सम्प्रदायस्थैर्जीविकार्थिभिर्मनुष्याणां भ्रान्तिकरणार्थानि रचितानीति जानीमः। यथा शिवादिनां व्याजेन तन्त्राणि याज्ञवल्क्यादिनांव्याजेन च याज्ञवल्क्यादिस्मृतयश्च रचितास्तथैव ब्रह्मवैवर्त्तादीनीति विज्ञायताम्।

३८—(उ०) ब्रह्मवैवर्तादि अठारह पुराण और उपपुराण लेते हो, सो ठीक नहीं। क्योंकि पुराण शब्द विशेषणवाचक होने से व्यावर्तक अर्थवाची होता है। जैसे पुराने प्राचीन आदि शब्द नवीन और अर्वाचीन आदि से निवृत्त करते हैं। जैसे किसी ने कहा कि पुराना घृत, पुराना गुड़, पुरानी सांटी, इससे घृत आदि में नवीनपन की निवृत्ति हो गई। इस कारण पुराण शब्द से वेद और वेद के व्याख्यान ब्राह्मण ग्रंथों का ग्रहण होता है, किन्तु ब्रह्मवैवर्तादि का नहीं।

कल्पसूत्रकारों ने लिखा है कि—

"ब्राह्मण ग्रन्थ ही इतिहास पुराण नामक हैं।"

"अश्वमेध यज्ञ में दशमे दिन कुछ थोड़ी पुराण की कथा कहे सुने।"

"पुराणविद्यावेद का व्याख्यान दशमे दिन सुने,"

अर्थात् नव दिन तक यज्ञ में ऋग्वेदादि कहके दशमे दिन ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादक ब्राह्मणान्तर्गत उपनिषद्भाग यजमान आदि कहें और सुनें। इस प्रकार पुराण शब्द से ब्राह्मण और वेद का ही ग्रहण करना अन्य का नहीं, ऐसी साक्षी है। और वेद ही सबसे पुराने हैं। परन्तु हमारा मत वेद है अन्य नहीं, यही सिद्धान्त है। ब्रह्मवैवर्तादि पुराण व्यास जी के नाम के छल से मतवादी जीविकार्थी लोगों ने मनुष्यों को भ्रान्ति कराने वाले बनाये हैं। जैसे शिव आदि के नाम के छल से तन्त्र और याज्ञवल्क्यादि के नाम के छल से याज्ञवल्क्यादि स्मृति रची हैं। वैसे ही ब्रह्मवैवर्त्तादि पुराण जानो।

३९-(प्र०) देवालयशब्देन भवद्भिः किं गृह्यते ?

३९—(प्र०) देवालय शब्द से आप क्या लेते हो ?

४०-(उ०) मूर्तिस्थापनपूजनस्थानानि घण्टा-

दिनादकरणार्थानि मन्दिराणीति प्रतिजानीमः। नैवं शक्यम्, कुतोऽत्र वेदविधेरभावाद् भ्रान्तियुक्तत्वाच्चेति। यत्र होमः क्रियते तदेव देवालयशब्देनोच्यते। कथं, होमस्य देवपूजाशब्देन गृहीतत्वात्—

अध्यापनम्ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ १॥
स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन् होमैर्देवान्यथाविधि।
पितॄन् श्राद्धैर्नॄनन्नैश्च भूतानि बलिकर्मणा॥ २॥

होमेनैव देवपूजनं भवतीति मनुनोक्तत्वात्त्वाद्भवत्कृतोऽर्थोऽसंगत एवेति निश्चयः। अतो होमस्थानं यज्ञशालैव देवालयशब्देन ग्राह्येति निश्चयः।

४०—(उ०) मूर्ति को स्थापन करने, पूजने के स्थान, जिनमें कि घण्टानाद आर्त्ति आदि करते हैं, उनको देवालय कहते हो, तो ठीक नहीं। क्योंकि यह कर्तव्य वेद से विरुद्ध और भ्रान्ति युक्त होने से। इस से जिसमें होम किया जाता है वही स्थान देवालय शब्द वाच्य हो सकता है, क्योंकि देवपूजा शब्द से होम का ग्रहण है।

धर्मशास्त्र में लिखा है कि—

"पढ़ाना–ब्रह्मयज्ञ, तर्पण–पितृयज्ञ, होम–देवयज्ञ, वैश्वदेव–भूतयज्ञ और अतिथिपूजन से मनुष्ययज्ञ कहाता, तथा स्वाध्याय से ऋषिपूजन, यथाविधि होम से देवपूजन, श्राद्धों से पितृपूजन, अन्नों से मनुष्यपूजन और वैश्वदेव से प्राणिमात्र का सत्कार करना चाहिये।

इससे सिद्ध हो गया कि होम ही से देवपूजा होती है। यह मनु की साक्षी है। इससे आपका किया अर्थ असंगत है, यही निश्चय जानो। इसलिये होम का स्थान यज्ञशाला ही देवालय शब्द से लेनी चाहिये।

४१—(प्र०) देवशब्देन किं गृह्यते?

४१—(प्र०) देव शब्द से क्या लेते हो?

४२ (उ०) ब्रह्माविष्णुमहादेवादीनत्र पूजनार्थांस्तन्मूर्त्तींश्चेति गृह्णीमः। नैवं योग्यम्—

"यत्र देवतोच्यते तत्र तल्लिङ्गो मन्त्र"
इति निरुक्ते।
"मन्त्रमयी देवतेति"—
पूर्वमीमांसायाम्। तथा—
"मन्त्रमयी देवतेति" ब्राह्मणे।
"आत्मैव देवतास्सर्वास्सर्वमात्मन्यवस्थितमिति।"
मनुस्मृतौ।

'मातृदेवो भव। पितृ देवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।"

इति तैत्तिरीयोपनिषदि। इत्यादिसाक्ष्यविरोधात्कर्मकाण्डमन्त्राणां मात्रादीनां विदुषां च देवदेवताशब्दाभ्यां सङ्ग्रहादुपासनाज्ञानकाण्डयोरीश्वरस्यैव देवताशब्देन सर्वत्र स्वीकाराद्भवत्कृतोऽर्थो मिथ्यैवेति निश्चयः।

एवं सति पाषाणादिमूर्त्तीन् देवताशब्देन यो गृह्णाति स न मनुष्योऽस्ति किन्तु पशुरेव च।
"योऽन्यां देवतामुपास्ते स पशुरेव देवानाम्"।
"उत्तिष्ठत जाग्रत तज्जानथ अन्या वाचो विमुंचथ"।

इत्याद्युक्तत्वान्मूर्त्तयस्तु ब्रह्मादिदेवता न भवन्तीति निश्चीयताम्।

४२—(उ०) पूजने के लिये ब्रह्मा, विष्णु और महादेवादि देवताओं को और उनकी मूर्तियों को देव शब्द से लेते हो, सो ठीक नहीं क्योंकि—

"वेद में जहां जहां देवता कहा है, वहां वहां उस देवता नामवाचक शब्दयुक्त मन्त्र का ही नाम देवता है"।

यह निरुक्तकार का सिद्धान्त है, और पूर्वमीमांसा और ब्राह्मण भाग में—

"मन्त्र-स्वरूप ही देवता माना है।"

मनुस्मृति में—

"आत्मा के बीच सब जगत् अवस्थित है, इस लिये आत्मा ही सब देवता है।"

तैत्तिरीय आरण्यक में—

"माता, पिता, आचार्य, अतिथि को ही देवता माना है" ।

इत्यादि प्रमाणों से तुम्हारा कथन विरुद्ध होने से कर्मकाण्ड मन्त्रस्वरूप, माता आदि और विद्वानों का देव और देवता शब्द से ग्रहण तथा उपासना और ज्ञानकाण्ड में सर्वत्र देवता शब्द से ईश्वर का ही स्वीकार है। इससे आपका किया अर्थ मिथ्या ही निश्चित होता है।

जब ऐसा है, तो जो देवता शब्द से पाषाणादि मूर्त्तियों का ग्रहण करता है, वह मनुष्य नहीं किन्तु पशु ही है। और उपनिषद् में यही कहा है कि—

"जो एक ईश्वर को छोड़ के अन्य देवता की उपासना करता है, वह देवताओं में पशु ही है।" "इसलिये हे मनुष्यो ! उठो जागो उस आत्मा को जानो, अन्य की उपासनारूप वाणियों को छोड़ो।"

इत्यादि प्रमाण से मूर्त्तियां कदापि देवता नहीं हो सकतीं, यह निश्चय जानो।

४३—(प्र०) देवलदेवलकशब्दाभ्यां किं गृह्यते ?

४३—(प्र०) देवल और देवलक शब्दों से किसका ग्रहण करते हो ?

४४—(उ०) मूर्तिपूजारींस्तदधीनजीविकावतश्चेति ब्रूमः। नेदमुचितं वक्तुम्। कथं,—

"यद्वित्तं यज्ञशीलानान्देवस्वन्तद्विदुर्बुधाः।
अयज्वनान्तु यद्वित्तमासुरं तत्प्रचक्षते" ॥

इति मनुसाक्ष्यविरोधात् यज्ञशीलानां यज्ञार्थं यद्वित्तं तद्देवशब्देनोच्यते, तल्लाति गृह्णाति स्वभोजनाद्यर्थं सोऽयन्देवलो निन्द्यः। यो यज्ञार्थं यद्धनं तच्चोरयति स देवलकः। कुत्सितो देवलो देवलकः, 'कुत्सिते' इति सूत्रेण कप्रत्ययविधानाद्भवत्कृतोऽर्थोऽन्यथेति वेदितव्यम्।

४४—(उ०) यदि कहते हो कि मूर्त्ति पूजने और मूर्त्तिपूजा से जीविका करने वाले को देवल और देवलक कहते हैं, तो ठीक नहीं, क्योंकि धर्मशास्त्र में लिखा है कि—

"जो यज्ञ करने वालों का धन है वह देवस्व, और यज्ञ न करने वालों का धन आसुर कहाता है।"

देव नाम यज्ञ के धन को अपने भोजनादि के लिये लेने वाला देवल निन्दित कहाता है। यहाँ व्याकरण रीति से मध्यम पद स्वशब्द का लोप हो जाता है। और जो यज्ञ के धन की चोरी करता है, वह देवलक अतिनिन्दित कहाता है। क्योंकि व्याकरण के 'कुत्सिते' सूत्र से निन्दित अर्थ में 'क' प्रत्यय होता है। इससे आप का किया अर्थ मिथ्या है, यह जानना चाहिये।

४५—(प्र०) ईश्वरस्य जन्ममरणे भवत आहोस्विन्न ?

४५—(प्र०) ईश्वर के जन्म मरण होते हैं, वा नहीं ?

४६—(उ०) अप्राकृते दिव्ये जन्ममरणे भवतो, नान्यथेति स्वीक्रियते। भक्तानामुद्धारार्थं दुष्टानां विनाशार्थन्तथा धर्म्मस्थापनार्थमधर्म्मनिर्मूलार्थञ्च। नैवन्न्याय्यङ्कस्मात्सर्वशक्तिमत्त्वात्सर्वान्तर्यामित्वादखण्डत्वात्सर्वव्यापकत्वादनन्तत्वान्निष्कम्पत्वाच्चेश्वरस्येति। सर्वशक्तिमान् हीश्वरोऽस्ति, स सर्वं न्याय्यङ्कार्यङ्कर्त्तुं समर्थोऽस्त्यसहायेन। यश्च शरीरधारणादिसहायेन कार्य्यङ्कर्त्तुं समर्थो भवेन्न चान्यथेति नेत्थं चेत्तर्हि सर्वशक्तिमत्त्वमेव तस्य नश्येत्।

यथा खल्वसहायेन सर्वमिदञ्जगद्रचयित्वा धारयति तथैव हिरण्याक्षरावणकंसादीनां क्षणमात्रेण हननङ्कर्त्तुं समर्थोऽसहायेनोपदेशम्भक्तोद्धारन्धर्मस्थापनमधर्मदुष्टविनाशञ्च। यथा सर्वशक्तिमत्त्वमीश्वरे स्वीक्रियते तथा न्यायकारित्वादयोऽपि स्वभावा ईश्वरे स्वीकार्याः। अन्यथा स्वनाशाद्यधर्ममपि कर्त्तुं समर्थो भवेदत

ईश्वरोऽनन्तोऽजोऽविकारी च।

प्रकृत्याकाशादिकं सर्वञ्जगदीश्वरस्याऽपेक्षया स्वल्पन्तुच्छमान्तञ्चास्ति, पुनस्तस्य का शरीरसामग्री, यतो निवासार्थमधिकरणम्भवेत्तस्माद् बृहत्किमपि न विद्यतमपि न विद्यत इति सर्ववेदसिद्धान्तः—

"स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्"।

"तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः"।

"सत्यं ज्ञानमनन्तम्ब्रह्म"।

"दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषस्स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः"।

"अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययन्तथाऽरसन्नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तम्महतः परन्ध्रुवन्निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते"॥

"अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्"।

"वेदाहमतम्पुरुषम्महान्तमादित्यवर्णन्तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"।

इति यजुर्वेदादिश्रुतिभ्यः। ईश्वरस्याऽवतारोऽर्थाज्जन्ममरणे नैव भवत, इति सर्वेषां वेदानां सिद्धान्तो वेदितव्यः।

४६—(उ०) यदि यह कहते हो कि अप्राकृत मनुष्यादि के जन्म मरण से विलक्षण दिव्य जन्म मरण होते हैं अन्यथा नहीं, यह स्वीकार है। क्योंकि भक्तों के उद्धार, दुष्टों के विनाश, धर्म की स्थापना और अधर्म को निर्मूल करने के लिये अस्वाभाविक जन्म ईश्वर धारण करता है, तो ठीक नहीं। क्योंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, अखण्ड, सर्वव्यापक, अनन्त और निश्चल, निष्कम्प है। जैसे ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, तो वह सब न्याययुक्त कार्य विना सहाय के करने को समर्थ है। फिर जो शरीरधारणादि सहाय से कार्य कर सके, अन्यथा न कर सके, तो ऐसा मानने में वह सर्वशक्तिमान् ही नहीं ठहर सकता। जैसे विना सहायता के इस सर्व जगत् को रच के धारण करता है, वैसे ही हिरण्याक्ष, रावण और कंसादि को मारने को विना शरीरादि सहाय के समर्थ है। तथा स्वतन्त्र असहाय ही उपदेश, भक्तों का उद्धार, धर्म का स्थापन, अधर्म तथा दुष्टों का विनाश कर सकता है। जैसे ईश्वर में सब शक्तियों का होना मानते हो, वैसे न्यायकारीपन आदि स्वभाव भी ईश्वर में स्वीकार करने योग्य हैं। यदि ऐसा न मानोगे, तो सर्वशक्तिमान् होने से ही अपना नाश, अन्याय, अधर्म करने को भी समर्थ हो जावे, तो ईश्वरता ही न रहे। इससे ईश्वर अनन्त, अजन्मा और अविकारी है।

प्रकृति और आकाशादि सब जगत् ईश्वर की अपेक्षा छोटा, तुच्छ और अन्त वाला है। फिर उसके शरीर बनने को कौन सामग्री है, जिसमें वह समाय जावे। उससे बड़ा कोई भी नहीं, यह सब वेद शास्त्र से सिद्ध है, तो कैसे एक शरीर में समाय सकता है।

वेद और उपनिषद् के प्रमाण:—

"वह सब में व्याप्त, प्रकाशमय, सब प्रकार के शरीर से रहित, अच्छेद्य, अभेद्य, नाड़ी आदि के बन्धन से रहित, शुद्ध, निर्मल, निष्पाप है।"

"वह सब के भीतर और बाहर परिपूर्ण है।"

"वह सत्यस्वरूप ज्ञानस्वरूप और सब से बड़ा अनन्त है।"

"वह पुरुष पूर्ण परमात्मा दिव्यरूप, सब प्रकार की मूर्त्ति से रहित, सब के बाहर भीतर वर्त्तमान और अजन्मा है।"

"वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और नाशरहित, नित्य, अनादि, अनन्त, महतत्त्व से परे निश्चल है। उसी को ठीक ठीक जान के मृत्युरूप ग्राह के मुख से छूटता है"।

"वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और बड़े से बड़ा है। इस जीव के अन्तःकरण में व्याप्त उपलब्ध होने वाला है।"

"मनुष्य को ऐसा विचार रखना उचित है कि मैं उस परमात्मा को जानूं कि जो सबसे बड़ा, पूर्ण सूर्य के तुल्य प्रकाश वाला, अन्धकार से परे है। क्योंकि उसीको जानकर मनुष्य मृत्यु से बच सकता है, अन्य कोई मार्ग मुक्ति के लिये नहीं है।"

इत्यादि मन्त्रों के प्रमाण से ईश्वर का अवतार

अर्थात् जन्म-मरण नहीं होते, यही सब वेदों का सिद्धान्त जानना चाहिये।

४७—(प्र०) ईश्वरस्साकार उत निराकारः ?

४७ - (प्र०) ईश्वर साकार है, वा निराकार ?

४८—(उ०) निराकारश्चेति वदामः। निराकारश्चेत्तर्हि तस्मात्साकारं तत्कथञ्जायेत, तथा हस्तादिभिर्विना कथञ्जगद्रचयेदिति। मैवं वाच्यङ्कुतः, सर्वासां शक्तीनां सामर्थ्यानामीश्वरे नित्यं विद्यमानत्वान्निराकारादेव साकारस्योत्पन्नत्वाच्चेति। तद्यथा—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, औषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः, स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" ॥

आत्माऽऽकाशौ निराकारौ, तस्माद्वायुर्द्विगुणः स्थूलोऽजायत, ततस्त्रिगुणः स्थूलोऽग्निर्जलं पृथिवी चेत्यादि निराकारात्सूक्ष्मात्स्थूलमिदञ्च जगज्जायते, तथा च स्थूलमयस्कांतपाषाणादिकम्पिष्ट्वा चूर्णीभूतङ्कृत्वा प्रत्यक्षतया दर्शयितुं द्रष्टुं सर्वे मनुष्याः समर्था, इत्यतो निराकारादेव साकारजगज्जायत इति निश्चयः।

"अपाणिपादो जवनो गृभीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः
स वेत्ति विश्वन्नच तस्यास्ति वेत्ता।
तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्" ॥

इत्यादि श्रुतिभ्यः हस्तपादाद्यङ्गैर्विनाप्यनन्तानां सर्वेषां सामर्थ्यानामीश्वरे वर्त्तमानत्वात् साकार ईश्वरस्साकारात्साकारोत्पत्तिर्हस्तपादादिभिर्विना जगदुत्पादयितुमसमर्थ ईश्वर इत्यादिवाग्जालं मनुष्याणाम्प्रमादेनैवेत्यवगन्तव्यम्।

४८—(उ०) यदि कहो कि निराकार है, तो ठीक है। और जो निराकार होने में तुमको शंका है कि जो निराकार हो, तो उससे सरकार जगत् उत्पन्न कैसे हो सके ?, और हाथ आदि साधन के विना कैसे जगत् को रच सके, सो यह ठीक नहीं। क्योंकि सब प्रकार के सामर्थ्य निराकार ईश्वर में नित्य ही विद्यमान हैं। इससे निराकार से ही साकार उत्पत्ति हो सकती है। जैसे प्रमाण—

"उस ही इस आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से शरीर उत्पन्न होता है, सो ही यह शरीर अन्नरसमय कहाता है।"

इस उत्पत्ति की प्रक्रिया में आत्मा और आकाश निराकार है। आकाश से द्विगुणा स्थूल वायु, और तिगुणा स्थूल अग्नि, जल और पृथिवी है, इत्यादि प्रकार निराकार सूक्ष्म से यह स्थूल जगत् उत्पन्न होता है। और स्थूल चुम्बक पत्थर आदि का चूर्णरूप पीस के प्रत्यक्षता से सब मनुष्य देख दिखा सकते हैं, इस कारण निराकार से ही जगत् उत्पन्न होता है। और—

"विना हाथ पग के शीघ्र ग्रहण करता, विना चक्षु के देखता, विना कान के सुनता, वह सब को जानता, उसका जानने वाला कोई नहीं, उसको सनतान पूर्णब्रह्म कहते हैं,"

इत्यादि श्रुति-प्रमाणों से हस्तपादादि अङ्गों के विना भी सब अनन्त सामर्थ्य ईश्वर में हैं। ऐसा होने पर जो मनुष्य कहते हैं कि ईश्वर साकार है, साकार से साकार की उत्पत्ति होती है, हस्तपादादि के विना ईश्वर जगत् को उत्पन्न नहीं कर सकता, इत्यादि वाग्जाल मनुष्यों का प्रमाद से ही निश्चय होता है।

४९—(प्र०) ईश्वरो मायावी न वेति ?, मायाशब्दस्य कोऽर्थः क्रियते ?

४९—(प्र०) ईश्वर मायावी है, वा नहीं ?, और मायाशब्द का क्या अर्थ करते हो ?

५०—(उ०) मायेश्वरशक्तिरित्युच्यते। नैवं योग्यम्भवितुम्, कथं छलकपटयोरर्थयो

र्मायाशब्दस्यापातात्। कश्चिद्ब्रूयादयम्मायावीत्यनेन किंगम्यतेऽयं छली कपटी चेति ईश्वरस्य मायाऽविद्यादिदोषरहितत्वान्निर्मलो निरंजनो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव एवेतीश्वरो नैव कदाचिन्मायावीति निश्चतव्यम्।

"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः"

इति पतंजलिसाक्ष्यस्य विद्यमानत्वात्।

५०—(उ०) यदि कहते हो कि माया ईश्वर की शक्ति है, तो यह ठीक नहीं हो सकता है। क्योंकि छल, कपट अर्थ में माया शब्द प्रसिद्ध प्राप्त है। कोई कहे कि यह मायावी है, इससे क्या ज्ञात होता है कि यह छली कपटी है। ईश्वर माया और अविद्यादि दोषों से रहित है, इसी से निर्मल, निरञ्जन, नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वभावही है। ऐसा कभी न निश्चय करना चाहिये कि इश्वर मायावी है, क्योंकि श्रीपतञ्जलि मुनि की साक्षी भी विद्यमान है—

"अविद्या आदि क्लेशों और शुभाऽशुभ कर्मों के फलों से पृथक् मनुष्यादि की तुल्यता से रहित पुरुष परमेश्वर कहाता है"।

५१—(प्र०) ईश्वरस्सगुणोऽस्ति, निर्गुणो वा ?

५१—(प्र०) ईश्वर सगुण है, वा निर्गुण ?

५२—(उ०) उभयमिति प्रतिजानीमः। तद्यथा घटः स्पर्शादिभिस्स्वकीयैर्गुणैस्सगुणस्तथा चेतनस्य ज्ञानादिभिर्गुणैः पृथक्त्वान्निर्गुणोऽपि स एव। एवमीश्वरोपि सर्वज्ञानादिभिः स्वकीयगुणैस्सगुण एवञ्जडत्वजन्ममरणाज्ञानादिभिर्गुणैः पृथक्त्वात्स एव निर्गुणश्चेति निश्चयः—

"एकोदेवस्सर्वभूतेषु गूढ-
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
सर्वाध्यक्षस्सर्वभूताधिवासस्-
साक्षीचेता केवलो निर्गुणश्च"॥

इति साक्ष्याद् ब्रह्मादयो देवा रामकृष्णनृसिंहादयस्सर्वे जीवा एवेति निश्चयः। किञ्च सर्वेषां ब्रह्मादीनां यः स्रष्टा धारयितान्तर्यामी सर्वशक्तिमान्न्यायकारी स्वामी चास्ति तैः सेव्यस्तेभ्यो भिन्न एक एवेश्वर इति वेदितव्यम्।

५२—(उ०) ईश्वर सगुण निर्गुण दोनों प्रकार से है, यह निश्चित है। जैसे घट स्पर्श आदि अपने गुणों से सगुण तथा चेतन के ज्ञानादि गुणों से पृथक् होने से निर्गुण भी वही है। ऐसे ही ईश्वर भी सर्वज्ञ आदि अपने गुणों से सगुण, और जन्ममरण, जड़पन, अज्ञान आदि गुणों से पृथक् होने से निर्गुण भी वही है। उपनिषद् में कहा है कि—

"एक ही देव ईश्वर सब भूतों में अदृष्टता से व्याप्त है। सब का अन्तर्यामी, सब का अध्यक्ष; सब प्राणि अप्राणि जगत् का निवासस्थान, सब का साक्षी, चेतन, केवल एक और निर्गुण है"।

इस प्रमाण से ब्रह्मादि देवता और श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्णचन्द्र तथा नृसिंह आदि सब जीव ही निश्चित होते हैं, क्योंकि एक वही ईश्वर देव है, ऐसा कहा है। किन्तु सब ब्रह्मादि का जो स्रष्टा और धारणकर्त्ता, अन्तर्यामी, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी और स्वामी ब्रह्मादि को सेवने योग्य, उनसे भिन्न एक ही ईश्वर है, ऐसा जानना चाहिये।

५३—(प्र०) भवद्भिर्मुक्तिर्मन्यते न वा ?

५३—(प्र०) आप लोग मुक्ति मानते हैं, वा नहीं ?

५४—(उ०) सालोक्यसामीप्यसानुज्यसायुज्यलक्षणा चतुर्धा मुक्तिर्मन्यतेऽस्माभिः। चतुर्विधाया मुक्तेः कीदृशोऽर्थो विज्ञायते ?, ईश्वरजीवयोस्समाने लोके निवासस्सा सालोक्यमुक्तिरित्यादयोऽर्था गृह्यन्ते। नैवं शक्यं विज्ञातुङ्कुतः, सर्वेषाञ्जीवानामीश्वररचिताऽधिष्ठिते लोके निवासात्स्वतो गर्दभादीनापि सा मुक्तिः सिद्धेति। सामीप्यमुक्तिरपि सिद्धा, सर्वेषु पदार्थेष्वन्तर्यामित्वेन ईश्वरस्य सामीप्ये वर्त्तमानत्वात्। सानुज्यमुक्तिरपि सर्वेषाञ्जीवानां स्वत-

स्सिद्धा । कस्मादनन्तचेतनेश्वरस्याऽपेक्षया जीवानां सान्तत्वचेतनापत्तेरल्पज्ञत्वादिगुणानां सत्त्वात्। सायुज्यमुक्तिरपि सर्वेषाञ्जीवानां साधारणाऽस्ति। कुतः, ईश्वरस्य सर्वत्र व्यापकत्वात्सर्वेषाञ्जीवानां तत्र व्याप्यत्वसम्बन्धाच्चेति। सा चतुर्धा मुक्तिर्व्यर्थेति मन्तव्यम्।

का तर्हि मुक्तिरिति ?, वैकुण्ठगोलोककैलासादिषु निवास इत्युच्यते। मैवं वाच्यन्तत्र पराधीनत्वादतएव दुःखापत्तेश्चेति। वेदयुक्तिसिद्धान्तः खलु मुक्तिरेकैवास्ति नान्येति। तद्यथा, यथावद्विद्याविज्ञानधर्मानुष्ठानानन्तरं यन्निर्भ्रमब्रह्मतत्त्वविज्ञानन्तेन सर्वज्ञस्येश्वरस्य सर्वानन्दस्य प्राप्त्या जन्ममरणादिसर्वदुःखनिवृत्तिरीश्वरानन्देन सह सदैवावस्थितिर्मुक्तिरित्यतो भवन्मता मुक्तिर्मिथ्येति निश्चयः।

"सर्वम्परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्"। इति मनुसाक्ष्यात्।

५४--(उ०) सालोक्य, सामीप्य, सानुज्य और सायुज्य यह चार प्रकार की मुक्ति हम मानते हैं। चार प्रकार की मुक्ति का क्या अर्थ करते हो ?, एक लोक में जीव ईश्वर का निवास होना-सालोक्य मुक्ति, इत्यादि अर्थ लेते हैं। यह मानना तुम्हारा ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वर के रचे और नियत किये लोक में सब जीवों का निवास होने से स्वयमेव गदहे आदि की भी वह मुक्ति सिद्ध है। और सब पदार्थों में अन्तर्यामी व्यापक होने से ईश्वर सब के समीप में वर्तमान है। इससे सामीप्य मुक्ति भी स्वतःसिद्ध है। और सानुज्य मुक्ति भी सब जीवों को स्वतःसिद्ध ही है। क्योंकि अनन्त चेतन ईश्वर की अपेक्षा जीवों में अन्त वाली चेतनता होने से जीव अल्पज्ञादि गुण वाले हैं। और सायुज्य मुक्ति भी सब जीवों की साधारण सिद्ध है। क्योंकि ईश्वर के सर्वत्र व्यापक होने से और सब जीवों को उस में व्याप्य होने से व्याप्य व्यापक सम्बन्ध स्वतःसिद्ध ही है। इसलिये यह चार प्रकार की मुक्ति मानना व्यर्थ ही है।

जब यह मुक्ति मानना व्यर्थ हुआ तो अब कैसी मुक्ति मानोगे ? यदि कहो कि वैकुण्ठ, गोलोक और कैलासादि के निवास को मुक्ति मानते हैं, यह भी तुम्हारा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ पराधीन होने से ही दुःख प्राप्त होगा, तो दुःख को मुक्ति नहीं कहा जाता। वेद और युक्ति से सिद्धान्त है कि मुक्ति एक ही है अन्य नहीं। जैसे यथावत् जो विद्या, विज्ञान और धर्म का यथावत् अनुष्ठान करने के पश्चात् निर्भ्रान्त ब्रह्म को जानना, उससे सर्वज्ञ ईश्वर के सब आनन्द की प्राप्ति से जन्ममरणादि सब दुःखों की निवृत्ति और ईश्वर के आनन्द के साथ सदैव अवस्थिति 'मुक्ति' कहाती है। इससे आप की मानी मुक्ति मिथ्या ही है, यह निश्चय जानो। क्योंकि—

"परवश होना सब दुःख और स्वाधीन होना सुख है।"

तुम्हारी मुक्ति में सदा पराधीन रहना है।

५५—(प्र०) विष्णुस्वामिवल्लभसम्प्रदायादयो वेदसम्मता, अहोस्वित्तद्विरोधिनः ?

५५—(प्र०) विष्णुस्वामी और वल्लभसम्प्रदायी आदि वेदानुकूल हैं, वा विरोधी ?

५६—(उ०) न पूर्वः चतुर्षु वेदेषु तेषामनभिधानात्। वेदविरोधात्पाखण्डिनःएव ते त्विति वेद्यम्—

"पाखण्डिनो विकर्मस्थान्वैडालव्रतिकाञ्छठान्।
हैतुकान्वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेद्" ॥

इति मनूक्तत्वात्। एते सम्प्रदायशब्दार्थार्हा नैव सन्ति किन्तु सम्प्रदाहशब्दार्था एवेति। 'सम्यक् प्रकृष्टतया हि दग्धधर्मज्ञाना जना भवन्ति येषु ते सम्प्रदाहा' इति विवेकः। कदाचित्केनचित्तेषां विश्वास एव न कर्त्तव्यः।

५६—(उ०) इसमें वेदानुकूल होना प्रथम पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि चारों वेदों में उनका कहीं नाम ही नहीं है। वेदविरोधी होने से वे पाखण्डी ही हैं, यह जानना चाहिये। धर्मशास्त्र में कहा है कि—

"पाखण्डी, वेदविरुद्ध कर्म करनेहारे, विडाल के स्वभाव से युक्त, शठ, स्वार्थी, बगुला के तुल्य पर-पदार्थ पर ध्यान रखने वालों का वाणी से भी सत्कार न करे।"

ये विष्णुस्वामी आदि सम्प्रदाय शब्द से कहे जाने योग्य नहीं हैं, किन्तु सम्प्रदाह अर्थात् सम्यक् नाशक ही हैं। 'अच्छे प्रकार सम्यक् रीति से धर्म और ज्ञान जिनका नष्ट हो गया, ऐसे जन जिनमें हों वे सम्प्रदाह कहाते हैं'। कभी किसी को उनका विश्वास ही न करना चाहिये।

५७—(प्र०) 'श्रीकृष्णः शरणं मम'। अयमक्षरसमुदायः सत्योऽस्ति, मिथ्या वेति ?

५७—(प्र०) 'श्रीकृष्ण शरणं मम' यह अक्षरों का समुदायरूप मन्त्र सत्य है वा मिथ्या ?

५८—(उ०) वेदानुक्तत्वात्कपोलकल्पितत्वान्मिथ्यैवेति। वेदोक्तगायत्रीमन्त्रोपदेशत्यागेन मिथ्याकल्पिताऽक्षरसमुदायोपदेशेन नास्तिकत्वं नरकप्राप्तिश्च भविष्यति भवताम्।

५८—(उ०) वेदोक्त न होने और कपोलकल्पित होने से मिथ्या ही है। वेदोक्त गायत्री मन्त्र के उपदेश को छोड़कर मिथ्या कल्पना किये अक्षरों के समुदायरूप मन्त्र के उपदेश से आपको नास्तिकता और नरक प्राप्ति होगी।

५९—(प्र०) कीदृगर्थोऽस्य क्रियते ?

५९—(प्र०) उक्त मन्त्र का अर्थ कैसा करते हो ?

६०—(उ०) यः श्रिया सहितः कृष्णः स मम शरणमस्त्विति। नैवं शक्यं, कुतः श्रीकृष्णो मम शरणम्प्राप्नोतु हिंसत्वित्याद्यर्थस्य सम्भवादशुद्धानर्थकोऽयमक्षरसमुदायोऽस्मात् कारणादस्योपदेशकरणं ग्रहणं विश्वासश्च केनचिन्नैव कर्तव्य इत्यर्थः। एवमेव 'नमो नारायणाय', 'नमश्शिवाय', 'नमो भगवते वासुदेवाय', 'ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे' इत्यादयोऽप्यक्षरसमुदायोपदेशा मिथ्यैव सज्जनैर्मन्तव्याः।

अथ वल्लभसम्प्रदायस्योपदेशोऽयं ब्रह्मसम्बन्धोऽर्थाद्भ्रष्टसम्बन्धोऽक्षरसमुदायः सज्जनैर्वेदितव्यः—

"श्रीकृष्णः शरणम्मम सहस्रपरिवत्सरमितकालजातकृष्णवियोगजनिततापक्लेशाऽनन्ततिरोभावोऽहं भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणतद्धर्मांश्चदारागारपुत्राप्तवित्तेहापराण्यात्मना सह समर्पयामि दासोऽहं कृष्ण तवास्मि।"

सहस्रपरिवत्सरेत्यादि सहस्रपरिगणनं व्यर्थम् कुतः, वल्लभस्य युष्माकं च सर्वज्ञताया अभावात् प्रत्यक्षता च न विद्यते। सहस्रं वत्सरा व्यतीता इत्यपि कृष्णवियोगे परिगणनमयुक्तं सन्दिग्धत्वात्।

६०—(उ०) श्री-लक्ष्मी के सहित जो कृष्ण हैं, सो मेरे शरण हों, यह अर्थ कहना ठीक नहीं हो सकता। क्योंकि श्री कृष्ण मेरे शरण को प्राप्त हों, वा मेरे शरण को नष्ट करें, इत्यादि अर्थ भी सम्भव है। अर्थात् तुम्हारे मन्त्र में "प्राप्नोतु" पद नहीं है, किन्तु ऊपर से कल्पनामात्र करते हो। वैसे कोई "हिनस्तु" आदि क्रिया की भी कल्पना कर सकता है। उसको तुम कैसे रोक सकोगे ?, इस कारण तुम्हारा यह अक्षरसमुदायरूप मन्त्र निरर्थक, अशुद्ध है। इसी से इस मन्त्र का उपदेश करना वा दूसरे से उपदेश लेना और इस पर किसी को कदापि विश्वास न करना चाहिये। इसी प्रकार 'नमो नारायणाय।' नमः

शिवाय ।' 'नमो भगवते वासुदेवाय ।' 'ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे' इत्यादि अक्षरसमुदायरूप बनावटी मन्त्रों के उपदेश भी सज्जनों को मिथ्या ही जानने चाहियें ।

और वल्लभसम्प्रदायियों के ब्रह्मसम्बन्ध नामक मन्त्र का उपदेश वस्तुतः भ्रष्टसम्बन्धरूप ही सज्जनों को समझना चाहिये । जैसे ब्रह्मसम्बन्ध का मन्त्र—

"श्रीकृष्णः शरणं०" इत्यादि है । इसका अर्थ यह है कि—

"श्रीकृष्ण मेरे शरण हों । सहस्रों वर्षकाल से हुआ जो कृष्ण का वियोग, उससे हुआ जो दुःख और क्लेश, उनसे घेरा हुआ, मैं श्रीकृष्ण भगवान् के लिये अपने देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और स्त्री, पुत्र, घर, प्राप्त-धन क्रियासहित देहादि के धर्मों को अपने आत्मा के सहित समर्पण करता हूँ । और हे कृष्ण ! मैं तुम्हारा दास हूँ ।"

सहस्र वर्ष की गणना करना व्यर्थ है । क्योंकि तुम्हारा वल्लभ और तुम सर्वज्ञ नहीं, कि सहस्र वर्ष से ही वियोग हुआ, ऐसा निश्चय कर सको । और न प्रत्यक्ष ही सहस्र वर्षों को जान सकते हो, कि इतने ही वर्ष व्यतीत हुए । इसलिये कृष्ण वियोग में निश्चय न हो सकने से वर्षगणना अयुक्त है ।

६१—(प्र०) कृष्णशब्देन किंगृह्यते ?

६१—(प्र०) कृष्ण शब्द से क्या लेते हो ?

६२—(उ०) परब्रह्म गोलोकवासी वेति वदामः । नैतत्सत्यमस्ति, कस्माज्जन्ममरणवतो जीवस्य कृष्णस्य परब्रह्मत्वाभावात् । गवां पशूनां यो लोकस्स तु दुःखरूपो दुर्गन्धरूपत्वात्तत्र ये वसन्ति तेऽप्यसभ्या विद्याहीना आभीरवन्मूर्खा विज्ञेयाः । किंच अस्मात्प्रत्यक्षभूतादाभीरपल्लेर्गोलोकात्पृथक्कश्चिद् गोलोक एव नास्तीत्यवगन्तव्यम् । तदुपासकास्तत्र ये गमिष्यन्ति तेऽपि तादृशा भवन्तीति विज्ञेयम् ।

कृष्णवियोगजनिततापक्लेशाऽनन्ततिरोभावोऽह' मित्यादि, इदमशुद्धम् । कुतस्तापक्लेशयोः पुनरुक्तत्वादेकार्थत्वाच्च । पुनरनन्तस्य क्लेशस्य तिरोभावविरहाद्देशकालवस्तुपरिच्छेद एवासम्भावनीयः । कृष्णस्तु कृष्णगुणविशिष्टदेहवत्त्वाज्जन्ममरणादियुक्तत्वाद्भगवानेव भवितुमयोग्यः । तस्मै देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणतद्धर्माणां समर्पणमेवाशक्यं, सदैव तन्निष्ठत्वात्स्वाभाविकत्वाच्च ।

समर्पणम्भवति चेन्मलमूत्रादिपीडारागद्वेषाऽधर्माणामपि तस्मा एव समर्पणं स्यात्तत्फलभोगो नरकादिप्राप्तिः कृष्णायैव भवेदिति न्यायस्य विद्यमानत्वात् । दारागारपुत्राप्तवित्तेहानामपि समर्पणम्पापफलकमेव । कुतः, परदाराणां परपुरुषार्पणस्य पापात्मकत्वात् । तद्धर्मांश्चेतिपुल्लिङ्गेन निर्देशाद्वित्तेहपराणीतिनपुंसकलिङ्गेन निर्देशाच्चाशुद्धमेव वाक्यङ्कुतो लिङ्गवैषम्यनिर्देशात्परशब्दस्य त्रिषु लिङ्गेषु वर्त्तमानत्वाच्च ।

'आत्मना सह समर्पयामि दासोऽहं कृष्ण तवास्मी' त्यत्यन्तोऽनर्थोऽक्षरसमुदायः एकैवात्मा जीवो न द्वौ, पुनरात्मना सहात्माहं देहेन्द्रियादीनि समर्पयामीत्यशुद्धमेव । दासोऽर्थाच्छूद्र एवेति ।

'शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ।'

इति मनुसाक्ष्यदर्शनात् । अस्याभिप्रायो वल्लभेन सिद्धान्तरहस्यादिग्रन्थेष्वनेकबालबुद्धिमनुष्यभ्रमणार्थः पापवृद्ध्यर्थश्च निरूपितः । तद्यथा——

"श्रावणस्याऽमले पक्ष एकादश्यां महानिशि ।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तन्तदक्षरश उच्यते ॥ १ ॥

अज्ञातसम्बन्धकरणात् सर्वेषान्देहजीवयोः ।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः ॥ २ ॥
सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः ।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कदाचन ॥ ३ ॥
अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन ।
असमर्पितवस्तूनान्तस्माद् वर्जनमाचरेत् ॥ ४ ॥
निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः ।
न मतं देवदेवस्य स्वामिभुक्तसमर्पणम् ॥ ५ ॥
तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम् ।
दत्तापहारवचनन्तथा च सकलं हरेः ॥ ६ ॥
न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम् ।
सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ॥ ७ ॥
तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः ।
गङ्गात्वे सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णनम् ॥ ८ ॥
गङ्गात्वेन निरूप्यं स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि ।"

प्रथमतस्तत्रसकृदुक्तं कृष्णः भगवानेव नेति कृष्णस्य मरणोजात ईषन्न्यूनानि पञ्चसहस्राणि वर्षाण्यतीतानि । स इदानीं वल्लभस्य समीपे कथमिदमुक्तवान्, किन्तु कदाचिन्नैवोक्तवानिति। किञ्च वल्लभेनायं पाखण्डजालोऽधर्मकरणार्थो रचित इति जानीमः । 'साक्षाद्भगवता प्रोक्त' मिति केवलं छलमेव तस्य वल्लभस्य विज्ञय-मिति । तस्मात्तदक्षरसमुदायोपदेशस्य पापजन-कत्वादसम्बन्धप्रलापत्वाच्च ।

न सर्वदोषनिवृत्तिरिति, दोषा निवृत्ता भूत्वा क्व गमिष्यन्तीति वाच्यम् ?, नष्टा भविष्य-न्तीति ब्रूयुश्चेत्कदाचिन्नैव नश्येयुरन्यकृताः पापदोषा अन्यमनुष्यन्नैव गच्छन्ति किन्तु कर्त्तैव कृतं शुभाशुभफलम्भुङ्क्ते, नान्यः कश्चिदिति । हरिं कृष्णं समर्पणेनान्यकृताः पापदोषा गच्छेयुश्चेत्तर्हि तत्फलभोगार्थं नरकं दुःखं हरिरेव प्राप्नुयादिति निश्चयः । कुतः, 'स्वयं कृतानाम्पापपुण्यकर्मफलानां स्वभोगेनैव क्षयादिति' न्यायाद्वल्लभकृता कल्पना व्यर्थैवेति निश्चयः ।

सहजा इत्यादि, सहजानां दोषाणां निवृत्त्या स्वयमेव निवर्त्तेत, कुतस्तेषां सहजत्वादग्निदाह-वत् । सर्वसमर्पणे कृतेऽपि देहस्थानां कुष्ठादि-दोषाणां क्षुत्पिपासाशीतोष्णसुखदुःखाऽज्ञानाना-म्भक्ताम्भवच्छिष्याणाञ्च निवृत्तेरदर्शनात् । तथा देशकालोत्था अपि वातपित्तकफज्वरादयो दोषा भक्तादीनां कथन्न निवर्त्तन्ते ?, लोक-वेदयोर्मिथ्याभाषणचौर्य करणमातृदुहितृभगिनी-स्नुषापरस्त्री गमनविश्वासघातादयो दोषास्तथा मातृदुहितृभगिनीस्नुषागुरुपत्न्यादिसंयोगजास्ता-सां स्पर्शजाश्च दोषा वल्लभाद्यै रिदानीन्तनैर्भवद्भि-र्वल्लभसम्प्रदायस्थैर्भगवदुपदेशेन वल्लभोपदेशेन वा कदाचन नैव मन्तव्याः किम् ?

इति भगवद्वल्लभोपदेशेनानेन किङ्गम्यते, भगवद्वल्लभौ वेदविरुद्धोपदेशान्नास्तिकावधर्मका-रिणौ विद्याहीनौ विषयिणावधर्मप्रवर्त्तकौ धर्मनाशकौ च विज्ञायेते—

"योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः" ॥

इति मनुसाक्ष्यस्य विद्यमानत्वात् । 'अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चने' त्यादि रच-नम्भङ्गापानङ्कृत्वैव कृतमिति विज्ञेयम् । कुतः, ईदृगुपदेशेन सत्यधर्मगुणानां नाश एव भवत्यत ईदृशस्य भ्रष्टीकरणार्थस्य पापात्मकस्योपदेश-स्योपरि केनचिदपि कदाचिद्विश्वासो नैव कर्त्तव्य इति निश्चयः ।

अधर्मोपदेशोऽयमन्योऽपि वल्लभसंप्रदाय-स्थानां श्रोतव्यः— 'तस्मादादौ स्वोपभोगा-त्पूर्वमेव सर्ववस्तुपदेन भार्य्यापुत्रादीनामपि

समर्पणं कर्त्तव्यं, विवाहानान्तरं स्वोपभोगे सर्वकार्ये सर्वकार्यनिमित्तं तत्कार्योपयोगि वस्तु समर्पणं कार्य्यं, समर्पणं कृत्वा पश्चात्तानि तानि कार्याणि कर्त्तव्यानीत्यर्थः।

अथाऽस्य खण्डनम्—विवाहानन्तरं स्वोपभोगात्पूर्वमेव भार्यापुत्रादीनामपि पवित्रीकरणार्थमाचार्याय गोस्वामिने समर्पणं कृत्वैव पश्चात् तानि कार्याणि कर्त्तव्यानीति भवद्भिरुपदिश्यते चेत्तर्हि स्वस्त्रीदुहितृभगिनीपुत्रादीनामपि पवित्रीकरणार्थं समर्पणं किमर्थं न क्रियते ?, अस्माकमिच्छाऽन्येभ्यः स्वभार्यादीनां समर्पणार्था नास्त्यतो न क्रियते, इति ब्रूयुश्चेत्तर्ह्यन्येषां भार्य्यादीनां समर्पणं स्वार्थमपापरूपं किमर्थं कारयन्ति ?, तत्पुण्यात्मकञ्चेत्तर्हि स्वभार्यादीनामप्यन्येभ्यः पुण्यात्मकं समर्पणं किमर्थं न क्रियते ?

सिद्धान्तस्तु येन यया सह यस्याश्च विवाहो जातस्तयोः परस्परं समर्पणञ्जातमेव नान्यथेति वेदितव्यम्। तस्मादस्य व्यभिचारमयोपदेशस्य वल्लभसंप्रदायस्य केनचित्पुरुषेण कयाचित्स्त्रिया च विश्वासः कदाचिन्नैव कर्त्तव्य इति निश्चयः। विश्वासं कुर्वन्ति करिष्यन्ति वा तेषां नरकप्राप्तिरेव फलं, कुतः पापाचरणोपदेशस्य दुःखफलत्वात्।

६२—(उ०) यदि कहते हो कि गोलोकनिवासी परब्रह्म कृष्ण शब्द से लेते हैं, तो यह ठीक सत्य नहीं, क्योंकि जन्म-मरण वाले कृष्ण जीवात्मा परब्रह्म नहीं हो सकते। गौ आदि पशुओं का लोक दुर्गन्ध के बढ़ने से दुःखरूप होगा, उसमें जो बसते हैं, वे अहीरों के तुल्य मूर्ख विद्याहीन असभ्य जानने चाहियें। और, विचार के देखें तो इस प्रत्यक्ष अहीरों के ग्रामरूप गोलोक से पृथक् अन्य कोई गोलोक ही नहीं, ऐसा जानना चाहिये। उस गोलोक निवासी के उपासक, जो वहाँ जावेंगे, वे भी वैसे ही होते हैं, यह जानना चाहिये।

और जो कहा था कि 'अनन्त काल से कृष्ण के वियोग से हुए दुःख क्लेश से ढपा हुआ मैं हूँ' इत्यादि, यह अशुद्ध है, क्योंकि ताप और क्लेश दोनों के एकार्थ होने से दोनों का कहना पुनरुक्तदोष है। फिर अनन्त क्लेश की निवृत्ति न हो सकने से प्रत्येक देश-काल और वस्तु से क्लेश का पृथक् होना सम्भव नहीं। काले गुण से युक्त शरीरधारी जन्ममरण वाले श्रीकृष्ण को भगवान् कहना भी योग्य नहीं हो सकता। और उन कृष्ण के अर्थ शरीर, इन्द्रिय, प्राण, अन्तः-करण और इनके धर्मों का समर्पण करना अशक्य है, क्योंकि शरीर इन्द्रियादि अपने-अपने साथ स्वाभाविक स्थित हैं, अर्थात् एक शरीर के नेत्रादि छुटा कर दूसरे को नहीं दिये जा सकते।

यदि कहो कि नहीं, समर्पण होता ही है, तो मल-मूत्रादि और पीड़ा, राग, द्वेष तथा अधर्मों का भी समर्पण श्रीकृष्ण के लिये ही होवे। और, मलादि का फल दुःख नरकादि की प्राप्ति भी श्रीकृष्ण के लिये ही होवे। यही प्रकट न्याय है। और स्त्री, घर, पुत्र प्राप्त धन और क्रियाओं का समर्पण भी पापफलवाला ही है। क्योंकि परस्त्री का परपुरुष को समर्पण करना पापरूप ही है। तथा 'तद्धर्मान्' इसका पुल्लिङ्गनिर्देश और 'निरीहपराणि' इस विशेषण के नपुंसक होने से वाक्य-संबन्ध भी अशुद्ध ही है। क्योंकि पर शब्द तीनों लिङ्ग का वाचक हो सकता है।

'हे कृष्ण ! मैं तुम्हारा दास हूं। आत्मा के साथ समर्पण करता हूँ', यहां पर्यन्त अक्षर समुदायरूप वल्लभ का मन्त्र अनर्थक है। जब जीवात्मा एक ही वस्तु है, दो नहीं है, तो फिर आत्मा के साथ देह और इन्द्रियादिकों का समर्पण करता हूँ, यह कथन अशुद्ध और असम्बद्ध ही है। और दास अर्थात् शूद्र हूँ।

'शूद्र का नाम दासान्त निन्दित रखना चाहिये।'

यह मनुस्मृति की साक्षी है। सो धर्मशास्त्र के अनुसार तुम शूद्रवत् हो। इस उक्त 'ब्रह्मसम्बन्ध' नामक मन्त्र का अभिप्राय वल्लभ ने सिद्धान्तरहस्यादि ग्रन्थों में अनेक बालबुद्धि मनुष्यों को भ्रम

और पाप बढ़ाने के लिये निरूपण किया है-

"(श्रावणस्या०) श्रावण मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी की आधी रात्रि के समय में साक्षात् भगवान् ने जो कहा है, उसको ज्यों का त्यों कहते हैं। ब्रह्मसम्बन्धरूप मन्त्र के लेने से सबके जीव और शरीर के सब दोषों की निवृत्ति हो जाती है, और दोष पांच प्रकार के हैं—१-सहज स्वाभाविक, २-देश से हुए, ३-कालभेद से हुए, ४—लोक वा धर्मशास्त्र में कहे, और ५-वेद में कहे। ये पांच प्रकार के दोष लग सकते हैं। इनकी निवृत्ति ब्रह्मसम्बन्धकरणरूप मन्त्र से हो सकती है। परन्तु स्त्री आदि के संयोग से और स्पर्श से होने वाले दोषों को न मानना चाहिये, अन्यथा दोषों की निवृत्ति कभी नहीं हो सकती। किन्तु समर्पण करने से ही दोषों की निवृत्ति हो सकती है। इसलिये समर्पण अवश्य करना चाहिये। इससे गुसाइयों के चेले निवेदन करने के वस्तुओं सहित समर्पण करके ही सब कार्य करें, यही नियम है। देवों के देव विष्णु का यह मत नहीं कि विना समर्पण किये गुसाईं के चेले किसी वस्तु को भोगें, और समर्पण यही है कि स्वामी गुसाईं जी चेलों के सब पदार्थों का भोग प्रथम कर लेवें। इससे सब कामों के आरम्भ में सब वस्तुओं का समर्पण करना ही ठीक है। वैसे ही सब पदार्थ हरि को समर्पण करके ही पीछे ग्रहण करें। गुसाईं जी के मत से भिन्नमार्ग के वाक्यमात्र को भी गुसाईं जी के चेला चेली कभी न सुनें। जैसा सेवकों का व्यवहार प्रसिद्ध है, सब के बीच में ब्रह्मबुद्धि करे। वैसे ही अपने मत में गुणों का और दूसरे के मत में दोषों का वर्णन किया करे। जैसे गङ्गा में अन्य घृणित वस्तु पड़कर पवित्र गङ्गारूप हो जाते हैं, वैसे अपने मत के दोष भी गुणरूप समझने चाहियें।"

हमने पहिले से कई बार कहा है कि कृष्ण भगवान् ही नहीं हो सकते। जिन कृष्ण जी को शरीर त्यागे कुछ न्यून पांच हजार वर्ष व्यतीत हुए, सो उन्होंने अब वल्लभ के समीप आकर कैसे कहा ?, किन्तु कदापि नहीं कहा, केवल बनावट ही है। किन्तु वल्लभ ने यह पाखण्डजाल स्वार्थ और अधर्म करने के लिये रचा है, यह जान पड़ता है। 'साक्षात् भगवान् नेकहा' यह वल्लभ का केवल छल ही जानना चाहिये। इसलिये उस 'ब्रह्मसम्बन्ध' नामक अक्षर समुदायरूप मन्त्र का उपदेश पाप का उत्पादक होने से असम्बन्ध और अनर्थक है।

और जो सब दोषों की निवृत्ति मानते हो, तो निवृत्त होकर दोष कहां जावेंगे ?, यदि कहो कि नष्ट हो जावेंगे, तो कदापि नष्ट नहीं हो सकते। क्योंकि अन्य मनुष्य के किये पाप दोष अन्य को नहीं प्राप्त हो सकते। किन्तु कर्ता ही अपने शुभाशुभ कर्मफल को भोगता है, अन्य कोई नहीं। यदि कहो कि समर्पण करने से अन्य के किये पाप दोष हरि कृष्ण को प्राप्त हों, तो उसके दुःख रूप नरकफल भोगने वाले भी हरि ही होवें, यह निश्चय है। क्योंकि 'स्वयं किये हुए पाप पुण्यरूप कर्म के फलों की अपने भोग से ही निवृत्ति हो सकती है, इस न्याय से वल्लभकृत कल्पना व्यर्थ ही समझनी चाहिये।

सहज स्वाभाविक दोषों की यदि निवृत्ति होवे, तो स्वयं आत्मा की ही निवृत्ति हो जावे। क्योंकि जैसे अग्नि के स्वाभाविक दाहगुण की निवृत्ति में अग्नि भी नहीं रहता वैसे आत्मा भी न रहेगा। सब के समर्पण करने में भी आप तथा आपके शिष्यों के शरीरस्थ कुष्ठादि रोग और क्षुधा, प्यास, शीत, उष्ण, सुख,दुःख तथा अज्ञान आदि की निवृत्ति नहीं दीख पड़ती। इससे तुम्हारा समर्पण ठीक नहीं। और ब्रह्म संबन्ध से देश काल के परिवर्तन से हुए वात, पित्त, कफ और ज्वर आदि दोष आप लोगों के क्यों नहींनिवृत्त होते ?, और लौकिक धर्म शास्त्र तथा वेद में निरूपण किये मिथ्या बोलना, चोरी करना, माता, कन्या, बहिन, पुत्रवधू आदि अन्य स्त्रियों से समागम और विश्वासघात आदि दोष तथा माता, कन्या, बहिन, पुत्रवधू और गुरुपत्नी आदि के संयोग और स्पर्श से उत्पन्न हुए दोष, वल्लभ सम्प्रदाय के मानने वाले वल्लभ से लेके अब तक हुए आप लोगों को तथा भगवान् के वा वल्लभ के उपदेश से अन्य लोगों को क्यों नहीं मानने चाहियें ?

इस प्रकार भगवान् और वल्लभ के उपदेश से प्रतीत होता है कि भगवान् और वल्लभ दोनों वेदविरुद्ध उपदेश से नास्तिक, धर्म करने हारे, विवाश-

हीन, विषयी, अधर्म के प्रवर्त्तक और धर्म के नाशक जाने जाते हैं। नास्तिक का लक्षण धर्मशास्त्र में यही किया है कि—

"जो तर्कशास्त्र के आश्रय से वेद और धर्मशास्त्र का अपमान करता, अर्थात् वेद से विरुद्ध स्वार्थ का आचरण करता है, श्रेष्ठ पुरुषों को योग्य है कि उसको अपनी मण्डली से निकाल के बाहर कर देवें, क्योंकि वह वेदनिन्दक होने से नास्तिक है।"

इससे आप लोगों में नास्तिकता प्रतीत होती है। और यह जो कहना है कि हमारे मत को ग्रहण किये बिना दोषों की निवृत्ति अन्य किसी प्रकार से नहीं हो सकती, यह रचना भांग पीकर के ही की है, यह जानना चाहिये। क्योंकि ऐसे मत के उपदेश से सत्यधर्म और गुणों का नाश ही होता है। इससे ऐसे भ्रष्ट करने के अर्थ प्रवृत्त हुए पापरूप उपदेश के ऊपर किसी को कदापि विश्वास नहीं करना चाहिये, यह निश्चय है।

और भी थोड़ा यह वल्लभ सम्प्रदायियों का अधर्मोपदेश सुनना चाहिये—

"जिस कारण सर्वस्व समर्पण के बिना सब दोषों की निवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिये गुसाईं जी के चेलों को उचित है कि अपने भोग करने से पहले ही सब वस्तुओं का समर्पण अर्थात् स्त्री, पुत्र आदि का भी समर्पण करें। विवाह होने के पश्चात् अपने भोगने के सब कामों में सब कार्यों का निमित्त उस कार्य के उपयोगी वस्तु का समर्पण चाहिये।"

इसका खण्डन—

यदि आप लोग यह उपदेश करते हो कि विवाह होने के पश्चात् अपने भोगने से पहिले ही पवित्र करने के अर्थ स्त्री पुत्रादि का भी आचार्य गोस्वामी के लिये समर्पण करके ही पश्चात् अपने भोग सम्बन्धी काम करने चाहियें, तो अपनी स्त्री, कन्या, भगिनी और पुत्रादि का भी पवित्र करने के अर्थ समर्पण क्यों नहीं करते?, यदि कहो कि अपनी स्त्री आदि को औरों के लिये समर्पण करने की हमारी इच्छा नहीं, इससे नहीं करते, तो अन्यों की स्त्री आदि का पापरूप समर्पण अपने लिये क्यों कराते हो?, यदि कहो कि उनका हमारे लिये समर्पण करना पुण्यरूप होता है, तो अपनी स्त्री आदि का पुण्यरूप समर्पण अन्यों के लिये क्यों नही करते?

सिद्धान्त वस्तुतः यही है कि जिसका जिसके साथ विवाह हुआ, उनका परस्पर समर्पण हो ही गया, अन्यथा नहीं हो सकता, यह जानो। इससे व्यभिचारमय उपदेशों वाले इस वल्लभ सम्प्रदाय का किसी पुरुष वा स्त्री को कदापि विश्वास न करना चाहिये, यही निश्चय है। जो लोग विश्वास करते हैं, वा करेंगे, उनको नरक की प्राप्ति ही फल होना सम्भव है। क्योंकि पापाचरण के उपदेश का फल दुःख ही है।

किञ्च पुष्टिप्रवाहमार्गोऽपि तादृश एव मिथ्या। पुष्टिप्रवाहमर्यादा धर्माचरणार्था, उताऽधर्माचरणार्था? नाद्यः कुतो वल्लभादीनामिदानीन्तनान्तानां परस्त्रीगमनाद्यधर्माचरणस्य प्रत्यक्षानुमानाभ्यां दर्शनात्। अश्ववृषभवानरगर्दभादयो यथा अश्विन्यादिस्त्रियो दृष्ट्वा पुष्टिप्रवाहान्मैथुनमाचरन्ति तथा भवतामपि पुष्टिप्रवाहत्वं दृश्यते, नान्यथा। भवतामियमेव मर्यादा वेदविद्याधर्माचरणत्यागः परस्त्रीगमनं परधनहरणमधर्माचरणं वेदोक्तधर्मविनाशकरणञ्चेत्यत्रैव पुष्टिप्रवाहो चेति निश्चीयते।

अस्मिन्नर्थे वल्लभ आह—'वैदिकत्वं लौकिकत्वं कापट्यात्तेषु नान्यथा। वैष्णवत्वं हि सहजन्ततोऽन्यत्र विपर्यय इति।' अतएव वल्लभे हि नास्तिकत्वं सिद्धम्भवति, कुतः, लौकिकवैदिकत्वस्य कपटमध्ये गणितत्वात्। तस्य संप्रदायस्था अपि नास्तिका गणनीया वेदविरुद्धाचरणात्।

यज्ञो वै विष्णुर्व्यापको वा। तदनुष्ठानत्यागान्मूर्त्तिपूजनासक्तत्वाद्व्यापकभक्तिवियोगाद्भवन्तो वैष्णवा एव नेति निश्चेतव्यम्। पूजा नाम

सत्कारस्सज्जनानां, तस्या अरिर्नाम शत्रुरपपूजारिशब्दार्थो वेद्यः। आर्त्तिर्नाम दुःखन्ताङ्करोतीत्यार्त्तिकारः। गोशब्देन पशुगुणवान्, साईंशब्देन यवनाऽऽचार्यः। अयं गोसांइयाख्यशब्दार्थोऽर्थाद्यस्य गम्यागम्ययोर्विवेको न भवेत्त्यागञ्च न कुर्याद्धर्मन्यायविरुद्धपक्षपातत्यागञ्च वेदोक्तन्धर्मम्परित्यजेत्तादृशा भवन्तोदृश्यन्तइति। वाजिशब्देनाऽश्वो वा गर्दभो मध्यस्थो वेति वाजिशब्दार्थः। रागोऽस्यास्तीति रागी, वै इति निश्चयेन रागीति वैरागिशब्दार्थः। दंडेन तुल्यो दंडवत् दंडवन्नाम काष्ठवत्। हिन्दुशब्दस्यार्थः कृष्णवर्णो दस्युः पाषाणादिमूर्त्तिपूजको दास ईश्वरोपासनाविरहश्चेत्यादयोऽर्थाः। इत्यादिशब्दार्थानामन्धपरम्पराऽविद्याप्रचारेण विद्यात्यागेनार्यशब्दाभिधानार्थज्ञानेन च विनाऽद्यपर्यन्तमागता वल्लभादिसम्प्रदायरूपेणात्यन्तं परिणता सा सद्यस्सज्जनैस्त्यज्यतामिति निश्चयः।

और हमारे मत में शरीरादि की पुष्टि परम्परा से चली आती है, यह भी वैसा ही मिथ्या है। पुष्टिप्रवाह की मर्यादा धर्माचरण के लिये है, वा अधर्माचरण के अर्थ ?, इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि वल्लभ से लेके अब पर्यन्त हुए गुसाइयों का परस्त्री गमनादि अधर्माचरण प्रत्यक्ष और अनुमान से प्रसिद्ध दीख पड़ता है। घोड़े, बैल, वानर और गर्दभ आदि जैसे घोड़ी आदि अपनी सजातीय स्त्रियों को देख के पुष्टि की उन्मत्तता के प्रवाह से मैथुन को प्रवृत्त होते हैं, वैसे ही आप लोगों का भी पुष्टिप्रवाह दीख पड़ता है, अन्यथा नहीं। आप लोगों की यही मर्यादा है कि वेदविद्या और धर्माचरण का त्याग, परस्त्रीगमन, पराया धन हरना, अधर्म का आचरण और वेदोक्त धर्म का नाश करना, इसी में पुष्टि और प्रवाह निश्चित होते हैं।

इस विषय में वल्लभ कहता है कि—'लौकिक और वैदिक धर्म विषय कपटरूप होने से यथार्थ नहीं, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु एक वैष्णव मत ही सहज है, इससे अन्य सब विपरीत हैं। इसी से वल्लभ में नास्तिकता सिद्ध हो गई, क्योंकि वल्लभ ने लौकिक वैदिक विषय कपट में गिना है। वल्लभ के सम्प्रदाय वाले सभी विरोधी होने से नास्तिक समझने चाहियें।

विष्णु शब्द का अर्थ यज्ञ व व्यापक होता है। यज्ञ वा व्यापक विष्णु परमेश्वर की भक्ति का अनुष्ठान छोड़ के मूर्तिपूजन में आसक्त होने से आप लोग वैष्णव ही नहीं हो सकते, यह निश्चय जानना चाहिये। पूजा नाम सत्पुरुषों का सत्कार, उसका जो अरि नाम शत्रु, यह पूजारि शब्द का अर्थ है।

आर्ति नाम दुःख को जो करे, वह आर्त्तिकर्त्ता कहाता है।

गोनामक पशुगुणयुक्त, साईं शब्द से मुसलमानों का आचार्य, अर्थात् जिसको अगम्यागम्य का विवेक न हो और त्याग भी न करे, धर्मन्याय से विरुद्ध पक्षपात को भी न छोड़े और वेदोक्त धर्म का त्याग कर देवे, वह गोसाईं कहाता है। वैसे ही आप लोग दीख पड़ते हैं, इसी से गोसाईं कहाते हो।

वाजी नाम घोड़ा, दूसरे वा शब्द से घोड़े का विकल्प करने से गदहा वा मध्यस्थ खच्चर, यह "बावाजी" शब्द का अर्थ है।

राग जिसमें हो वह रागी, वै नाम निश्चय कर जो रागी हो उसको "वैरागी" कहते हैं। यही वैरागी शब्द का अर्थ है।

दण्ड नाम काष्ठ के तुल्य, अर्थात् जो जड़ हो उसको दण्डवत् कहते हैं, यह "दण्डवत्" शब्द का अर्थ है।

काले वर्णवाला, डाकू, पाषाणादि मूर्तियों का पूजक, सेवक, गुलाम और ईश्वर की उपासना से रहित इत्यादि हिन्दु शब्द का अर्थ है।

इत्यादि शब्दों के अर्थों की अन्धपरम्परा अविद्या के प्रचार, विद्या के त्याग और आर्य शब्द के वाच्य अर्थ के न जाने बिना अब तक चली आई और वल्लभादि सम्प्रदायों के साथ अत्यन्त परिणाम को प्राप्त

है। यह अन्धपरम्परा सज्जनों को शीघ्र ही त्यागने योग्य है, यह निश्चित मत है।

अथ शुद्धाद्वैतमार्त्तण्डखण्डनं लिख्यते—

शुद्धाद्वैतशब्दस्य कोऽर्थः क्रियते ?, द्विधा इतं द्वीतं, द्वीतमेव द्वैतं, न द्वैतमद्वैतं कार्यकारणरूपमेकीभूतमेव। यद्वा तदेव ब्रह्म स्त्रीपुरुषरूपेण द्विधा जातं क्रीडाकरणार्थमिति च। नैवं शक्यं वक्तुम्, कुतः, अविद्यादिदोषरहितत्वात् सदैवविज्ञानस्वरूपत्वाद् ब्रह्मणो जगद्रूपापन्नत्वमयोग्यमेव। यदि जीवादिकार्यरूपं यज्जगद् ब्रह्मैवास्ति तर्ह्यनन्तविज्ञानरचनधारणसर्वज्ञतासत्यसंकल्पादयो गुणा अस्मिञ्जगति कथन्न दृश्यन्ते ?, तथा च जन्ममरणहर्षशोकक्षुधातृषावृद्धिक्षयमूढत्वादयो दोषा जगत्स्था एवं सति ब्रह्मण्येव भवेयुर्बन्धनरकदुःखविषयभोगादयश्च। तस्माद्वल्लभकृतो अर्थो मिथ्यैवेति वेदितव्यम्।

द्वीतमिति, 'द्वीतं तदेव द्वैतं स्यादद्वैतन्तु ततोऽन्यथा। सर्वं खल्विदम्ब्रह्म तज्जलानिति पठ्यते।' इति वल्लभप्रबुक्ककनन्द्रष्टव्यम्। द्विधाकारणकार्यरूपेण परिणतश्च तर्ह्यज्ञानदुखबन्धननरकप्राप्त्यादयो दोषा ब्रह्मण्येव स्युः। पूर्वावस्थितस्य द्रव्यस्यावस्थान्तरप्राप्तिः परिणामः। तथैव भवन्मते ब्रह्मैव जगदाकारञ्जातमनेन किमागतमिति श्रूयताम्—ये जगत्स्था अविद्याज्वरपीडादयो दोषा ते अपि वल्लभेन ब्रह्मण्येव स्वीकृता, अतएव भवन्मतं वेदयुक्तिविरुद्धमेवेति विज्ञेयम्।

वल्लभेन 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन। तज्जलानिति शान्त उपासीते'त्यादिश्रुतीनामर्थो नैव विज्ञातः। कुतः, विदुषां समाधिसंयमे विज्ञानेन यादृशं ब्रह्म विज्ञायते तत्रत्योऽयमनुभवः। यथा केनचिदुक्तं सर्वं खल्विदं सुवर्णमिह नाना पित्तलादिधात्वन्तरं मिलितं नास्ति, तथैव सच्चिदानन्दैकरसब्रह्मणि नानावस्तु मिलितं नास्ति। किन्तु सर्वं खल्विदं ब्रह्मैकरसमिति विज्ञेयमखण्डैकरसत्वादभेद्यत्वाद् ब्रह्मणश्चेति। यथाऽ'यमात्मात्मा ब्रह्म' इत्यत्रेदं शब्देनात्मनो ब्रह्मण एव ग्रहणमिति निश्चेतव्यं, न कस्यचिज्जगद्वस्तुनः संबन्धग्रहणञ्च, तथा 'तज्जलानिति' ब्रह्म शान्तः सन्नुपासीत। तस्माद् ब्रह्मानन्तसामर्थ्यादेवास्य जगतो जननधारणप्राणादीनि भवन्तीत्येवम्ब्रह्मोपासनीयमेव नान्यदित्यर्थो वल्लभेनापि नैव विज्ञातस्तत्संप्रदायस्थानाम्भवतान्तु का कथा ?

> "सर्वं ब्रह्मात्मकं विश्वमिदमावोध्यते पुरः।
> सर्वशब्देन यावद्धि दृष्टश्रुतमदो जगत् ॥ १ ॥
> वोध्यते तेन सर्वं हि ब्रह्मरूपं सनातनम्।
> कार्यस्य ब्रह्मरूपस्य ब्रह्मैव स्याद्धि कारणम् ॥ २ ॥
> साकारं सर्वशक्त्येकं सर्वज्ञं सर्वकर्तृ च।
> सच्चिदानन्दस्वरूपं हि ब्रह्म तस्मादिदञ्जगत् ॥ ३ ॥
> शुद्धाद्वैतपदे ज्ञेयः समासः कर्मधारयः।
> अद्वैतशुद्धयोः प्राहुः षष्ठीतत्पुरुषं बुधाः" ॥ ४ ॥

इत्यादयः श्लोकाः शुद्धाद्वैतमार्त्तण्डे अर्थतोऽशुद्धा एवेति निश्चयः।

कर्मधारयसमासोऽसंगतः। कुतः, कार्यकारणयोस्तादात्म्यगुणादर्शनात्। षष्ठीतत्पुरुषोऽप्यसङ्गतः, द्वौ चेद्वस्तुतो न कदाचिदेकता। अवास्तवौ द्वौचेत्कार्यकारणकथनं व्यर्थम्। शुद्धश्च शुद्धा च शुद्धे च तयोः स्त्रीपुंसयोरद्वैतमर्थान् मैथुनसमये द्वैतं, स्त्रीषु राधाभावना स्वस्मिन् कृष्णभावना च क्रियते। 'अहं कृष्णस्त्वं राधा आवयोरस्तु संगम' इत्यादिपतितकारकवल्लभादीनां मतमिति निश्चयः। कुतः, लक्ष्मणभट्टेन

संन्यासं पूर्वं गृहीत्वा पुनर्गृहाश्रमः कृतः, स एव प्रथमतः श्वबद्धान्ताशी जात, तत्पुत्रो वल्लभोऽपि पूर्वं विष्णुस्वामिसम्प्रदाये विरक्ताश्रमं गृहीत्वा पुनरभूद् गृही, तथानेकविधो व्यभिचारो गोकुल नाथेन विट्ठलेन च कृतस्तत्सम्प्रदायग्रन्थेषु प्रसिद्धः।

लक्ष्मणभट्टं मूलपुरुषमारभ्याद्यपर्यन्तं व्यभिचारादिदुष्टं कर्म यथावद्वल्लभसम्प्रदाये दृश्यते। येऽस्य सम्प्रदायस्योपरि विश्वासं कुर्वन्तीमान् गुरूँश्च मन्यन्ते तेऽपि तादृशा एवेति विज्ञातव्यम्। एतादृशस्य पापकर्मकर्त्तुरधर्मात्मनो गुरोस्त्यागे हनने च पुण्यमेव भवति, नैव पापञ्चेत्यत्राह मनुः—

'गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ १ ॥
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं वा मन्युमृच्छति" ॥ २ ॥

इति धर्मं त्यक्त्वा ह्यधर्मे प्रवर्त्तेत स आततायी विज्ञेयः।

अब शुद्धाद्वैतमार्तण्ड का खण्डन लिखते हैं:—

शुद्ध और अद्वैत शब्द का क्या अर्थ करते हो? दो प्रकार से प्राप्त हो वह द्वीत कहाता, जो द्वीत है वही द्वैत, और जो द्वैत न हो, वह अद्वैत—कार्य कारण का एकरूप होना है। अथवा वही एक ब्रह्म स्त्री पुरुष रूप से दो प्रकार की क्रीड़ा करने के लिये प्रकट हुआ। यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि अविद्यादि दोषों से रहित होने और सदैव विज्ञानस्वरूप होने से ब्रह्म का जगत्‌रूप होना अयोग्य ही है। यदि जीव आदि कार्यरूप जो जगत् है, वह ब्रह्म ही है तो अनन्त विज्ञान, रचना, धारण, सर्वज्ञता, सत्यसंकल्प आदि गुण इस जगत् में क्यों नहीं दीख पड़ते?, और ब्रह्म को कार्यरूप मानें, तो जन्म, मरण, हर्ष, शोक, भूख, प्यास, बढ़ना, घटना और मूढ़पन आदि जगत् के प्राणियों के दोष ब्रह्म में प्राप्त होवें। इससे बन्धन, नरक, दुःख और विषयभोग भी ईश्वर को ही होवें। इससे वल्लभ का किया अर्थ मिथ्या ही जानना चाहिये।

और द्वीत, द्वैत एक ही बात है, द्वैत का निषेध अद्वैत कहाता, इस का प्रत्यक्ष उदाहरण "सर्वं खल्विदं०" यह श्रुति है। यह वल्लभ का भूंकना है। कार्यकारणरूप ब्रह्म दो प्रकार से परिणत है, तो दुःख, बन्धन और नरक प्राप्ति होना आदि दोष ब्रह्म में ही होवे। पूर्व अवस्थित द्रव्य की अवस्थान्तरप्राप्ति परिणाम कहाता है। वैसे ही आप के मत में ब्रह्म ही जगत्‌रूप बन गया। इससे क्या आया यह सुनो—जो जगत् में अविद्या ज्वर पीड़ा आदि दोष भी वल्लभ ने ब्रह्म में मान लिये, इसी से आप का मत वेद और युक्ति से विरुद्ध है, यह जानना चाहिये।

वल्लभ ने 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म०' इत्यादि श्रुतियों का अर्थ नहीं जाना क्योंकि समाधि के संयम करने में विज्ञान के प्रकाश से जैसा ब्रह्मस्वरूप जाना जाता है, उस समय का किया विद्वानों का अनुभव ही श्रुति का तात्पर्य है। जैसे किसी ने कहा कि सब यह सुवर्ण है, इस में अनेक पीतल आदि धातु मिले नहीं हैं, वैसे सच्चिदानन्दस्वरूप एकरस ब्रह्म के बीच में नाना वस्तु मिली नहीं, किन्तु यह सब ब्रह्म ही एकरस है, ऐसा जानना चाहिये। क्योंकि ब्रह्म एकरस, अखण्ड और अभेद्य है। जैसे 'अयमात्मा ब्रह्म' यह आत्मा ब्रह्म है, इस वाक्य में 'इदम्' शब्द से ब्रह्मात्मा का ही ग्रहण होता है किन्तु किसी जगत् के वस्तु का सम्बन्ध ग्रहण नहीं होता। 'तज्जलान इति ब्रह्म,' "तज्ज" नाम उसी से यह सब जगत् उत्पन्न हुआ, "तल्ल" नाम उसी में सब लय होता, "तदन" नाम उसी में सब जगत् चेष्टा कर रहा है, इस प्रकार शान्त हुआ पुरुष ब्रह्म की उपासना करे। अर्थात् उस ब्रह्म के अनन्त सामर्थ्य से ही इस जगत् के जन्म-मरण और चेष्टादि कर्म होते हैं। इस प्रकार से ब्रह्म ही की उपासना करनी चाहिये, अन्य की नहीं। यह अर्थ वल्लभ ने भी नहीं जाना, तो वल्लभ के सम्प्रदायी आप लोगों

की तो कथा ही क्या है ?

'यह सब जगत् ब्रह्मस्वरूप है, यह पहले ही जताया है। 'सर्व शब्द से जितना देखा सुना यह जगत् है, वह सब जानना, इससे वह सब जगत् ब्रह्मरूप सनातन है। क्योंकि ब्रह्मरूप कार्य जगत् का कारण ब्रह्म ही हो सकता है। वह ब्रह्म साकार, सर्वशक्ति-युक्त, एक सर्वज्ञ और सब का रचनेहारा सच्चिदानन्दस्वरूप है, उसी से यह जगत् हुआ है।' इत्यादि वल्लभ के श्लोक शुद्धाद्वैतमार्त्तण्ड नामक में वस्तुतः अशुद्ध ही हैं, यह निश्चय जानो।

शुद्ध नाम कार्य और अद्वैत नाम कारण, जो शुद्ध है वही अद्वैत, यह कर्मधारय समास कार्यकरण के एकस्वरूप एकात्म गुण वाले न होने से असङ्गत है। षष्ठीतत्पुरुष समास भी ठीक नहीं, क्योंकि वस्तुतः जो दो पदार्थ हैं, उनकी एकता क्योंकर हो सकती है ? और यदि वस्तुतः दो नहीं हैं, तो कार्यकारणरूप कहना व्यर्थ है, इसने शुद्धपुरुष और शुद्ध स्त्री दोनों का एकशेष समास भी असङ्गत है, अर्थात् मैथुन समय में द्वैत, स्त्रियों में राधा भावना और अपने में कृष्ण की भावना करते हैं। मैं कृष्ण तू राधा मेरा तेरा सङ्गम होवे इत्यादि कुकर्म से वल्लभादि का मत पतित करने वाला जानना चाहिये। क्योंकि इनका पूर्व आचर्य लक्ष्मणभट्ट हुआ। उसने पहिले संन्यास ग्रहण करके पीछे गृहाश्रम धारण किया। इसलिये लक्ष्मणभट्ट ही पहिले कुत्ते के तुल्य वान्ताशी अर्थात् उगले हुए को खाने वाला हुआ। पहिले गृहाश्रम को छोड़ के संन्यास किया। पीछे उसी वान्त के तुल्य त्यागे हुए गृहाश्रम का ग्रहण और संन्यास का त्याग किया। इसी लक्ष्मणभट्ट का पुत्र वल्लभ हुआ। इसने भी पहिले विष्णुस्वामी के सम्प्रदायमें विरक्त (संन्यास) आश्रम ग्रहण कर फिर गृहाश्रम धारण किया। और गोकुलनाथ, विट्ठल ने अनेक प्रकार का व्यभिचार किया। इत्यादि बातें इनके मत के ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं।

इनके आदिपुरुष लक्ष्मणभट्ट से लेकर अब तक वल्लभ-सम्प्रदाय में व्यभिचारादि दुष्ट कर्म यथावत् पड़ता है। तथा जो लोग इनके मत पर विश्वास करते और इन वल्लभादि मतस्थ लोगों को गुरु मानते हैं, वे भी वैसे ही जानने चाहियें। ऐसे पापकर्मकर्त्ता, अधर्मी गुरु के त्यागने और मार डालने में पुण्य ही होता है, पाप नहीं। इस विषय में धर्मशास्त्र का प्रमाण है:—

'गुरु, बालक, वृद्ध या बहुश्रुत ब्राह्मण ये सब आततायी धर्मनाशक अधर्म के प्रवर्त्तक हों, तो राजा विना विचारे मार डाले। क्योंकि आततायी के मारने में मारनेवाले को दोष नहीं लगता। चाहे प्रसिद्ध में मारे वा अप्रसिद्ध में, सर्वथा क्रोध को क्रोध मारता है, किन्तु हिंसा नहीं कहाती''।

धर्म को छोड़ के सर्वथा जो अधर्म में प्रवृत्त हो, वह आततायी कहाता है।

(प्र०)—शुद्धाद्वैतं प्रकाशरूपं स्वभावत उताऽन्धकाररूपम् ?

(प्र०)—शुद्धाद्वैत प्रकाशरूप है, वा स्वभाव से अन्धकाररूप है ?

(उ०)—नाद्यः, कुतः, स्वभावतः प्रकाशस्वरूपस्य मार्त्तण्डार्थसूर्यापेक्षाभावात्। न चरमः, स्वभावतोऽन्धकार-स्वरूपञ्चेत्सूर्येणापि तस्य प्रकाशासंभवात्। एवमेव तत्सिद्धान्तमार्त्तण्डस्यापि खण्डनं विज्ञेयम्। अतएव शुद्धाद्वैतमार्त्तण्डसत्सिद्धान्तमार्त्तण्डयोर्नाममात्रमपि शुद्धं नास्ति पुनर्ग्रन्थाशुद्धस्तु का कथा ?

एवमेव विद्वन्मण्डनस्यापि खण्डनं विज्ञेयम्। विट्ठल एव यदा विद्वान्नासीत्पुनर्विदुषां मण्डनङ्कर्तुं कथं समर्थः स्यात् ?, किन्तु परस्त्रीगमन-परधनहरण-व्यभिचारमण्डने च सामर्थ्यन्तस्याभून्नान्यत्रेति विज्ञेयम्। तत्र दिङ्मात्र-निदर्शनं वर्ण्यते—'निजमुरलिकेति,' मुरलिकानादेन तेनागतागोकुलस्य सम्बन्धिन्यः सुन्दर्यः परस्त्रियः कृष्णेन स्नेहाद्भोगार्थं स्वीकृता इत्युक्तम्।

प्रतिर्लक्षणे, युवतिं युवतिंलक्षीकृत्य यः सम्भेदः सङ्गमः कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषित इत्यादि भ्रष्टवचनस्योक्तत्वाद्विद्वन्मण्डनमित्यस्य नामायोग्यमेव। कुतः, मूर्खव्यभिचाराधर्माणामत्र मण्डनत्वात्।

एवमेवाणुभाष्यमप्यसङ्गतमेवेति वेद्यम्। तथा च शतशो भाषाग्रन्थारसभावनादयोपि भ्रष्टतरा एव। तत्रत्यैकदेशनिदर्शनं लिख्यते—राधायाः कुचाद्यङ्गेषु मोदकादिभावना कर्त्तव्या। तथा गोलोक एक एव पुरुषः कृष्णः, अन्यास्सर्वाः स्त्रियः सन्ति। अहर्निशन्ताभिः सह कृष्णः क्रीडति। पुनः सूर्योदयसमये यावत्यः स्त्रियस्तावन्तः पुरुषाः कृष्णशरीरान्निसृत्यैकैकामेकैको गृहीत्वा पुष्कलं मैथुनमाचरन्ति सर्वे।

तथा वल्लभस्य महाप्रभुरिति संज्ञा कृता। प्रभुरितीश्वरस्य नामास्ति। 'प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वत' इत्यादिश्रुतिषु वर्णितम्। तेनेश्वरेणाद्यपर्यन्तं तुल्यः कोऽपि न भूतो न भविष्यतीत्यधिकस्य तु का कथा? पुनर्महाप्रभुशब्देन वल्लभविषये किङ्गम्यते, यथा महाब्राह्मणस्यैव महाप्रभुशब्दाऽर्थोयुक्तिविरुद्धो वल्लभसंप्रदायोऽस्ति तथैव शैवशाक्तगाणपत्यसौरवैष्णवादयस्सम्प्रदाया अपि वेदयुक्तिविरुद्धा एव सन्तीति दिक्॥

शशिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे कार्तिकस्यासिते दले।
अमायां भौमवारे च ग्रन्थोऽयम्पूर्तिमागतः॥

——:o:——

(उ०)—प्रकाशरूप होना, पहिला पक्ष इसलिये ठीक नहीं, कि यदि स्वभाव से प्रकाशस्वरूप हो, तो सूर्य के तुल्य स्वयं प्रकाशरूप होने से मार्त्तण्ड नामक पुस्तक देखने के अर्थ सूर्य की अपेक्षा न होवे। सूर्यप्रकाश की अपेक्षा विना ही कार्य सिद्ध कर सके, सो संभव नहीं। स्वभाव से अन्धकार स्वरूप होना, द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं। क्योंकि स्वभाव से ही अन्धकार स्वरूप हो, तो सूर्य से भी उसका प्रकाशित होना असम्भव हो जावे। इस प्रकार सत्सिद्धान्त मार्त्तण्ड का भी खण्डन जानो। इस पूर्वोक्त प्रकार 'शुद्धाद्वैतमार्त्तण्ड' और 'सत्सिद्धान्तमार्तण्ड' इन दोनों पुस्तकों का नाममात्र भी शुद्ध नहीं है। ग्रन्थ के अशुद्ध होने का तो कहना ही क्या है?

इसी प्रकार विद्वन्मण्डन नामक ग्रन्थ का भी खण्डन जानो। जब तुम्हारा आचार्य विट्ठल ही विद्वान् नहीं था, तो फिर विद्वानों का मण्डन कैसे कर सकता है?, किन्तु परस्त्रीगमन, पराया धन हरना और व्यभिचार के मण्डन करने में तो अवश्य उसका सामर्थ्य था, अन्य किसी कार्य में नहीं। सो उदाहरण मात्र दिखाते हैं—विट्ठलकृत विद्वन्मंडन नामक ग्रन्थ में 'निजमुरलिका०' इत्यादि लिखा है। अभिप्राय यह है कि मुरली का शब्द सुन के गोकुल की सुन्दर सुन्दर स्त्रियां आईं। कृष्ण ने उनके साथ क्रीड़ा करने के लिये प्रीति से उनका ग्रहण किया! अर्थात् युवति-युवति स्त्रियों को देख कर, जितनी गोपों की स्त्रियां थीं, उतने ही अपने एक ही प्रकार के शरीर धारण कर, उनसे समागम किया। इत्यादि भ्रष्ट वचनों के कहने से विद्वन्मण्डन नाम अयोग्य ही है। क्योंकि इस पुस्तक में मूर्ख, व्यभिचार, और अधर्मों का मण्डन है।

इसी प्रकार 'अणुभाष्य' भी असङ्गत ही है। और ऐसे ही 'रस भावना' आदि सैकड़ों भाषा के ग्रन्थ भी अत्यन्त भ्रष्ट हैं। इसमें एक बात उदाहरण के लिये लिखते हैं—'राधा के कुच आदि अंगों में मोदक आदि की भावना करनी चाहिये। तथा गोलोक में एक कृष्ण ही पुरुष अन्य सब स्त्रियां हैं। कृष्ण उन स्त्रियों के साथ दिन रात क्रीड़ा करते हैं। सूर्य

उदय होते समय जितनी स्त्रियां हैं, उतने ही पुरुष कृष्ण के शरीर से निकल के एक-एक स्त्री को एक-एक पुरुष ग्रहण कर, सब अच्छे प्रकार मैथुन करते हैं।'

और वल्लभ का महाप्रभु नाम रक्खा है। प्रभु नाम ईश्वर का है। 'प्रभु सब शरीरों में व्याप्त है' यह वेदमें कहा है। जब उस ईश्वरके तुल्य अब तक न कोई हुआ न होगा, तो उससे अधिक कौन होसकता है। फिर महाप्रभु कहने से यही प्रतीत होता है कि जैसे ब्राह्मण के साथ महत् शब्दलगाने से नीच का महाब्राह्मण नाम होता है, वैसे महाप्रभु भी जानना चाहिये। जैसे और वेद युक्ति से विरुद्ध वल्लभका सम्प्रदाय है, वैसे ही शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर और वैष्णवादि सम्प्रदाय भी वेद और युक्ति से विरुद्ध ही हैं।

इति शुभम् ॥

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्यानन्द-
सरस्वतीस्वामिनिर्मितस्तच्छिष्यभीम-
सेनशर्मकृतभाषानुवादसहितश्च
वेदविरुद्धमतखण्डनो
ग्रन्थः समाप्तः ॥

—*—

श्री महात्मा आनन्द स्वामी कृत स्वाध्याय योग्य दो अमूल्य पुस्तकें

प्रभु-दर्शन

प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान् लेखक ने ११ अध्यायों में "प्रभु प्राप्ति के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डाला है। प्रभु-दर्शन के लिये क्या चाहिये और उसके साधक को किन किन उपायों का अवलम्बन करना चाहिये। इस प्रकार प्रभु-दर्शन पाने के इच्छुक लोगों को पुस्तक से बहुत लाभ मिल सकता है।

"प्रभु दर्शन" में प्रभु प्राप्ति के लिये दैनिक कार्य के साथ शरीर को बलवान् बनाओ, जीवन को अच्छा करो, मनुष्य समाज के योग्य बनो आदि पर भी प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त आत्मा की तलाश, किसके दर्शन आदि में विशेष रूप से पढ़ने योग्य सामग्री है। दो शब्दोंमें प्रस्तुत पुस्तक श्री आनन्द स्वामी के समस्त साधनामय जीवन और अध्ययन का निचोड़ है जिससे लाभ उठाना धार्मिक और जिज्ञासुजनों के लिये आवश्यक है।

पुस्तक में वैदिक साहित्य तथा अन्य भाषाओं के उपयोगी ग्रन्थों के महत्वपूर्ण उपदेश भी दिये हैं। छपाई, कागज, जिल्द बहुत ही सुन्दर है। मूल्य २॥)

तत्व-ज्ञान

इस पुस्तक में हृदय की पुकार प्राणायाम तथा ध्यान, सृष्टितत्व, तत्वज्ञान क्या और कैसे इत्यादि उपशीर्षक वेदों, उपनिषदों, भगवद्गीता, योग वसिष्ठ और ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका इत्यादि तथा अपने अनुभव के आधार पर कठिन विषयों को सरल शैली से समझाने का प्रयत्न किया है, जिसमें लेखक को पूर्ण सफलता हुई है। पुस्तक विद्वानों, दार्शनिकों योगाभ्यासियों और सर्वसाधारण सब के लिये उपयोगी बन गई है। अतः इससे सबको लाभ उठाना चाहिये। ब्रह्म, जीव, प्रकृति की नित्यता और भेद को मानकर ही विषय का प्रतिपादन किया गया है जो कि वैदिक सिद्धान्तानुकूल और युक्ति युक्त है। योग वासिष्ठ, भागवतादि में से भी उद्धरण पर्याप्त संख्या में दिये गये हैं। सम्पूर्णतया यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। पुस्तक की छपाई, कागज, जिल्द सुन्दर और आकर्षक है। मूल्य ३)

पता—गोविन्दराम हासानन्द, आर्य साहित्य भवन, नई सड़क, देहली

॥ ओ३म् ॥

शिक्षापत्री-ध्वान्त-निवारण

सम्पादक का निवेदन

गुजरात प्रान्त में 'वल्लभ सम्प्रदाय' के समान ही एक 'स्वामी नारायण मत' भी प्रचलित है। यद्यपि आज कल यह मत मृतप्राय हो चुका है, तथापि महर्षि के समय में इसके अनुयायियों की पर्याप्त संख्या थी। धर्म के नाम पर इस मत में अनेक प्रकार के गोलमाल होते रहते थे। अनेकविध भ्रान्त विचारों का पोषण तो होता ही था, गुरु-भक्ति के नाम पर मनुष्य पूजा और चेले चेली की लीला भी खूब प्रचलित थी। गुजरात और उसके सीमावर्त्ती प्रदेशों में इस मत के अनुयायी आज कल भी पाये जाते हैं।

'स्वामी नारायणमत' की प्रवर्तना स्वामी सहजानन्द द्वारा हुई थी। सहजानन्द ने अपने मत की पुष्टि के लिये 'शिक्षापत्री' नामक पुस्तक का प्रचलन किया था। उसी 'शिक्षापत्री' नामक पुस्तक का खण्डन महर्षि दयानन्द ने अपनी इस 'शिक्षा-पत्री-ध्वान्त-निवारण' पुस्तक में किया है। इसी पुस्तक का दूसरा नाम 'स्वामी नारायणमत खण्डन' भी है। 'ध्वान्त' शब्द का अर्थ अंधिकार प्रसिद्ध ही है। शिक्षा-पत्री के द्वारा फैलाये गये अविद्यारूपी अन्धकार के निवारण का यत्न महर्षि ने इस ग्रन्थ के द्वारा किया है।

'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' नामक पुस्तक के पृष्ठ ३३ पर महर्षि का पत्र संख्या ६ प्रकाशित हुआ है। महर्षि ने यह पत्र बम्बई से श्री गोपालराव देशमुख प्रभृति अहमदाबाद निवासी आर्य पुरुषों के पत्र के उत्तर में लिखा था। उस पत्र के अन्त में महर्षि ने लिखा था—"और शिक्षा पत्री के खण्डन पुस्तक की गुजराती भाषा व्याख्या भी तैयार हो गई है। उसके तीन वा चार फार्म होंगे। पन्द्रह वा सोलह रुपये फार्म के हिसाब से पचास वा साठ रुपये लगेंगे। सो वहां छपवाओगे वा बम्बई में। परन्तु जो बम्बई में छपे तो अच्छा होगा। इसका उत्तर शीघ्र भेज देना।"

इस पत्र पर संवत् १६३२ मिति चैत्र वद्य ६ शनिवार अंकित है। इस पर श्री पण्डित भगवद्दत जी का लेख है कि यहां चैत्र मास का उल्लेख भूल से हुआ है, वास्तव में यहां, ज्येष्ठ मास लिखना था।

सूरत में महर्षि ने 'स्वामी नारायण मत खण्डन' में अनेक जोरदार भाषण दिये थे। उन भाषणों का जनता पर बहुत उत्तम प्रभाव हुआ था और साथ ही स्वामी नारायण मतानुयायी जनों पर भारी आतंक भी छा गया था। श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय महर्षि के जीवन-चरित्र में पृष्ठ ३०८ पर लिखते हैं:—

"सूरत में स्वामी नारायण मत के लोग स्वामी जी से इतना भय करने लगे थे कि यदि कभी उन्हें आता हुआ देख लेते थे, तो मार्ग से हट जाते थे। कातार ग्राम में स्वामी नारायण मतवालों का एक मन्दिर था, जिसमें उस मत के कुछ संन्यासी रहते थे। उन्हें सूरत जाते हुए, उसी बंगले के सामने से आना-जाना पड़ता था, जिसमें स्वामी जी ठहरे हुए थे। जब तक उसमें स्वामी जी की अवस्थिति रही, तब तक इन संन्यासियों ने बंगले के सामने होकर आना जाना छोड़ दिया था। और दूसरे मार्ग से आने जाने लगे थे।"

पृष्ठ ३०६ पर लिखते हैं:—

"स्वामी जी ने सूरत में ही स्वामी नारायण मत खण्डन पर एक पुस्तक लिखी।"

पृष्ठ ३१६ पर फिर लिखते हैं:—

"अहमदाबाद में स्वामी जी ने स्वामी नारायण

मत का खण्डन किया और "स्वामी नारायण मत खण्डन" नामक पुस्तक रची।

महर्षि ने इस ग्रन्थ को सूरत में रचा था या अहमदाबाद में, अथवा किसी अन्य स्थान में, इस विषय में निश्चय से कुछ कहना कठिन है। सम्भव है महर्षि ने एक स्थान पर लिखा हो और दूसरे स्थान पर संशोधन अथवा अनुवाद कार्य सम्पन्न हुआ हो।

महर्षि ने यह ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखा था। इसका प्रथम संस्करण कब छपाथा, यह भी तक भी विवाद का विषय चला आ रहा है। महर्षि के पत्र व्यवहार से ज्ञात होता है कि इसके प्रथम संस्करण के प्रकाशन की व्यवस्था 'स्टार प्रेस बनारस' में हुई थी; परन्तु वह वहां छपा भी था कि नहीं ? और यदि छपा था, तो वह केवल संस्कृत भाषा में था, अथवा संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में—यह कुछ भी पता नहीं चलता। ऊपर हम श्री गोपालराव के नाम महर्षि के एक पत्र का जो उद्धरण उद्धृत कर चुके हैं, उससे यही ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ का गुजराती अनुवाद स्वयं महर्षि ने ही तैयार करवाया था।

गुजराती अनुवाद सहित इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण ओरियण्टल प्रेस बम्बई से संवत् १९३३ वि० में प्रकाशित हुआ था। गुजराती अनुवाद का कार्य महर्षि के भक्त और शिष्य, भारत के सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी नेता श्री श्याम जी कृष्ण वर्मा अर्थात् 'वेद विरुद्ध मत खण्डन' ग्रन्थ के गुजराती संस्करण के अनुवादक महोदय ने ही सम्पादन किया था।

वैदिक यन्त्रालय अजमेर द्वारा विक्रम संवत् २००४ में पांचवीं वार प्रकाशित, 'शिक्षापत्री-ध्वान्त-निवारण' ग्रन्थ इस समय हमारे सामने है और वही अब पुनरपि प्रकाशन-पथ पर अग्रसर हो रहा है। यह ग्रन्थ पहिले संस्कृत में और फिर हिन्दी में छपा है। इस में हिन्दी भाग को गुजराती का अनुवाद सूचित किया गया है। अनुवादक महोदय का नाम इसमें नहीं है।

—सम्पादक

—०—

ओङ्कार-निर्णय

[लेखक—स्वर्गीय श्री पण्डित शिवशङ्करशर्मा काव्यतीर्थ]

—:⊙:—

लगभग चालिस वर्ष के पश्चात् यह ओङ्कार की व्याख्यास्वरूप मौलिक ग्रन्थ—नई सज-धज के साथ अभी-अभी प्रकाशित हुआ है। अक्षर मोटे, कागज उत्तम और छपाई शुद्ध एवं सुन्दर है। वेदों के सुप्रसिद्ध-विद्वान् श्री स्वामी वेदानन्द जी सरस्वती ने इसका सम्पादन किया है, स्वर्गीय काव्यतीर्थ जी का जीवन-परिचय उनके मित्र श्री स्वामी अभेदानन्द जी सरस्वती प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा विहार ने लिखा है। साथ ही इसमें स्वर्गीय काव्यतीर्थ जी का चित्र भी प्रकाशित किया गया है।

मूल्य—१॥) प्रति। डाकव्यय पृथक्।

मिलने का पता—

गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, देहली

॥ ओ३म् ॥

शिक्षापत्री-ध्वान्त-निवारणम्

अर्थात्

स्वामिनारायणमतदोषदर्शनात्मकम्

सहजानन्दादिमतस्थान् प्रति प्रश्नाः खण्डनञ्च

प्रश्नः—कोऽयं सहजानन्दो नाम ?

उत्तरम्—नारायणावतारः स्वामिनारायणाख्याचार्य इति ब्रूमः ।

प्रश्नः—कश्च नारायणः ?

उत्तरम्—वैकुण्ठगोलोकवासी चतुर्भुजो द्विभुजो लक्ष्मीपतिरीश्वर इत्युच्यते ।

प्रश्नः—स इदानीमस्ति न वा ?

उत्तरम्—वर्त्तत एव, तस्येश्वराख्यस्य नित्यत्वात् ।

नैवं शक्यम्, 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्' × इत्यादिश्रुतिविरोधात् । ईश्वरस्यानन्तान्तर्यामिसर्वव्यापकस्य जन्ममरणदेहधारणादेरसम्भवात् । सावयवदेहधारिणः संयोगजन्यादिमतो नित्यत्वेश्वरत्वयोरसम्भवाच्च । यो जन्ममरणशरीरधारणादिव्यवहारवान् स ईश्वर एव न भवति । तर्हीदानीन्तनस्य सहजानन्दस्य तु का कथा ?

तस्य सहजानन्दस्याचार्यत्वमेवासङ्गतम् । कुतः, मृतस्याध्यापने सामर्थ्याभावात्—

'स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' ॥०

'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सरहस्यं सकल्पञ्च तमाचार्यं प्रचक्षते' + ॥

इति ब्राह्मणमनुसाद्यस्य वर्तमानाभिप्रायस्य विद्यमानत्वात् ।

तद्रचितस्य शिक्षाग्रन्थस्य दर्शनेन सहजानन्दे शिष्टशिक्षाविद्याविरहत्वपाखण्डाचारा विज्ञायन्ते । तस्याः शिक्षापत्र्याः सहजानन्दरचिताया आदिमोऽयं श्लोकः—

वामे यस्य स्थिता राधा श्रीश्च यस्यास्ति वक्षसि
वृन्दावनविहारन्तं श्रीकृष्णं हृदि चिन्तये ॥ १ ॥

राधा वामे दक्षिणे पश्चिमे पुरतोऽध उपरि वा क्व स्थितेति प्रत्यक्षानुमानाप्तशब्दैः कस्यापि निश्चयो नास्ति, अत एव सहजानन्दस्य मिथ्यैव कल्पनास्तीति वेद्यम् । वक्षस्येव श्रीर्वर्त्तत इत्युच्यते चेत्तर्हि मुखाद्यङ्गेषु दरिद्रतास्तीति स्वीक्रियताम् । कृष्णस्तु द्वारिकासन्निधौ मरणं प्राप्तवानित्युक्तं महाभारते । इदानीं कृष्णस्य जीवो न जाने क्वास्ति । वृन्दावने विहरन् कृष्णः केनापि न दृश्यते । किन्तु बहवः पाखण्डिनः पाषाणादिमूर्त्तयश्च तत्र दृश्यन्ते, नैव कृष्णः । पुनः परमेश्वरं निराकारं जन्ममरणादिदोषरहितं विहाय 'कृष्णं हृदि चिन्तय' इत्युक्तिर्व्यर्थैवेति ॥ १ ॥

मुकुन्दानन्दमुख्याश्च नैष्ठिका ब्रह्मचारिणः ।
गृहस्थाश्च मयारामभट्टाद्या ये मदाश्रयाः ॥४॥

मुकुन्दानन्दादीनां वेदेश्वरयोर्निष्ठाध्ययनाभावान्नैष्ठिकब्रह्मचारित्वमेवासङ्गतम् ॥ ४ ॥

एवमेवाग्रस्थाः श्लोकाः प्रायशोऽशुद्धाः सन्त्यत ःेद्यन्ते ।

× यजुः अ० । मं० ८ ॥

० मुण्डकोप० १ । २ । १२ ॥

+ मनु० २ ॥ १४० ॥

दृष्ट्वा शिवालयादीनि देवागाराणि वर्त्मनि ।
प्रणम्य तानि तद्देवदर्शनं कार्यमादरात् ॥१३॥

पाषाणादिमूर्त्यागाराणां देवालयसंज्ञावचनात् 'तद्देवदर्शनं कार्यमादरादिति' प्रलापात् सहजानन्दे पदार्थविद्याया अभाव एव दृश्यते ॥ १३ ॥

स्ववर्णाश्रमधर्मो यः स हातव्यो न केनचित् ।
परधर्मो न चाचर्यो न च पाखण्डकल्पितः ।१४।

वेदोक्तः स्ववर्णाश्रमधर्मः सहजानन्देन किमर्थं त्यक्तः ? कुतः, वेदविरुद्धानां स्वकपोलकल्पितानां पाषाणादिमूर्त्तिपूजनकण्ठीतिलकधारणादिपाखण्डानां प्रचारकरणात् सहजानन्दे वदतो व्याघातदोषस्समागतो वेदितव्यः ॥ १४ ॥

कृष्णभक्तेः स्वधर्माद् वा पतनं यस्य वाक्यतः ।
स्यात्तन्मुखान्न वै श्रव्याः कथा वार्त्ताश्च वा प्रभोः॥

कृष्णभक्तिरेव स्वधर्मोऽस्तीति कथनं व्यर्थमेव । कुतः, वेदे वर्णाश्रमधर्मप्रतिपादनप्रकरणे कृष्णभक्तिः स्वधर्म इति प्रतिपादनस्याभावात् । अतः किं समागतं ? सहजानन्दस्य तत्सम्प्रदायस्थानाञ्च मुखात् कदाचित् केनचिदपि कथा नैव श्रोतव्येति सिद्धान्तः । स कृष्णः प्रभुरेव न, तस्य जन्ममरणादिस्वभाववत्त्वात् ॥ १५ ॥

ज्ञानवार्त्ताश्रुतिर्नार्या मुखात् कार्य्या न पूरुषैः ।
न विवादः स्त्रिया कार्यो न राज्ञा न च तज्जनैः॥

गार्ग्यादिस्त्रीमुखाद् याज्ञवल्क्यादिमहर्षिभिः कथायाः श्रुतत्वात्१ सहजानन्दकल्पना त्वग्राह्या ॥३४॥

कृष्णदीक्षा गुरोः प्राप्ते तुलसी मालिका गले ।
धार्यो नित्यञ्चोर्ध्वपुण्ड्रो ललाटादौ द्विजातिभिः॥

कृष्णदीक्षातुलसीमालाधारणोर्ध्वपुण्ड्रधारणमित्युक्तिः सहजानन्दस्य व्यर्थैव । कुतः, वेदयुक्तिभ्यां विरोधात् । स्वल्पकण्ठीतिलकधारणे पुण्यं भवति चेत्तर्हि कण्ठीभारधारणे सर्वमुखशरीरलेपने च महत्पुण्यं भविष्यतीत्येवं क्रियताम् ॥ ४१ ॥

इत्यादिश्लोकाः सहजानन्दस्य मिथ्या एव वेदितव्याः ।

१ द्र० शत० १४ । ६ । ६। १; १४ । ६ । ८ । १—१२॥

त्रिपुण्ड्ररुद्राक्षधृतिर्येषां स्यात् स्वकुलागता ।
तैस्तु विप्रादिभिः क्वापि न त्याज्या सा मदाश्रितैः

ऐकात्म्यमेव विज्ञेयं नारायणमहेशयोः ।
उभयोर्ब्रह्मरूपेण वेदेषु प्रतिपादनात् ॥४७॥

एवञ्चेत् सहजानन्दस्य कुलस्थैः कदाचित् त्रिपुण्ड्रुद्राक्षधारणं कृतमेवासीत्, पुनस्तेन किमर्थं त्यक्तं त्याजितञ्च ? मदाश्रितैरिति बहुशो लिखति, तद्व्यर्थमेव । कुतः, तस्याविदुषो जन्ममरणादिदोषवतो जीवस्याश्रयो निष्फलोऽतः ॥ ४६ ॥

नारायणमहेशयोरैक्यमसङ्गतं तयोर्ब्रह्मरूपेण वेदे प्रतिपादनाभावात् । अतः सहजानन्दस्य कथनं व्यर्थमेव ॥ ४७ ॥

प्रणम्य राधाकृष्णस्य लेख्यार्चा तत आदरात् ।
शक्त्या जपित्वा तन्मन्त्रं कर्त्तव्यं व्यावहारिकम्॥

राधाकृष्णौ सहजानन्देनान्यैश्च प्रत्यक्षतया नैव दृष्टौ, पुनश्च तयोर्लेख्यां मूर्त्तिं कर्तुं सामर्थ्यन्नैव भवेत् । अतस्तत्पूजाकर्त्तव्योक्तिः सहजानन्दस्यान्यथैव वेद्या ॥ ५४ ॥

शैली वा धातुजा मूर्तिः शालिग्रामोऽर्च्य एव तैः ।
द्रव्यैर्यथाप्तैः कृष्णस्य जप्योऽथाष्टाक्षरो मनुः ५६

अस्माच्छ्लोकाद् विज्ञायते सहजानन्दस्यापि जडबुद्धिरासीदिति । कुतः, वेदयुक्तिविरुद्धस्य पाषाणादिमूर्त्तिपूजनस्य विधानात् । कृष्णमन्त्रजपेन वेदोक्तविरुद्धेन नास्तिकत्वसिद्धेश्च ॥ ५६ ॥

हरेर्विधाय नैवेद्यं भोज्यं प्रासादिकं ततः ।
कृष्णसेवापरैः प्रीत्या भवितव्यं च तैः सदा ५८

हरेरप्रत्यक्षत्वात्, पाषाणादिजडमूर्त्तेर्भोजनकरणाभावात्, तन्नैवेद्यकरणं व्यर्थमेव । इदन्तु खलु छलमेवास्ति । कुतः, अङ्गुष्ठदर्शनेन घण्टानादं कृत्वा स्वभोजनाभिप्रायस्य विद्यमानत्वात् ॥ ५८ ॥

आचार्येणैव दत्तं यद् यच्च तेन प्रतिष्ठितम् ।
कृष्णस्वरूपं तत्सेव्यं वन्द्यमेवेतरत्तु यत् ॥६२॥

भगवन्मन्दिरं सर्वैः सायं गन्तव्यमन्वहम् ।
नामसंकीर्त्तनं कार्यं तत्रोच्चै राधिकापतेः ॥६३॥

पाषाणादिमूर्त्तिस्वरूपं यो ददाति तत्प्रतिष्ठापयति च तत् कृष्णरूपमेव न, किन्तु तत् पाषाणादिस्वरूपमेव। तच्च कदाचित् केनचिदपि न सेव्यं, न चैव वन्द्यम्। किन्तु यस्सर्वशक्तिमानजो न्यायकारी दयालुस्सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापी निराकारो भगवान् परमात्मा, स एव सर्वैस्सेव्यो वन्द्यश्चातोऽन्यो नैव वन्द्यस्सेव्यश्चेति निश्चयः ॥ ६२ ॥

अत एवाभगवत्पाषाणादिमूर्त्तिमन्दिरं भगवन्मन्दिरं मन्यमानस्य, तच्च सायं सर्वैरन्वहं गन्तव्यमनीश्वरस्य मरणजन्मवतो राधिकापतेर्मृतस्य कृष्णस्योच्चैर्नामसंकीर्तनं [च] कार्यमिति मिथ्योपदेशं प्रयुञ्जतस्सहजानन्दस्य वेदविद्या किञ्चिन्मात्रापि तस्य नासीद्। असदुपदेशाच्च सद्गतिरपि तस्य नाभूदित्यनुमीयते। अस्य मिथ्योपदेशस्य ये स्वीकारञ्चक्रुः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च, तेषामपि सद्गतिर्न भूता न भवति न भविष्यति च। किन्तु वेदसद्विद्यां तत्रोपदिष्टं न्यायं पक्षपातरहितं वैरबुद्धित्यागादि लक्षणं धर्मञ्च यथावद् ये स्वीकरिष्यन्ति, सर्वशक्तिमन्न्यायकारिदयालुत्वादिलक्षणस्य निराकारपरमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनोपासनाश्च यथावच्च करिष्यन्ति, तेषामेव सद्गतिरभूद् भवति भविष्यति चेति सर्वैर्वेदितव्यम् ॥ ६३ ॥

एवमेव अग्रस्थाः श्लोकाः प्रायोऽशुद्धास्सन्तीत्यत उपेक्ष्यन्ते।

एकादशीनां सर्वासां कर्त्तव्यं व्रतमादरात्।
कृष्णजन्मदिनानाञ्च शिवरात्रेश्च सोत्सवम् ।७६।

एकादश्यादीनि व्रतादीनि वेदे क्वापि न विहितानि। किन्तु ब्रह्मचर्यसत्यभाषणादीन्येव व्रतानि कर्तुं विहितानि। अत एवैकादश्यादीनां व्रतानामाचरणं व्यर्थमेवेति परामर्शः ॥ ७६ ॥

सर्ववैष्णवराजश्री – वल्लभाचार्यनन्दनः।
श्रीविट्ठलेशः कृतवान् यं व्रतोत्सवनिर्णयम् ।८१।
कार्यास्तमनुसृत्यैव सर्व एव व्रतोत्सवाः।
सेवारीतिश्च कृष्णस्य ग्राह्या तदुदितैव हि ।८२।
कर्त्तव्या द्वारिकामुख्यतीर्थयात्रा यथाविधि।
सर्वैरपि यथाशक्ति भाव्यं दीनेषु वत्सलैः ।८३।
विष्णुः शिवो गणपतिः पार्वती च दिवाकरः।
एता पूज्यतया मान्या देवताः पञ्च मामकैः ।८४।
भूताद्युपद्रवे क्वापि वर्म नारायणात्मकम्।
जप्यञ्च हनुमन्मन्त्रो जप्यो न क्षुद्रदैवतः ॥८५॥

सर्ववैष्णवराजश्रीवल्लभाचार्यनन्दनो विट्ठलेशः परधनहरणं धर्मनाशनं व्रतं परस्त्रीगमनादिव्यभिचारोत्सवमपि च कृतवाँस्तत् कार्यत्वेनातिदिशतः सहजानन्दस्यापि दोषापत्तिरेव मन्तव्येति ॥ ८१-८२ ॥

द्वारिकायास्तीर्थयात्रामुपदिशतः सहजानन्दस्य भ्रान्त्यापत्तिरेव विज्ञायते। कुतः, जडे पाषाणजलादौ तीर्थोपदेशाभावात्। तद्यात्राकरणोपदेशो दुःखफलक एवास्ति। किञ्च—'अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः१' इति छान्दोग्योपनिषदि, 'सतीर्थ्यस्सब्रह्मचारी च, इत्यादि प्रमाणार्थव्यवहारस्य विद्यमानत्वाद् वेदेश्वरविज्ञानामेव तीर्थसंज्ञा मन्तव्येत्युपदेशः। यैर्विद्याजन्ममरणहर्षशोकादिदुःखानि तरन्ति तानि तीर्थानीति निरुक्तेश्च ॥ ८३ ॥

शिवविष्णुगणपतिपार्वत्यादीनां देहधारिणां मृतानां वेदेषु पूजानभिधानाद्, रवेर्जडत्वाच्च पूजा निष्फला। परमेश्वर एक एव पूज्यस्तत्र पञ्चत्वाभावाद्। 'एताः पूज्यतया मान्याः' इति सहजानन्दस्योपदेशोऽसङ्गत एवास्तीति बोध्यम् ॥ ८४ ॥

भूताद्युपद्रवनिवारणार्थं नारायणकवचपाठं हनुमन्मन्त्रजपञ्चोपदिशति सहजानन्दे भ्रान्तिरेव सिध्यति। अतस्तदुपदेशप्रमाणं व्यर्थमेव ॥ ८५ ॥

वेदाश्च व्याससूत्राणि श्रीमद्भागवताभिधम्।
पुराणं भारते तु श्रीविष्णोर्नामसहस्रकम् ९३
तथा श्रीभगवद्गीता नीतिश्च विदुरोदिता।
श्रीवासुदेवमाहात्म्यं स्कान्दवैष्णवखण्डगम् ९४
धर्मशास्त्रान्तर्गता च याज्ञवल्क्यऋषेः स्मृतिः।
एतान्यष्ट ममेष्टानि सच्छास्त्राणि भवन्ति हि ९५
स्वहितेच्छुभिरेतानि मच्छिष्यैः सकलैरपि।

श्रोतव्यान्यथ पाठ्यानि कथनीयानि च द्विजैः ९६
तत्राचारव्यवहृतिनिष्कृतानाञ्च निर्णये।
ग्राह्या मिताक्षरोपेता याज्ञवल्क्यस्य तु स्मृतिः ९७
श्रीमद्भागवतस्यैव तु स्कन्धौ दशमपञ्चमौ।
सर्वाधिकतया ज्ञेयौ कृष्णमाहात्म्यबुद्धये ॥९८॥
दशमः पञ्चमः स्कन्धो याज्ञवल्क्यस्य च स्मृतिः
भक्तिशास्त्रं योगशास्त्रं धर्मशास्त्रं क्रमेण मे ९९
शारीरकाणां भगवद्गीतायाश्चावगम्यताम्।
रामानुजाचार्यकृतं भाष्यमाध्यात्मिकं मम।१००।
एतेषु यानि वाक्यानि श्रीकृष्णस्य वृषस्य च।
अत्युत्कर्षपराणि स्युस्तथा भक्तिविरागयोः १०१
मन्तव्यानि प्रधानानि तान्येवेतरवाक्यतः।
धर्मेण सहिता कृष्णभक्तिः कार्येति तद्रहः १०२

वेदाश्चेत्यादयः श्लोकाः प्रायोऽशुद्धाः सन्ति। श्रीमद्भागवतादिपुराणानां, भारते विष्णोः सहस्रनाम्नां, भगवद्गीतायाश्च स्वीकारादन्येषां तत्रस्थानां श्रेष्ठानामपि त्यागाद्, वासुदेवमाहात्म्यस्यैव ग्रहणादन्यस्याग्रहणात्, मिताक्षराटीकान्विताया याज्ञवल्क्यस्मृतेरेवग्रहणात्, पूर्वमीमांसादिशास्त्राणां मनुस्मृतेश्चाग्रहणादविद्वत्त्वैव दृश्यते सहजानन्दे। सर्वेभ्यश्चैव स्कन्धेभ्योऽतीवाशुद्धस्य मिथ्याभूताधर्मकथाप्रतिपादकस्य दशमस्कन्धस्य सर्वाधिकतया स्वीकाराद् विषयासक्तो वेदनिन्दकोऽपि सहजानन्दोऽस्तीति विज्ञायते॥

दशमस्कन्धे भक्तिशास्त्रस्य लेशोऽपि नास्ति। किन्तु, व्यभिचाराद्यधर्मप्रतिपादनं तत्रास्त्येव प्रसिद्धम्। पञ्चमस्कन्धे योगशास्त्रप्रतिपादनं नास्ति। किन्तु, योगाभासप्रतिपादनं तु तत्रास्त्येव। श्रौतसूत्रमीमांसा–देर्धर्मशास्त्रस्य तिरस्कारात् पिष्टपेषणवद् दूषिताया याज्ञवल्क्यस्मृतेः स्वीकारात् सहजानन्दस्य वेदोक्तानां कर्मोपासनाज्ञानकाण्डानां बोध एव नास्तीति विज्ञायते॥ ९९॥

रामानुजकृतस्य शारीरकसूत्रभाष्यस्यात्यशुद्धस्य स्वीकाराद्विवेकसहजानन्देऽस्त्येवेति विज्ञायते।१००।

श्रीकृष्णेन वेदस्यैव खल्वत्युत्कर्षो मतः, न च स्ववाक्यानाम्। अत एव सहजानन्देन 'अत्युत्कर्षपराणि तद्वाक्यानि स्युः' इत्युक्तत्वाद् भ्रान्त एव स मन्तव्यः॥ १०१॥

वेदवाक्यान्येव सर्वोत्कृष्टानि सन्तीति ब्रह्मादीनामिदानीन्तनान्तानां तु विदुषां सिद्धान्ते विद्यमाने, वेदेभ्योऽपि कृष्णवाक्यान्येव प्रधानान्येवं प्रबुवन् सहजानन्दो लज्जामपि न प्राप्तवानिति॥ १०२॥

हृदये जीववज्जीवे योऽन्तर्यामितया स्थितः
ज्ञेयः स्वतन्त्र ईशोऽसौ सर्वकर्मफलप्रदः॥
स श्रीकृष्णः परब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमः।
उपास्य इष्टदेवो नः सर्वाविर्भावकारणम्॥
स राधया युतो ज्ञेयो राधाकृष्ण इति प्रभुः।
रुक्मिण्या रमयोपेतो लक्ष्मीनारायणः स हि॥
ज्ञेयोऽर्जुनेन युक्तोऽसौ नरनारायणाभिधः॥
बलभद्रादियोगेन तत्तन्नामोच्यते स च॥

जीववन्न कदाचिदीशो भवति, सर्वज्ञसर्वशक्त्यनन्तनिर्विकारत्वादिस्वभावत्वात्॥ १०७॥

जन्ममरणहर्षशोकाल्पशक्त्यादिवत्त्वात् कृष्णः परब्रह्मभगवान् पुरुषोत्तमः कदाचिन्नैव संभवति। पुनः सर्वशक्तिमन्तं न्यायकारिणं दयालुं सर्वान्तर्यामिणं सच्चिदानन्दादिस्वरूपं निर्दोषं निराकारमजं विभुं वेदयुक्तिसिद्धं परमात्मानं विहाय, जन्ममरणादिव्यवहारवन्तं जीवं कृष्णमुपास्येष्टदेवत्वेन यः सहजानन्दः कथयति,स वेदपदार्थविद्याविहीन एव विज्ञेयः॥

राधा त्वनयाख्यगोपस्य स्त्र्यासीन्न कृष्णस्य। कृष्णस्य रुक्मिण्येव स्त्री। पुनस्तस्य लक्ष्मीनारायणसंज्ञैवायोग्येति वेदितव्यम्॥ १०९॥

'तत्तन्नामोच्यते स च' इति सहजानन्दस्योक्तिरन्यथैव। कुतः, सर्वज्ञज्ञानमन्तरा सहजानन्दस्येदं कथनमयुक्तज्ञातो बोध्यम्॥ ११०॥

तस्यैव सर्वथा भक्तिः कर्त्तव्या मनुजैर्भुवि।
निःश्रेयसकरं किञ्चित्ततोऽन्यन्नेति दृश्यताम्॥

कृष्णस्यापि कल्याणं जातन्न वेति विदुषां सन्देहः।

स च परमेश्वरस्यैव भक्तिं कृतवानुपदिष्टवांश्च। पुनस्तस्यैव सर्वैर्मनुष्यैर्भक्तिः कार्या ततोऽन्यत्कल्याणकरं किञ्चिन्नास्त्येवेति वदन् सहजानन्दो विद्याहीन एवासीत्॥ ११३॥

गुणिनां गुणवत्ताया ज्ञेयं ह्येतत् परं फलम्।
कृष्णेभक्तिश्च तत्संगोऽन्यथा यान्ति विदोऽप्यधः

'गुणिनां गुणवत्ताया' इत्येवं छन्दोविरुद्धा अशुद्धाः श्लोकास्सन्ति बहवः शिक्षापत्र्याम्। अतो विज्ञायते सहजानन्दस्य छन्दोज्ञानमपि यथावन्नासीदिति। कृष्णे मृते भक्तिरेवाशक्या निष्फला वेदविरुद्धा चास्ति। विद्वांसस्तु सदैव सद्गतिं प्राप्नुवन्ति, विद्यायाः प्रकाशस्वरूपत्वात्। किञ्च, अविद्वांस एव सहजानन्दसदृशा असद्गतिं गता इति विज्ञायते। कुतः, अविद्याया अधर्माचरणान्धकारत्वात्॥११४॥

निजात्मानं ब्रह्मरूपं देहत्रयविलक्षणम्।
विभाव्य तेन कर्त्तव्या भक्तिःकृष्णस्य सर्वदा ११५

निजात्मा जीवो ब्रह्मस्वरूपश्चेद्, ब्रह्मणा तुल्यत्वं तस्मिन् कुतो न दृश्यते? तुल्यत्वं चेत्तर्हि ब्रह्मणा सकलजगद्रचितं, जीवेन नवीनं जगत् किञ्चिन्मात्रमपि कुतो न रच्यते? जीवब्रह्मणोरैक्यं चेत्तर्हि ब्रह्मैवाविद्याजन्ममरणहर्षशोकशीतोष्णसुखदुःखज्वरपीडाबन्धादिदोषयुक्तं जातमेवेति स्वीक्रियताम्। जीवाद् ब्रह्म भिन्नञ्चेत् प्रतिज्ञाहानिः कृष्णोऽपि ब्रह्मभक्तः, एवं सर्वैर्जीवैरपि ब्रह्मभक्तैरेव भवितव्यम्। नैवान्यस्य कस्यचित् कृष्णादेर्जीवस्य चेति। एवं कृष्णस्य भक्तिः सर्वदा कार्येति सहजानन्दे महती दोषापत्तिरिति विज्ञातव्यम्॥११५॥

मतं विशिष्टाद्वैतं मे गोलोको धाम चेप्सितम्।
तत्र ब्रह्मात्मना कृष्णसेवा मुक्तिश्च गम्यताम्१२१

चक्राङ्कितवत् सहजानन्दस्य मतमस्तीति विज्ञातव्यम्। विशिष्टाद्वैतशब्दस्यैवमर्थः क्रियते—अविद्याविशिष्टो जीवो मायया विशिष्ट ईश्वरः। विशिष्टो नाम मिलितः। केचिदेकां मायामीश्वरस्यैव स्वीकुर्वन्ति। एवं चतुर्णां त्रयाणां वा पदार्थानां वर्तमानत्वादद्वैतमेव दुर्लभम्। द्वितीयेन विना विशिष्ट एव न भवति। विशिष्टश्च विशिष्टश्च विशिष्टौ, मायाऽविद्याभ्यां युक्तौ जीवेशौ, तयोरद्वैतं विशिष्टाद्वैतम्। द्वयोरद्वैतं कदाचिन्न सम्भवति। किन्तु खल्वद्वैतं केवलमेकं ब्रह्मैवास्ति। तद्यथा सजातीयं विजातीयं च द्वितीयं ब्रह्मैव नास्ति, एवं स्वगतभेदोऽपि ब्रह्मणि नास्त्येव, संयोगवियोगाभावात्। अत एव एकमेकरसमद्वितीयं ब्रह्मैवास्तीति वेदश्रुतिसंमतो ह्यद्वैतशब्दार्थो वेदितव्यः। एवं सति रामानुजसहजानन्दयोर्मतमशुद्धमेव वेदितव्यम्। गवां पशूनां लोको धाम मम चेति स्वीकारात् सहजानन्दे पशुप्रियत्वमेव समागच्छति, स्वजातिपरत्वप्रवाहस्य विद्यमानत्वात्। गोलोक एव निवासत्वात् कृष्णसेवानिबन्धनत्वाच्च सैव मुक्तिरिति सहजानन्दादिप्रलापो मिथ्यैवेति विज्ञायताम्॥ १२१॥

मया प्रतिष्ठापितानां मन्दिरेषु महत्सु च।
लक्ष्मीनारायणादीनां सेवा कार्या यथाविधि १३

सहजानन्देनान्यैर्वा प्रतिष्ठापिता विद्याधर्मविरुद्धेषु मिथ्याधनगतव्ययेषु महत्सु मन्दिरेषु पाषाणादिमूर्त्तयो लक्ष्मीनारायणादयः कदाचिन्नैव भवन्ति। वेदानभिहितानां पाषाणादिमूर्त्तीनां जडत्वाल्लक्ष्मीनारायणादीनां तदानीञ्चेतनत्वात् पाषाणादिमूर्तीनां यथाविधि खण्डनमेव कर्त्तव्यम्, नैव च पूजनमिति॥१३०॥

अथैतयोस्तु भार्याभ्यामाज्ञया पत्युरात्मनः।
कृष्णमन्त्रोपदेशश्च कर्त्तव्यः स्त्रीभ्य एवहि१३३

सहजानन्देन विहितमुपदेशमन्तरा स्त्रीभ्योऽपि धनलाभ एव न भविष्यत्यत एवं कपटं प्रसारितम्। तदपि परमात्ममन्त्रोपदेशं विहाय मृतस्य कृष्णस्य मन्त्रोपदेशं चोक्तवान्। अतः सहजानन्दो धनलोभ्यज्ञानी चेति विज्ञायते॥१३३॥

निजवृत्त्युद्यमप्राप्तधनधान्यादितश्च तैः।
अर्प्यो दशांशः कृष्णाय विंशांशस्त्विह दुर्बलैः

परधनहरणार्थं निजसुखार्थञ्च सहजानन्दस्य प्रसिद्धं कापट्यमेव दृश्यते। विना परिश्रमेण दशांशं विंशांशं धनं गृहीत्वा पुष्कलं संसारस्थं विषयभोगं वयं कुर्म इत्यभिप्रायस्तस्यास्तीति निश्चयः। पुनरन्यथा वदति कृष्णाय समर्प्यमिति। कृष्णस्तु मृतः, स दशांशं

विंशांशं धनं ग्रहीतुं नैवागच्छति कदाचिन्नैतादृशं तस्य दारिद्र्यमासीत्। तस्मात् सहजानन्दस्य महती धूर्त्तता वेदितव्या, यथा गोकुलस्थानां वल्लभप्रभृतीनां च ईदृशानां धूर्त्तानां सम्प्रदायप्रवृत्त्यार्यावर्त्तदेशस्य महती हानिर्जाता। अतः सर्वैः सज्जनैरिदानीं दृढप्रयत्नेन सद्य इमे सर्वे सम्प्रदाया निवर्त्तनीया। अन्यथा स्वदेशस्य भद्रन्नैव भविष्यतीति निश्चेतव्यम्॥१४७॥

एकादशीमुखानाञ्च व्रतानां निजशक्तितः।
उद्यापनं यथाशास्त्रं कर्त्तव्यं चिंतितार्थदम्॥१४८॥
कर्त्तव्यं कारणीयं वा श्रावणे मासि सर्वदा।
बिल्वपत्रादिभिः प्रीत्या श्रीमहादेवपूजनम्॥१४९॥

इदमपि सहजानन्दस्य धूर्त्ततास्ति। यद्येकादश्यादिव्रतानि न करिष्यन्ति तदुद्यापनेन विना धनलाभोऽपि शिष्येभ्यो न भविष्यति। पुनश्च श्रावणे मासि महादेवपूजनमर्थात् पाषाणादिमूर्त्तिपूजनेन विनापि धनप्रतिष्ठे शिष्येभ्यो नैव लप्स्यामहे, एतदर्थं सहजानन्दस्य कापट्यं वेदितव्यम्॥ १८४-१४९॥

देवताप्रतिमां हित्वा लेख्या काष्ठादिजापि वा।
न योषित्प्रतिमा स्पृश्या न वीक्ष्या बुद्धिपूर्वकम्॥१७७॥

स्वमन्दिरेषु सहजानन्देन राधाया मूर्त्तिः किमर्था? सा स्त्री नासीत् किम्? पुनश्च 'वामे यस्य स्थिता राधा श्रीश्च यस्यास्ति वक्षसि' इति स्त्रीकथा सहजानन्देन किमर्था कथितोपदिष्टा च? ताश्च साध्व्यादिभिश्चित्रमयीर्बुद्धिपूर्वकं किमर्था वीक्ष्यन्ते? तासां राधादीनां च कथा किमर्था क्रियते? अत एव प्रमत्तगीतवत् प्रलापात् सहजानन्दादिषु वदतो व्याघातदोषो बहुश आगच्छतीति बोध्यम्॥१७७॥

सर्वेन्द्रियाणि जेयानि रसना तु विशेषतः।
न द्रव्यसंग्रहः कार्यः कारणीयो न केनचित्॥१८९॥
न्यासो रक्ष्यो न कस्यापि धैर्यं त्याज्यं न कर्हिचित्।
न प्रवेशयितव्या च स्वावासे स्त्री कदाचन॥१९०॥

साधुभिरखिलेन्द्रियजयादिकं कर्त्तव्यमित्युपदिश्यते भवता। तर्हि भवानजानत्यस्ति किम्? एतद्वचनेन जितेन्द्रियत्वादिकं नैव कर्त्तव्यं किम्॥ १८८॥

कस्यचिन्न्यासस्थापनं नैव रक्षणीयञ्चेत्, विद्याधर्मेश्वरप्रार्थनास्तुत्युपासना नैव स्थाप्याः किम्? वेदयुक्तिधर्मविरुद्धस्य स्वसम्प्रदायस्थापनं किमर्थं क्रियते, सहजानन्देन च किमर्थं कृतम्? किन्त्वीदृशस्य पाखण्डस्य खण्डनमेव सर्वैः कर्त्तव्यं, सद्धर्ममण्डनञ्चेति॥ १९०॥

इति संक्षेपतो धर्माः सर्वेषां लिखिता मया।
साम्प्रदायिकग्रंथेभ्यो ज्ञेय एषां तु विस्तरः॥२०३॥
सच्छास्त्राणां समुद्धृत्य सर्वेषां सारमात्मना।
पत्रीयं लिखिता नृणामभीष्टफलदायिनी॥२०४॥

'इति संक्षेपत' इति धर्मस्य तु लेशमात्रमपि प्रतिपादनं नैवात्र कृतम्। किन्तु स्वकपोलकल्पनेन स्वभ्रान्तिः प्रकाशिता दृश्यते। वेदादिषु धर्मो यथावल्लिखितोऽस्तीति तज्ज्ञानमेव सहजानन्दस्य नास्ति। लिखितस्य धर्मस्य पुनर्लेखनं व्यर्थमेव पिष्टपेषणवद्दोषात्। सर्वेषां मनुष्याणां सनातनः साम्प्रदायिको ग्रन्थो वेद एवास्ति। पुनः शिक्षापत्र्यादिग्रन्थरचनं व्यर्थमेव विज्ञेयम्। विस्तर इत्यशुद्धं किन्त्वत्र विस्तार इति भवितव्यम्। 'प्रथने वावशब्दे' इति व्याकरणनियमात्। कथनश्रवणोपाधावेव विस्तरेति भवितव्यं, न्यत्रेति निश्चयः॥२०३॥

सहजानन्दस्य सच्छास्त्राणां बोधोऽध्ययनञ्चापि नासीदिति विज्ञायते। वेदविरुद्धपाषाणादिमूर्त्तिपूजनकण्ठीतिलकधारणञ्चेत्यादिमिथ्याप्रतिपादनादसारभूतेयम्पत्री लिखितेति विज्ञायते। 'अभीष्टफलदायिनी'ति प्रलोभनमात्रम्। सर्वेषामभीष्टं सुखमेव भवति न च दुःखम्। तत्तु शिक्षापत्रीपाठादिना सर्वदा सुखञ्चेत्यनुभवविरुद्धमेव। ईदृक्कथनेन सहजानन्दे लोभादयो दोषा विज्ञायन्ते। प्रलोभनेन विना सम्प्रदायस्य वृद्धिर्न भवति। तद्वृद्ध्या विना प्रतिष्ठा धनप्राप्तिश्च न भवति। पुनर्यथेष्टं विषयसुखं न लभ्यते हीति सहजानन्दस्य बुद्धौ कपटमासीदिति विज्ञेयम्॥ २०४॥

वर्त्तिष्यन्ते य इत्थं हि पुरुषा योषितस्तथा।
ते धर्मादिचतुर्वर्गसिद्धिं प्राप्स्यन्ति निश्चितम्॥२०

पाषाणादिमूर्त्तिपूजनादिपाखण्डेन सह ये पुरुषाः स्त्रियश्च वर्त्तिष्यन्ते, ते धर्मार्थकाममोक्षसिद्धिन्तु न प्राप्स्यन्ति । किन्त्वधर्मानर्थकुकामदुःखरूपानर्थसिद्धिमेव प्राप्स्यन्तीति निश्चयः ॥ २०६ ॥

नेत्थं य आचरिष्यन्ति ते त्वस्मत्संप्रदायतः ।
बहिर्भूता इति ज्ञेयं स्त्रीपुंसैः सांप्रदायकैः २०७

पाषाणादिमूर्त्तिपूजनं कण्ठीतिलकादिपाखण्डविह्नधारणं, कदाचित्केनचिदपि नैव कर्त्तव्यम्, इतोऽत्थं ये वर्त्तन्ते धर्मार्थकाममोक्षाणां सिद्धिं प्राप्नुवन्त्येव वेदादिसत्यशास्त्रोक्तं सनातनं सत्यं पक्षपातरहितं न्यायं धर्मं हित्वा शिक्षादिकपोलकल्पितान्, पक्षपातपिष्टपेषणदूषितान्, सहजानन्दादिरचितान्, वेदपठनमार्गविरोधिनो ग्रन्थान् ये स्वीचक्रुः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च, तानेव नास्तिकत्वदोषयुक्तान् सत्यधर्मबहिर्भूतान्छिष्टा विजानीयुरिति सिद्धम् ॥ २०७ ॥

शिक्षापत्र्याः प्रतिदिनं पाठोऽस्या मदुपाश्रितैः ।
कर्त्तव्योऽनक्षरज्ञैस्तु श्रवणं कार्य्यमादरात् ॥२०८॥
वक्त्रभावे तु पूजैव कार्यास्याः प्रतिवासरम् ।
मद्रूपमिति मद्वाणी मान्येयं परमादरात् ॥२०९॥
युक्ताय सम्पदा दैव्या दातव्येयं तु पत्रिका ।
आसुर्या सम्पदाढ्याय पुंसे देया न कर्हिचित् २१०

वेदानां पठनं श्रवणञ्च विहाय शिक्षापत्र्यादीनां सहजानन्दादिकपोलकल्पितानां ग्रन्थानां पठनश्रवणे व्यर्थं एवेति वेदितव्यम् ॥ २०८ ॥

ईदृशस्य जडस्य व्यर्थपुस्तकस्य पूजाकरणोपदेशोऽयुक्त एव । वाणी जीवस्य रूपमेव न भवति कदाचित् । पुनः परमादरान्मान्यातु न, किन्तु परमप्रयत्नात्खण्डनीयाऽशुद्धत्वादिति । एतत्कथनेन सहजानन्दस्याशयः निनो बालान्भ्रामयित्वा कपटेन धनादिकं तेभ्यो हर्त्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ २०९ ॥

यो दैव्या सम्पदा युक्तो जनस्स त्विमां शिक्षापत्रीं कदाचिन्नैव ग्रहीष्यति, तस्मिन्विद्याप्रकाशस्य विद्यमानत्वात् । यस्त्वविद्याद्यसुरसम्पद्युक्तः स एतां स्वीकरोति । तस्मिन् सम्प्रदाहशब्दवाच्यस्य सम्प्रदायाग्रहान्धकारस्य विद्यमानत्वात् । सम्यक्प्रकृष्टतया दग्धज्ञाना भवन्ति यस्मिन् सोऽयं सम्प्रदाहः । इदानीन्तनास्सम्प्रदाया वेदविरुद्धास्सर्वे सम्प्रदाहशब्दवाच्या एव वेदितव्या इति परामर्शः ॥ २१० ॥

मरणसमये स्वशिष्याणां हस्तं गृहीत्वा विमानस्योपरि स्थापयित्वा वैकुण्ठं नयति सहजानन्दः, परमसुखञ्च ददातीति मिथ्याप्रलापः सहजानन्दशिष्यादिमुखाच्छ्रूयते स सत्यो वा मिथ्या ?

मिथ्यैवेति निश्चयः । कथं, यो मृतः स आगन्तुं पूर्वदेहकार्यं कर्तुं च नैव समर्थो भवति । यदि समर्थः स्यात्तर्हि तत्सम्प्रदायस्थैश्छलादिव्यवहारेण धनादिपदार्थाः पुष्कलास्स्वाधीनाः कृतास्तद्भोगं कर्तुमप्यवश्यमागच्छेत् । भोगार्थञ्च न चैवागच्छति, किमतो विज्ञायते, छिन्ननासिकसम्प्रदायवदज्ञानिजनमोहार्थं तादृशं कथनं ते कुर्वन्ति । नैतत्सज्जनैर्मन्तव्यमिति ।

स्वशिष्या लोहादिभिश्चक्रादीनांश्चिह्नानि रचयित्वाग्नौ प्रतप्य बाहुमूले च सजीवान् देहान् दग्धयन्ति सहजानन्दसम्प्रदायादिस्था, अहो महत्पापमिति वेद्यम् । कंचित्तु वकवृत्तिवत् साधवो जातास्ते स्त्रीदर्शनादिकं न कुर्वन्ति धातुस्पर्शञ्च । तदाचार्य्यो गृहस्थोऽस्ति च, स प्रलोभनाद्यनेकमन्दिरादिमिथ्याव्यवहारैर्धनादिकं हरति, ते च साधवा हारयन्ति, द्वौविवाहावप्येकः कृतवानीदृगन्यथाव्यवहारो यस्मिन् सम्प्रदाये वर्त्तते तस्मिन् सम्प्रदाये कल्याणस्य प्रत्याशा केनापि नैव कर्त्तव्येति सज्जनैर्वेदितव्यम् । इति सहजानन्दसम्प्रदायस्य दोषदर्शनं दिङ्मात्रमिह वर्णितमधिकञ्च स्वबुद्ध्योहनीयमिति ।

सर्वात्मा सच्चिदानन्दोऽजोऽनन्तस्सर्वशक्तिमान् ।
भूयात्तमां सहायो नो न्यायकारी शुचिः प्रभुः ॥१
भूमिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे सहस्यस्याऽसिते दले ।
एकादश्यामर्कवारे ग्रन्थोऽयम्पूर्त्तिमागमत् ॥२॥

अथ० ३ । ३ । ३१ ॥

॥ ओ३म् ॥

स्वामिनारायण-मत-खण्डन

[गुजराती का भाषानुवाद]

सहजानन्दादि मतों के प्रति प्रश्न और उन मतों का खण्डन

—:○:—

प्रश्न—सहजानन्द नामक पुरुष कौन है ?

उत्तर—सहजानन्द नारायण का अवतार और स्वामिनारायण नामक पन्थ का आचार्य्य है।

प्रश्न— नारायण कौन है ?

उत्तर—गोलोक और वैकुण्ठ में रहने वाला, चतुर्भुज, द्विभुज, और लक्ष्मीपति ईश्वर है।

प्रश्न—वह अब भी (अभी) है कि नहीं ?

उत्तर—ईश्वर नित्य है, इससे वह अब भी है।

खण्डनः—ऐसा होना अशक्य है, क्योंकि वेद में

"ईश्वर सर्वव्यापक, वीर्य्यरूप, शरीर, छिद्र और नाड़ी से रहित, शुद्ध और पाप रहित है।"

सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापक ईश्वर का जन्म मरण और देहधारण है ही नहीं। जिसका जन्म-मरण और शरीर धारण हो उसको ईश्वर कभी कह ही नहीं सकते। फिर आज कल के सहजानन्द से तो क्या कहना है ?

प्रथम तो मुरदा के वास्ते आचार्य का नाम बिलकुल नहीं घटता, क्योंकि सहजानन्द मर गया और इसी से वह अभ्यास कराने को असमर्थ है। ब्राह्मण भाग में कहा है कि:—

"अपना गुरु जो कि वेद पढ़ा हुआ और केवल ईश्वर की ही भक्ति करता हो, उसके पास शिष्य को अपने हाथ में समिध् नामक लकड़ियों को लेकर जाना चाहिये ॥"

और वही मनु भी साक्षी देता है कि:-

"जो ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य गुरु अपने शिष्य को यज्ञोपवीत आदि धर्म्मक्रिया कराने के बाद वेद को अर्थ और कल्पसहित पढ़ावे, तो ही उसको आचार्य कहना चाहिये ॥"

सहजानन्द की बनाई हुई शिक्षा-पत्री, जिससे सिद्ध होता है कि सहजानन्द ने उस पुस्तक में बहुत कुछ पाखण्ड वर्णन किया है। सहजानन्द की शिक्षापत्री के प्रथम श्लोक का अर्थ निम्नलिखित है:—

"श्रीकृष्ण जिनकी बाईं ओर राधाजी खड़ी हैं और जिनकी छाती पर लक्ष्मीजी बैठी हैं, और जो वृन्दावन में क्रीड़ा करते हैं, उनका मैं हृदय से ध्यान धरता हूँ ॥१॥"

राधा वाम और दक्षिण, पश्चिम, आसपास और ऊपर नीचे कहां खड़ी हैं, सो प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द द्वारा किसी को भी निश्चय होता नहीं। इसलिये सहजानन्द ने जो कल्पना करी सो व्यर्थ है। जब कि छाती के ऊपर लक्ष्मी बैठी हैं, तो कृष्ण के मुख में दरिद्रता बैठी है, ऐसा मानना पड़ेगा। महाभारत में कहा है कि "कृष्ण द्वारिका की पड़ोस में मर गये।" अब कौन जाने कि कृष्ण का जीव इस समय कहां है ? कृष्ण तो वृन्दावन में क्रीड़ा करते हुए किसी को नहीं दीख पड़ते, किन्तु वृन्दावन में बहुपाखण्डरूप पाषाणादि की मूर्त्तियां दीखती हैं। निराकार, जन्म-मरण रहित ईश्वर को छोड़ के कृष्ण

का मैं हृदय में ध्यान धरता हूं, ऐसा कहना मिथ्या है ॥१॥

"मुकुन्दानन्द आदि नैष्ठिक ब्रह्मचारी और भट्ट मायाराम आदि गृहस्थ मेरे आश्रित हैं ॥४॥

मुकुन्दानन्द आदिकों ने वेद और ईश्वर पर आस्था रक्खी नहीं, इससे उनका नैष्ठिक ब्रह्मचारी नाम घटता ही नहीं है ॥४॥

इसी प्रकार से इनके बहुत से आगे के श्लोक भी भ्रष्ट और अशुद्ध हैं।

"रास्ता चलते हुए शिवालय आदि जो देवमन्दिर आवें, उनको नमना और प्रेम से उनका दर्शन करना चाहिये" ॥१३॥

पाषाण आदि मूर्त्ति के घर को देवालय नाम दिया, इससे और उनका दर्शन करना इस प्रकार अनर्थ वचन कहने से मालूम पड़ता है, कि सहजानन्द पदार्थविद्या बिलकुल नहीं जानता था ॥१३॥

"अपने वर्ण आश्रम का जो धर्म उसका कोई पुरुष त्याग न करे, ऐसी प्रकार पाखण्ड कल्पित परधर्म का आचरण भी नहीं करना चाहिये" ॥१४॥

प्रथम सहजानन्द ने वेदोक्त अपने वर्णाश्रम धर्म का त्याग किसलिये किया ? जो कहो कि त्याग नहीं किया, तो वेदविरुद्ध मूर्त्तिपूजन, कण्ठी, तिलक धारणादि पाखण्डों का आचरण क्यों किया कराया ? यह तो ऊपर से सिद्ध होता है कि सहजानन्द ने अपने पैर में अपने आप ही कुठार मारा है। यहां तक कि अपने कथन को अपने आप ही धो डाला है ॥१४॥

"जिसके कहने से कृष्ण-भक्ति में भंग पड़े, उस पुरुष के मुख से कभी भगवान् की कथा वार्ता सुननी नहीं चाहिये" ॥ १५ ॥

केवल कृष्ण की ही भक्ति करने में अपना धर्म रहता है। इस प्रकार सहजानन्द का कहना व्यर्थ है। क्योंकि वेद में जहाँ वर्णाश्रम धर्म प्रतिपादन प्रकरण चला है, वहाँ पर कृष्ण की भक्ति करनी यही स्वधर्म है, ऐसा नहीं कहा। यह ऊपर से समझना चाहिये कि सहजानन्द और उसके सम्प्रदाय वालों के मुख से कभी किसी को कथावार्ता नहीं सुननी चाहिये। कृष्ण को (मुरदा को) प्रभु नाम देना ही नहीं बन सकता। क्योंकि इनके जन्म-मरण आदि दोष हुये हैं ॥१५॥

"स्त्री से श्रुति अथवा ज्ञानवाता मनुष्यों को सुननी नहीं चाहिये, इसी प्रकार स्त्री, राजा और राजपुरुषों के साथ वाद विवाद नहीं करना चाहिये" ॥३४॥

याज्ञवल्क्यादि महान् ऋषियों ने गार्गी आदि स्त्रियों के साथ धर्म विषय पर विचार किया था, इससे सहजानन्द की कल्पना मान्य करने योग्य नहीं। ३४।

"कृष्णदीक्षा की प्राप्ति के लिये तुलसी की बनी माला पहरनी और ललाट आदि भागों पर ऊर्ध्वत्रिपुण्ड्र करना चाहिये" ॥ ४१ ॥

कृष्णदीक्षा, तुलसीमाला धारण और ऊर्ध्वपुण्ड्र आदि जो कहा, सो सहजानन्द का कहना मिथ्या है। क्योंकि ऐसा करना वेदविरुद्ध और युक्तिरहित है। जो कण्ठी थोड़ा सा तिलक धारण करने से पुण्य होता है, तो कण्ठी का भार बांधने से और समस्त मुख तथा शरीर लीप देने से अत्यन्त पुण्य होता है, ऐसा मानना पड़ेगा, और जो ऐसा मानते हो, तो यह काम जल्दी करो ॥ ४१ ॥

सहजानन्द के ऐसे ऐसे कितने ही श्लोक भ्रष्ट हैं।

"वंशपरम्परा से जो ब्राह्मण रुद्राक्ष धारण करता होय, तो उसको मेरा आश्रित होने पर उसका त्याग नहीं करना चाहिये। नारायण और केशव की एकात्मता (अभिन्नता) ही है, क्योंकि वेद में इन दोनों को ब्रह्मरूप गिना है" ॥ ४६-४७ ॥

त्रिपुण्ड्र रुद्राक्ष का धारण करना, ऐसा जो सहजानन्द ने माना, सो प्रथम सहजानन्द ने अपनी ही रुद्राक्ष किस लिये त्यागी और अपने सम्प्रदाय वालों की किसलिये छुड़ाई ? "मेरे आश्रितों को" ऐसा वचन सहजानन्द ने बार बार लिखा है, सो मिथ्या है। क्योंकि जिसको जन्म-मरणादि दोष प्राप्त हुए, ऐसे अविद्वान् जीव का आश्रय निष्फल है।

नारायण और शिव दोनों एक ही हैं, ऐसा सहजानन्द ने ऊपर कहा है, क्योंकि वेद में शिव और नारायण को ब्रह्मरूप माना नहीं ॥ ४६-४७ ॥

"इस प्रकार करने के बाद राधाकृष्ण की छवि अथवा मूर्त्ति का प्रेम से दर्शन करके यथाशक्ति उनका

मन्त्र जप करना, उसके पीछे संसार का व्यवहार चलाना चाहिये" ॥ ५४ ॥

राधाकृष्ण को सहजानन्द ने या दूसरे किसी ने प्रत्यक्ष देखा नहीं, फिर उनकी छवि अथवा मूर्त्ति कैसे हो? यह ऊपर से सिद्ध होता है कि सहजानन्द जो कुछ कहता है, वह बिलकुल असत्य है ।५४॥

"पाषाण अथवा धातु आदि की बनाई हुई, मूर्त्ति की यथाशक्ति फल फूल आदि पदार्थों से पूजा करनी और पीछे कृष्ण का अष्टाक्षर मन्त्र जपना" ।।५६॥

इस श्लोक से सिद्ध होता है कि सहजानन्द की बुद्धि जड़ थी, क्योंकि वेदविरुद्ध पाषाणादि मूर्त्तिपूजन का इसने प्रतिपादन किया है। वेदविरुद्ध कृष्ण मन्त्र जपने से सहजानन्द को नास्तिक नाम दिया जा सकता है ।।५६॥

"हरि को नैवेद्य दिये पीछे बाकी बची प्रसादी आप खानी चाहिये और कृष्णसेवा में जिस प्रकार बन सके, उसी प्रकार तत्पर रहना" ॥५८॥

हरि प्रत्यक्ष दीखता नहीं और मूर्त्तियों में भोजन करने की शक्ति नहीं, इस कारण से मूर्त्ति को नैवेद्य धरना व्यर्थ है। यह बिलकुल छल कपट है, क्योंकि जब ऐसा होता है, तभी अपने अंगूठे के दर्शन और टन् टन् पुं पुं करके भोजन करने में थोड़ा श्रम होता है ॥५८॥

"अपने आचार्य ने जो कृष्णरूप दिया हो और जिस में प्राणप्रतिष्ठा करदी होय, उस ही की सिर्फ सेवा करनी और की सेवा नहीं करनी। हर रोज शाम को भगवत्-मन्दिर में जाना और वहां राधापति कृष्ण का ऊंची आवाज से कीर्त्तन करना" ।६२-६३॥

पाषाण आदि मूर्त्तिस्वरूप, जिसकी प्रतिष्ठा होती है, वह कृष्णस्वरूप नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो केवल पत्थर ही है। ऐसा पत्थर किसी को कभी सेवनीय नहीं। इसी प्रकार उसको नमना भी नहीं। जो सर्वशक्तिमान्, अवतार रहित, न्यायकारी, दयालु सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक, निराकार और श्रेष्ठ परमात्मा है, उसकी सब मनुष्यों को पूजा करनी और उसी को नमना चाहिये।

शाम को सब मनुष्यों को भगवद्मन्दिर में जाकर पाषाणादि मूर्त्तियों की, और जिसका जन्ममरण हुआ, ऐसे राधापति कृष्ण नामक मुर्दा की पूजा करनी और उसका ऊंची आवाज से कीर्त्तन करना, ऐसा जो ऊपर कहा सो मिथ्याउपदेश है। यह ऊपर से जान पड़ता है कि सहजानन्द कुत्ते की तरह भौंका है। वह वेदविद्या बिलकुल नहीं जानता था। असत्य उपदेश से सहजानन्द की सद्गति भी नहीं हुई होगी, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

इस मिथ्या उपदेश को जो स्वीकार करता और जो दूसरों को कराता है, उसकी सद्गति न तो हुई और न होती है, और न होगी भी। जो मनुष्य वेदादि सद्विद्या, पक्षपात रहित न्याय और वैरबुद्धि त्यागादि स्वरूप धर्म का बोध करता है, उसको और जो मनुष्य यथावत् ऐसे बोध को स्वीकार करना, और न्यायकारी, दयालु, निराकार परमेश्वर की प्रार्थना, उपासना तथा स्तुति बराबर करेगा, केवल उसी को सद्गति प्राप्त होगी। इसी प्रकार आगे के श्लोक अशुद्ध हैं ॥६२-६३॥

"एकादशी आदि सम्पूर्ण व्रतों को रखना और कृष्ण के जन्म-दिवस और शिवरात्रि को बड़ा उत्सव करना चाहिये" ॥७६॥

एकादशी आदि व्रत वेद में कहीं लिखे नहीं, किन्तु वेद में तो ब्रह्मचर्य, सत्यभाषण आदि व्रत करना लिखा है। अतः सिद्ध हुआ कि एकादशी आदि व्रतों को रखना व्यर्थ है ॥ ७६ ॥

"सम्पूर्ण वैष्णवों के अधिपति जो वल्लभाचार्य उनके पुत्र विट्ठल ने जो-जो उत्सव निर्माण किये हैं, उन सब उत्सवों को विट्ठल के अनुसार करना चाहिये। जिस प्रकार से विट्ठल ने कृष्ण की सेवा करी है, उसी प्रकार ग्रहण करनी। द्वारिका आदि मुख्य यात्रायें शक्तिपूर्वक यथाविधि करनी, और कंगाल मनुष्यों पर दया रखनी। मेरे अश्रितों को विष्णु, शिव, गणपति, पार्वती और सूर्य इन पांच देवताओं को पूज्य मानना चाहिये। भूत प्रेतादि उपद्रव करें, तो नारायण कवच अथवा हनुमान मंत्र का जप करना। परन्तु किसी क्षुद्र देव का जप करना नहीं" ॥८१-८५॥

सर्व वैष्णवराज श्री वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठल

ने परधनहरण, धर्मनाश, परस्त्रीगमनादि व्यभिचारों को स्वतः करके उपदेश किया है। इस प्रकार कर्म करनेवाले पुरुष के मत विषय में सहजानन्द ने अपनी सम्मति देकर उपदेश किया है, इसमें सहजानन्द भी दुष्ट था, यह सिद्ध हुआ।

द्वारिका आदि तीर्थयात्रायें करनी, ऐसा जो सहजानन्द ने उपदेश किया, वह केवल भ्रान्ति से ही किया है, यह निश्चय कर जानना। जड़, पत्थर, पानी आदि पदार्थों में तीर्थोपदेश का सम्भव दीखता नहीं। इसलिये यह उपदेश अत्यन्त हास्यदायक है। छान्दोग्य उपनिषद् में तीर्थ शब्द का अर्थ वेद अथवा ईश्वर का ज्ञान होता है, जिससे अविद्या, जन्ममरण, हर्षशोकादि दुःखों से तरे, उसीका नाम तीर्थ होता है।

शिव, विष्णु, गणपति, पार्वती आदि देहधारी मुर्दाओं की पूजा और सूर्य स्वतः जड़ है, इससे उसकी पूजा विषय में वेद में कहा नहीं। इसलिये एक परब्रह्म की पूजा करनी चाहिये, और इन पांचों की पूजा करना यह जो सहजानन्द ने कहा है, वह मिथ्या है। भूत प्रेतों के निवारण के लिये नारायण कवच अथवा हनुमान मन्त्र का जप करना। ऐसा उपदेश करने से मालूम पड़ता है कि सहजानन्द को भ्रम उत्पन्न हुआ होगा॥ ८१-८५॥

"वेद, व्याससूत्र, भागवत, भारत में कहा हुआ विष्णुसहस्रनाम, भगवद्गीता, विदुरनीति, स्कन्ध पुराण और वैष्णवखण्ड में कहा हुआ वासुदेव माहात्म्य और याज्ञवल्क्यस्मृति आदि आठ सच्छास्त्रों का प्रमाण मुझे इष्ट है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जो अपने कल्याण के इच्छुक और मेरे शिष्य हैं, उनको इन शास्त्रों को सुनना और पाठ करना और कराना चाहिये। इन आठ शास्त्रों में आचार, व्यवहार और प्रयश्चित्त के निर्णय के लिये याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा नामक टीका का भी मैं ग्रहण करता हूं। भागवत के पांचवें और दशमस्कन्ध में कृष्णलीला लिखी है, इससे वे दो स्कन्ध अवश्य जानना। भागवत के दशमस्कन्ध में भक्तिशास्त्र, पांचवें में योगशास्त्र और याज्ञवल्क्यस्मृति में हमारा धर्म शास्त्र वर्णन किया है। शारीरिक और भगवद्गीता का भाष्य जो रामानुज आचार्य ने बनाया है, वह हमारा अध्यात्मशास्त्र है। इन शास्त्रों के जिन-जिन वाक्यों में कृष्ण, धर्म, भक्ति और वैराग्य का वर्णन किया होय, उन वाक्यों को दूसरे वाक्यों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानना, और कृष्णभक्ति धर्म के साथ ही रखनी चाहिये" ॥ ९३-१०२॥

ऊपर के सब श्लोक प्रायः अशुद्ध हैं। भागवत आदि पुराण और भारत में विष्णुसहस्रनाम, भगवद्गीता आदि का ही केवल स्वीकार, दूसरे ग्रंथों का त्याग, याज्ञवल्क्यस्मृति की मिताक्षरा टीका का ग्रहण, पूर्वमीमांसा तथा मनुस्मृति का त्याग करने से और वासुदेव के माहात्म्य गिनने से सिद्ध होता है कि सहजानन्द अविद्वान् था। सहजानन्द भागवत के भ्रष्ट, मिथ्या, भूत प्रेत अधर्म कथा प्रतिपादक दशमस्कन्ध को सबशास्त्रों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानता है, अतएव जान पड़ता है कि सहजानन्द वेदनिन्दक (नास्तिक) था।

दशमस्कन्ध में भक्ति लेशमात्र नहीं, किन्तु व्यभिचार आदि अधर्म का प्रतिपादन प्रसिद्ध है। पांचवें स्कन्ध में योगशास्त्र का प्रतिपादन तो किया नहीं; किन्तु योगाभास का प्रतिपादन किया है। श्रौतसूत्र और मीमांसा आदि धर्मशास्त्रों का तिरस्कार करने से और दले हुये पदार्थ को फिर से दलने के समान याज्ञवल्क्य स्मृति का स्वीकार करने से ऐसा मालूम पड़ता है कि सहजानन्द वेद के कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड विषय में कुछ नहीं जानता था। शारीरिक सूत्र का रामानुज से किया हुआ अति अशुद्ध भाष्य का प्रमाण मानने से सहजानन्द अविवेकी था, यह सिद्ध होता है।

श्री कृष्ण ने खुद ही वेदवाक्यों को सर्वोत्कृष्ट माना है, फिर सहजानन्द ने ऊपर जो दशमस्कन्ध आदि को श्रेष्ठ गिना है, सो सहजानन्द को भ्रम हुआ होगा, ऐसा जान पड़ता है। वेदवाक्य सर्वोत्तम हैं, यह ब्रह्मादि विद्वानों का सिद्धान्त है। परन्तु सहजानन्द भौंकता है कि कृष्ण के वाक्य वेद को अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, यह सहजानन्द का शरमाके डूब मरना जैसा है॥ ९३-१०२॥

"जिस प्रकार हृदय में जीव रहता है, उसी प्रकार ईश्वर अन्तर्यामीपने से जीव में रहता है, वह स्वतन्त्र और सब को उन उन के कर्मों का फलदाता है, वह पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म श्रीकृष्ण भगवान् उपासना करने योग्य इष्टदेव सर्व पदार्थों के आविर्भाव का कारण (प्रसिद्धकर्त्ता) है, जब वह राधा के साथ हो तब वह राधाकृष्ण, रुक्मिणी के साथ हो तब लक्ष्मी-नारायण, अर्जुन के साथ होय तो तब नरनारायण, और जब बलभद्रादिकों से युक्त होय, तब उनको वही नाम देना चाहिये" ॥१०७–११०॥

जीववत् कभी ईश्वर बनता नहीं, क्योंकि सर्व-शक्ति, सर्वज्ञता, निर्विकार आदि गुणयुक्त स्वभाव ईश्वर का ही है। जन्म, मरण, हर्ष, शोक आदि गुणयुक्त कृष्ण परब्रह्म भगवान् पूर्ण पुरुषोत्तम आदि नाम देना बिलकुल सम्भव नहीं है। एक सर्वशक्ति-मान्, न्यायकारी, दयालु, सर्वान्तर्यामी, सच्चिदानन्द-स्वरूप, निर्दोष, निराकार, अवताररहित और वेद-युक्तिसिद्ध परमात्मा को छोड़ के जन्ममरण युक्त कृष्ण की उपासना करनी, यह जो सहजानन्द ने कहा है, इससे मालूम पड़ता है कि सहजानन्द को पदार्थ-ज्ञान बिलकुल नहीं था। राधा तो 'अनय' नामक ग्वाले की स्त्री थी। कृष्ण का उससे कोई सम्बन्ध नहीं था। कृष्ण की स्त्री का नाम रुक्मिणी था, इससे उसको लक्ष्मीनारायण नाम देना अयोग्य है। इस प्रकार कथन कर सहजानन्द ने अपनी मूर्खता बतलाई है। क्योंकि सर्वज्ञता के विना सहजानन्द का कथन युक्ति रहित दिखाई पड़ता है ॥१०७–११०॥

"उन्हीं की ही (सिर्फ कृष्ण की ही) सब मनुष्यों को भक्ति करनी चाहिये, उनकी भक्ति करने के बिना सुख का दूसरा साधन कुछ भी नहीं है" ॥११३॥

कृष्ण का खुद का ही कल्याण हुआ कि नहीं, इस विषय में विद्वानों को संशय उत्पन्न होता है। कृष्ण ने स्वयं ही एक ईश्वर की भक्ति की है और वैसा ही करने का उपदेश किया है। फिर सहजानन्द ने जो ऊपर कहा है कि सब मनुष्यों को केवल कृष्ण की ही भक्ति करनी चाहिये, उनकी भक्ति करने के बिना सुख का दूसरा साधन कुछ भी नहीं है। यह कहकर उसने अपनी अविद्या बताई है ॥११३॥

"गुणवान् पुरुषों को विद्यादि गुणों का उत्तम फल तो यही है कि कृष्ण की भक्ति और सत्सङ्ग करना। उसको छोड़ के जो कोई दूसरा कुछ करेगा, वह विद्वान् होकर भी अधोगति अर्थात् नरक पावेगा" ॥११४॥

इस श्लोक में छन्दोभङ्ग दोष होने से मालूम पड़ता है कि सहजानन्द को छन्दोज्ञान विषय में कुछ भी समझ नहीं थी। कृष्ण मर गया इसलिये अब उसकी भक्ति करनी अयोग्य और निष्फल है। विद्वान् लोग अपनी विद्या के प्रकाश से सर्वदा सद्गति पाते हैं, किन्तु अविद्या, अधर्माचरण और अज्ञान से सहजानन्द जैसे अविद्वान् पुरुषों को असद्गति प्राप्त होती है, ऐसा दीख पड़ता है ॥११५॥

"तीन प्रकार के शरीरों से जो विलक्षण जीव उसमें ब्रह्मरूप की भावना करके श्रीकृष्ण की ही भक्ति सर्वदा करनी" ॥११५॥

जो जीव ब्रह्मरूप होय, तो ब्रह्म की तुल्यता जीव में क्यों नहीं दीखती? जो जीव ब्रह्म तुल्य होय, तो जिस प्रकार ब्रह्म ने यह सब जगत् रचा इसी प्रकार जीव थोड़ासा ही नवीन जगत् क्यों कर नहीं रच लेता? जो जीव ब्रह्म एक होय, तो अविद्या जन्म, मरण, हर्ष, शोक, ठंडी, ताप, सुख, दुःख, ताव, पीड़ा, और बन्ध आदि दोष ब्रह्म में मानने पड़ेंगे। जो जीव से ब्रह्म भिन्न होय, तो सहजानन्द का कहना व्यर्थ हुआ। कृष्ण स्वयं ही ब्रह्मभक्त थे, इसलिये सब जीवों को एक ब्रह्म की ही भक्ति करनी और कृष्णादि जीवों की भक्ति नहीं करनी चाहिये। एक कृष्णकी ही भक्ति करनी, यह जो सहजानन्द ने ऊपर कहा, उससे सिद्ध होता है कि इस प्रकार कहने में इसने महान् पाप किया है ॥११५॥

"मेरा मत विशिष्टाद्वैत और मेरा प्रिय स्थान गोलोक है, वहां ब्रह्मरूप कृष्ण की सेवा करनी, यह मेरी मुक्ति जाननी" ॥१२१॥

सहजानन्द का मत चक्रांकित के समान है, ऐसा दीख पड़ता है। विशिष्टाद्वैत शब्द का अर्थ सब

मनुष्य इसी प्रकार करते हैं कि:—अविद्या जीव और मायायुक्त ईश्वर है। कुछ मनुष्य ईश्वर की माया एक मानते हैं। इस प्रकार तीन चार पदार्थों से अद्वैत सिद्ध नहीं होता। दूसरे पदार्थ के विना विशिष्ट शब्द बन ही नहीं सकता। दो पदार्थ अद्वैत नहीं हो सकते। किन्तु ब्रह्म तो अवश्य अद्वैत है। सजातीय विजातीय दूसरा ब्रह्म है ही नहीं। इसलिये यह भेद ब्रह्म में संयोग के विना सिद्ध नहीं हो सकता। बेद और युक्तिसिद्ध एकरसमात्र एक ही ब्रह्म है, यह अद्वैत शब्द का अर्थ जानना। अतः दीख पड़ता है कि रामानुज और सहजानन्दके मत भ्रष्ट हैं। गौ आदि पशुओं का लोक मेरा स्थान है, इस प्रकार जो सहजानन्द ने कहा, सो अपनी जाति के नियम से सहजानन्द खुद ही पशु बनता है। गोलोक में निवास करने से और एक कृष्ण सेवा से ही मुक्ति प्राप्त होती है, ऐसा जो सहजानन्द ने बका है, सो मिथ्या है ॥१२१॥

"मैंने बड़े २ मन्दिरोंमें लक्ष्मीनारायणादि मूर्त्तियों की प्राणप्रतिष्ठा करी है, उनकी यथाविधि सेवा करनी" ॥ १३० ॥

सहजानन्द अथवा और कोई भी बिलकुल विद्या धर्मविरुद्ध और द्रव्यनाशक बड़े मन्दिरों में रहने वाली पाषाणादिमूर्त्तियों को लक्ष्मीनारायण का नाम नहीं दे सकता, क्योंकि वेदमें मूर्त्ति पूजा विषय में कुछ कहा नहीं इसलिये, और मूर्त्ति स्वतः जड़ है, इस कारण से, तथा लक्ष्मीनारायण आदि तो चेतन थे, इस हेतु से मूर्त्ति का यथाविधि खण्डन करना चाहिये, न कि पूजन करना ॥ १३० ॥

"दो अमुक पुरुषों की स्त्रियों को अपने अपने पति की आज्ञा लेकर केवल स्त्रियों को ही कृष्णमन्त्र का उपदेश करना चाहिये" ॥ १३३ ॥

सहजानन्द ने जाना कि उपदेश के सिवाय स्त्रियों से धनप्राप्ति कभी होय नहीं। अतः स्पष्ट रीति दीख पड़ती है कि सहजानन्द ने एकदम छल कपट फैला दिया है। परब्रह्म का मन्त्र छोड़कर कृष्ण का अर्थात् मुर्दामन्त्र का उपदेश करने से सहजानन्द लोभी और अज्ञानी ठहरता है ॥ १३३ ॥

"अपने कमाये हुये धन धान्य का दशमा भाग कृष्ण के अर्पण करें, और जो मनुष्य दुर्बल होवें बीसवाँ भाग कृष्ण को देवें" ॥ १४७ ॥

परधन हरने में और अपने को सुख देने में सहजानन्द का छल भेद खुल्लमखुल्ले दीखता है। इस प्रकार करने में सहजानन्द का अभिप्राय यह था कि यत् किञ्चित् मेहनत कार्य के विना ही दसवां, बीसवां भाग लेकर अपने संसार का विषयसुख खूब भोगेंगे। ऊपर कहा है कि कृष्ण को अर्पण करना, तो कृष्ण खुद तो दसवाँ अथवा बीसवाँ भाग लेने को आ ही नहीं सकता, और कृष्ण कुछ ऐसा दरिद्री नहीं था। अतः सिद्ध होता है कि सहजानन्द ने गोकुल के वल्लभ सम्प्रदायवालों की तरह खूब धूर्तता चलाई है।

ऐसे-ऐसे धूर्त सम्प्रदायों के फैल जाने से अपने आर्य्यावर्त्त देश को बहुत हानि उठानी पड़ी। इसलिये सब सज्जनों को श्रम उठाकर इन सम्प्रदायों को जड़ मूल से उखाड़ डालना चाहिये। जो कभी उखाड़ डालने में न आवे तो अपने देश का कल्याण कभी होने का ही नहीं ॥ १४७ ॥

"एकादशी आदि व्रतों का यथाशक्ति और शास्त्र प्रमाण से उद्यापन करना, उद्यापन मन की इच्छा को पूर्ण करता है। श्रावण मास में बिल्व आदि के पत्रों से महादेव की पूजा करें करावें" ॥ १४८-१४६ ॥

इससे भी सहजानन्द की धूर्तता दीखती है। जो कभी एकादशी आदि व्रतों को नहीं करें, तो शिष्यों से उद्यापन विना धनलाभ नहीं होय। श्रावण महीने में महादेव पूजन अर्थात् पाषाण आदि मूर्त्तिपूजा विना अपने को शिष्यों से धन, प्रतिष्ठा मिलेगी नहीं, ऐसे-ऐसे विचारों से सहजानन्द ने अपना कपट दिखाया है ॥ १४८-१४६ ॥

"देव की मूर्त्ति के सिवाय लिखी हुई अथवा लकड़ी आदि की स्त्रियों की मूर्तियों का कभी स्पर्श न करें और उनकी तरफ बुद्धिपूर्वक दृष्टि से देखें भी नहीं" ॥ १७७ ॥

प्रथम तो सहजानन्द ने अपने मन्दिर में राधा की मूर्त्ति की स्थापना क्यों करी? और 'जिन की बाईं तरफ राधा है' इत्यादि वाक्यों का सहजानन्द ने किसलिये मनुष्यों को उपदेश किया? सहजानन्द के

शिष्य बुद्धिपूर्वक राधा का दर्शन किसलिये करते हैं ? इस प्रकार के प्रमत्त गीत और बकवाद से सहजानन्द पर अनेक प्रकार के दोष लगते हैं ॥ १७७॥

"सब इन्द्रियों को जीत लेना, उनमें से विशेष करके रसना इन्द्रिय को जीतना, किसी को द्रव्य का संग्रह करना नहीं, उसी प्रकार किसी को करने भी नहीं देना। किसी की स्थापना करनी नहीं, धैर्य का त्याग करना नहीं और अपने रहने की जगह में परस्त्री को आने देना नहीं चाहिये" ॥ १८८-१९० ॥

सिर्फ साधु ही जितेन्द्रिय होवे, ऐसा जो तुम उपदेश देते हो, तो तुम क्या असाधु हो ? तुम्हारे विचार से क्या गृहस्थ जितेन्द्रिय न होवें ? ऊपर कहा कि किसी को स्थापन न करें, तो क्या विद्या, धर्म, ईश्वर, प्रार्थना, स्तुति और उपासना का स्थापन नहीं करना चाहिये ? वेद, धर्म, युक्ति विरुद्ध सम्प्रदायों का स्थापन किसलिये करना चाहिये ? और सहजानन्द ने इस प्रकार के सम्प्रदायों का किसलिये स्थापना किया ? सब मनुष्यों को इस प्रकार के पाखण्डों का खण्डन और सत्य धर्म का मण्डन अवश्य करना चाहिये ॥ १८८, १९० ॥

"इस प्रकार सब मनुष्यों का धर्म संक्षेप से लिखा है, और इन धर्मों का विस्तार पूर्वक वर्णन सम्प्रदाय के ग्रन्थों में से समझ लेना। मैंने सब सत्यशास्त्रों का सार निकाल के मनुष्यों को इष्ट फल की देने वाली यह शिक्षापत्री लिखी है" ॥ २०३-२०४ ॥

धर्म का तो लेशमात्र प्रतिपादन किया नहीं, किन्तु अपनी कपोलकल्पना से अपनी भ्रान्ति का प्रकाश किया दीखता है। वेदादि शास्त्रों में जो यथावत् धर्म लिखा है, उसका ज्ञान सहजानन्द को बिलकुल नहीं था। लिखे हुए धर्म का फिर से लिखना व्यर्थ है, क्योंकि ऐसा करने से दले हुए को दलने के समान है। मनुष्यमात्र का सनातन साम्प्रदायिक ग्रंथ वेद ही है, और शिक्षापत्री आदि ग्रंथ सब मिथ्या हैं। "विस्तर" शब्द व्याकरण नियम से अशुद्ध है। "विस्तर" की जगह विस्तार शब्द लिखना चाहिये। कथन, श्रवण, आदि अर्थों में ही विस्तार शब्द प्रयोग होता है।

सहजानन्द को सत्यशास्त्र का बोध तो था ही नहीं, तथा इसने कुछ अध्ययन भी नहीं किया था, क्योंकि इसने वेद और युक्ति विरुद्ध पाषाण आदि मूर्तिपूजन, कण्ठी, तिलक धारण आदि भ्रष्ट कर्मों का प्रतिपादन किया है। शिक्षापत्री लोभ विषय में तो इष्ट फलदायक है, परन्तु शिक्षापत्री का पाठ करने से सर्वदा सुख प्राप्ति होती है, यह अनुभवरहित बात है। सहजानन्द के ऐसे-ऐसे वचनों से सहजानन्द लोभी ठहरता है। लोभ के बिना सम्प्रदाय की वृद्धि होती नहीं, और वृद्धि न होय तो प्रतिष्ठा और धनप्राप्ति न होय, और जो उसकी प्राप्ति न होय, तो इष्ट विषय सुख नहीं मिले। अतः समझना कि सहजानन्द की बुद्धि कपटरूपी थी ॥ २०३-२०४ ॥

जो पुरुष अथवा स्त्री इस शिक्षापत्री में कहे धर्मपूर्वक वर्ताव करेंगे, उनको अवश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त होंगे" ॥ २०६ ॥

जो मनुष्य पाषाण आदि मूर्तिपूजन आदि पाखण्डों का आचरण करेगा, उसको धर्म, अर्थ काम और मोक्ष तो प्राप्त नहीं होगा, बल्कि अधर्म, अनर्थ दुष्ट इच्छा, बन्ध नरक आदि दोष अवश्य प्राप्त होंगे ॥ २०६ ॥

"शिक्षापत्री के अनुकूल जो मनुष्य आचरण नहीं करें, वे अपने सम्प्रदाय से बाहर हैं, इस प्रकार मेरे साम्प्रदायिक स्त्री पुरुषों को समझना चाहिये" ॥२०७॥

पाषाण आदि मूर्तिपूजन, कण्ठी, तिलक आदि पाखण्डरूप चिह्न कहीं कोई न करें, और जो पुरुष इन चिह्नों को नहीं करें सिर्फ उन्हीं पुरुषों को धर्म अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति होगी। वेदादि सत्यशास्त्रोक्त सनातन, सत्य, पक्षपातरहित, न्याय धर्म का त्याग करके सहजानन्द आदिकों के बनाये हुये शिक्षा की पत्री आदि भ्रष्ट और वेद युक्तिविरुद्ध ग्रन्थों का जिन मनुष्यों ने स्वीकार किया, करते हैं और करेंगे, श्रेष्ठ पुरुष उन सब को सद्धर्मरहित और नास्तिक नाम देवें ॥ २०७ ॥

"मेरे आश्रित पुरुष शिक्षापत्री का हररोज पाठ करें और जो विद्याहीन हों वे प्रीति से उसका श्रवण करें और जो श्रवण करना ही न बने तो इस शिक्षापत्री की अत्यन्त प्रीति से पूजा करें और इसको मेरी वाणी

तथा मेरा रूप जानें। इस पत्री को दैवी मार्गी पुरुष को देवें किन्तु किसी असुर को न देवें ॥२०८-२१०॥

वेद का पढ़ना सुनना छोड़कर सहजानन्द आदि के बनाये हुये शिक्षापत्री आदि कपोलकल्पित पुस्तकों को पढ़ने और सुनने से अधिक पाप लगता है। इस जड़ व्यर्थ पुस्तक की पूजा करने का उपदेश देने में अयोग्यता मालूम पड़ती है। वाणी कभी जीवरूप बनती नहीं। परम प्रीति से शिक्षापत्री का सत्कार करें, ऐसा जो सहजानन्द ने कहा, सो सत्कार करने के बदले परम प्रयत्न से इस अशुद्ध पत्रिका का खण्डन करें। इस प्रकार कथन में सहजानन्द का मूल मतलब अज्ञानी और बालकों को भ्रमाकर, उनसे धनादि पदार्थों का छीन लेना है।

जो दैवी मार्गी होगा, वह तो शिक्षापत्री को हाथ में पकड़ेगा भी नहीं। जो मनुष्य विचाररहित असुर सम्प्रदाय का है, वह स्वीकार करता है। उन मनुष्यों के सम्प्रदाय को 'सम्प्रदाह' नाम देना चाहिये। क्योंकि सम्प्रदाय अन्धकार रूप है। जिसमें विद्या और विज्ञान का सत्यानाश हो जाय, उस का नाम 'सम्प्रदाह' पड़ता है। वर्त्तमान में जितने वेद-विरुद्ध सम्प्रदाय हैं, उन सबको सम्प्रदाह नाम देना चाहिये ॥२०८-२१०॥

प्रश्न—मरण समय में सहजानन्द अपने शिष्यों का हाथ पकड़ विमान पर चढ़ा के वैकुण्ठ ले जाता है, और परम सुख देता है, इत्यादि गपोड़ा सहजानन्द के शिष्यों द्वारा सुना जाता है, वह सत्य है कि मिथ्या?

उत्तर—बिल्कुल मिथ्या दीखता है, क्योंकि जो पुरुष मर गया, वह फिर से आकर प्रथम शरीर धारण ही नहीं कर सक्ता। जो कभी वैसा करने में समर्थ होय, तो सम्प्रदाय वालों ने छल कपट से जो पुष्कल द्रव्य इकट्ठा किया है, उसको भोगने के लिये भी अवश्य आना चाहिये। अतः समझना चाहिये कि सहजानन्द आदि धूर्त्त अज्ञानी मनुष्यों को मोह में डालने के अर्थ ऐसे ऐसे कथन करते हैं।

अपने शिष्यों के हाथ पर लोह का खण्ड दाग कर चक्र आदि चिह्नों के करने से सहजानन्द के सम्प्रदाय वालों को अत्यन्त पाप लगेगा। जो बगुलाभगत हैं, वे स्त्री दर्शन और धातुस्पर्श नहीं करते, गृहस्थ आचार्य लोभ के हेतु से मंदिर बांध कपट से द्रव्य आदि पदार्थों को छीन लेते हैं। दो दो विवाह करना आदि धर्म जिस सम्प्रदाय में होते हों, उसमें कल्याण की आशा किसी सज्जन पुरुष को कभी नहीं रखनी चाहिये॥

प्राचीन व्यायाम पद्धति की नई पुस्तक

योगासन

[लेखक—श्री गणेशदत्त 'इन्द्र' विद्यावाचस्पति]

विद्वान् लेखक ने अपने योगासनों सम्बन्धी चालीस वर्ष के अभ्यास और अनुभव के आधार पर इस पुस्तक की रचना की है। भारत की प्राचीन और सर्वश्रेष्ठ व्यायाम-पद्धति के पुनरुद्धार और प्रचार के लिये ही इसका प्रकाशन मोटे अक्षरों में बहुत सुन्दर रूप में किया गया है। आसनों के सम्बन्ध में अभ्यासियों के लाभ की सभी बातों को विस्तार पूर्वक बहुत सरल शब्दों में समझा कर लिखा गया है। शरीर को सबल, सुडोल और पूर्ण स्वस्थ बनाने के लिये तथा योगासनों के द्वारा रोगों से बचने और कमर दर्द, सिर दर्द, स्वप्नदोष, जीर्ण-ज्वर, बवासीर, कमजोरी, बदहज़मी, कब्ज, अनिद्रा आदि आदि रोगों के निवारण एवं दीर्घायु, मानसिक शान्ति और बुद्धि संवर्धन के उपाय भी, इसमें विस्तार पूर्वक बताये गये हैं। यूँ तो यह ग्रन्थ सभी के लिये उपयोगी है, तथापि विद्यार्थियों और युवकों के लिये विशेष रूप से उपयोगी है। प्रचार के लिये सजिल्द ग्रन्थ का मूल्य केवल १॥) रु० मात्र है। डाकव्यय पृथक्।

मिलने का पता—गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, देहली

॥ ओ३म् ॥

❧ आर्याभिविनय ☙

सम्पादक का निवेदन

'आर्याभिविनय' वैदिक-भक्तिवाद का अत्यन्त श्रेष्ठ ग्रंथ है। निराकार परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना किस प्रकार करनी चाहिये, यह इसमें महर्षि दयानन्द ने बड़ी उत्तमता से दर्शाया है।

इस समय जो 'आर्याभिविनय' ग्रंथ उपलब्ध होता है, वह 'प्रथम प्रकाश' और 'द्वितीय प्रकाश' नामक दो विभागों में विभक्त है। प्रथम विभाग में ऋग्वेद के और द्वितीय विभाग में यजुर्वेद के मन्त्रों के आधार पर महर्षि ने, भक्ति-भाव-गर्भित और कवितामयी भाषा में, प्रभु की स्तुति प्रार्थना और उपासना-रूप में अपने हार्दिक उद्‌गारों का विस्तार पूर्वक उल्लेख किया है। महर्षि का विचार सामवेद तथा अथर्ववेद एवं ब्राह्मण ग्रंथों आदि के मन्त्रों और प्रतीकों के आधार पर भी इसी प्रकार के और भी विनय-पाठों के लिखने का था; परन्तु कार्याधिक्य के कारण वे इस दिशा में और अधिक कार्य नहीं कर सके।

'महर्षि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' पृष्ठ ३३ का लेख इस प्रकार है:—

"आर्याभिविनय के दो अध्याय तो बन गये हैं और चार आगे बनने के हैं।"

इससे स्पष्ट है कि महर्षि सामवेद के आधार पर तीसरा अथर्ववेद के आधार पर चौथा, ब्राह्मण ग्रंथों के आधार पर पाँचवां और उपनिषदों के आधार पर छठा भाग भी आर्याभिविनय का लिखना चाहते थे।

जो लोग वेदों को अध्यात्मवाद से रहित कहते रहते हैं, तथा जो लोग महर्षि दयानन्द को कोरा तार्किक, श्रद्धा शून्य एवं खण्डन-कुठार का धनी मात्र ही कहने का दुस्साहस किया करते हैं, उन्हें महर्षि के इस ग्रन्थ का पाठ एक बार अवश्य ही कर लेना चाहिये। ऐसा करके जहाँ वे आत्म-कल्याण को प्राप्त कर सकेंगे, वहाँ महर्षि के प्रति मिथ्यालाप करने के पाप से भी बच जायेंगे।

'आर्याभिविनय' का प्रथम संस्करण वैशाख शुक्ला १४ गुजराती संवत् १९३३ अर्थात् संवत् १९३३ विक्रमी में 'आर्य मार्तण्ड यन्त्रालय बम्बई में छपकर प्रसिद्ध हुआ था। प्रथम संस्करण में महर्षि की हिन्दी भाषा का संशोधन एक—पण्डित लक्ष्मण शर्मा जी ने किया था और संशोधक के रूप में पण्डित लक्ष्मण शर्मा का नाम भी ग्रंथ के मुख पृष्ठ पर छपा था।

'आर्याभिविनय' के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द के एक पत्र का कुछ अंश इस प्रकार है:—

"सब ग्रन्थों का हिसाब एक के पास रहना अच्छा है। सेठ हनुमंतराम जी पित्ती के पास से रु० ७५) वा १५०) ले के लक्ष्मण शास्त्री जी को आर्याभिविनय की छपाई में दिये होंगे तथा लिखे प्रमाणे केशवलाल निर्भयराम जी के पास पुस्तक १००० रख दिये होंगे। जो अब तक यह काम न किया होय, तो पत्र देखते शीघ्र करना पीछे दूसरा काम करना। आगे आर्याभिविनय के पुस्तक ५०० प्रयाग में पण्डित सुन्दरलाल जी के पास पोस्ट मास्टर जनरल की कचेरी के ठिकाने से केशवलाल जी से कह के शीघ्र भेजवा देना। और जो लक्ष्मण शास्त्री जी ने अब तक पुस्तक वहां न रखे होंय तो आप श्रम करके केशवलाल के पास पु० १००० और रु० १५०) हनुमंतराम पित्ती तथा केशवलाल को प्रयाग में उक्त ठिकाने पुस्तक अर्याभिविनय भेजवा देना। इतना काम शीघ्र करना। क्योंकि इस देश में उसके ग्राहक बहुत हैं इससे विलंब करने से

हानि है। शीघ्र यह काम करने में लाभ है। सब आर्य समाज के सभासदों को मेरा आशीर्वाद अति प्रेम से कहना। यहां परमानन्द है।"

सं० [१९३३] आषाढ़ वद ९ शुक्रवार।

[ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ-३६]

'आर्याभिविनय, का प्रथम संस्करण शीघ्र ही समाप्त हो गया था, फिर भी इसका दूसरा संस्करण शीघ्र ही प्रकाशित नहीं हो सका—इसका कारण महर्षि की अन्यान्य व्यस्तताओं को ही समझना चाहिये। इस ग्रन्थ का दूसरा संस्करण महर्षि के निधन के पश्चात् माघ सं० १९४० में छपा था और वह ज्येष्ठ सं० १९४१ में बिकने लगा था। इस दूसरे संस्करण की भाषा प्रथम संस्करण की अपेक्षा अधिक परिमार्जित है। यह परिमार्जन किसने किया था? इस विषय में निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता। तथापि अनुमान है कि यह परिमार्जन और संशोधन कार्य महर्षि द्वारा संस्थापित 'वैदिक यन्त्रालय' के तत्कालीन प्रबन्धक मुंशी समर्थदान ने ही किया होगा।

'आर्याभिविनय' के अनुवाद भारत में प्रचलित अनेक भाषाओं में हो चुके हैं। यहाँ यह भी ज्ञात रहे कि बहुत प्राचीन काल में तो वेद मन्त्रों के स्वतन्त्र व्याख्यान होते थे और उपनिषद् ग्रन्थों के रूप में वे इस समय भी अत्यन्त सर्वप्रिय हैं; तथापि मध्यकाल में वेद मंत्रों के स्वतन्त्र व्याख्यान की प्रथा लुप्त हो गई थी। इस उत्तम प्रथा को पुनर्जीवित और प्रचलित करने का श्रेय भी इस ग्रन्थ के कर्ता के रूप में महर्षि दयानन्द को ही प्राप्त है।

जिस समय महर्षि ने इस ग्रन्थ की रचना की थी, उस समय तक हिन्दी को आजकल जैसा परिमार्जित रूप प्राप्त नहीं हुआ था, इसके साथ ही महर्षि को हिन्दी भाषा के व्यवहार का अधिक अभ्यास भी उस समय न था; क्योंकि उनकी मातृभाषा गुजराती थी और वे स्वयं संस्कृत में ही भाषण और लेखन किया करते थे। तथापि अधिकाधिक जनवर्ग के उपकार और भारत की राष्ट्रभाषा की गौरव वृद्धि के लिये ही उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना हिन्दी में की थी। महर्षि हिन्दी के लिये 'प्राकृतभाषा' तथा 'आर्यभाषा' शब्दों का व्यवहार किया करते थे। इस ग्रन्थ की भाषा यद्यपि आजकल जैसी सुगठित नहीं है, फिर भी यह एक भक्त की भाषा है, और इसमें उस भक्त-हृदय की धड़कन और तन्मयता को प्रगट करने की पूर्ण क्षमता है। कोई-कोई मतवाले लोग इस ग्रन्थ की भाषा के आधुनिकवत् न होने के कारण, महर्षि के सिद्धान्तोंमें विरोधाभास होनेकी बातें भी जब तब कहा करते हैं और 'जीव ब्रह्म की एकता' 'मुक्ति से अपुनरावृत्ति' 'ईश्वर की साकारता' आदि-आदि की कल्पनायें किया करते हैं। उनका ऐसा करना निन्दित तो है ही, साथ ही वह उपेक्षणीय भी है। उपेक्षणीय इसलिये कि महर्षि ने अपने अन्य ग्रन्थों में अपने सब सिद्धान्तों और मन्तव्यों का स्पष्ट उल्लेख कर रखा है। जो लोग उन लेखों पर विचार न करके, इस भावुकता पूर्ण ग्रन्थ में छिद्रान्वेषण करें, उनकी उपेक्षा ही उचित है।

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट की ओर से श्री पण्डित वाचस्पति जी एम. ए. विद्यावाचस्पति द्वारा उत्तमतया सम्पादित आर्याभिविनय के कई संस्करण निकल चुके हैं। वेद के सुयोग्य युवकविद्वान् श्री पण्डित युधिष्ठिर जी मीमांसक ने भी श्री वाचस्पति जी द्वारा सम्पादित पुस्तक को उसके दूसरे तथा बाद के संस्करणों के अवसर पर पुनः सम्पादित करके उत्तम बनाने का पुण्यकार्य बड़े परिश्रम से किया है। हमने प्रस्तुत संस्करण को तैयार करने में मुख्यतया तो सम्वत् २००८ वि० में नवींवार वैदिक यन्त्रालय अजमेर द्वारा प्रकाशित 'आर्याभिविनय' को ही आधार माना है; तथापि टिप्पणियों आदि के विषय में हमने 'श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट' द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ का भी अनुसरण किया है। जिसके लिये हम उक्त ट्रस्ट और दोनों विद्वान् सम्पादकों के आभारी हैं।

महर्षि की इस विनयावली में 'कर्मयोग' और 'स्वतन्त्रता' की एक अखण्ड प्रेरणा अथवा भावना, सर्वत्र व्याप्त है। पाठक उस पर विशेष ध्यान दें। और, ईश्वर भक्ति से शक्ति प्राप्त करके, अपने जीवन को भक्ति भाव में रंग कर आनन्द प्राप्त करें।

—सम्पादक

॥ ओ३म् ॥

आर्याभिविनयः

दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः,
सरस्वत्यस्याग्रे निवसति मुदा सत्यविमला।
इयं ख्यातिर्यस्य प्रलसितगुणा ब्रह्मशरणाऽ-
स्त्यनेनायं ग्रन्थो रचित इति बोद्धव्यमनघाः ॥

अथार्य्याऽभिविनयोपक्रमणिकाविचारः

सर्वात्मा सच्चिदानन्दोऽनन्तो यो न्यायकृच्छुचिः।
भूयात्तमां सहायो नो दयालुः सर्वशक्तिमान् ।१।
चक्षूरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे चैत्रे मासि सिते दले।
दशम्यां गुरुवारेऽयं ग्रन्थारम्भः कृतो मया ॥२॥
बहुभिः प्रार्थितः सम्यग् ग्रन्थारम्भः कृतोऽधुना।
हिताय सर्वलोकानां ज्ञानाय परमात्मनः ॥ ३ ॥
वेदस्य मूलमन्त्राणां व्याख्यानं लोकभाषया।
क्रियते सुखबोधाय ब्रह्मज्ञानाय सम्प्रति ॥ ४ ॥
स्तुत्युपासनयोः सम्यक् प्रार्थनायाश्च वर्णितः।
विषयो वेदमन्त्रैश्च सर्वेषां सुखवर्द्धनः ॥ ५ ॥
विमलं सुखदं सततं सुहितं
जगति प्रततं तदु वेदगतम्।
मनसि प्रकटं यदि यस्य सुखी
स नरोस्ति सदेश्वरभागधिकः ॥६॥
विशेषभागीह वृणोति यो हितं,
नरः परात्मानमतीव मानतः।
अशेषदुःखात्तु विमुच्य विद्यया,
स मोक्षमाप्नोति न कामकामुकः ७

व्याख्यान—जो परमात्मा, सब का आत्मा, सत् चित् आनन्दस्वरूप, अनन्त, अज, न्यायकारी, निर्मल, सदा दयालु, सब सामर्थ्य वाला हमारा इष्ट देव है, वह हम को सहाय नित्य देवे, जिससे महाकठिन काम भी हम लोग सहज से करने को समर्थ हों। हे कृपानिधे! यह काम हमारा आप ही सिद्ध करने वाले हो, हम आशा करते हैं कि आप अवश्य हमारी कामना सिद्ध करेंगे ॥ १ ॥

संवत् १९३२ मिती चैत्र सुदी १० गुरुवार के दिन इस ग्रन्थ का आरम्भ किया है ॥ २॥

बहुत सज्जन लोग, सब के हितकारक धर्मात्मा विद्वान् विचारशील जनों ने मुझ से प्रीति से कहा, तब सब लोगों के हित और यथार्थ परमेश्वर का ज्ञान तथा प्रेम भक्ति यथावत् हो, इसलिये इस ग्रन्थ का आरम्भ किया है ॥ ३ ॥

इस ग्रन्थ में केवल दो वेदों के मूलमन्त्रों का प्राकृत भाषा में व्याख्यान किया है जिससे सब लोगों को सुखपूर्वक बोध हो और ब्रह्मज्ञान यथार्थ हो ॥ ४ ॥ ❀

इस ग्रन्थ में वेदमन्त्रों से सब सुखों को बढ़ाने वाली

❀वास्तव में महर्षि का विचार यह था कि 'आर्याभिविनयः' की रचना छः अध्यायों में पूर्ण की जाये। वे चारों वेदों के आधार पर चार अध्याय, तथा ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर एक, एवं उपनिषदों के आधार पर एक और, इस प्रकार छः अध्यायों में इस ग्रन्थ को समाप्त करना चाहते थे। इस विषय में "महर्षि के पत्र और विज्ञापन" पुस्तक पृष्ठ ३३ पर महर्षि का यह लेख है:—

"आर्याभिविनय के दो अध्याय तो बन गये हैं और चार आगे बनने के हैं।" —सम्पादक

परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना व उपासना तथा धर्मादि विषय का वर्णन किया है ॥ ५ ॥

जो ब्रह्म निरन्तरसुखकारक पूर्ण काम, तृप्त, जगत् में व्याप्त, वही सब वेदों से प्राप्य है। जिसके मन में इस ब्रह्म की प्रकटता (यथार्थ विज्ञान) है वही मनुष्य ईश्वर के आनन्द का भागी है और वही सब से सदैव अधिक सुखी है। ऐसे मनुष्य को धन्य है।

जो नर इस संसार में अत्यन्त प्रेम, धर्मात्मा, विद्या, सत्सङ्ग, सुविचारता, निर्वैरता, जितेन्द्रियता, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परमात्मा का स्वीकार (आश्रय) करता है। वही जन अतीव भाग्यशाली है। क्योंकि वह मनुष्य यथार्थ विद्या से सम्पूर्ण दुःखों से छूट के परमानन्द परमात्मा की प्राप्तिरूप जो मोक्ष उसको प्राप्त होता है और दुःख सागर से छूट जाता है। परन्तु जो विषय-लम्पट, विचार रहित, विद्या, धर्म जितेन्द्रियता, सत्सङ्गरहित, छल, कपट, अभिमान, दुराग्रहादि दुष्टतायुक्त है, सो वह मोक्ष सुख को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वह ईश्वरभक्ति से विमुख है ॥ ७ ॥

इसलिये जन्म मरण ज्वरादि पीड़ाओं से पीड़ित होके सदा दुःखसागर में ही पड़ा रहता है। इससे सब मनुष्यों को उचित है कि परमेश्वर और उसकी आज्ञा से विरुद्ध कभी नहीं हों। किन्तु ईश्वर तथा उसकी आज्ञा में तत्पर होके इस लोक (संसार व्यवहार) और परलोक (जो पूर्वोक्त मोक्ष) इसकी सिद्धि यथावत् करें, यही मनुष्यों की कृतकृत्यता है।

इस आर्याभिविनय ग्रन्थ में मुख्यता से वेदमन्त्रों का परमेश्वर सम्बन्धी एक ही अर्थ संक्षेप से किया गया है, दोनों अर्थ करने से ग्रन्थ बढ़ जाता, इससे व्यवहार विद्या-सम्बन्धी अर्थ नहीं किया गया, परन्तु वेदों के भाष्य में यथावत् विस्तारपूर्वक परमार्थ और व्यवहारार्थ ये दोनों अर्थ सप्रमाण किये जायेंगे। जैसे—"तदेवाऽग्निस्तदादित्य-स्तद्वायुः" इत्यादि, य० संहिता प्र०, "इन्द्र मित्रं वरुणम्" इत्यादि, ऋ० सं० प्र० बृहस्पतिर्वै ब्रह्म, गणपतिर्वै ब्रह्म, प्राणो वै ब्रह्म, आपो वै ब्रह्म, ब्रह्म ह्यग्निम्" इत्यादि, शतपथ, ऐतरेय ब्राह्मणादि प्र०। और "महान्तमेवात्मानम्" इत्यादि निरुक्तादि प्रमाणों से परब्रह्म ही अर्थ लिया जाता है। तथा "मुखादग्निरजायत" इत्यादि, य० सं० प्र०, तथा "अग्नि-रग्रणीर्भवतीति" इत्यादि निरुक्त प्रमाणों से यह प्रत्यक्ष जो रूप गुण वाला दाह प्रकाशयुक्त भौतिक अग्नि, वह लिया जाता है। इत्यादि दृढ़ प्रमाण, युक्ति और प्रत्यक्ष व्यवहार से दोनों अर्थ वेदभाष्य में लिखे जायेंगे। जिससे सायणा-दिकृत भाष्य दोष और उसके अनुसार अंग्रेजी कृतार्थदोष रूप वेदों के कलङ्क निवृत्त हो जायेंगे। और, वेदों के सत्यार्थ का प्रकाश होने से, वेदों का महत्त्व, तथा वेदों का अनन्तार्थ जानने से मनुष्यों को महालाभ, और वेदों में यथावत् प्रीति होगी। इस ग्रन्थ से तो केवल मनुष्यों को ईश्वर का स्वरूप ज्ञान और भक्ति धर्मनिष्ठा, व्यवहार शुद्धि इत्यादि प्रयोजन सिद्ध होंगे, जिससे नास्तिक और पाखण्डमतादि अधर्म में मनुष्य न फंसें। किन्तु सब प्रकार के मनुष्य अति उत्तम हों और सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर की कृपा सब मनुष्यों पर हो। जिससे सब मनुष्य दुष्टता को छोड़ के श्रेष्ठता को स्वीकार करें। यह मेरी परमात्मा से प्रार्थना है सो परमेश्वर अवश्य पूरी करेगा ॥

इत्युपक्रमणिका संक्षेपतः सम्पूर्णा ॥

आर्य-विनय

[सम्पादक—श्री पण्डित जगत्कुमार शास्त्री]

वेद विचारकों और स्वाध्यायशील सज्जनों के विशेष उपयोग, पाठ और हरसमय पास रखनेके लिये, इस पुस्तक को बहुत खर्च करके तैयार कराया गया है। इसमें महर्षि दयानन्दकृत आर्या-भिविनय के सब मन्त्र भावार्थ सहित छपे हैं। आकार गीता प्रेस द्वारा प्रकाशित ताबीजी गीता के समान बहुत छोटा-सा है। कागज पक्का और कपड़े की बढ़िया जिल्द है। भेंट और पुरस्कार में देने के लिये यह उत्तम पुस्तक है। मूल्य—आठ आने

मिलने का पता—गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, देहली

॥ ओ३म् ॥

तत्सत्परब्रह्मणे नमः

अथार्याभिविनयप्रारम्भः

ओं शं नो मित्रः शं वरुणः
शं नो भवत्वर्य्यमा ।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः
शं नो विष्णुरुरुक्रमः ॥ १ ॥

ऋ० अ० १। अ० ६। व० १८। मं० ६ ॥×

व्याख्यान—हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप, हे नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव, हे अद्वितीयानुपमजगदादिकारण, हे अज निराकार सर्वशक्तिमन्, न्यायकारिन्, हे जगदीश, सर्वजगदुत्पादकाधार, हे सनातन, सर्वमङ्गलमय, सर्वस्वामिन्, हे करुणाकरास्मत्पित: परमसहायक, हे सर्वानन्दप्रद, सकलदुःखविनाशक, हे अविद्यान्धकारनिर्मूलक, विद्यार्कप्रकाशक, हे परमैश्वर्यदायक, साम्राज्यप्रसारक, हे अधमोद्धारक, पतितपावन, मान्यप्रद, हे विश्वविनोदक, विनयविधिप्रद, हे विश्वासविलासक, हे निरञ्जन, नायक, शर्मद नरेश, निर्विकार, हे सर्वान्तर्यामिन्, सदुपदेशक, मोक्षप्रद, हे सत्यगुणाकर, निर्मल, निरीह, निरामय, निरुपद्रव दीनदयाकर, परमसुखदायक, हे दारिद्र्यविनाशक, निर्वैरविधायक, सुनीतिवर्धक, हे प्रीतिसाधक, राज्यविधायक, शत्रुविनाशक, + हे सर्वबलदायक, निर्बलपालक, हे सुधर्मसुप्रापक, हे अर्थसुसाधक, सुकामवर्धक, ज्ञानप्रद, हे सन्ततिपालक, धर्म्मसुशिक्षक, रोगविनाशक, पुरुषार्थप्रापक, दुर्गुणनाशक, सिद्धिप्रद, हे सज्जनसुखद, दुष्टसुताड़न, गर्वकुक्रोधकुलोभविदारक हे परमेश, परेश, परमात्मन्, परब्रह्मन् ! हे जगदानन्दक, परमेश्वर, व्यापक सूक्ष्माच्छेद्य, हे अजरामृताभयनिर्बन्धनादे ! हे अप्रतिमप्रभाव, निर्गुणातुल, विश्वाद्य, विश्ववन्द्य, विद्वद्विलासक, इत्याद्यनन्तविशेषणवाच्य, हे मंगलप्रदेश्वर ! आप सर्वथा सब के निश्चित मित्र हो, हमको सत्य सुखदायक सर्वदा हो, हे सर्वोत्कृष्ट, स्वीकरणीय, वरेश्वर ! आप वरुण अर्थात् सबसे परमोत्तम हो, सो आप हम को परमसुखदायक हो, हे पक्षपातरहित, धर्मन्यायकारिन् ! आप अर्य्यमा (यमराज) हो इससे हमारे लिये न्याययुक्त सुख देने वाले आप ही हो, हे परमैश्वर्य्यवन्, इन्द्रेश्वर ! आप हमको परमैश्वर्ययुक्त शीघ्र स्थिर सुख दीजिये। हे महाविद्यावाचोधिपते, बृहस्पते, परमात्मन् ! हम लोगों को (बृहत्) सबसे बड़े सुख को देने वाले आप ही हो। हे सर्वव्यापक, अनंत पराक्रमेश्वर, विष्णो ! आप हमको अनंत सुख देओ। जो कुछ मांगेंगे, सो आपसे ही हम लोग मांगेगे। सब सुखों का देने वाला आप के विना कोई नहीं है। सर्वथा हम लोगों को आप का ही आश्रय है, अन्य किसी का नहीं। क्योंकि सर्वशक्तिमान् न्यायकारी दयामय सब से बड़े पिता को छोड़ के नीच का आश्रय हम लोग कभी न करेंगे। आप का तो स्वभाव ही है कि अङ्गीकृत को कभी नहीं छोड़ते। सो आप सदैव हम को सुख देंगे, यह हम लोगों को दृढ़ निश्चय है ॥ १ ॥

स्तुति विषय

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ॥२॥

ऋ० १। १। १। १।

× यह संख्या इस भाग में यथावत् जान लेना, क्योंकि आगे केवल अङ्कसंख्या लिखी जायगी। ऋ० १। ६। १८। ६॥ इनसे अष्टक, अध्याय, वर्ग, मन्त्र जान लेना

+ शत्रु=पापी, अधार्मिक। —सम्पादक

व्याख्यान--हे वन्द्येश्वराग्ने ! आप ज्ञानस्वरूप हो, आपकी मैं स्तुति करता हूं।

सब मनुष्यों के प्रति परमात्मा का यह उपदेश है, हे मनुष्यो ! तुम लोग इस प्रकार से मेरी स्तुति प्रार्थना और उपासनादि करो, जैसे पिता वा गुरु अपने पुत्र वा शिष्य को शिक्षा करता है कि तुम पिता वा गुरु के विषय में इस प्रकार से स्तुति आदि का वर्त्तमान करना। वैसे सब के पिता और परम गुरु ईश्वर ने हमको कृपा से सब व्यवहार और विद्यादि पदार्थों का उपदेश किया है, जिससे हमको व्यवहार ज्ञान और परमार्थ ज्ञान होने से अत्यंत सुख हो, जैसे सब का आदिकारण ईश्वर है, वैसे परमविद्या वेद का भी आदिकारण ईश्वर है।

हे सर्वहितोपकारक ! आप "पुरोहितम्" सब जगत् के हित साधक हो। हे यज्ञदेव ! सब मनुष्यों के पूज्यतम और ज्ञान-यज्ञादि के लिये कमनीयतम हो। "ऋत्विजम्" सब ऋतु वसन्त आदि के रचक, अर्थात् जिस समय जैसा सुख चाहिये, उस सुख के सम्पादक आप ही हो। "होतारम्" सब जगत् को समस्त योग और क्षेम के देने वाले हो। और प्रलय समय में कारण में सब जगत् का होम करनेवाले हो। "रत्नधातमम्" रत्न अर्थात् रमणीय पृथिव्यादिकों के धारण रचन करने वाले तथा अपने सेवकों के लिये रत्नों के धारण* करने वाले एक आप ही हो। हे सर्वशक्तिमन् परमात्मन् ! इसलिये मैं बारम्बार आपकी स्तुति करता हूं। इसको आप स्वीकार कीजिये, जिससे हम लोग आपके कृपापात्र होके सदैव आनन्द में रहें ॥ २ ॥

प्रार्थना विषय

अग्निना रयिमश्नवत्पोषमेव दिवेदिवे ।
यशसं वीरवत्तमम् ॥ ३ ॥

ऋ० १ । १ । १ । ३ ॥

व्याख्यान—हे महादातः, ईश्वराग्ने ! आप की कृपा से स्तुति करने वाला मनुष्य "रयिम्" उस विद्यादि धन तथा सुवर्णादि धन को अवश्य प्राप्त होता है कि जो धन प्रतिदिन "पोषमेव" महापुष्टि करने और सत्कीर्ति को बढ़ाने वाला तथा जिससे विद्या, शौर्य्य, धैर्य्य, चातुर्य, बल, पराक्रम और दृढ़ाङ्ग, धर्मात्मा, न्याययुक्त अत्यन्त वीर पुरुष प्राप्त हों, वैसे सुवर्ण रत्नादि तथा चक्रवर्त्ती राज्य और विज्ञानरूप धन को प्राप्त होऊं तथा आपकी कृपा से सदैव धर्मात्मा होके अत्यन्त सुखी रहूं ॥३॥

स्तुति विषय

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ।
स देवाँ एह वक्षति ॥ ४ ॥

ऋ० १ । १ । १ । २॥

व्याख्यान—हे सब मनुष्यों के स्तुति करने योग्य ! ईश्वराग्ने ! "पूर्वेभिः" विद्या पढ़े हुए प्राचीन "ऋषिभिः" मन्त्रार्थ देखने वाले विद्वान् और "नूतनैः" वेदार्थ पढ़ने वाले नवीन ब्रह्मचारियों से "ईड्यः" स्तुति के योग्य "उत" और जो हम लोग मनुष्य विद्वान् वा मूर्ख हैं, उनसे भी अवश्य आप ही स्तुति के योग्य हो सो स्तुति को प्राप्त हुए आप हमारे और सब संसार के सुख के लिये दिव्यगुण अर्थात् विद्यादि को कृपा से प्राप्त करो,+ आप ही सब के इष्टदेव हो ॥ ४ ॥

स्तुति विषय

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः ।
देवो देवेभिरा गमत् ॥ ५ ॥

ऋ० १ । १ । १ । ५॥

व्याख्यान—हे सर्वदृक् ! सबको देखने वाले "क्रतुः" सब जगत् के जनक "सत्य" अविनाशी, अर्थात् कभी जिनका नाश नहीं होता, "चित्रश्रवस्तमः" आश्चर्य्यश्रवणादि आश्चर्य्यगुण, आश्चर्य्यशक्ति आश्चर्य्यरूपवान् और अत्यन्त उत्तम आप हो, जिन आपके तुल्य वा आप से बड़ा कोई नहीं है, हे जगदीश ! "देवेभिः" दिव्य गुणों के सह वर्त्तमान हमारे हृदय में आप प्रकट हों, सब जगत् में भी प्रकाशित हों, जिससे हम और हमारा राज्य दिव्यगुणयुक्त हो। वह राज्य आपका ही है, हम तो केवल आपके पुत्र तथा भृत्यवत् हैं ॥ ५ ॥

---

*धारण कराने वाले —सम्पादक

+ प्राप्त कराओ। —सम्पादक

प्रार्थना विषय

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।
तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः॥ ६॥

ऋ० १।१।२।१॥

व्याख्यान--हे "अङ्ग" मित्र! जो आपको आत्मादि दान + करता है, उसको "भद्रम्" व्यावहारिक और पारमार्थिक सुख अवश्य देते हो। हे "अङ्गिरः" प्राणप्रिय! यह आप का सत्यव्रत है कि स्वभक्तों को परमानन्द देना, यही आपका स्वभाव हमको अत्यन्त सुखकारक है। आप मुझको ऐहिक और पारमार्थिक इन दोनों सुखों का दान शीघ्र दीजिये, जिससे सब दुःख दूर हों। हमको सदा सुख ही रहे॥ ६॥

स्तुति विषय

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः।
तेषां पाहि श्रुधी हवम्॥ ७॥

ऋ०।१।१।३।१॥

व्याख्यान--हे अनन्तबल परेश वायो दर्शनीय! आप अपनी कृपा से ही हमको प्राप्त हो। हम लोगों ने अपनी अल्पशक्ति से सोम (सोमवल्यादि) औषधियों का उत्तम रस सम्पादन किया है और जो कुछ भी हमारे श्रेष्ठ पदार्थ हैं, वे आपके लिये "अरङ्कृताः" अलङ्कृत अर्थात् उत्तम रीति से हमने बनाये हैं। और वे सब आपके समर्पण किये गये हैं। उनको आप स्वीकार करो। (सर्वात्मा से पान करो ×) हम दीनों की दीनता सुनकर जैसे पिता को पुत्र छोटी चीज समर्पण करता है, उसपर पिता अत्यन्त प्रसन्न होता है, वैसे आप हम पर होओ॥ ७॥

प्रार्थना विषय

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती।
यज्ञं वष्टु धियावसुः॥ ८॥

ऋ० १।१।६।१०॥

व्याख्यान--हे वाक्पते! सर्वविद्यामय! हमको आपकी कृपा से "सरस्वती" सर्वशास्त्र-विज्ञानयुक्त वाणी प्राप्त हो "वाजेभिः" तथा उत्कृष्ट, अन्नादि के साथ वर्त्तमान "वाजिनीवती" सर्वोत्तम क्रिया विज्ञान युक्त "पावका" पवित्रस्वरूप और पवित्र करने वाली, सत्यभाषणमय मङ्गलकारक वाणी आपकी प्रेरणा से प्राप्त होके, आपके अनुग्रह परमोत्तम बुद्धि के साथ वर्त्तमान "वसु" निधिस्वरूप वह वाणी "यज्ञं वष्टु" सर्वशास्त्रबोध और पूजनीयतम आपके विज्ञान की कामनायुक्त सदैव हो, जिस से हमारी सब मूर्खता नष्ट हो और हम महापाण्डित्य युक्त हों॥ ८॥

स्तुति विषय

पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्य्याणाम्।
इन्द्रं सोमे सचा सुते॥ ६॥

ऋ० १।१।६।२॥

व्याख्यान--हे परात्पर परमात्मन्! आप "पुरूतमम्" अत्यन्तोत्तम और सर्वशत्रुविनाशक हो तथा बहुविध जगत् के पदार्थों के "ईशानं" स्वामी और उत्पादक हो। "वार्य्याणाम्" वर, वरणीय, परमानन्द मोक्षादि पदार्थों के भी ईशान हो। "सोमे" और उत्पत्तिस्थान संसार आप से उत्पन्न होने से "इन्द्रम्" परमैश्वर्य्यवान् आपको (अभिप्रगायत +) हृदय में अत्यन्त प्रेम से गावें, यथावत् स्तुति करें। जिससे आप की कृपा से हम लोगों का भी परमैश्वर्य्य दृढ़ता जाय और परमानन्द को प्राप्त हों॥ ६॥

प्रार्थना विषय

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं
धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम्।
पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे
रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये॥ १०॥

ऋ० १।६।१५।५॥

व्याख्यान--हे सर्वाधिस्वामिन्! आप ही चर और अचर जगत् के ईशान (रचने वाले) हो। "धियं-जिन्वम्" सर्वविद्यामय विज्ञानस्वरूप बुद्धि को प्रकाशित

+ आत्म समर्पण, सर्वस्व का दान। —सम्पादक
× स्वीकार करो। —सम्पादक

+ इस शब्द की अनुवृत्ति मंत्र १।१।६।१ से आई है॥

करने वाले प्रीणनीयस्वरूप, "पूषा" सबके पोषक हो। उन आपका हम "नः, अवसे" अपनी रक्षा के लिये "हूमहे" आह्वान करते हैं। "यथा" जिस प्रकार से आप हमारे विद्यादि धनों की वृद्धि वा रक्षा के लिये "अदब्धः रक्षिता" निरालस रक्षा करने में तत्पर हो, वैसे ही कृपा करके आप "स्वस्तये" हमारी स्वस्थता के लिये "पायुः" निरन्तर रक्षक (विनाश-निवारक) हो, आप से पालित हम लोग, सदैव उत्तम कार्मों में उन्नति और आनन्द को प्राप्त हों ॥ १० ॥

स्तुति विषय

अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे।
पृथिव्याः सप्त धामभिः ॥ ११ ॥
ऋ० १।२।७।१६॥

व्याख्यान — हे "देवाः" विद्वानो! "विष्णुः" सर्वत्र व्यापक परमेश्वर ने सब जीवों को पाप तथा पुण्य का फल भोगने और सब पदार्थों के स्थित होने के लिये, पृथिवी से ले के सप्तविध लोक "धामभिः" अर्थात् ऊँचे नीचे स्थानों से संयुक्त बनाये तथा गायत्र्यादि सात छन्दों से विस्तृत विद्यायुक्त वेद को भी बनाया। उन लोकों के साथ वर्तमान व्यापक ईश्वर ने "यत" जिस सामर्थ्य से सब लोकों को रचा है, "अतः" (सामर्थ्यात्) उस सामर्थ्य से हम लोगों की रक्षा करे। हे विद्वानो! तुम लोग भी उसी विष्णु के उपदेश से हमारी रक्षा करो। कैसा है वह विष्णु? जिसने इस सब जगत् को "विचक्रमे" विविधि प्रकार से रचा है उसकी नित्य भक्ति करो ॥ ११ ॥

प्रार्थना विषय

पाहि नो अग्ने रक्षसः
पाहि धूर्तेरराव्णः।
पाहि रीषत उत वा जिघांसतो
बृहद्भानो यविष्ठय ॥ १२ ॥
ऋ०।१।३।१०।१५॥

व्याख्यान—हे सर्वशत्रुदाहकाग्ने परमेश्वर! राक्षस हिंसाशील दुष्टस्वभाव देहधारियों से "नः" हमारी "पाहि" पालना करो। "धूर्तेरराव्णः" कृपण+ जो धूर्त्त, उस मनुष्य से भी हमारी रक्षा करो जो हम को मारने लगे तथा जो मारने की इच्छा करता है, हे महातेज बलवत्तम! उन सब से हमारी रक्षा करो ॥ १२ ॥

स्तुति विषय

स्वमस्य पारे रजसो व्योमनः
स्वभूत्योजा अवसे धृषन्मनः।
चकृषे भूमिं प्रतिमानमोजसोऽपः
स्वः परिभूरेष्या दिवम् ॥ १३ ॥
ऋ० १।४।१८।१२॥

व्याख्यान—हे परमैश्वर्य्यवन् परात्मन्! आकाश लोक के पार में तथा भीतर अपने ऐश्वर्य और बल से विराजमान होके दुष्टों के मन को घर्षण तिरस्कार करते हुए सब जगत् तथा विशेष हम लोगों के "अवसे" सम्यक् रक्षण के लिये "त्वम्" आप सावधान हो रहे हो, इस से हम निर्भय हो के आनन्द कर रहे हैं। किञ्च "दिवम्" परमाकाश "भूमिम्" भूमि तथा "स्वः" सुखविशेष मध्यस्थ लोक इन सबों को अपने सामर्थ्य से ही रच के यथावत् धारण कर रहे हो। "परिभूः एषि" सब पर वर्त्तमान और सबको प्राप्त हो रहे हो। "आदिवम्" द्योतनात्मक सूर्यादिलोक, "आपः" अन्तरिक्षलोक और जल, इन सबके प्रतिमान (परिमाण) कर्ता आप ही हो, तथा आप अपरिमेय हो। कृपा करके हमको अपना तथा सृष्टि का विज्ञान दीजिये ॥ १३ ॥

प्रार्थना विषय

वि जानीह्यार्यान् ये च दस्यवो
बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्।
शाकी भव यजमानस्य चोदिता
विश्वेत्ता ते सधमादेषु चाकन ॥ १४ ॥
ऋ० १।४।१०।८॥

+ रा दाने धातु से रावण शब्द सिद्ध होता है। दानी को रावण और अदानी को अरावण कहते हैं।
—सम्पादक

व्याख्यान—हे यथायोग्य सबको जानने वाले ईश्वर ! आप "आर्यान्" विद्या धर्म्मादि उत्कृष्ट स्वभावाचरणयुक्त आर्यों को जानो। "ये च दस्यवः" और जो नास्तिक, डाकू, चोर, विश्वासघाती, मूर्ख, विषयलम्पट, हिंसादिदोषयुक्त उत्तम कर्म में विघ्न करने वाले, स्वार्थी स्वार्थसाधन में तत्पर, वेदविद्याविरोधी, अनार्य (अनाड़ी) मनुष्य, "बर्हिष्मते" सर्वोपकार यज्ञ के विध्वंस करने वाले हैं, इन सब दुष्टों को आप "रन्धय" (समूलान् विनाशय) मूलसहित नष्ट कर दीजिये। और "शासदव्रतान्" ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासादि धर्म्मानुष्ठानव्रतरहित वेदमार्गोच्छेदक अनाचारियों का यथायोग्य शासन करो । (शीघ्र उन पर दण्ड निपातन करो) जिससे वे भी शिक्षायुक्त हो के शिष्ट हों अथवा उनका प्राणान्त हो जाय। किंवा हमारे वश में ही रहें। "शाकी" तथा जीव को परम शक्तियुक्त शक्ति देने और उत्तम कामों में प्रेरणा करने वाले हो। आप हमारे दुष्ट कामोंसे निरोधक हो। मैं भी "सधमादेषु,' उत्कृष्ट स्थानों में निवास करता हुआ "विश्वेत्ता ते" तुम्हारी आज्ञानुकूल सब उत्तम कर्म्मों की "चाकन" कामना करता हूँ, सो आप पूरी करें ॥ १४ ॥

स्तुति विषय

न यस्य द्यावा पृथिवी अनु व्यचो
न सिन्धवो रजसो अन्तमानशुः ।
नोत स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यत
एको अन्यच्चकृषे विश्वमानुषक् ॥१५॥
ऋ० १ । ४ । १४ । १४ ॥

व्याख्यान—हे परमैश्वर्ययुक्तेश्वर ! आप इन्द्र हो, हे मनुष्यो ! जिस परमात्मा का अन्त इतना है यह न हो, उसकी व्याप्ति का परिच्छेद (इयत्ता) परिमाण कोइ नहीं कर सकता, तथा दिव अर्थात् सूर्य्यादिलोक सर्वोपरि आकाश तथा पृथिवी मध्य निकृष्टलोक ये कोई उस के आदि अन्त को नहीं पाते क्योंकि "अनुव्यच" वह सबके बीच में अनुस्यूत (परिपूर्ण) हो रहा है। तथा "न सिन्धव" अन्तरिक्ष में जो दिव्यजल तथा सब लोक, सो भी अन्त नहीं पासकते "नोत स्ववृष्टिं मदे" धृष्टिप्रहार से युद्ध करता हुआ वृत्र (मेघ) तथा बिजुली गर्जन आदि भी ईश्वर का पार नहीं पा सकते।* हे परमात्मन् ! आपका पार कौन पा सके ? क्योंकि "एकः" एक (अपने से) भिन्न सहायरहित) स्वसामर्थ्य से ही "विश्वम्" सब जगत् को "आनुषक्" आनुषक्त अर्थात् उसमें व्याप्त होते और "चकृषे" (कृतवान्) आपने ही उत्पन्न किया है। फिर जगत् के पदार्थ आपका पार कैसे पा सकें तथा (अन्यत्) आप जगत् रूप कभी नहीं बनते। न अपने में से जगत् को रचते हो, किन्तु अनन्त अपने सामर्थ्य से ही जगत् का रचन, धारण और लय यथाकाल में करते हो। इससे आप का सहाय हम लोगों को सदैव है ॥१५॥

प्रार्थना विषय

ऊर्ध्वो नः पाह्यंहसो नि केतुना
विश्वं समत्रिणं दह ।
कृधी न ऊर्ध्वाञ्चरथाय जीवसे
विदा देवेषु नो दुवः ॥१६॥
ऋ० १ । ३ । १० । १४ ॥

व्याख्यान—हे सर्वोपरि विराजमान परब्रह्म ! आप (ऊर्ध्वः) सबसे उत्कृष्ट हो, हमको कृपा से उत्कृष्ट गुण वाले करो। तथा ऊर्ध्वदेश में हमारी रक्षा करो। हे सर्वपापप्रणाशकेश्वर ! हम को "केतुना" विज्ञान अर्थात् विविध विद्यादान देके "अंहसः" अविद्यादि महापाप से "नि पाहि" (नितरां पाहि) सदैव अलग रक्खो। तथा "विश्वम्" इस सकल संसार का भी नित्य पालन करो। हे सत्यमित्र न्यायकारिन् ! जो कोई प्राणी "अत्रिणम्"+ हम से शत्रुता करता है, उसको और काम, क्रोधादि शत्रुओं को आप "सन्दह" सम्यक् भस्मीभूत करो। (अच्छे प्रकार जलाओ।) "कृधी न ऊर्ध्वान्" हे कृपानिधे ! हमको विद्या, शौर्य, धैर्य, बल,

* जैसे कोई मन में मग्न होके रणभूमि में युद्ध करे, वैसे मेघ का भी दृष्टान्त जानना। [महर्षि]

\+ अत्रिणम्—अत्ति भक्षयत्यन्यायेन पर पदार्थान् यः स शत्रुस्तम्। जो अन्याय से पराये पदार्थों को खाता है, वह। —सम्पादक

पराक्रम, चातुर्य, विविधधन ऐश्वर्य, विनय, साम्राज्य, सम्मति, सम्प्रीति, स्वदेशसुखसंपादनादि गुणों में सब में सब नरदेहधारियों से अधिक उत्तम करो। तथा "चरथाय, जीवसे" सब से अधिक आनन्द, भोग, सब देशों में अव्याहतगमन (इच्छानुकूल जाना आना), आरोग्य, देह, शुद्ध मानसबल और विज्ञान इत्यादि के लिये हमको उत्तमता और अपनी पालनायुक्त करो। "विदा" विद्यादि उत्तमोत्तम धन "देवेषु" विद्वानों के बीच में प्राप्त करो अर्थात् विद्वानों के मध्य में भी उत्तम प्रतिष्ठायुक्त, सदैव हमको रक्खो ॥ १६ ॥

स्तुति विषय

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्ष-
मदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना
अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥१७॥

ऋ० १ । ६ । १६ । १० ॥

व्याख्यान—हे त्रैकाल्याबाधेश्वर! "अदितिर्द्यौः" आप सदैव विनाशरहित तथा स्वप्रकाशस्वरूप हो। "अदितिरन्तरिक्षम्" अविकृत (विकार को न प्राप्त) और सबके अधिष्ठाता हो। "अदितिर्माता" आप प्राप्त मोक्ष जीवों को अविनश्वर (विनाशरहित) सुख देने और अत्यन्त मान करने वाले हो। "स पिता" सो अविनाशीस्वरूप हम सब लोगों के पिता (जनक) और पालक हो। और "स पुत्रः" सो ईश्वर आप मुमुक्षु धर्मात्मा विद्वानों को नरकादि दुःखों से पवित्र और त्राण (रक्षक) करने वाले हो "विश्वे देवा अदितिः" सब दिव्यगुण (विश्व का धारण, रचन, मारण, पालन आदि कार्यों को करने वाले) आप अविनाशी परमात्मा ही हैं। "पंचजाना अदितिः" पंच प्राण जो जगत् के जीवनहेतु वे भी आप के रचे और आपके नाम भी हैं। + "जातमदितिः" वही एक चेतन ब्रह्म आप सदा प्रादुर्भूत हैं और सब कभी प्रादुर्भूत कभी अप्रादुर्भूत (विनाशभूत) भी हो जाते हैं। "अदितिर्जनित्वम्" वे ही अविनाशीस्वरूप ईश्वर आप सब जगत् के (जनित्वं) जन्म का हेतु हैं और कोई नहीं + ॥ १७ ॥

प्रार्थना विषय

ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयतु विद्वान् ।
अर्यमा देवैः सजोषाः ॥ १८ ॥

ऋ० १ । ६ । १७ । १ ॥

व्याख्यान—हे महाराजाधिराज परमेश्वर! आप हमको "ऋजु०" सरल (शुद्ध) कोमलत्वादिगुणविशिष्ट चक्रवर्ती राजाओं की नीति को "नयतु" कृपा दृष्टि से प्राप्त करो। + आप "वरुणः" सर्वोत्कृष्ट होने से वरुण हो। सो हमको वरराज्य, वरविद्या, वरनीति देओ तथा सबके मित्र शत्रुतारहित हो हमको भी आप मित्रगुणयुक्त न्यायाधीश कीजिये तथा आप सर्वोत्कृष्ट विद्वान् हो हमको भी सत्यविद्या से युक्त सुनीति दे के साम्राज्याधिकारी सद्यः कीजिये। तथा आप 'अर्य्यमा' (यमराज) प्रियाप्रिय को छोड़ के न्याय में वर्त्तमान हो सब संसार के जीवों के पाप और पुण्यों की यथायोग्य व्यवस्था करने वाले हो। सो हमको भी आप तादृश करें। जिससे "देवैः, सजोषा" आपकी कृपा से विद्वानों वा दिव्यगुणों के साथ उत्तम-प्रीति-युक्त आप में रमण और आपका सेवन करने वाले हों। हे कृपासिन्धो भगवान्! हम पर सहायता करो, जिससे सुनीतियुक्त हो के हमारा स्वराज्य अत्यन्त बढ़े ॥ १८ ॥

प्रार्थना विषय

त्वं सोमासि सत्पतिस्त्वं राजोत वृत्रहा ।
त्वं भद्रो असि क्रतुः ॥ १९ ॥

ऋ० १ । ६ । १९ । ५ ॥

व्याख्यान—हे सोम राजन् सत्पते परमेश्वर! तुम सोम, सबका सार निकालने हारे प्राप्यस्वरूप, शांतात्मा हो तथा सत्पुरुषों का प्रतिपालन करने वाले हो। तुम्हीं सबके राजा "उत" और वृत्रहा" मेघ के रक्षक, धारक और मारक हो भद्रस्वरूप भद्र करने

+ प्राण, अपान, समान, व्यान आदि ईश्वर के नाम भी हैं। —सम्पादक

+ ये सब नाम दिव आदि अन्य वस्तुओं के भी होते हैं परन्तु यहां ईश्वराभिप्रेत से ही अर्थ किया, सो सप्रमाण जानना चाहिये ॥ [महर्षि]

+ प्राप्त कराओ। —सम्पादक

वाले और "क्रतुः" सब जगत् के कर्ता आप ही हो ॥ १६ ॥

प्रार्थना विषय

त्वं नः सोम विश्वतो रक्षा राजन्नघायतः ।
न रिष्येत् त्वावतः सखा ॥ २० ॥

ऋ० १ । ६ । २० । ८ ॥

व्याख्यान—हे सोम राजन्नीश्वर ! तुम अघायतः" जो कोई प्राणी हममें पापी और पाप करने की इच्छा करने वाले हों "विश्वतः" उन सब प्राणियों से हमारी 'रक्ष' रक्षा करो। जिस के आप सगे मित्र हो 'न' रिष्येत् वह कभी विनष्ट नहीं होता । किन्तु हमको आपकी सहायता से तिलमात्र भी दुःख वा भय कभी नहीं होगा । जो आपका मित्र और जिसके आप मित्र हो, उसको दुःख क्योंकर हो ॥ २० ॥

प्रार्थना विषय

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ २१ ॥

ऋ० १ । २ । ७ । २० ॥

व्याख्यान—हे विद्वानो और मुमुक्षु जीवो ! विष्णु का जो परम अत्यन्तोत्कृष्ट पद (पदनीय) सबके जानने योग्य, जिसको प्राप्त होके पूर्णानन्द में रहते हैं, फिर वहां से शीघ्र दुःख में नहीं गिरते + उस पद को "सूरयः" धर्मात्मा जितेन्द्रिय, सबके हितकारक विद्वान् लोग यथावत् अच्छे विचार से देखते हैं वह परमेश्वर का पद है । किस दृष्टान्त से कि जैसे आकाश में "चक्षु" नेत्र की व्याप्ति वा सूर्य का प्रकाश सब ओर से व्याप्त है वैसे ही "दिवीव, चक्षुराततम्" परब्रह्म सब जगह में परिपूर्ण एकरस भर रहा है । वही परमपदस्वरूप परमात्मा परमपद है । इसी की प्राप्ति होने में जीवन सब दुःखों से छूटता है, अन्यथा जीवों को कभी परम सुख नहीं मिलता । इससे सब प्रकार परमेश्वर की प्राप्ति में यथावत् प्रयत्न करना चाहिये ॥ २१ ॥

+ अर्थात् महाकल्प पर्यन्त मोक्ष-सुख को भोगते हैं । —सम्पादक

प्रार्थना विषय

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे
वीळू उत प्रतिष्कभे ।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी
मा मर्त्यस्य मायिनः ॥२२॥

ऋ० १ । ३ । १८ । २ ॥

व्याख्यान—(परमेश्वरो हि सर्वजीवेभ्य आशीर्ददाति) ईश्वर सब जीवों को आशीर्वाद देता है कि, हे जीवो ! "वः" (युष्माकम्) तुम्हारे लिये आयुध अर्थात् शतघ्नी (तोप) भुशुण्डी (बन्दूक) धनुष, बाण, करवाल । (तलवार) शक्ति (बर्छी) आदि शस्त्र स्थिर और "वीळू दृढ़ हों । किस प्रयोजन के लिये ? "पराणुदे" तुम्हारे शत्रुओं के पराजय के लिये जिससे तुम्हारे कोई दुष्ट शत्रु + लोग कभी दुःख न दे सकें । "उत' प्रतिष्कभे" शत्रुओं के वेग को थामने के लिये "युष्माकमस्तु, तविषी पनीयसी" तुम्हारी बलरूप उत्तम सेना सब संसार में प्रशंसित हो । जिससे तुमसे लड़ने को शत्रु का कोई संकल्प भी न हो । परन्तु "मा मर्त्यस्य मायिनः" जो अन्यायकारी मनुष्य है, उसको हम आशीर्वाद नहीं देते । दुष्ट, पापी, ईश्वरभक्तिरहित मनुष्य का बल और राज्यैश्वर्यादि कभी मत बढ़ो उसका पराजय भी सदा हो । हे बंधुवर्गो ! आओ अपने सब मिलके सब दुःखों का विनाश और विजय के लिये ईश्वर को प्रसन्न करें । जो अपने को वह ईश्वर आशीर्वाद देवे, जिससे अपने शत्रु कभी न बढ़ें ॥ २२ ॥

प्रार्थना विषय

विष्णोः कर्माणि पश्यत
यतो व्रतानि पस्पशे ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ २३ ॥

ऋ० १ । २ । ७ । १९ ॥

व्याख्यान—हे जीवो ! "विष्णोः" व्यापकेश्वर के किये दिव्य जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आदि

+ पापी, दुष्ट । —सम्पादक

कर्मों को तुम देखो (प्रश्न)। किस हेतु से हम लोग जानें कि व्यापक विष्णु के कर्म हैं ? (उत्तर , "यतो व्रतानि पस्पशे" जिससे हम लोग ब्रह्मचर्यादि व्रत तथा सत्य भाषणादि व्रत, और ईश्वर के नियमों का अनुष्ठान करने को जीव सुशरीरधारी हो के समर्थ हुए हैं। यह काम उसी के सामर्थ्य से है। क्योंकि "इन्द्रस्य, युज्यः, सखा" इन्द्रियों के साथ वर्तमान कर्मों का कर्ता, भोक्ता जो जीव इसका वही एक योग्य मित्र है, अन्य कोई नहीं। क्योंकि ईश्वर जीव का अन्तर्यामी है, उससे परे जीव का हितकारी कोई और नहीं हो सकता। इससे परमात्मासे सदा मित्रता रखनी चाहिये ॥ २३ ॥

प्रार्थना विषय

परा णुदस्व मघवन्नमित्रा-
न्त्सुवेदा नो वसू कृधि ।
अस्माकं बोध्यविता महाधने
भवा वृधः सखीनाम् ॥ २४ ॥
ऋ० ५ । ३ । २१ । २५ ॥

व्याख्यान—हे मघवन् परमैश्वर्यवन् इन्द्र परमात्मन् ! "अमित्रान्" हमारे सब शत्रुओं को "पराणुदस्व" परास्त कर दे। हे दातः ! "सुवेदा, नो, वसू, कृधि"। अस्माकं, बोध्यविता" हमारे लिये सब पृथ्वी के धन सुलभ कर। "महाधने" युद्ध में हमारे और हमारे मित्र तथा सेनादि के "अविता" रक्षक "वृधः" वर्धक "भव" आप ही हो। तथा "बोधि" हमको अपने ही जानो। हे भगवन् ! जब आप हमारे रक्षक योद्धा होंगे, तभी हमारा सर्वत्र विजय होगा, इसमें सन्देह नहीं ॥ २४ ॥

प्रार्थना विषय

शं नो भगः शमु नः शंसो अस्तु
शं नः पुरन्धिः शमु सन्तु रायः ।
शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः
शं नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु ॥ २५ ॥
ऋ० ५ । ३ । २८ । २ ॥

व्याख्यान—हे ईश्वर ! "भगः" आप और आपका दिया हुआ ऐश्वर्य "शं नः" हमारे लिये सुखकारक हो। और "शमु, नः शंसो अस्तु" आपकी कृपा से हमारी सुखकारक प्रशंसा सदैव हो। "पुरन्धिः, शमु, सन्तु, रायः" संसार के धारण करने वाले आप तथा वायु प्राण और सब धन आनन्ददायक हों। "शन्नः, सत्यस्य [सुयमस्य शंसः]" सत्य यथार्थ धर्म सुसंयम और जितेन्द्रियतादि लक्षणयुक्त जो प्रशंसा (पुण्यस्तुति) सब संसार में प्रसिद्ध है, वह परमानन्द और शांतियुक्त हमारे लिये हो। "शं नो अर्यमा" न्यायकारी आप "पुरुजातः" अनन्त सामर्थ्ययुक्त हमारे कल्याणकारक होओ ॥ २५ ॥

स्तुति विषय

त्वमसि प्रशस्यो विदथेषु सहन्त्य ।
अग्ने रथीरध्वराणाम् ॥ २६ ॥
ऋ० ५ । ८ । ३५ । २ ॥

व्याख्यान—हे "अग्ने" सर्वज्ञ ! तू ही सर्वत्र "प्रशस्यः" स्तुति करने के योग्य है, अन्य कोई नहीं। "विदथेषु" यज्ञ और युद्धों में आप ही स्तोतव्य हो। जो तुम्हारी स्तुति को छोड़ के अन्य जड़ादि की स्तुति करता है। उसके यज्ञ तथा युद्धों में विजय कभी सिद्ध नहीं होता है। "सहन्त्य" शत्रुओं के समूहों के आप ही घातक हो। "रथीः" अध्वरों अर्थात् यज्ञ और युद्धों में आप ही रथी हो। हमारे शत्रुओं के योद्धाओं को जीतने वाले हो। इस कारण से हमारा पराजय कभी नहीं हो सकता ॥ २६ ॥

प्रार्थना विषय

तन्न इन्द्रो वरुणो मित्रो अग्नि-
राप ओषधीर्वनिनो जुषन्त ।
शर्मन्त्स्याम मरुतामुपस्थे
यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ २७ ॥
ऋ० ५ । ३ । २७ । २५ ॥

व्याख्यान—हे भगवन् ! "तन्न इन्द्र" सूर्य "वरुणः" चन्द्रमा, "मित्रः" वायु "अग्निः" अग्नि "आपः" जल "ओषधीः" वृक्षादि वनस्थ सब पदार्थ

आपकी आज्ञा से सुखरूप होकर हमारा सेवन करें।× हे रक्षक! "मरुतामुपस्थे" प्राणादि पवनों के गोद में बैठे हुए हम आपकी कृपा से "शर्मन्त्स्याम" सुखयुक्त सदा रहें। "स्वस्तिभिः" सब प्रकार के रक्षणों से "यूयं, पात" (आदरार्थ बहुवचनम्) आप हमारी रक्षा करो। किसी प्रकार से हमारी हानि न हो॥ २७॥

स्तुति विषय

ऋषिर्हि पूर्वजा अस्येक ईशान ओजसा।
इन्द्र चोष्कूयसे वसु॥ २८॥
ऋ० ५।८।१७।४१॥

व्याख्यान—हे ईश्वर! "ऋषिः" सर्वज्ञ "पूर्वजाः" और सब के पूर्वजों के एक अद्वितीय "ईशानः" ईशन-कर्ता अर्थात् ईश्वरता करने हारे ईश्वर तथा सबसे बड़े प्रलयोत्तरकाल में आप ही रहने वाले, "ओजसा" अनन्त पराक्रम से युक्त हो। हे इन्द्र महाराजाधिराज! "चोष्कूयसे वसु" सब धन के दाता शीघ्र कृपा का प्रवाह अपने सेवकों पर कर रहे हो। आप अत्यन्त आर्द्र स्वभाव हो॥ २८॥

प्रार्थना विषय

नेह भद्रं रक्षस्विने नावयै नोपया उत।
गवे च भद्रं धेनवे वीराय च श्रवस्यतेऽनेहसो
व ऊतयः सु ऊतयो व ऊतयः॥२९॥
ऋ० ६।४।६।१२॥

व्याख्यान—हे भगवान्! "रक्षस्विने भद्रं, नेह" पापी हिंसक दुष्टात्मा को इस संसार में सुख मत देना। "नावयै" धर्म से विपरीत चलने वाले को सुख कभी मत हो। तथा "नोपया उत" अधर्मी के समीप रहने वाले उसके सहायक को भी सुख नहीं हो। ऐसी प्रार्थना आपसे हमारी है कि दुष्ट को सुख कभी न होना चाहिये। नहीं तो कोई जन धर्म में रुचि नहीं करेगा। किन्तु इस संसार में धर्मात्माओं को ही सुख सदा दीजिये। तथा हमारी शमदमादियुक्त इन्द्रियां, दुग्ध देने वाली गौ आदि, वीरपुत्र और शूरवीर भृत्य "श्रवस्यते" विद्या विज्ञान और अन्नाद्यैश्वर्ययुक्त हमारे देश के राजा और धनाढ्यजन तथा इनके लिये "अनेहसः" निष्पाप निरुपद्रव स्थिर दृढ़ सुख हो। "व ऊतयो व ऊतयः" (वः युष्माकं, बहुवचनमादरार्थम्) हे सर्वरक्षकेश्वर! आप सब रक्षण अर्थात् पूर्वोक्त सब धर्मात्माओं की रक्षा करने हारे हैं। जिस पर आप रक्षक हो, उनको सदैव भद्र कल्याण (परमसुख) प्राप्त होता है, अन्य को नहीं॥ २९॥

× हमें प्राप्त हों। —सम्पादक

स्तुति विषय

वसुर्वसुपतिर्हि कमस्यग्ने विभावसुः।
स्याम ते सुमतावपि॥ ३०॥
ऋ० ६।३।४०।२४॥

व्याख्यान—हे परमात्मन्! आप वसु अर्थात् सबको अपने में बसाने वाले और सब में आप बसने वाले हो। तथा "वसुपतिः" पृथिव्यादि वास हेतु भूतों के पति हो। "कमसि" हे अग्ने विज्ञानानन्द स्वप्रकाशस्वरूप! आप ही सब के सुखकारक और सुखस्वरूप हो। तथा "विभावसुः" सत्यस्वप्रकाशैकः धनमय हो। हे भगवान्! ऐसे जो आप, उन "ते" आपकी "सुमतौ" अत्यन्तोत्कृष्ट ज्ञान और परस्पर प्रीति में हम लोग स्थिर हों॥३०॥

प्रार्थना विषय

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम
राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः।
इतो जातो विश्वमिदं वि चष्टे
वैश्वानरो यतते सूर्येण॥ ३१॥

व्याख्यान—हे मनुष्यो! जो हमारा तथा सब जगत् का राजा सब भुवनों का स्वामी "कम्" सबका सुखदाता और "अभिश्रीः" सबका निधि (शोभाकारक) है। "वैश्वानरो, यतते, सूर्येण" संसारस्थ सब नरों का नेता (नायक) और सूर्य के साथ वही प्रकाशक है अर्थात् सब पदार्थ उसके रचे हैं। "इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे" इसी ईश्वर के सामर्थ्य से ही यह संसार उत्पन्न हुआ है अर्थात् उसने रचा है। "वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम" उस वैश्वानर परमेश्वर की सुमतौ अर्थात् सुशोभन (उत्कृष्ट) ज्ञान में हम

निश्चित सुखस्वरूप और विज्ञान वाले हों। हे महाराजाधिराजेश्वर! आप इस हमारी आशा को कृपा से पूरी करो ॥ ३१ ॥

स्तुति विषय

न यस्य देवा देवता न मर्त्ता
आपश्चन शवसो अन्तमापुः ।
स प्ररिक्वा त्वक्षसा क्ष्मो दिवश्च
मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ॥३२॥

ऋ० १।७।१०।१५॥

व्याख्यान—हे अनन्तबल! "न यस्य" जिस परमात्मा का और उसके बलादि सामर्थ्य का "देवाः" इन्द्रिय "देवताः" विद्वान् सूर्यादि बुध्यादि "न, मर्त्ताः" साधारण मनुष्य, "आपश्चन" आप, प्राण, वायु, समुद्र इत्यादि सब अन्त (पार) कभी नहीं पा सकते; किन्तु "प्ररिक्वा" प्रकृष्टता से इनमें व्यापक होके अतिरिक्त (इनसे विलक्षण) भिन्न ही परिपूर्ण हो रहा है, सो "मरुत्वान्" अत्यन्त बलवान् इन्द्र परमात्मा "त्वक्षसा" शत्रुओं के बल का छेदक बल से "क्ष्मः" पृथिवी को "दिवश्च" स्वर्ग को धारण करता है, सो "इन्द्रः" परमात्मा "ऊती" हमारी रक्षा के लिये "भवतु" तत्पर हो ॥ ३२ ॥

प्रार्थना विषय

जातवेदसे सुनवाम सोम-
मरातीयतो नि दहाति वेदः ।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा
नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः ॥ ३३ ॥

ऋ० १।७।७।१॥

व्याख्यान—हे "जातवेद" परब्रह्मन्! आप जातवेद हो। उत्पन्नमात्र सब जगत् को जाननेवाले हो, सर्वत्र प्राप्त हो। जो विद्वानों से ज्ञात सब में विद्यमान (जात अर्थात् प्रादुर्भूत अनन्त धनवान वा अनन्त ज्ञानवान् हो, इससे आपका नाम जातवेद है।) उन आपके लिये "वयं, सोमं, सुनवाम" जितने सोम प्रिय गुण विशिष्टादि हमारे पदार्थ हैं, वे सब अर्पित हैं। सो आप हे कृपालो! "अरातीयतः" दुष्ट शत्रु जो हम धर्मात्माओं का विरोधी, उसके "वेदः" धनैश्वर्यादि का "नि दहाति" नित्य दहन करो। जिस से वह दुष्टता को छोड़ के श्रेष्ठता को स्वीकार करे। तथा "नः" हमको "दुर्गाणि, विश्वा" सम्पूर्ण दुस्सह दुखों से "पर्षदति" पार करके आप नित्य सुखको प्राप्त करो।+ "नावेव, सिन्धुम्" जैसे अति कठिन नदी वा समुद्र से पार होने के लिये नौका होती है, "दुरितात्यग्निः" वैसे ही हमको सब पापजनित अत्यन्त पीड़ाओं से पृथक् (भिन्न) करके संसार में और मुक्ति में ही परमसुख को शीघ्र प्राप्त करो ॥३३॥

स्तुति विषय

स वज्रभृद्दस्युहा भीम उग्रः
सहस्रचेताः शतनीथ ऋभ्वा ।
चम्रीषो न शवसा पाञ्चजन्यो
मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ॥३४॥

ऋ० १।७।१०।१२॥

व्याख्यान—हे दुष्टनाशक परमात्मन्! आप "वज्रभृत्" अच्छेद्य (दुष्टों के छेदक) सामर्थ्य से सर्वशिष्ट हितकारक दुष्टविनाशक जो न्याय उसको धारण कर रहे हो। "प्राणो वा वज्रः" इत्यादि शतपथादि का प्रमाण है। अतएव "दस्युहा" दुष्ट पापी लोगों का हनन करने वाले हो। "भीम" आप × की न्याय आज्ञा को छोड़ने वालों पर भयंकर भय देने वाले हो। "सहस्रचेता सहस्रों विज्ञानादि गुणवाले आप ही हो। "शतनीथः" सैकड़ों असंख्यात पदार्थों की प्राप्ति कराने वाले हो। "ऋभ्वा" अत्यन्त विज्ञानादि प्रकाश वाले हो। और सबके प्रकाशक हो तथा महान् वा महाबल वाले हो। "न, चम्रीषः" किसी की चमू (सेना) में वश को प्राप्त नहीं होते हो। "शवसा, पाञ्चजन्यः" स्वबल से आप पाञ्चजन्य (पाँच प्राणों के) जनक हो। "मरुत्वान्" सब प्रकार के वायुओं के आधार तथा चालक हो। सो आप "इन्द्र"

+ प्राप्त कराओ। —सम्पादक
× आप अपनी। —सम्पादक

हमारी रक्षा के लिये प्रवृत्त हों, जिससे हमारा कोई काम न बिगड़े ॥ ३४ ॥

प्रार्थना विषय

सेमं नः काममापृण गोभिरश्वैः शतक्रतो।
स्तवाम त्वा स्वाध्यः ॥ ३५ ॥

ऋ० १ । १ । ३१ । ६ ॥

व्याख्यान—हे "शतक्रतो" अनन्तक्रियेश्वर ! आप असंख्यात विज्ञानादि यज्ञों से प्राप्त हो, तथा अनन्तक्रियायुक्त हो। सो आप "गोभिरश्वैः" गाय, उत्तम इन्द्रिय, श्रेष्ठ पशु, सर्वोत्तम अश्वविद्या (विज्ञानादियुक्त) तथा अश्व अर्थात् श्रेष्ठ घोड़ादि पशुओं और चक्रवर्ती राज्यैश्वर्य्य से "सोम, नः, काममापृण" हमारे कामको परिपूर्ण करो। फिर हम भी "स्तवाम, त्वा, स्वाध्यः" सुबुद्धियुक्त हो के उत्तम प्रकार से आपका स्तवन (स्तुति) करें। हमको दृढ़ निश्चय है कि आपके विना दूसरा कोई किसी का काम पूर्ण नहीं कर सकता। आपको छोड़ के दूसरे का ध्यान व याचना जो करते हैं, उनके सब काम नष्ट हो जाते हैं ॥ ३५ ॥

स्तुति विषय

सोम गीर्भिष्ट्वा वयं वर्द्धयामो वचोविदः।
सुमृडीको न आ विश ॥ ३६ ॥

ऋ० १ । ६ । २१ । ११ ॥

व्याख्यान—हे "सोम" सर्वजगदुत्पादकेश्वर ! आपको "वचोविदः" शास्त्रवित् हम लोग स्तुति समूह से "वर्द्धयामः" सर्वोपरि विराजमान मानते हैं। "सुमृडीकः, नः आविश" क्योंकि हमको सुन्दर सुख देने वाले आप ही हो। सो कृपा करके हमको आप आवेश + करो, जिससे हम लोग अविद्यान्धकार से छूट और विद्यासूर्य को प्राप्त हो के आनन्दित हों ॥ ३६ ॥

प्रार्थना विषय

सोम रारन्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा।
मर्य इव स्व ओक्ये ॥ ३७ ॥

ऋ० १ । ६ । २१ । १३ ॥

+ हमारे हृदय में निवास करो। —सम्पादक

व्याख्यान—हे "सोम" सोम्य सौख्यप्रदेश्वर ! आप कृपा करके "रारन्धि, नः हृदि" हमारे हृदय में यथावत् रमण करो। (दृष्टान्त) जैसे सूर्य्य की किरण विद्वानों का मन और गाय, पशु अपने अपने विषय और घासादि में रमण करते हैं, + वा जैसे "मर्यः, इव स्वे, ओक्ये" मनुष्य अपने घर में रमण करता है, वैसे ही आप सदा स्वप्रकाशयुक्त हमारे हृदय (आत्मा) में रमण कीजिये। जिससे हमको यथार्थ सर्वज्ञान और आनन्द हो ॥ ३७ ॥

स्तुति विषय

गयस्फानो अमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्द्धनः।
सुमित्रः सोम नो भव ॥ ३८ ॥

ऋ० १ । ६ । २१ । १२ ॥

व्याख्यान—हे परमात्मभक्त जीवो ! अपना* इष्ट जो परमेश्वर, सो "गयस्फानः" प्रजा, धन, जनपद और सुराज्य का बढ़ाने वाला है, तथा "अमीवहा" शरीर, इन्द्रियजन्य और मानस रोगों का हनन विनाश करने वाला है, "वसुवित्" सब पृथिव्यादि वसुओं का जानने वाला है अर्थात् सर्वज्ञ और विद्यादि धन का दाता है, "पुष्टिवर्धनः" हमारे शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा की तुष्टि का बढ़ाने वाला है। "सुमित्रः, सोम, नः, भव" सुन्दर यथावत् सबका परममित्र वही है। सो हम उससे यह मांगें कि हे सोम सर्वजगदुत्पादक ! आप ही कृपा करके हमारे सुमित्र हो और हम भी सब जीवों के मित्र हों तथा अत्यन्त मित्रता आपसे भी रक्खें ॥ ३८ ॥

प्रार्थना विषय

त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि।
अप नः शोशुचदघम् ॥३९॥

ऋ० १ । ७ । ५ । ६ ॥

व्याख्यान—हे अग्ने परमात्मन् ! "त्वं, हि" तू ही "विश्वतः परिभूरसि" सब जगत् सब ठिकानों में व्याप्त हो, अतएव आप विश्वतोमुख हो। हे

+ दृष्टान्त का एकदेश रमणमात्र लेना। [महर्षि]
*हमारा। —सम्पादक

सर्वतोमुख अग्ने! आप स्वशक्ति से सब जीवों के हृदय में सत्योपदेश नित्य ही कर रहे हो। वही आप का मुख है। हे कृपालो! "अप, नः, शोशुचदघम्" आपकी इच्छा से हमारा पाप सब नष्ट हो जाय, जिससे हम लोग निष्पाप हो के आपकी भक्ति और आज्ञा पालन में नित्य तत्पर रहें ॥३९॥

स्तुति विषय

तमीडत प्रथमं यज्ञसाधं
विश आरीराहुतमृञ्जसानम्।
ऊर्जः पुत्रं भरतं सृप्रदानुं
देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम् ॥ ४० ॥
ऋ० १।७।३।२॥

व्याख्यान—हे मनुष्यो! "तमीडत" उस अग्नि की स्तुति करो, कि जो "प्रथमम्" सब कार्यों से पहिले वर्त्तमान और सबका मुख्य कारण है। तथा "यज्ञसाधम्" सब संसार और विज्ञानादि यज्ञ का साधक (सिद्ध करने वाला) सबका जनक है। हे "विशः" मनुष्यो! उसी को स्वामी मानकर "आरीः" प्राप्त होओ, जिसको हम दीनता से कहते हैं, विज्ञानादि से विद्वान् लोग सिद्ध करते हैं और जानते हैं। "ऊर्ज, पुत्रं भरतम्" पृथिव्यादि जगत्‌रूप अन्न का पुत्र अर्थात् पालन करने वाला, तथा भरत अर्थात् उसी अन्न का पोषण और धारण करने वाला है। सृप्रदानुम्" सब जगत् को चलने की शक्ति देने वाला और ज्ञान का दाता है। उसी को "देवा अग्नि धारयन्द्रविणोदाम्" देव (विद्वान् लोग) अग्नि कहते और + धारण करते हैं। वही सब जगत् को द्रविण अर्थात् निर्वाह के सब अग्नि जलादि पदार्थ और विद्यादि पदार्थों का देने वाला है। उस अग्नि परमात्मा को छोड़ के अन्य किसी की भक्ति याचना कभी किसी को न करनी चाहिये ॥ ४० ॥

प्रार्थना विषय

तमूतयो रणयञ्छूरसातौ
तं क्षेमस्य क्षितयः कृण्वत त्राम्।
स विश्वस्य करुणस्येश एको
मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ॥ ४१ ॥
ऋ० १।७।६।७॥

व्याख्यान—हे मनुष्यो! "तमूतयः०" उसी इन्द्र परमात्मा की प्रार्थना तथा शरणागति से अपने को + "ऊतयः" अनन्त रक्षण तथा बलादि गुण प्राप्त होंगे। "शूरसातौ" युद्ध में अपने को यथावत् "रणयन्" रमण और रणभूमि में शूरवीरों के गुण परस्पर प्रीत्यादि प्राप्त करावेगा। "तं क्षेमस्य, क्षितयः" हे शूरवीर मनुष्यो! उसी को क्षेम कुशलता का "त्राम्" रक्षक "कृण्वत" करो, जिससे अपना × पराजय कभी न हो। क्योंकि, "सः, विश्वस्य" सो करुणामय, सब जगत् पर करुणा करने वाला "एकः" एक ही है, अन्य कोई नहीं। सो परमात्मा "ऊती" (ऊतये) सम्यक् हम लोगों पर कृपा से रक्षक हो। जिसकी रक्षा से हम लोग कभी पराजय को प्राप्त न हों ॥ ४१ ॥

स्तुति विषय

स पूर्वया निविदा कव्यतायो-
रिमाः प्रजा अजनयन्मनूनाम्।
विवस्वता चक्षसा द्यामपश्च देवा
अग्निं धारयन्द्रविणोदाम् ॥ ४२ ॥
ऋ० १।७।३।२॥

व्याख्यान—हे मनुष्यो! सो ही "पूर्वया, निविदा" आदि सनातन, सत्यता आदि गुणयुक्त परमात्मा था* अन्य कोई कार्य नहीं था। तब सृष्टि के आदि में स्वप्रकाशस्वरूप एक ईश्वर प्रजा की उत्पत्ति की ईक्षणता (विचार) [करता भया "कव्यतायो" सर्वज्ञतादि सामर्थ्य से ही सत्य विद्यायुक्त वेदों की तथा "मनूनाम्" मननशील वाले मनुष्यों की तथा अन्य पशु वृक्षादि की "प्रजा" प्रजा को "अजनयत्" उत्पन्न किया, परस्पर मनुष्य और पशु आदि के व्यवहार चलाने के लिये, परन्तु मननशील वाले मनुष्यों को

+ उसको। —सम्पादक

+ हमें —सम्पादक

× हमारा। —सम्पादक

* कार्य जगत् न था। —सम्पादक

अवश्य स्तुति करने योग्य वही है। "विवस्वता चक्षसा" सूर्यादि तेजस्वी सब पदार्थों का प्रकाशने वाला बल से, स्वर्ग (सुखविशेष) सब लोग 'अयः' अन्तरिक्ष में पृथिव्यादि मध्यम लोक]*और निकृष्ट दुःखविशेष नरक और सब दृश्यमान तारे आदि लोक लोकान्तर रचे हैं। जो ऐसा सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर है, उसी "द्रविणोदाम्" विज्ञानादि धन देने वाले को "देवाः" विद्वान् लोग अग्नि जानते हैं। हम लोग उसी को भजें॥४२॥

प्रार्थना विषय

वयं जयेम त्वया युजा वृत-
मस्माकमंशमुदवा भरे भरे।
अस्मभ्यमिन्द्र वरिवः सुगं कृधि
प्र शत्रूणां मघवन्वृष्ण्या रुज॥४३॥
ऋ० १।७।१४।४॥

व्याख्यान—हे इन्द्र परमात्मन्! "त्वया युजा, वयं, जयेम" आपके साथ वर्त्तमान आपकी सहायता से हम लोग दुष्ट शत्रुजन को जीतें। कैसा वह शत्रु? कि "आवृतम्" हमारे बल से घेरा हुआ। हे महाराजाधिराजेश्वर! "भरे भरे अस्माकमंशमुदवा" युद्ध २ में हमारे अंश (बल) सेना का "उदव" उत्तम रीति से कृपा करके रक्षण करो। जिससे किसी युद्ध में क्षीण होके हम पराजय को न प्राप्त हों। जिनको आपकी सहायता है, उनका सर्वत्र विजय होता ही है। हे "इन्द्रमघवन्" महाधनेश्वर! "शत्रूणां, वृष्ण्या" हमारे शत्रुओं के वीर्य्य पराक्रमादि को "प्ररुज" प्रभग्न रुग्ण करके नष्ट कर दे। ["अस्मभ्यं, वरिवः, सुगं, कृधि" हमारे लिये चक्रवर्ती राज्य और साम्राज्य धन को "सुगम्" सुख से प्राप्त कर+अर्थात् आपकी करुणा से हमारा राज्य और धन सदा वृद्धि को ही प्राप्त हो॥४३॥]

स्तुति विषय

यो विश्वस्य जगतः प्राणतस्पति-
र्यो ब्रह्मणे प्रथमो गा अविन्दत्।
इन्द्रो यो दस्यूँरधराँ अवातिरन्
मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे॥४४॥
ऋ० १।७।१२।५॥

व्याख्यान—हे मनुष्यो! जो सब जगत् (स्थावर) जड़ अप्राणी का और "प्राणतः" चेतना वाले जगत् का "पतिः" अधिष्ठाता और पालक है, तथा जो सब जगत् के प्रथम सदा से है और "ब्रह्मणे, गाः, अविन्दत्" जिसने यही नियम किया है कि ब्रह्म अर्थात् विद्वान् के ही लिये पृथिवी का लाभ और उसका राज्य है और जो "इन्द्रः" परमैश्वर्यवान् परमात्मा डाकुओं को "अधरान्" नीचे गिराता है, तथा उनको मार ही डालता है, "मरुत्वन्तं, सख्याय, हवामहे" आओ मित्रो भाई लोगो! अपने सब संप्रीति से मिलके मरुत्वान् अर्थात् परमानन्द बल वाले इन्द्र परमात्मा को सखा होने के लिये अत्यन्त प्रार्थना से गद्गद् हो के बुलावें। वह शीघ्र ही कृपा करके अपने से सखित्व (परम मित्रता) करेगा, इसमें कुछ सन्देह नहीं॥४४॥

प्रार्थना विषय

मृडा नो रुद्रोत नो मयस्कृधि
क्षयद्वीराय नमसा विधेम ते।
यच्छं च योश्च मनुरायेजे पिता
तदश्याम तव रुद्र प्रणीतिषु॥४५॥
ऋ० १।८।५।२॥

व्याख्यान—हे दुष्टों को रुलानेहारे रुद्रेश्वर! हमको "मृड" सुखी कर, तथा "मयस्कृधि" हमको मय अर्थात् अत्यन्त सुख का सम्पादन कर। "क्षयद्वीराय, नमसा, विधेम, ते" शत्रुओं के वीरों का क्षय करने वाले अत्यन्त नमस्कारादि से आपकी परिचर्या वाले हम लोगों को रक्षण यथावत् कर। "यच्छम्" हे रुद्र! आप हमारे पिता (पालक) हो, हमारी सब प्रजा को सुखी कर। "योश्च" प्रजा के रोगों का

+ यह कोष्ठक गत पाठ अजमेरीय पुस्तक में नहीं है। श्री रामलाल ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित पुस्तक में है। वहां इसके विषय में लिखा है कि यह पाठ प्रथम और द्वितीय संस्करण के अनुसार है। —सम्पादक

+ प्राप्त करा। —सम्पादक

भी नाश कर। जैसे "मनुः" मान्यकारक पिता "आयेजे" स्वप्रजा को संगत और अनेकविध लाडन करता है, वैसे आप हमारा पालनकरो। हे रुद्र भगवन्! "तव, प्रणीतिषु" आपकी आज्ञा का प्रणय अर्थात् उत्तम न्याययुक्त नीतियों में प्रवृत्त होके "तदश्याम" वीरों के चक्रवर्ती राज्य को आपके अनुग्रह से प्राप्त हों ॥४५॥

स्तुति विषय

देवो न यः पृथिवीं विश्वधाया
उपक्षेति हितमित्रो न राजा।
पुरःसदः शर्मसदो न वीरा
अनवद्या पतिजुष्टेव नारी ॥४६॥
ऋ० १। ५। १६। ३॥

व्याख्यान—हे प्रियबन्धु विद्वानो! "देवः, न" ईश्वर सब जगत् के बाहर और भीतर सूर्य के समान प्रकाश कर रहा है। "यः, पृथिवीम्" जो पृथिव्यादि जगत् को रचके धारण कर रहा है और "विश्वधायाः उपक्षेति" विश्वधारकशक्ति का भी निवास देने और धारण करने वाला है, तथा जो सब जगत् का परम मित्र अर्थात् जैसे "प्रियमित्रो, न, राजा" प्रियमित्रवान् राजा अपनी प्रजा का यथावत् पालन करता है, वैसे ही हम लोगों का पालनकर्ता वही एक है, और कोई भी नहीं। "पुरःसदः, शर्मसदः, न, वीराः" जो जन ईश्वर के पुरःसद हैं, (ईश्वराभिमुख ही हैं), वे ही शर्मसदः अर्थात् सुखमें सदा स्थिर रहते हैं। वा जैसे 'न वीराः" पुत्रलोग अपने पिता के घर में आनन्द पूर्वक निवास करते हैं, वैसे ही जो परमात्मा के भक्त हैं, वे सदा सुखी रहते हैं। परन्तु जो अन्यचित्त होके निराकार सर्वत्र व्याप्त ईश्वर की सत्य श्रद्धा से भक्ति करते हैं। जैसे कि "अनवद्या पतिजुष्टेव, नारी" अत्यन्तोत्तमगुणयुक्त पति की सेवा में तत्पर पतिव्रता नारी (स्त्री) रात दिन, तन, मन, धन और अतिप्रेम से अनुकूल ही रहती है, वैसे प्रेमप्रीतियुक्त होके आओ भाई लोगो! ईश्वर की भक्ति करें और अपने × सब मिलके परमात्मा से परम सुख लाभ उठावें ॥४६॥

प्रार्थना विषय

सा मा सत्योक्तिः परि पातु विश्वतो
द्यावा च यत्र ततनन्नहानि च।
विश्वमन्य न्निविशते यदेजति
विश्वाहापो विश्वाहोदेति सूर्यः ॥४७॥
ऋ० ७। ८। १२। २॥

व्याख्यान—हे सर्वाभिरक्षकेश्वर! "सा मा सत्योक्तिः" आपकी सत्य आज्ञा जिसका हमने अनुष्ठान किया वह "विश्वतः, परि पातु, नः" हमको सब संसार से सर्वथा पालन और सब दुष्ट कामों से सदा पृथक् रक्खे कि कभी हमको अधर्म करने की इच्छा भी न हो। "द्यावा, च" और दिव्य सुख से सदा युक्त करके यथावत् हमारी रक्षा करे। "यत्र" जिस दिव्य सृष्टि में "अहानि" सूर्यादिकों को दिवस आदि के होने के निमित्त "ततनन्" आपने ही विस्तारे हैं, वहां भी हमारा सब उपद्रवों से रक्षण करो। "विश्वमन्य०" आपसे अन्य (भिन्न) विश्व अर्थात् सब जगत् जिस समय आपके सामर्थ्य से (प्रलय में) "निविशते" प्रवेश करता है (कार्य सब कारणात्मक होता है), उस समय में भी आप हमारी रक्षा करो। "यदेजति" जिस समय यह जगत् आपके सामर्थ्य से चलित हो के उत्पन्न होता है, उस समय भी सब पीड़ाओं से आप हमारी रक्षा करें। "विश्वहापो, विश्वाहा" जो २ विश्व का हन्ता (दुःख देने वाला) उसको आप नष्ट कर देओ। क्योंकि आपके सामने कोई राक्षस (दुष्टजन) क्या कर सकता है? क्योंकि आप सब जगत् में उदित (प्रकाशमान) हो रहे हो। (सूर्य्यवत्) हमारे हृदय में कृपा करके प्रकाशित होओ, जिससे हमारी अविद्यान्धकारता सब नष्ट हो ॥४७॥

स्तुति विषय

देवो देवानामसि मित्रो अद्भुतो
वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे।
शर्मन्त्स्याम तव सप्रथस्तमेऽग्ने

× हम सब। —सम्पादक

सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥ ४८ ॥

ऋ० १। ६। ३२। १३ ॥

व्याख्यान—हे मनुष्यो ! वह परमात्मा कैसा है ? कि हम लोग उसकी स्तुति करें। हे अग्ने परमेश्वर ! आप "देवः, देवानामसि" देवों (परम विद्वानों) के भी देव (परमविद्वान्) हो, तथा उनको परमानन्द देने वाले हो। तथा अद्भुतः" अत्यन्त आश्चर्य्यरूप मित्र सर्व सुखकारक, सबके सखा हो। "वसु०" पृथिव्यादि वसुओं के भी वास कराने वाले हो, तथा "अध्वरे" ज्ञानादि यज्ञ में "चारुः" अत्यन्त शोभायमान और शोभा के देने वाले हो। हे परमात्मन् ! "सप्रथस्तमे सख्ये, शर्मणि तव" आपके अतिविस्तीर्ण, आनन्दस्वरूप सखाओं के कर्म में, हम लोग स्थिर हों, जिससे हमको कभी दुःख न प्राप्त हो और आपके अनुग्रह से हम लोग परस्पर अप्रीतियुक्त कभी न हों ॥ ४८ ॥

प्रार्थना विषय

मा नो वधीरिन्द्र मा परा दा
मा नः प्रिया भोजनानि प्र मोषीः।
आण्डा मा नो मघवञ्छक्र निर्भेन्
मा नः पात्रा भेत्सहजानुषाणि ॥४६॥

ऋ० १। ७। १६। ८॥

व्याख्यान—हे इन्द्र परमैश्वर्ययुक्तेश्वर ! "मा, नो, वधीः" हमारा वध मत कर अर्थात् अपने से अलग हमको मत गिरावो। "मा परा दाः" हमसे अलग आप कभी मत हों। "मा नः प्रिया०" हमारे प्रिय भोगों को मत चोर और मत चोरवावो। "आण्डा मा०" हमारे गर्भों का विदारण मत कर।+ हे "मघवन्" सर्वशक्तिमन् "शक्र" समर्थ हमारे पुत्रों का विदारण मत कर। "मा नः, पात्रा" हमारे भोजनार्थ्य सुवर्णादि पात्रों को हमसे अलग मत कर। "सहजानुषाणि" जो २ हमारे सहज अनुषक्त, स्वभाव से अनुकूल मित्र हैं, उनको आप नष्ट मत करो अर्थात् कृपा करके पूर्वोक्त सब पदार्थों की यथावत् रक्षा करो ॥ ४६ ॥

प्रार्थना विषय

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं
मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं
मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः ॥ ५० ॥

ऋ० १। ८। ६। ७॥

व्याख्यान—हे "रुद्र" दुष्टविनाशकेश्वर ! आप हम पर कृपा करो ! "मा, नो, व०" हमारे ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध पिता इनको आप नष्ट मत करो। तथा "मानो अर्भकम्" छोटे बालक और "उक्षन्तम्" वीर्यसेचनसमर्थ जवान तथा जो गर्भ में वीर्य को सेचन किया है, उसको मत विनष्ट करो। तथा हमारे पिता, माता और प्रिय तनुओं (शरीरों) का "मा, रीरिषः" हिंसन मत करो ॥ ५० ॥

प्रार्थना विषय

मा नस्तोके तनये मा न आयौ
मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधी-
र्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे ॥५१॥

ऋ० १। ८। ६। ८॥

व्याख्यान—"मा, नः, तोके" कनिष्ठ, मध्यम और ज्येष्ठपुत्र, "आयौ" उमर "गोषु" गाय आदि पशु "अश्वेषु" घोड़ादि उत्तम यान हमारी सेना के शूरों में "हविष्मन्तः" यज्ञ के करने वाले इनमें "भामितः" क्रोधित और "मा रीरिषः" रोषयुक्त होके कभी प्रवृत्त मत हो। हम लोग आपको "सदमित्त्वा, हवामहे" सर्वदैव आह्वान करते हैं। हे भगवान् रुद्र परमात्मन् ! आपसे यही प्रार्थना है कि, हमारी और हमारे पुत्र धनैश्वर्यादि की रक्षा करो ॥ ५१ ॥ ×

प्रार्थना विषय

उद्गातेव शकुने साम गायसि

+ आप की कृपा से हमारे गर्भपात न हों। आदि०

—सम्पादक

× मंत्र ५० तथा ५१ अजमेर की पुस्तक में एक ही साथ मुद्रित हुए हैं। हमने पृथक्-पृथक् कर दिये हैं।

—सम्पादक

ब्रह्मपुत्र इव सवनेषु शंससि ।
वृषेव वाजी शिशुमतीरपीत्या
सर्वतो नः शकुने भद्रमा वद
विश्वतो नः शकुने पुण्यमा वद ॥ ५२ ॥

ऋ० २।८।१२।२॥

व्याख्यान—हे "शकुने" सर्वशक्तिमन्नीश्वर ! आप सामगान को गाते ही हो, वैसे ही हमारे हृदय में सब विद्या का प्रकाशित गान करो। जैसे यज्ञ में महापण्डित सामगान करता है, वैसे आप भी हम लोगों के बीच में सामादि विद्या का प्रकाश कीजिये। "ब्रह्मपुत्र इव सवनेषु" आप कृपा से सवन (पदार्थ विद्याओं) की "शंससि" प्रशंसा करते हो, वैसे हमको भी यथावत् प्रशंसित करो। जैसे "ब्रह्मपुत्र इव" वेदों का वेत्ता विज्ञान से सब पदार्थों की प्रशंसा करता है, वैसे आप भी हम पर कृपा कीजिये। आप "वृषेव वाजी" सर्वशक्ति का सेचन करने और अन्नादि पदार्थों के देने वाले तथा महा बलवान् और वेगवान् होने से वाजी हो। जैसे कि वृषभ के समान आप उत्तम गुण और उत्तम पदार्थों की वृष्टि करने वाले हो, वैसे हम पर उनकी वृष्टि करो। 'शिशुमतिः' हम लोग आप की कृपा से उत्तम शिशु (सन्तानादि) को "अपीत्य" प्राप्त हो के आपको ही भजें। "आ सर्वतो नः शकुने" हे शकुने ! सर्व सामर्थ्यवान् ईश्वर ! सब ठिकानों से हमारे लिये "भद्रम्" कल्याण को 'आ वद' अच्छे प्रकार कहो। अर्थात् कल्याण की ही आज्ञा और कथन करो। जिससे अकल्याणकी बात भी कभी हम न सुनें। "विश्वतो, नः श०" हे सब को सुख देने वाले ईश्वर ! सब जगत् के लिये "पुण्यम्" धर्मात्मा के कर्म करने को "आ वद" उपदेश कर। जिससे कोई मनुष्य अधर्म करने की इच्छा भी न करे और सब ठिकाने में सत्यधर्म की प्रवृत्ति हो॥ ५२॥

प्रार्थना विषय

आवदंस्त्वं शकुने भद्रमा वद
तूष्णीमासीनः सुमतिं चिकिद्धि नः ।
यदुत्पतन् वदसि कर्करिर्यथा
बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ ५३ ॥

ऋ० २।८।१२।३॥

व्याख्यान—"आवदंस्त्वं श०" हे शकुने जगदीश्वर ! आप सब "भद्रम्" कल्याण का भी कल्याण अर्थात् व्यवहारिक सुखों के भी ऊपर मोक्ष सुख का निरन्तर उपदेश कीजिये। "तूष्णीमासीनः सु०" हे अन्तर्यामिन् ! हमारे हृदय में सदा स्थिर हो मौन से ही "सुमतिम्" सर्वोत्तम ज्ञान देओ। "चिकिद्धि नः" कृपा से हमको अपने रहने के लिये घर ही बनाओ+ और आपकी परमविद्या को हम प्राप्त हों। "यदुत्पतन्वद०" उत्तम व्यवहार में पहुँचाते हुए आपका (यथा) जिस प्रकार से "ककरिर्वदसि" कर्त्तव्य, कर्म, धर्म को ही अत्यन्त पुरुषार्थ से करो। अकर्त्तव्य दुष्ट कर्म मत करो, उपदेश है कि पुरुषार्थ अर्थात् यथायोग्य उद्यम को कभी कोई मत छोड़ो। जैसे "बृहद्वदेम विदथे" विज्ञानादि यज्ञ वा धर्म-युक्त युद्धों में "सुवीर" अत्यन्त शूरवीर होके बृहत् (सब से बड़े) आप जो परब्रह्म उन "वदेम" आपकी स्तुति, आपका उपदेश, आपकी प्रार्थना और उपासना तथा आपका यह बड़ा अखण्ड साम्राज्य और सब मनुष्यों का हित सर्वदा कहें सुनें और आपके अनुग्रह से परमानन्द को भोगें॥ ५३॥ *

ओ३म् महाराजाधिराजाय परमात्मने नमो नमः।

इति

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां महाविदुषां श्रीयुत विरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचित आर्याभिविनये प्रथमः प्रकाशः पूर्त्तिमागमत्।

समाप्तोऽयं प्रथमः प्रकाशः ॥

+ हमारे हृदय में निवास करो —सम्पादक

* अजमेरीय संस्करण में मंत्र ५२, ५३ एक साथ मुद्रित हुए हैं। —सम्पादक

॥ ओ३म् ॥

तत्सत्परमात्मने नमः ।

अथ द्वितीयः प्रकाशः

ओ३म् सहनाववतु सह नौ भुनक्तु ।
सह वीर्य्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥
ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ १ ॥
तैत्तिरीयारण्यके ब्रह्मानन्दवल्ली प्रपा० १० ।
प्रथमानुवाकः ॥ १ ॥

व्याख्यान—हे सहनशीलेश्वर ! आप और हम लोग परस्पर प्रसन्नता से रक्षक हों× आपकी कृपा से हम लोग सदैव आपकी ही स्तुति, प्रार्थना और उपासना करें तथा आपको ही पिता, माता, बंधु, राजा, स्वामी, सहायक, सुखद, सुहृद परमगुर्वादि जानें। क्षणमात्र भी आपको भूल के न रहें। आपके तुल्य वा अधिक किसी को कभी न जानें। आपके अनुग्रहसे हम सब लोग परस्पर प्रीतिमान्, रक्षक, सहायक, परम पुरुषार्थी हों। एक दूसरे का दुःख न देख सकें। स्वदेशस्थादि मनुष्यों का अत्यन्त परस्पर निर्वैर प्रीतिमान्, पाखण्ड रहित करें। "सह, नौ भुनक्तु" तथा आप और हम लोग परस्पर परमानन्द का भोग करें* हम लोग परस्पर हित से आनन्द भोगें कि आप हमको अपने अनन्त परमानन्द के भागी करें उस आनन्द से हम लोगों को क्षणमात्र भी अलग न रक्खें। 'सह, वीर्यं,करवावहै' आपकी सहायतासे परवीर्य जो सत्यविद्या, उसको परस्पर परम पुरुषार्थ से प्राप्त हों। "तेजस्विनावधीतमस्तु" हे अनन्त विद्यामय भगवन्! आपकी कृपादृष्टि से हम लोगों का पठन पाठन परम विद्यायुक्त हो तथा संसार में सबसे अधिक प्रकाशित हों और अन्योन्य प्रीति से परमवीय पराक्रमसे निष्कण्टक चक्रवर्ती राज्य भोगें। हममें सब नीतिमान सज्जन पुरुष हों। और आप हम लोगों पर अत्यन्त कृपा करें जिससे कि हम लोग नाना पाखंड, असत्य, वेदविरुद्धमतों को शीघ्र छोड़ के एक सत्य सनातन मतस्थ हों। जिससे समस्त वैरभाव के मूल जो पाखंड मत, वे सब सद्यः प्रलय को प्राप्त हों। "मा, विद्विषावहै" और हे जगदीश्वर ! आपके सामर्थ्य से हम लोगों में परस्पर विद्वेष अर्थात् अप्रीति न रहे। जिससे हम लोग कभी परस्पर विद्वेष न करें। किन्तु सब तन, मन, धन, विद्या इनको परस्पर सबके सुखोपकार में परम प्रीति से लगावें। 'ओ३म् शांतिः, शांतिः, शांतिः' हे भगवन् ! तीन प्रकार के सन्ताप जगत् में हैं—एक आध्यात्मिक (शारीरिक) जो ज्वरादि पीड़ा होने से होता है। दूसरा आधिभौतिक जो शत्रु, सर्प, व्याघ्र, चौरादिसे होता है। और तीसरा आधिदैविक जो मन, इन्द्रिय, अग्नि, वायु, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अतिशीत, अत्युष्णतेत्यादि से होता है। हे कृपासागर ! आप इन तीनों पापों की शीघ्र निवृत्ति करें। जिससे हम लोग अत्यानन्द में और आपकी अखण्ड उपासना में सदा रहें। हे विश्वगुरो ! मुझको असत् (मिथ्या) और अनित्य पदार्थ तथा असत् काम से छुड़ा के सत्य तथा नित्य पदार्थ और श्रेष्ठ व्यवहार में स्थिर कर। हे जगन्मङ्गलमय ! सब दुःखों से मुझको छुड़ा के सब सुखों को प्राप्त कर। [सर्वदुःखेभ्यो मोचयित्वा सर्वसुखानि प्रापय ।×] हे प्रजापते ! (सुप्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन, परमैश्वर्येण, संयोजय) हे प्रजापते ! मुझको अच्छी प्रजा पुत्रादि, हस्त्यश्व गवादि उत्तम पशु, सर्वोत्कृष्ट विद्या और चक्रवर्ती राज्यादि परमैश्वर्य जो स्थिर परमसुखकारक उसको शीघ्र प्राप्त कर ।* हे परमवैद्य ! (सर्वरोगात्पृथक्कृत्य

× आप हमारी और सब लोग एक दूसरे की रक्षा करें। — सम्पादक

* आप हमें आनन्द का उपभोग करावें। — सम्पादक

× यह लेख अजमेर की पुस्तक में नहीं है, लाहौर की पुस्तक में है। —सम्पादक

* प्रदान कर। —सम्पादक

नरोग्यन्देहि) सर्वथा मुझको सब रोगों से छुड़ाके परम नैरोग्य दे। हे महाराजाधिराज ! [मनसा, वाचा, कर्मणा अज्ञानेन प्रमादेन वा यद्यत्पापं कृतं मया, तत्तत्सर्वं कृपया क्षमस्व ज्ञानपूर्वकपापकरणान्निवर्तयतु माम्। मन से वाणी से और कर्म से अज्ञान वा प्रमाद से जो पाप किया हो, किं वा करने का हो उस-उस मेरे पाप को क्षमा कर (और) ज्ञानपूर्वक पाप करने से भी मुझ को रोक दे। +] जिससे मैं शुद्ध हो के आपकी सेवा में स्थिर होऊं। हे (न्यायाधीश ! कुकामकुलोभकुमोहभयशोकालस्येर्ष्याद्वेषप्रमादविषयतृष्णानैष्ठुर्याभिमानदुष्टभावाविद्याभ्यो निवारय, एतेभ्यो विरुद्धेषूत्तमेषु गुणेषु संस्थापय माम्) हे ईश्वर ! कुकाम कुलोभादि पूर्वोक्त दुष्ट दोषों को कृपा से छुड़ा के श्रेष्ठ कामों में यथावत् मुझको स्थिर कर। मैं अत्यन्त दीन हो के यही माँगता हूँ कि मैं आप और आपकी आज्ञा से भिन्न पदार्थ में कभी प्रीति न करूँ। हे प्राणपते, प्राणप्रिय, प्राणपतिः, प्राणाधार, प्राणजीवन सुराज्यप्रद! मेरे प्राणवाले आदि आप ही हो। मेरा सहायक आपके बिना कोई नहीं है। हे महाराजाधिराज ! जैसा सत्य, न्याययुक्त, अखण्डित, आपका राज्य है, वैसा न्याय राज्य हम लोगों का भी आपकी ओर से स्थिर हो। आपके राज्य के अधिकारी किङ्कर अपने कृपा कटाक्ष से हमको शीघ्र ही कर। हे न्यायप्रिय ! हमको भी न्यायप्रिय यथावत् कर। हे धर्माधीश ! हमको धर्म में स्थिर रख। हे करुणामय पितः ! जैसे माता और पिता अपने सन्तानों का पालन करते हैं, वैसे ही आप हमारा पालन करो॥ १॥ *

स्तुति विषय

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-
मस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतो-
ऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ २॥
यजुर्वेदे। अध्याये ४०। ८॥

× यह कोष्ठक का पाठ अजमेर की पुस्तक में नहीं है। लाहौर की पुस्तक में है। —सम्पादक

* इस विनय को दूसरे प्रकाश की उपक्रमणिका समझना चाहिये। —सम्पादक

व्याख्यान—"स, पर्यगात्" वह परमात्मा आकाश के समान सब जगह में परिपूर्ण (व्यापक) है। "शुक्रम्" सब जगत् का करनेवाला वही है। "अकायम्" और वह कभी शरीर (अवतार) नहीं धारण करता, क्योंकि वह अखण्ड और अनन्त निर्विकार है। इससे देह धारण कभी नहीं करता। उससे अधिक कोई पदार्थ नहीं है। इसीसे ईश्वर का शरीर धारण करना कभी नहीं बन सकता। "अव्रणम्" वह अखण्डैकरस, अच्छेद्य, अभेद्य, निष्कम्प और अचल है। इससे अंशांशिभाव भी उसमें नहीं है, क्योंकि उस में छिद्र किसी प्रकार से नहीं हो सकता। "अस्नाविरम्" नाड़ी आदि का प्रतिबन्ध (निरोध) भी उसका नहीं हो सकता। अतिसूक्ष्म होने से ईश्वर को कोई आवरण नहीं हो सकता। "शुद्धम्" वह परमात्मा सदैव निर्मल अविद्यादि जन्म, मरण, हर्ष, शोक, क्षुधा, तृषादि दोषोपाधियों से रहित है। शुद्ध की उपासना करने वाला शुद्ध ही होता है, और मलिन का उपासक मलिन ही होता है। "अपापविद्धम्" परमात्मा कभी अन्याय नहीं करता, क्योंकि वह सदैव न्यायकारी ही है। "कविः" त्रैकालज्ञ, (सर्ववित्) महाविद्वान् जिसकी विद्या का अन्त कोई कभी नहीं ले सकता। "मनीषी" सब जीवों के मन (विज्ञान) का साक्षी, सबके मन का दमन करने वाला है। "परिभूः" सब दिशा और सब जगह में परिपूर्ण हो रहा है। सबके ऊपर विराजमान है। "स्वयम्भूः" जिसका आदिकारण माता पिता, उत्पादक कोई नहीं, किन्तु वही सबका आदिकारण है। "याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः, समाभ्यः" उस ईश्वर ने अपनी प्रजा को यथावत् सत्य, सत्यविद्या जो चार वेद उनका सब मनुष्यों के परम हितार्थ उपदेश किया है। उस हमारे दयामय पिता परमेश्वर ने बड़ी कृपा से अविद्यान्धकार का नाशक, वेदविद्यारूप सूर्य प्रकाशित किया है। और सबका आदिकारण परमात्मा है, ऐसा अवश्य मानना चाहिये। ऐसे विद्यापुस्तक का आदिकारण ईश्वर को ही निश्चित मानना चाहिये। विद्या का उपदेश ईश्वर ने अपनी कृपा से किया है। क्योंकि हम लोगों के लिये उसने सब पदार्थों का दान किया है, तो विद्यादान क्यों न करेगा। सर्वोत्कृष्ट

विद्या पदार्थ का दान परमात्मा ने अवश्य किया है, तो वेद के विना अन्य कोई पुस्तक संसार में ईश्वरोक्त नहीं है। जैसा पूर्ण विद्यावान् और न्यायकारी ईश्वर है, वैसा ही वेद पुस्तक भी है। अन्य कोई पुस्तक ईश्वरकृत वेदतुल्य वा अधिक नहीं है। अधिक विचार इस विषय का "सत्यार्थप्रकाश" और "ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" मेरे किये ग्रन्थों में देख लेना ॥ २ ॥

प्रार्थना विषय

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा
सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ ३ ॥
य० ३६। १८ ॥

व्याख्यान—हे अनन्तबल महावीर ईश्वर ! "दृते" हे दुष्टस्वभावनाशक विदीर्णकर्म अर्थात् विज्ञानादि शुभगुणों का नाश कर्म करने वाला मुझको मत रक्खो। (मत करो) किन्तु उससे मेरे आत्मादि को विद्या सत्यधर्मादि शुभ गुणों में सदैव अपनी कृपा सामर्थ्य से स्थित करो। "दृꣳह मा" हे परमैश्वर्यवन् भगवन् ! धर्मार्थकाममोक्षादि तथा विज्ञानादि दान से अत्यन्त मुझको बढ़ा। "मित्रस्येत्यादि०" हे सर्वसुहृदीश्वर सर्वान्तर्य्यामिन् ! सब भूत प्राणिमात्र मित्र दृष्टि से यथावत् मुझ को देखें। सब मेरे मित्र हो जायें। कोई मुझसे किञ्चिन्मात्र भी वैर न करे। "मित्रस्याहं चेत्यादि" हे परमात्मन् ! आप की कृपा से मैं भी निर्वैर होके सब चराचर जगत् को मित्रदृष्टि से अपने प्राणवत् प्रिय जानूँ। अर्थात् 'मित्रस्य चक्षुषेत्यादि" पक्षपात छोड़ के सब जीव देहधारीमात्र अत्यन्त प्रेम से परस्पर अपना वर्तावं करें। अन्याय से युक्त होके किसी पर कभी हम लोग न वर्तें। यह परम धर्म का सब मनुष्यों के लिये परमात्मा ने उपदेश किया है। सबको यही मान्य होने के योग्य है ॥ ३ ॥

स्तुति विषय

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापति ॥४॥
यजु० ३२। १ ॥

व्याख्यान—जो सब जगत् का कारण एक परमेश्वर है, उसी का नाम अग्नि है। (ब्रह्म ह्यग्निः शतपथे) सर्वोत्तम ज्ञान स्वरूप जानने के योग्य, प्रापणीय स्वरूप और पूज्यतमेत्यादि अग्नि शब्द का अर्थ है। "आदित्यो वै ब्रह्म, वायुर्वै ब्रह्म, चन्द्रमा वै ब्रह्म, वै शुक्रं हि ब्रह्म सर्वजगत्कर्तृ ब्रह्म, ब्रह्म वै बृहत्, आपो वै ब्रह्मेत्यादि" शतपथ तथा ऐतरेय ब्राह्मण के प्रमाण हैं। "तदादित्यः" जिसका कभी नाश न हो, और स्वप्रकाशस्वरूप हो) इस परमात्मा का नाम आदित्य है। "तद्वायुः" सब जगत का धारण करने वाला अनन्त बलवान् प्राणों से भी प्रियस्वरूप है, इससे ईश्वर का नाम वायु है। पूर्वोक्त प्रमाण से "तदु चन्द्रमाः" जो आनन्दस्वरूप और स्वसेवकों को परमानन्द देने वाला है। इससे पूर्वोक्त प्रकारसे चन्द्रमा परमात्माको जानना। "तदेव शुक्रम्" वही चेतनस्वरूप ब्रह्म सब जगत् का कर्ता है। "तद् ब्रह्म" सो अनन्त चेतन सब से बड़ा है। और धर्मात्मा स्वभक्तों को अत्यन्त सुख विद्यादि सद्गुणों से बढ़ाने वाला है। "ता आपः" उसी को सर्वज्ञ, चेतन, सर्वत्र व्याप्त होने से आप नामक जानना। 'सः, प्रजापतिः" सो ही सब जगत का पति (स्वामी) और पालन करने वाला है, अन्य कोई नहीं। उसी को हम लोग इष्टदेव तथा पालक मानें, अन्य कोई नहीं ॥ ४ ॥

प्रार्थना विषय

ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये
साम प्राणं प्रपद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये ।
वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ ॥ ५ ॥
य० ३६। ५ ॥

व्याख्यान—हे करुणाकर परमात्मन् ! आप की कृपा से मैं ऋग्वेदादिज्ञानयुक्त हो के उसका वक्ता होऊँ, तथा यजुर्वेदाभिप्रायार्थ सहित सत्यार्थ मननयुक्त मन को प्राप्त होऊं। ऐसे ही सामवेदार्थ निश्चय निदिध्यासन सहित प्राण को सदैव प्राप्त होऊं। 'वागोजः' वाग्बल, वक्तृत्वबल, मनोविज्ञानबल, मुझको आप देवें। अन्तर्यामी की कृपा से मैं यथावत् प्राप्त

होऊं। "सहौजः" नैरोग्यदृढ़त्वादिगुणयुक्त को मैं आपके अनुग्रह से सदैव प्राप्त होऊं। "मयि, प्राणापानौ" हे सर्वजनवलशरीरजीवनाधार ! प्राण (जिससे कि ऊर्ध्व चेष्टा होती है) और अपान (अर्थात् जिससे नीचे की चेष्टा होती है) ये दोनों मेरे शरीर में सब इन्द्रिय, सब धातुओं की शुद्धि करने तथा नैरोग्य, बल, पुष्टि, सरलगति कराने और मर्मस्थलों की रक्षा करने वाले हों। उनके अनुकूल प्राणादि को प्राप्त हो के, आपकी कृपा से हे ईश्वर ! सदैव सुखयुक्त आपकी आज्ञा और उपासना में तत्पर रहूं ॥ ५ ॥

स्तुति विषय

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता
धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यत्र देवा अमृतमानशाना-
स्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥६॥

य० ३२ । १० ॥

व्याख्यान—वह परवर मेरहमारा "बन्धुः" दुःखनाशक और सहायक है। तथा "जनिता" सब जगत् तथा हम लोगों का भी पालन करने वाला पिता, तथा हम लोगों के भी कामों की सिद्धि का विधाता पूर्ण काम की सिद्धि करने वाला वही है। सब जगत् का भी विधाता रचने और धारण करने वाला एक परमात्मा ही है, अन्य कोई नहीं। 'धामानि वेदेत्यादि' "विश्वा" सब धाम अर्थात् अनेक लोकलोकान्तरों को रच के अनन्त सर्वज्ञता से यथार्थ जानता है। वह कौन परमेश्वर है ? कि जिससे देव अर्थात् विद्वान् लोग (विद्वाꣳसो हि देवाः, शतपथब्रा०) अमृत, मरणादि दुःखरहित मोक्ष-पद में (अथात्) सब दुःखों से छूट के सर्वव्यापी पूर्णानन्दस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होके परमानन्द में रहते हैं +, तृतीयेत्यादि एक स्थूल (जगत् पृथिव्यादि) दूसरा सूक्ष्म (आदि-कारण) सर्वदोषरहित अनन्तानन्दस्वरूप परब्रह्म उस धाम में "अध्यैरयन्त" धर्मात्मा विद्वान् लोग स्वच्छन्द (स्वेच्छा) से वर्त्तते हैं। सब बाधाओं से छूट के विज्ञानवान् शुद्ध होके, देश काल वस्तु परिच्छेदरहित सर्वगत "धामन्" आधारस्वरूप परमात्मा में रहते हैं। उससे दुःख-सागर में नहीं गिरते ॥ ६ ॥

+ महाकल्प पर्यन्त रहते हैं। —सम्पादक

प्रार्थना विषय

यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु ।
शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः ॥ ७ ॥

य० ३६ । २२ ॥

व्याख्यान—हे महेश्वर, दयालो ! जिस जिस देश से आप "समीहसे" सम्यक् चेष्टा करते हो, उस-उस देश से हमको अभय करो। अर्थात् जहां-जहां से हमको भय प्राप्त होने लगे, वहां-वहां से सर्वथा हम लोगों को अभय (भयरहित) करो। तथा प्रजासे हम को सुख करो। हमारी प्रजा सब दिन सुखी रहे। भय देने वाली कभी न हो। तथा पशुओं से भी हमको अभय करो। किञ्च किसी से किसी प्रकार का भय हम लोगों को आपकी कृपा से कभी न हो। जिससे हम लोग निर्भय हो के सदैव परमानन्द को भोगें। और निरन्तर आपका राज्य + तथा आप की भक्ति करें ॥ ७ ॥

स्तुति विषय

वेदाहमेतं पुरुषं महान्त-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥८॥

य० ३१ । १८ ॥

व्याख्यान—सहस्रशीर्षादि विशेषणोक्त पुरुष सर्वत्र परिपूर्ण (पूर्णत्वात्पुरि शयनाद्वा पुरुष इति (निरुक्तोक्तेः *) है। उस पुरुष को मैं जानता हूं अर्थात् सब मनुष्यों को उचित है कि उस परमात्मा को अवश्य जानें। उसको कभी न भूलें। अन्य किसी को ईश्वर न जानें। वह कैसा है कि "महान्तम्" बड़ों से भी बड़ा, उससे बड़ा वा तुल्य कोई नहीं है। 'आदित्य-वर्णम्' आदित्यादि का रचक और प्रकाशक वही एक

+ राज्य करें, भोगें, राजा बनें। —सम्पादक

* पुरुष पुरिषदः पुरिशयः पूरयतेर्वा पूरयत्यन्तरित्यन्त-पुरुषमभिप्रेत्य ! निरु० २ । ३ ॥ —सम्पादक

परमात्मा है तथा वह सदा स्वप्रकाशस्वरूप ही है। किंच 'तमसः परस्तात्' तमजो अन्धकार अविद्यादि दोष उससे रहित ही है। तथा स्वभक्त, धर्मात्मा सत्यप्रेमी जनों को भी अविद्यादिदोषरहित सद्यः करने वाला वही परमात्मा है। विद्वानों का ऐसा निश्चय है कि परब्रह्म के ज्ञान और उसकी कृपा के विना कोई जीव कभी सुखी नहीं होता। "तमेव विदित्वेत्यादि०" उस परमात्मा को जान के जीव मृत्यु को उल्लङ्घन कर सकता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि "नाऽन्यः, पन्था, विद्यतेऽयनाय" विना परमेश्वर की भक्ति और उसके ज्ञान के मुक्ति का मार्ग कोई नहीं है, ऐसी परमात्मा की दृढ़ आज्ञा है। सब मनुष्यों को इसमें वर्त्तना चाहिये और सब पाखण्ड और जंजाल अवश्य छोड़ देना चाहिये ॥ ८ ॥

प्रार्थना विषय

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि।
वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
बलमसि बलं मयि धेहि।
ओजोऽस्योजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि।
सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥ ९ ॥

य० १९।९॥

व्याख्यान—हे स्वप्रकाश! अनन्ततेज! आप अविद्यान्धकार से रहित हो, किंच सत्यविज्ञान तेजःस्वरूप हो। आप कृपादृष्टि से मुझ में वही तेज धारण करो, जिससे निस्तेज दीन और भीरू कहीं कभी न होऊं। हे अनन्तवीर्य परमात्मन्! आप वीर्य्यस्वरूप हो, आप सर्वोत्तम बल स्थिर मुझ में भी रक्खें। हे अनन्तपराक्रम! आप ओजः (पराक्रमस्वरूप) हो सो मुझमें भी उस पराक्रम को सदव धारण करो। "हे दुष्टानामुपरि क्रोधकृत्!" मुझ में भी दुष्टों पर क्रोध धारण कराओ, हे अनन्त सहनस्वरूप! मुझ में भी आप सहनसामर्थ्य धारण करो अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा इनको तैजसादि गुण कभी मुझ में से दूर न हों, जिससे मैं आपकी भक्ति का स्थिर अनुष्ठान करूं और आपके अनुग्रह से संसार में भी सदा सुखी रहूं ॥ ९ ॥

स्तुति विषय

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान्
परीत्या सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्या-
त्मनात्मानमभि संविवेश ॥ १० ॥

य० ३२।११॥

व्याख्यान—सब जीवों में (अर्थात् आकाश और प्रकृति से लेके पृथिवीपर्यन्त सब संसार में) वह परमेश्वर व्याप्ति होके परिपूर्ण भर रहा है, तथा सब लोक, सब पूर्वादि दिशा और ऐशान्यादि उपदिशा, ऊपर, नीचे अर्थात् एक कण भी उसके बिना अपर्याप्त (खाली) नहीं। "प्रथमजाम्" मुख्य प्राणी अपने आत्मा से अत्यन्त सत्याचरण, विद्या, श्रद्धा, भक्ति से 'ऋतस्य" यथार्थ सत्यस्वरूप परमात्मा को "उपस्थाय" यथावत् जान, उपस्थित (निकट प्राप्त) 'अभिसंविवेश' अभिमुख हो के, उसमें प्रविष्ट अर्थात् परमानन्दस्वरूप परमात्मा में प्रवेश करके, सब दुःखों से छूट, उसी परमानन्द में रहता है + ॥ १० ॥

प्रार्थना विषय

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो
भगेमां धियमुदवा ददन्न।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वै-
र्भग प्र नृभिर्नृ वन्तः स्याम ॥ ११ ॥

य० ३४।३६॥

व्याख्यान—हे भगवन्! परमैश्वर्यवान् भग ऐश्वर्य के दाता, संसार वा परमार्थ में आप ही हो; तथा "भगप्रणेतः" आपके ही स्वाधीन सकल ऐश्वर्य हैं, अन्य किसीके आधीन नहीं। आप जिसको चाहो, उसको ऐश्वर्य देओ। सो आप कृपा से हम लोगों का दारिद्र्यछेदन करके, हमको परमैश्वर्य वाले करें क्योंकि ऐश्वर्य के प्रेरक आप ही हो। हे "सत्यराधः" भगवन्! सत्यैश्वर्य की सिद्धि करने वाले आप

+ महाकल्प पर्यन्त रहता है। --सम्पादक

ही हो। आप नित्य ऐश्वर्य हमको दीजिये। तथा जो मोक्ष कहाता है, उस सत्य ऐश्वर्य का दाता आपसे भिन्न कोई भी नहीं है। हे सत्यभग! पूर्ण ऐश्वर्य सर्वोत्तम बुद्धि हमको आप दीजिये। जिससे हम लोग आपके गुण और आपकी आज्ञा का अनुष्ठान ज्ञान, इनको यथावत् प्राप्त हों। हमको सत्यबुद्धि सत्यकर्म और सत्यगुणों को 'उदवः' (उद्गमय-प्रापय) प्राप्त कर, + जिससे हम लोग सूक्ष्म से भी सूक्ष्म पदार्थों को यथावत् जानें। "भग प्र नो जनय" हे सर्वैश्वर्योत्पादक! हमारे लिये ऐश्वय को अच्छे प्रकार से उत्पन्न कर। सर्वोत्तम गाय, घोड़े और मनुष्य इनके सहित अत्युत्तम ऐश्वर्य हमको सदा के लिए दीजिये। हे सर्वशक्तिमन्! आप की कृपा से सब दिन हम लोग उत्तम उत्तम पुरुष, स्त्री और सन्तान भृत्य वाले हों। आपसे यह हमारी अधिक प्रार्थना है कि कोई मनुष्य हममें दुष्ट और मूर्ख न रहे, न उत्पन्न हो। जिससे हम लोगों की सर्वत्र सत्कीर्त्ति हो, निन्दा कभी न हो॥ ११॥

स्तुति विषय

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य
तदुसर्वस्यास्यबाह्यतः॥ १२॥

य० ४०। ५॥

व्याख्यान—"तद् एजति" वह परमात्मा सब जगत् को यथायोग्य अपनी अपनी चाल पर चला रहा है। सो अविद्वान् लोग ईश्वर में भी आरोप करते हैं कि वह भी चलता होगा। परन्तु वह सब में पूर्ण है, कभी चलायमान नहीं होता। अतएव "तन्नैजति" (यह प्रमाण है) स्वतः वह परमात्मा कभी नहीं चलता। एकरस निश्चल होके भरा है। विद्वान् लोग इसी रीति से ब्रह्म को जानते हैं। "तद् दूरे" अधर्मात्मा, अविद्वान् विचारशून्य अजितेन्द्रिय ईश्वरभक्ति-रहित इत्यादि दोषयुक्त मनुष्यों से वह ईश्वर बहुत दूर है। अर्थात् वे कोटि कोटि वर्ष तक उसको नहीं प्राप्त होते। इससे वे तब तक जन्म-मरणादि दुःखसागर में इधर उधर घूमते फिरते हैं कि जब तक उसको नहीं जानते। "तद्वन्तिके" सत्य वादी, सत्यकारी, सत्यमानी, जितेन्द्रिय, सर्वजनोपकारक, विद्वान्, विचारशील पुरुषों के "अन्तिके" अत्यन्त निकट है। किंच वह सब के आत्माओं के बीच में अन्तर्यामी व्यापक होके सर्वत्र पूर्ण भर रहा है। वह आत्मा का भी आत्मा है। क्योंकि परमेश्वर सब जगत् के भीतर और बाहर तथा मध्य अर्थात् एक तिलमात्र भी उसके विना खाली नहीं है। वह अखण्डैकरस सबमें व्यापक हो रहा है। उसी को जानने से सुख और मुक्ति होती है, अन्यथा नहीं॥ १२॥

+ प्राप्त करा —सम्पादक

प्रार्थना विषय

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां
चक्षुर्यज्ञेन कल्पताꣳ श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां
वाग्यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पता-
मात्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्म यज्ञेन कल्पतां
ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताꣳ स्वर्यज्ञेन कल्पतां
पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्।
स्तोमश्च यजुश्च ऋक् च साम च
बृहच्च रथन्तरं च। स्वर्देवा अगन्मामृता
अभूम प्रजापते प्रजा अभूम वेट् स्वाहा॥१३॥

य० १८। २९॥

व्याख्यान—(यज्ञो वै विष्णुः, यज्ञो वै ब्रह्मेत्यादैतरेयशतपथब्राह्मणश्रु०) यज्ञ यजनीय जो सब मनुष्यों का पूज्य इष्टदेव परमेश्वर उसके अर्थ अति-श्रद्धा से सब मनुष्य सर्वस्व समर्पण यथावत् करें—यही इस मन्त्र में उपदेश और प्रार्थना है कि हे सर्वस्वामिन् ईश्वर! जो यह आपकी आज्ञा है कि सब लोग सब पदार्थ मेरे अर्पण करें, इस कारण हम लोग "आयुः" उमर प्राण, चक्षु (आँख), कान, वाणी मन आत्मा जीव + ब्रह्म, वेदविद्या और विद्वान् ज्योति (सूर्यादि लोक अग्न्यादि पदार्थ) स्वर्ग सुख-साधन), पृष्ठ (पृथिव्यादि सब लोक आधार) तथा पुरुषार्थ, यज्ञ (जो जो अच्छा काम हम लोग करते हैं), स्तोम, स्तुति, यजुर्वेद, ऋग्वेद, सामवेद,

+ जीवात्मा। —सम्पादक

अथर्ववेद, बृहद्रथन्तर, महारथन्तर, साम इत्यादि सब पदार्थ आपके समर्पण करते हैं। हम लोग तो केवल आपके ही शरण हैं। जैसी आपकी इच्छा हो, वैसा हमारे लिये आप कीजिये। परन्तु हम लोग आपके सन्तान आपकी कृपा से "स्वरगन्म" उत्तम सुखको प्राप्त हों। जब तक जीवें, तब तक सदा चक्रवर्ती राज्यादि भोग से सुखी रहें। और मरणानन्तर भी हम सुखी ही रहें। हे महादेवामृत! हम लोग देव (परम विद्वान्) हों। तथा अमृत मोक्ष जो आपकी प्राप्ति, उसको प्राप्त हों। 'वेट स्वाहा' आपकी आज्ञा का पालन और आपकी प्राप्ति में उद्योगी हों। तथा अन्तर्यामी आप हृदय में आज्ञा करो अर्थात् जैसा हमारे हृदय में ज्ञान हो, वैसा ही सदा भाषण करें। इससे विपरीत कभी नहीं। हे कृपानिधे! हम लोगों का योगक्षेम (सब निर्वाह) आपही सदा करो। आप के सहाय से सर्वत्र हमको विजय और सुख मिले॥ १३॥

स्तुति विषय

यस्मान्न जातः परोऽअन्योऽअस्ति
य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि
ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी॥ १४॥

य० ८। ३६॥

व्याख्यान—जिससे बड़ा, तुल्य वा श्रेष्ठ न हुआ, न है और न कोई कभी होगा, उसको परमात्मा कहना। + जो "विश्व भुवनानि" सब भुवन (लोक) सब पदार्थों के निवासस्थान असंख्यात लोकों को आवेश (प्रविष्ट) हो के पूर्ण हो रहा है, वही ईश्वर प्रजा का पति (स्वामी) है। सब प्रजाको रमा रहा और सब प्रजा में रम रहा है। "त्रीणी-त्यादि" तीन ज्योति अग्नि, वायु और सूर्य इनको जिसने रचा है, सब जगत् के व्यवहार और पदार्थ-विद्या की उत्पत्ति के लिये इन तीनों को मुख्य समझना। "स षोडशी" सोलह कला जिसने उत्पन्न की हैं। इससे सोलह कलावान् ईश्वर कहाता है। वे सोलह कला ये हैं-ईक्षण (विचार) १, प्राण २, श्रद्धा ३, आकाश ४, वायु ५, अग्नि ६, जल ७, पृथिवी ८, इन्द्रिय ९, मन १०, अन्न ११, वीर्य (पराक्रम) १२, तप (धर्मानुष्ठान) १३, मन्त्र (वेदविद्या) १४, कर्मलोक (चेष्टास्थान) १५, और लोकों में नाम १६, इतनी कलाओं के बीच में सब जगत् है और परमेश्वर में अनन्त कला हैं। उसकी उपासना छोड़ के जो दूसरे की उपासना करता है, वह सुखको प्राप्त कभी नहीं होता; किन्तु सदा दुःख में ही पड़ा रहता है +॥ १४॥

स्तुति विषय

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये॥ १५॥

य० ३। २४॥

व्याख्यान—(ब्रह्म ह्यग्निः, इत्यादि शतपथादिप्रामाण्याद् ब्रह्मैवात्राग्निर्ग्राह्यः) हे विज्ञानस्वरूपेश्वराग्ने! आप हमारे लिये "सूपायनः" सुख से प्राप्त श्रेष्ठोपाय के प्रापक, अत्युत्तम स्थान के दाता कृपा से सर्वदा हो। तथा रक्षक भी हमारे आप ही हो। हे स्वस्तिद परमात्मन्! सब दुःखों का नाश करके हमारे लिये सुखका वर्त्तमान सदैव कराओ। जिससे हमारा वर्त्तमान श्रेष्ठ ही हो। "स नः पितेव सूनवे" जैसे करुणामय पिता अपने पुत्र को सुखी ही रखता है, वैसे आप हमको सदा सुखी रक्खो। क्योंकि जो हम लोग बुरे होंगे, तो उन आपकी शोभा नहीं होगी किन्तु सन्तानों का सुधारने से ही पिता की शोभा और बड़ाई होती है, अन्यथा नहीं॥ १५॥

स्तुति विषय

विभूरसि प्रवाहणः। वह्निरसि हव्यवाहनः।
श्वात्रोऽसि प्रचेताः। तुथोऽसि विश्ववेदाः॥१६॥

य० ५। ३१॥

व्याख्यान—हे व्यापकेश्वर! आप विभु हो अर्थात् सर्वत्र प्रकाशित वैभवैश्वर्ययुक्त हो; किन्तु और

+ मानना, जानना चाहिये। —सम्पादक

+ योऽन्यां देवतामुपास्ते·······पशुरेव स देवानाम्॥ शतपथ० १४। ४। २। २२ —सम्पादक

कोई नहीं। विभु आप सब जगत् के प्रवाहण (स्व-स्वनियमपूर्वक चलाने वाले) तथा सबके निर्वाहकारक भी हो। हे स्वप्रकाशक सर्वरसग्राहकेश्वर! आप वह्नि हैं। अर्थात् सब हव्य उत्कृष्ट रसों के भेदक आकर्षक तथा यथावत् स्थापक हो। हे आत्मन्! आप शीघ्र व्यापनशील हो। तथा प्रकृष्ट ज्ञानस्वरूप प्रकृष्ट ज्ञान के देने वाले हो। हे सर्ववित्! आप तुथ और विश्ववेदा हो। "तुथो वै ब्रह्म" (यह शतपथ की श्रुति है।) सब जगत् में विद्यमान प्राप्त और लाभ कराने वाले हो + ॥ १६ ॥

प्रार्थना विषय

उशिगसि कविः। अङ्घारिरसि बम्भारिः। अवस्यूरसि दुवस्वान्। शुन्ध्यूरसि मार्जालीयः। सम्राडसि कृशानुः। परिषद्योऽसि पवमानः। नभोऽसि प्रतक्वा। मृष्टोऽसि हव्यसूदनः। ऋतधामासि स्वर्ज्योतिः ॥१७॥

य० ५।३२

व्याख्यान—हे सर्वप्रिय! आप "उशिक्" कमनीयस्वरूप अर्थात् सब लोग जिसको चाहते हैं। क्योंकि आप कवि पूर्ण विद्वान् हो तथा आप अङ्घारि हो अर्थात् स्वभक्तों का जो अघ (पाप) उसके अरि (शत्रु) हो। उस समस्त पाप के नाशक हो। तथा "बम्भारिः" स्वभक्तों और सर्व जगत् के पालन तथा धारण करने वाले हो। "अवस्यूरसि दुवस्वान्" अन्नादि पदार्थ अपने भक्तों, धर्मात्माओं को देने की इच्छा सदा करते हो। तथा परिचरणीय विद्वानों से सेवनीयतम हो। "शुन्ध्युरसि, मार्ज्जालीयः" शुद्धस्वरूप और सब जगत् के शोधक तथा पापों का मार्जन (निवारण) करने वाले आप ही हो। अन्य कोई नहीं। "सम्राडसि कृशानुः" सब राजाओं के महाराज तथा कृश दीनजनों के प्राण के सुखदाता आप ही हो। 'परिषद्योसि पवमानः' हे न्यायकारिन्! पवित्र परमेश्वर। सभा के आज्ञापक सभ्य सभाप्रिय सभारक्षक आप ही हो। 'नभोऽसि प्रतक्वा" हे निर्विकार! आकाशवत् आप क्षोभरहित, अतिसूक्ष्म होने से आपका नाम नभ है। तथा 'प्रतक्वा' सबके ज्ञाता। सत्यासत्यकारी जनों के कर्मों की साक्ष्य रखने वाला कि जिसने जैसा पाप या पुण्य किया हो, उसको वैसा फल मिले, अन्य का पुण्य वा पाप अन्य को कभी न मिले। 'मृष्टोसि हव्यसूदनः' मृष्ट, सुगन्ध, रोगनाशक, पुष्टिकारक, इन द्रव्यों से वायु वृष्टि की शुद्धि करने कराने वाले हो। अतएव सब द्रव्यों के विभागकर्त्ता आप ही हो। इससे आपका नाम "हव्यसूदन" है। "ऋतधामसि" "स्वर्ज्योतिः" हे भगवन्! आपका ही धाम स्थान सर्वगत सत्य और यथार्थस्वरूप है। यथार्थ (सत्य) व्यवहार में ही आप निवास करते हो। "स्वः" आप सुखस्वरूप और सुखकारक हो। तथा "ज्योतिः" स्वप्रकाश सुख के प्रकाशक आप ही हैं ॥ १७ ॥

स्तुति विषय

समुद्रोऽसि विश्वव्यचाः। अजोस्येकपात्। अहिरसि बुध्न्यः। वागस्यैन्द्रमसि सदोऽसि। ऋतस्य द्वारौ मा मा सन्ताप्तम्। अध्वनामध्वपते प्र मा तिर स्वस्ति मेऽस्मिन् पथि देवयाने भूयात् ॥ १८ ॥

य० ५। ३३ ॥

व्याख्यान—'समुद्रोऽसि विश्वव्यचाः' हे द्रवणीयस्वरूप! सब भूतमात्र आप ही में द्रवे हैं, क्योंकि कार्य कारण में ही मिले हैं। आप सबके कारण हो। तथा सहज से सब जगत् को विस्तृत किया है, इससे आप "विश्वव्यचाः" हैं। "अजोस्येकपात्" आपका जन्म कभी नहीं होता। और यह सब जगत् आपके किञ्चिन्मात्र एक देश में है। आप अनन्त हो। 'अहिरसि बुध्न्याः' आपकी हीनता कभी नहीं होती। तथा सब जगत् के मूलकारण और अन्तरिक्ष में भी सदा आप ही पूर्ण रहते हो। "वागस्यैन्द्रमसि सदोसि" सब शास्त्र के उपदेशक अनन्तविद्यास्वरूप होने से आप वाक् हो। परमैश्वर्यस्वरूप सब विद्वानों में अत्यन्त शोभायमान होने से आप इन्द्र हो। सब संसार आप में ठहर रहा है। इससे आप सदः

+ अजमेरीय संस्करण में १६, १७, १८, संख्या के मंत्र एक ही साथ मुद्रित हुए हैं। हमने पृथक्-पृथक् मुद्रण ही उत्तम समझा है। —सम्पादक

(सभास्वरूप) हो। "ऋतस्य द्वारौ मा मा सन्ताप्तम्" सत्यविद्या और धर्म ये दोनों मोक्षस्वरूप आपकी प्राप्ति के द्वार हैं, उनको सन्ताप युक्त हम लोगों के लिये कभी मत रक्खो। किन्तु सुखस्वरूप ही खुले रक्खो, जिससे हम लोग सहज से आपको प्राप्त हों। "अध्वनामित्यादि" हे अध्वपते! परमार्थ और व्यवहार मार्गों में मुझको कहीं क्लेश मत होने दो। किन्तु उन मार्गों में मुझको स्वस्ति (आनन्द) ही आपकी कृपा से रहे, किसी प्रकार का दुःख न रहे॥ १८॥

स्तुति विषय

देवकृतस्यैनसो ऽवयजनमसि ।
मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि ।
पितृकृतस्यैनसो ऽवयजनमसि ।
आत्मकृतस्यैनसोऽवयजनमसि ।
एनस एनसो ऽवयजनमसि ।
यच्चाहमेनो विद्वांश्चकार
यच्चाविद्वांस्तस्य सर्वस्यैनसो
ऽवयजनमसि ॥ १९ ॥

य० ८। १३॥

व्याख्यान—हे सर्वपापप्रणाशक! "देवकृत०" इन्द्रिय विद्वान् और दिव्यगुणयुक्त जनके दुःख के नाशक एक ही आप हो, अन्य कोई नहीं। एवं मनुष्य (मध्यस्थजन), पितृ (परमविद्यायुक्त जन) और "आत्मकृत०" जीव के पापों तथा "एनस०" पापों से भी बड़े पापों से आप ही अवयजन हो अर्थात् सर्व पापसे अलग हो, और हम सब मनुष्यों को भी पाप से दूर रखने वाले एक आप ही दयामय पिता हो। हे महानन्तविद्य! जो-जो मैंने विद्वान् वा अविद्वान् हो के पाप किया हो, उन सब पापों का छुड़ाने वाला आपके विना कोई भी इस संसार में हमारा शरण नहीं है। इससे हमारे अविद्यादि सब पाप छुड़ा के शीघ्र हमको शुद्ध करो॥ १९॥

स्तुति विषय

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२०॥

य० १३। ४॥

व्याख्यान—जब सृष्टि नहीं हुई थी तब एक अद्वितीय हिरण्यगर्भ (जो सूर्य्यादि तेजस्वी पदार्थों का गर्भ नाम उत्पत्तिस्थान उत्पादक) है, सो ही प्रथम था। वह सब जगत् का सनातन प्रादुर्भूत प्रसिद्ध पति है। वही परमात्मा पृथिवी से ले के प्रकृतिपर्य्यन्त जगत् को रचके धारण करता है। 'कस्मै', (कः प्रजापतिः। प्रजापतिर्वै कस्तस्मै देवाय। शतपथे) प्रजापति जो परमात्मा, उसकी पूजा आत्मादि पदार्थोंसे यथावत् करें। उससे भिन्न की उपासना लेशमात्र भी हम लोग न करें। जो परमात्मा को छोड़ के वा उसके स्थान में दूसरे की पूजा करता है, उसकी और उस देशभर की अत्यन्त दुर्दशा होती है, यह प्रसिद्ध है। इससे चेतो मनुष्यो! जो तुमको सुखकी इच्छा हो, तो एक निराकार परमात्मा की यथावत् भक्ति करो, अन्यथा तुमको कभी सुख न होगा॥ २०॥

प्रार्थना विषय

इन्द्रो विश्वस्य राजति ।
शं नोऽअस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥२१॥

य० ३६। ८॥

व्याख्यान—हे इन्द्र! आप परमैश्वर्य्ययुक्त सब संसार के राजा हो, सर्वप्रकाशक हो। हे रक्षक! आप कृपा से हम लोगों के "द्विपदे" जो पुत्रादि, उनके लिये परम सुख दायक हों। तथा "चतुष्पदे" हस्ती, अश्व और गवादि पशुओं के लिये भी परमसुखकारक हो। जिससे हम लोगों को सदा आनन्द ही रहे +॥२१॥

प्रार्थना विषय

शं नो वातः पवताᳬं
शं नस्तपतु सूर्यः ।

+ अजमेर-संस्करण में मंत्र २१, २२, २३ एक साथ छपे हैं। —सम्पादक

शं नः कनिक्रदद्देवः
पर्जन्योऽअभिवर्षतु ॥ २२ ॥
य० ३६। १०॥

व्याख्यान—हे सर्वनियन्तः ! हमारे लिये सुखकारक शीतलमन्द और सुगन्ध वायु सदैव चले। ऐसे ही सूर्य भी सुखकारक तपे। तथा मेघ भी सुख का शब्द लिये अर्थात् गर्जनपूर्वक सदैव काल-काल में सुखकारक वर्षा वर्षे। जिससे आप के कृपापात्र हम लोग सुखानन्द ही में सदा रहें ॥ २२ ॥

प्रार्थना विषय

अहानि शं भवन्तु नः
शᳬ रात्रीः प्रतिधीयताम्।
शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः
शं न इन्द्रावरुणा रातहव्या।
शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ
शमिन्द्रासोमा सुविताय शंयोः ॥ २३ ॥
य० ३६। ११॥

व्याख्यान—हे क्षणादिकालपते ! सब दिवस आप के नियम से सुखरूप ही हमको हों। हमारे लिये सर्व रात्रि भी आनन्द से बीतें। हे भगवन् ! दिन और रात्रियों को सुख कारक ही आप स्थापन करो। जिससे सब समय में हम लोग सुखी ही रहें। हे सर्वस्वामिन् ! "इन्द्राग्नी" सूर्य तथा अग्नि ये दोनों हमको आपके अनुग्रह से और नानाविध रक्षाओं से सुखकारक हों। "इन्द्रावरुण रातहव्या" हे प्राणाधार ! होम से शुद्धि-गुणयुक्त हुए आपकी प्रेरणा से वायु और चन्द्र हम लोगों के लिये सुखरूप ही सदा हों। "इन्द्रापूषणा, वाजसातौ" हे प्राणपते ! आपकी रक्षा से पूर्ण आयु और बलयुक्त प्राण वाले हम लोग अपने अत्यन्त पुरुषार्थयुक्त युद्ध में स्थिर रहें, जिससे शत्रुओं के सन्मुख हम निर्बल कभी न हों। 'इन्द्रासोमा सुविताय शंयोः' (प्राणापानौ वा इन्द्राग्नी इत्यादि शतपथे) हे महाराज ! आपके प्रबन्ध से राजा और प्रजा परस्पर विद्यादिसत्यगुणयुक्त हो के ऐश्वर्य का उत्पादन करें। तथा आपकी कृपा से परस्पर प्रीतियुक्त हों। अत्यन्त सुख लाभों को प्राप्त हों। आप हम पुत्र लोगों को सुखी देख के अत्यन्त प्रसन्न हों, और हम भी प्रसन्नता से आप और जो आपकी सत्य आज्ञा, उसमें ही तत्पर हों ॥ २३ ॥

स्तुति विषय

प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान्
गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य
यस्तानि वेद स पितुः पिताऽसत् ॥२४॥
य० २३। ६॥

व्याख्यान—हे वेदादि शास्त्र और विद्वानों के प्रतिपादन करने योग्य ! जो अमृत (मरणादि दोष-रहित) मुक्तों का धाम (निवासस्थान) सर्वगत सबका धारण और पोषण करने वाला, सबकी बुद्धियों का साक्षी ब्रह्म है, उस आपका उपदेश तथा धारण जो विद्वान् जानता है, वह गन्धर्व कहाता है। (गच्छतीति गं=ब्रह्म, तद्धरतीति स गन्धर्वः) सर्वगत ब्रह्म को जो धारण करने वाला, उस का नाम गन्धर्व है। तथा परमात्मा के तीन पद हैं—जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने के सामर्थ्य। तथा ईश्वर को स्वहृदय में जानता है, वह पिता का भी पिता है। अर्थात् विद्वानों में भी विद्वान् है ॥ २४ ॥

प्रार्थना विषय

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षᳬ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिश्शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ २५ ॥
य० ३६। १७॥

व्याख्यान—हे सर्वदुःख की शान्ति करने वाले ! सब लोकों के ऊपर जो आकाश, सो सर्वदा हम लोगों के लिये शान्त (निरुपद्रव) सुखकारक ही रहे। अन्तरिक्ष मध्यस्थ लोक और उसमें स्थित वायु आदि पदार्थ, पृथिवि, पृथवीस्थ पदार्थ, जल, जलस्थ, पदार्थ, औषधि, तत्रस्थगुण, वनस्पति, तत्रस्थ पदार्थ,

विश्वदेव (जगत् के सब विद्वान्) तथा विश्वद्योतक वेदमन्त्र, इन्द्रियसूर्यादि, उनकी किरण, तत्रस्थगुण, ब्रह्म, परमात्मा, तथा वेदशास्त्र, स्थूल और सूक्ष्म, चराऽचर जगत् ये सब पदार्थ हमारे लिये, हे सर्वशक्तिमन् परमात्मन्! आपकी कृपा से शान्त (निरुपद्रव) सदानुकूल सुखदायक हों, मुझको भी शान्ति प्राप्त हो। जिससे मैं भी आप की कृपा से शान्त दुष्ट क्रोधादि उपद्रवरहित होऊं। तथा सब संसारस्थ जीव भी दुष्ट-क्रोधादि उपद्रवरहित हों॥ २५॥

स्तुति विषय

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च।
नमः शङ्कराय च मयस्कराय च।
नमः शिवाय च शिवतराय च॥ २६॥
य० १६। ४१॥

व्याख्यान—हे कल्याणस्वरूप, कल्याणकर! आप शंभव हो। (मोक्षसुखस्वरूप और मोक्षसुख के करने वाले हो)। आपको नमस्कार है। आप मयोभव हो। सांसारिक सुख के करने वाले आपको मैं नमस्कार करता हूँ। आप शंकर हो। आप से ही जीवों का कल्याण होता है। अन्य से नहीं। तथा मयस्कर अर्थात् मन, इन्द्रिय, प्राण और आत्मा को सुख करने वाले आप ही हो। आप शिव (मंगलमय) हो। तथा आप शिवतर (अत्यन्त कल्याणस्वरूप और कल्याणकारक) हो। इससे आपको हम लोग बारंबार नमस्कार करते हैं। (नमो नम इति यज्ञः शतपथे) श्रद्धा भक्ति से जो जन ईश्वर को नमस्कारादि करता है, सो मङ्गलमय ही होता है।२६।

प्रार्थना विषय

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभि-
र्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥ २७॥
य० २५। २१॥

व्याख्यान—हे देवेश्वर! देव विद्वानो! हम लोग कानों से सदैव भद्र कल्याण को ही सुनें, अकल्याण की बात भी हम न सुनें। हे यजनीयेश्वर! हे यज्ञकर्त्तारो! हम आँखों से कल्याण (मंगलसुख) को ही सदा देखें। हे जनो! हे जगदीश्वर! हमारे सब अंग-उपांग (श्रोत्रादि इन्द्रिय तथा सेनादि उपांग) स्थिर (दृढ़) सदा रहें। जिनसे हम लोग स्थिरता से आप की स्तुति और आप की आज्ञा का अनुष्ठान सदा करें। तथा हम लोग आत्मा, शरीर, इन्द्रिय और विद्वानों के हितकारक आयु को विविधसुखपूर्वक प्राप्त हों अर्थात् सदा सुख में ही रहें॥ २७॥

स्तुति विषय

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ता-
द्विसीमतः सुरुचो वेन आवः।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः
सतश्च योनिमसतश्च विवः॥ २८॥
य० १३। ३॥

व्याख्यान—हे महीय परमेश्वर! आप बड़ों से भी बड़े हो। आप से बड़ा वा आप के तुल्य कोई नहीं है। 'जज्ञानम्' सब जगत् में व्यापक (प्रादुर्भूत) हो। सब जगत् के प्रथम (आदिकारण) आप ही हो। सूर्यादि लोक 'सीमतः' सीमा से युक्त (मर्यादासहित) 'सुरुचः' आप से प्रकाशित हैं। 'पुरस्तात्' इनको पूर्व रचके आप ही धारण कर रहे हो। (व्यावः) इन सब लोकोंको विविध नियमों से पृथक् पृथक् यथायोग्य वर्त्ता रहे हो। 'वेनः' आप के आनन्दस्वरूप होने से ऐसा कोई जन संसार में नहीं है, जो आपकी कामना न करे। किन्तु सब ही आप को मिला चाहते हैं। तथा आप अनन्त विद्यायुक्त हो। सब रीति से रक्षक आप ही हो। सो ही परमात्मा 'बुध्न्याः' अन्तरिक्षान्तर्गत दिशादि पदार्थों को 'विवः' विवृत (विभक्त) करता है। वे अन्तरिक्षादि उपमा सब व्यवहारों में उपयुक्त होते हैं। और वे इस विविध जगत् के निवास स्थान हैं। 'सत्' विद्यमान स्थूल जगत् 'असत्' अविद्या चक्षुरादि इन्द्रियों से अगोचर, इस विविध जगत् की योनि आदिकरण आपको ही

वेदशास्त्र और विद्वान् लोग कहते हैं। इससे इस जगत् के माता पिता आप ही हैं, हम लोगों को भजनीय इष्टदेव हैं ॥ २८ ॥

प्रार्थना विषय

सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु। दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मः ॥ २९ ॥

य० ३६ । २३ ॥

व्याख्यान—हे सर्वमित्रसम्पादक ! आपकी कृपा से प्राण और जल तथा विद्या और औषधि 'सुमित्रियाः' सुखदायक हम लोगों के लिये सदा हों। कभी प्रतिकूल न हों। और जो हम से द्वेष अप्रीति शत्रुता करता है, तथा जिस दुष्ट से हम द्वेष करते हैं, हे न्यायकारिन् ! उसके लिये 'दुर्मित्रियाः' पूर्वोक्त प्राणादि प्रतिकूल दुःखकारक ही हों। अर्थात् जो अधर्म करे, उसको आप के रचे जगत् के पदार्थ दुःखदायक ही हों। जिससे वह अधर्म न करे, और हमको दुःख न दे सके। हम लोग सदा सुखी ही रहें ॥ २९ ॥

प्रार्थना विषय

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्व-
दृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः
प्रथमच्छदवराँ २ ऽआविवेश ॥ ३० ॥

य० १७ । १७ ॥

व्याख्यान – 'होता' उत्पत्ति समय में देने और प्रलय समय में सब को लेने वाला परमात्मा ही है। 'ऋषिः' सर्वज्ञ इन सब लोक लोकान्तर भुवनों का अपने सामर्थ्य कारण में होम (प्रलय करके) 'न्यसीदत्' नित्य अवस्थित है। सो ही हमारा पिता है। फिर जब 'द्रविण' द्रव्यरूप जगत् को स्वेच्छा से उत्पन्न किया चाहता है, उस 'आशिषा' सामर्थ्य से यथायोग्य विविध जगत् को सहज स्वभाव से रच देता है। इस चराचर 'प्रथमच्छत्' विस्तीर्ण जगत् को रच के अनन्त स्वरूप से आच्छादित करता है। और अन्तर्यामी साक्षीस्वरूप उसमें प्रविष्ट होरहा है। अर्थात् बाहर और भीतर परिपूर्ण हो रहा है। वही हमारा निश्चित पिता है। उसकी सेवा छोड़ के जो मनुष्य अन्य सूर्यादि की सेवा करता है, वह कृतघ्नत्व महादोषयुक्त हो के सदैव दुःखभागी होता है। जो मनुष्य परमदयामय पिता की आज्ञा में रहता है, वह सर्वानन्द का सदैव भोग करता है ॥ ३० ॥

प्रार्थना विषय

इषे पिन्वस्व । ऊर्जे पिन्वस्व ।
ब्रह्मणे पिन्वस्व । क्षत्राय पिन्वस्व ।
द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्व ।
धर्मासि सुधर्म । अमेन्यस्मे
नृम्णानि धारय ब्रह्म धारय
क्षत्रं धारय विशं धारय ॥ ३१ ॥

य० ३८ । १४ ॥

व्याख्यान—हे सर्वसौख्यप्रदेश्वर ! हमको 'इषे' उत्तमान्न के लिये पुष्ट कर। अन्न के अपचन वा कुपथ्य के रोगों से बचा। तथा विना अन्न के दुःखी हम लोग कभी न हों। हे महाबल ! 'ऊर्जे' अत्यंत पराक्रमके लिये हमको पुष्ट कर। हे वेदोत्पादक ! 'ब्रह्मणे' सत्य वेदविद्या के लिये बुद्ध्यादि बल से सदैव हम को पुष्ट और बलयुक्त कर। हे महाराजाधिराज परब्रह्मन् ! 'क्षत्राय' अखण्ड चक्रवर्ती राज्य के लिये शौर्य, धैर्य, नीति, विनय, पराक्रम और बलादि उत्तम गुणयुक्त कृपा से हम लोगों को यथावत् पुष्ट कर। अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हों। हे स्वर्गपृथिवीश ! 'द्यावापृथिवीभ्याम्' स्वर्ग (परमोत्कृष्ट मोक्षसुख) पृथिवी (संसारसुख) इन दोनों के लिये हमको समर्थकर। हे सुष्ठु धर्मशील ! तू धर्मकारी हो। तथा धैर्यस्वरूप ही हो। हम लोगों को भी कृपा से धर्मात्मा कर। 'अमेनि' तू निर्वैर कर। तथा कृपा दृष्टि से 'अस्मै' (अस्मभ्यम्) हमारे लिये 'नृम्णानि' विद्या, पुरुषार्थ, हस्ती, अश्व, सुवर्ण, हीरादि रत्न, उत्कृष्ट राज्य, उत्तम पुरुष और प्रीत्यादि पदार्थों को धारण कर। जिससे हम लोग किसी पदार्थ के विना दुखी न हों। हे सर्वाधिपते ! ब्राह्मण (पूर्णविद्यादिसद्गुणयुक्त) क्षत्र (बुद्धि विद्या तथा शौर्या-

द्विगुणयुक्त) 'विश' अनेक विद्योद्यम, बुद्धि, विद्या, धन और धान्यादि बलयुक्त तथा शूद्रादि भी सेवादि गुणयुक्त, उत्तम हमारे राज्य में हों। इन सबका धारण आप ही करो। जिससे अखण्ड ऐश्वर्य हमारा आपकी कृपा से सदा बना रहे॥ ३१॥

स्तुति विषय

किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं
कतमत्स्वित्कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा
विद्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥ ३२॥
य० १७। १८॥

व्याख्यान—(प्रश्नोत्तर विद्या से) इस संसार का अधिष्ठान क्या है? कारण और उत्पादक कौन है? किस प्रकार से है? तथा निमित्तकारण और साधन जगत् वा ईश्वर के क्या हैं? (उत्तर) "यतः" जिसका विश्व (जगत् कर्म) किया हुआ है, उस विश्वकर्मा परमात्मा ने अनन्त सामर्थ्य से इस जगत् को रचा है। वही इस सब जगत् का अधिष्ठान, निमित्त, और साधनादि है। उसने अपने अनन्त सामर्थ्य से इस सब जगत् को यथायोग्य रचा और भूमि से ले के स्वर्गपर्यन्त रच के अपनी महिमा से "और्णोत्" आच्छादित कर रक्खा है। और परमात्मा का अधिष्ठानादि परमात्मा ही है, अन्य कोई नहीं। सबका उत्पादन, रक्षण, धारणादि भी वही करता है। तथा आनन्दमय है। और वह ईश्वर "विश्वचक्षाः" सब संसार का द्रष्टा है। उसको छोड़ के अन्य का आश्रय जो करता है, वह दुःखसागर में क्यों न डूबेगा?॥३२॥

प्रार्थना विषय

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि।
आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि।
वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि।
अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्मऽआपृण॥३३॥
य० ३। १७॥

व्याख्यान—हे सर्वरक्षकेश्वराग्ने! तू हमारे शरीर का रक्षक है। सो शरीर को कृपा से पालन कर। हे महावैद्य! आप आयु (उमर) बढ़ाने वाले हो। मुझको सुखरूप उत्तमायु दीजिये। हे अनन्त विद्या-तेजयुक्त! आप "वर्चः" विद्यादि तेज अर्थात् यथार्थ विज्ञान देने वाले हो। मुझको सर्वोत्कृष्ट विद्यादि तेज देओ। पूर्वोक्त शरीरादि की रक्षा से हमको सदा आनन्द में रक्खो। और जो जो कुछ भी शरीरादि में "ऊनम्" न्यून हो, उस-उस को कृपादृष्टि से सुख और ऐश्वर्य के साथ सब प्रकार से आप पूर्ण करो। किसी आनन्द वा श्रेष्ठ पदार्थ की न्यूनता हमको न रहे। आपके पुत्र हम लोग, जब पूर्णानन्द में रहेंगे, तभी आप पिता की शोभा है। क्योंकि लड़के लोग छोटी वा बड़ी चीज अथवा सुख, पिता माता को छोड़ किससे मांगें? सो आप सर्वशक्तिमान् हमारे पिता, सब ऐश्वर्य तथा सुख देने वालों में पूर्ण हो॥३३॥

प्रार्थना विषय

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो
विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रै-
र्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥ ३४॥
य० १७। १९॥

व्याख्यान—विश्व (सब जगत् में जिसका चक्षु (दृष्टि) जिससे अदृष्ट कोई वस्तु नहीं। तथा सर्वत्र मुख, बाहु, पग, अन्य श्रोत्रादि भी हैं। जिसकी दृष्टि में अर्थात् सर्वदृक् सर्ववक्ता सर्वधारक और सर्वगत ईश्वर व्यापक है, उसी से जब डरेगा, तभी धर्मात्मा होगा, अन्यथा कभी नहीं। वही विश्वकर्म्मा परमात्मा एक ही अद्वितीय है। पृथिवी से लेके स्वर्ग-पर्य्यन्त जगत् का कर्त्ता है। जिस-जिस ने जैसा-जैसा पाप वा पुण्य किया है, उस-उसको न्यायकारी दयालु जगत्पिता पक्षपात छोड़ के अनन्त बल और पराक्रम, इन दोनों बाहुओं से सम्यक् "पतत्रैः" प्राप्त होने वाले सुख दुःख फल दोनों से प्राप्त सब जीवों को "धमति" (धमन=कम्पन) यथायोग्य जन्ममरणादि को प्राप्त

करा रहा है। उसी निराकार अज अनन्त सर्वशक्तिमान् न्यायकारी दयामय ईश्वर से अन्य को कभी न मानना चाहिये। वही याचनीय पूजनीय हमारा प्रभु स्वामी इष्टदेव है। उसीसे सुख हमको होगा, अन्य से कभी नहीं ॥३४॥

स्तुति विषय

भूर्भुवः स्वः, सुप्रजाः प्रजाभिः
स्याथं सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः।
नर्य प्रजां मे पाहि।
शथंस्य पशून्मे पाहि।
अथर्य पितुम्मे पाहि ॥३५॥
य० ३। ३७॥

व्याख्यान—हे सर्वमङ्गलकारकेश्वर! आप 'भूः' सदा वर्त्तमान हो। "भुवः" वायु आदि पदार्थों के रचने वाले, "स्वः" सुखरूप हो, हमको सुख दीजिये। हे सर्वाध्यक्ष! आप कृपा करो जिससे कि मैं पुत्र पौत्रादि उत्तम गुण वाली प्रजा से श्रेष्ठ प्रजा वाला होऊं, सर्वोत्कृष्ट वीर योद्धाओं से "सुवीरः" युद्ध में सदा विजयी होऊं। हे महापुष्टिप्रद! आपके अनुग्रह से अत्यन्त विद्यादि तथा सोमलता आदि ओषधि सुवर्णादि और नैरोग्यादि सर्वपुष्टियुक्त होऊं। हे "नर्य" नरों के हितकारक! मेरी प्रजा की रक्षा आप करो। हे "शंस्य" स्तुति करने के योग्य ईश्वर! हस्त्यश्वादि पशुओं का आप पालन करो। हे "अथर्य" व्यापक ईश्वर! "पितुम्" धरे अन्न की रक्षा कर। हे दयानिधे! हम लोगों को सब उत्तम पदार्थों से परिपूर्ण और सब दिन आप आनन्द में रक्खो ॥३५।

प्रार्थना विषय

किथं स्विद्वनं क उ स वृक्ष
आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्य-
दध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन् ॥ ३६ ॥
य० १७। २०॥

व्याख्यान—(प्रश्न) विद्या क्या है? वन और वृक्ष किसको कहते हैं? (उत्तर) जिस सामर्थ्य से विश्वकर्मा ईश्वर ने जैसे तक्षा (बढ़ई) अनेकविध रचना से अनेक पदार्थ रचता है, वैसे ही स्वर्ग (सुखविशेष) और भूमिमध्य (सुखवाला लोक) तथा नरक (दुःख विशेष) और सब लोकों को रचा है, उसी को वन और वृक्ष आदि कहते हैं। हे "मनीषिणः" विद्वानो! जो सब भुवनों को धारण करके सब जगत् में और सबके ऊपर विराजमान हो रहा है, उसके विषय में प्रश्न तथा उसका निश्चय तुम लोग करो। "मनसा" उसके विज्ञान से जीवों का कल्याण होता है, अन्यथा नहीं ॥३६॥

स्तुति विषय

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्।
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः
शतथं शृणुयाम शरदः
शतं प्रब्रवाम शरदः
शतमदीनाः स्याम शरदः
शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ ३७ ॥
य० ३६। २४।

व्याख्यान—वह ब्रह्म "चक्षुः" सर्वदृक् चेतन है। तथा देव अर्थात् विद्वानों के लिये वा मन आदि इन्द्रियों के लिये हितकारक मोक्षादि सुख का दाता है। "पुरस्तात्" सबका आदि प्रथम कारण वही है। "शुक्रम्" सब का करने वाला किंवा शुद्धस्वरूप है। "उच्चरत्" प्रलय के ऊर्ध्व वही रहता है। उसी की कृपा से हम लोग शत (१००) वर्ष तक देखें, जीवें, सुनें, कहें, कभी पराधीन न हों। अर्थात् ब्रह्मज्ञान बुद्धि और पराक्रम सहित इन्द्रिय तथा शरीर सब स्वस्थ रहें। ऐसी कृपा आप करें कि कोई अंग मेरा निर्बल (क्षीण) और रोगयुक्त न हो। तथा शत (१००) वर्ष से अधिक भी आप कृपा करें कि शत (१००) वर्ष के उपरांत भी हम देखें, जीवें, सुनें कहें और स्वाधीन ही रहें ॥ ३७ ॥

प्रार्थना विषय

या ते धामानि परमाणि यावमा

या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः
स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः॥ ३८॥
य० १७। २१॥

व्याख्यान—हे सर्वविधायक विश्वकर्मन्नीश्वर! जो तुम्हारे सुरचित उत्तम, मध्यम, निकृष्ट त्रिविध धाम (लोक) हैं, उन सब लोकों की शिक्षा हम आपके सखाओं को कर। यथार्थ विद्या होने से सब लोकों में सदा सुखी ही रहें। तथा इन लोकों के "हविषि" दान और ग्रहण व्यवहार में हम लोग चतुर हों। हे "स्वधावः" स्वसामर्थ्यादि धारण करने वाले! हमारे शरीरादि पदार्थों को आप ही बढ़ाने वाले हैं। "यजस्व" हमारे लिये विद्वानों का सत्कार, सब सज्जनों के सुखादि की संगति, विद्यादि गुणों का दान आप स्वयं करो। आप अपनी उदारता से ही हमको सब सुख दीजिये। किञ्च हम लोग तो आपके प्रसन्न करने में कुछ भी समर्थ नहीं हैं। सर्वथा आपके अनुकूल वर्तमान नहीं कर सकते। परन्तु आप तो अधमोद्धारक हैं। इससे हमको स्वकृपा से सुखी करें॥ २८॥

स्तुति विषय

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो
वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु।
शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः॥ ३९॥
य० ३६। २॥

व्याख्यान—हे सर्वसन्धायकेश्वर! मेरे चक्षु (नेत्र), हृदय (प्राणात्मा), मन, बुद्धि विज्ञान, विद्या सब इन्द्रिय द्वेष, इनके छिद्र, निर्बलता, राग, चाञ्चल्य यद्वा मन्दत्वादि विकार, इनका निवारण (निर्मूल) करके, सत्य धर्मादि में स्थापन आप ही करो। क्योंकि आप बृहस्पति (सबसे बड़े) हो। सो अपनी बड़ाई की ओर देख के इस बड़े काम को आप अवश्य करें। जिससे हम लोग आप और आपकी आज्ञा के सेवन में यथार्थ तत्पर हों। मेरे सब छिद्रों को आप ही ढांकें। आपसे बारंबार प्रार्थना हम लोग करते हैं कि सब दिन हम लोगों पर कृपादृष्टि से कल्याणकारक हों। हे परमात्मन्! आपके विना हमारा कल्याणकारक कोई नहीं है। हमको आपका ही सब प्रकार का भरोसा है, सो आप ही पूरा करेंगे॥ ३९॥

प्रार्थना विषय

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया
धाता विधाता परमोत सन्दृक्।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति
यत्रा सप्तऽऋषीन् पर एकमाहुः॥ ४०॥
य० १७। २६।

व्याख्यान—सर्वज्ञ सर्वरचक ईश्वर विश्वकर्मा (विविधजगदुत्पादक) है, तथा "विमनाः" विविध (अनन्त) विज्ञानवाला है, तथा "आद्विहाया" सर्वव्यापक और आकाशवत् निर्विकार अक्षोभ्य सर्वाधिकरण है। वही सब जगत् का "धाता" धारणकर्त्ता है। "विधाता" विविध विचित्र जगत् का उत्पादक है। तथा "परम, उत" सर्वोत्कृष्ट है। "सन्दृक्" यथावत् सबके पाप और पुण्यों को देखने वाला है। जो मनुष्य उसी ईश्वर की भक्ति, उसी में विश्वास और उसी का सत्कार (पूजा) करते हैं, उसको छोड़ के अन्य किसी को लेशमात्र भी नहीं मानते, उन पुरुषों को ही सब इष्ट सुख मिलते हैं, औरों को नहीं। वह ईश्वर अपने भक्तों को सुख में ही रखता है और वे भक्त सम्यक् स्वेच्छापूर्वक "मदन्ति" परमानन्द में ही रहते हैं। दुखको नहीं प्राप्त होते। वह परमात्मा एक अद्वितीय है। जिस परमात्मा के सामर्थ्य में सप्त अर्थात् पंच प्राण, सूत्रात्मा और धनञ्जय, ये सब प्रलयविषयक कारणभूत ही रहते हैं, वही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय में निर्विकार आनन्दस्वरूप रहता है। उसी की उपासना करने से हम सदा सुख में रह सकते हैं॥ ४०॥

स्तुति विषय

चतुः स्रक्तिर्नाभिर्ऋतस्य सप्रथाः
स नो विश्वायुः सप्रथाः

स नः सर्वायुः सप्रथाः ।
अपद्वेषोऽअपह्वरोऽन्यव्रतस्य सश्चिम ॥ ४१ ॥
य० ३८ । २० ॥

व्याख्यान—हे महावैद्य! सर्वरोगनाशकेश्वर ! चार कोणे वाली नाभि (मर्मस्थान) ऋतु की भरी + नैरोग्य और विज्ञान का घर "सप्रथाः" विस्तीर्ण सुखयुक्त आपकी कृपा से "विश्वायुः" पूर्ण आयु हो आप जैसे सर्वसामर्थ्य से विस्तीर्ण हो, वैसे ही विस्तृत सुखसे विस्तार सहित सर्वायु हमको दीजिये। हे ईश ! हम "अपद्वेषः" द्वेषरहित आपकी कृपा से तथा "अपह्वरः" चलन (कम्पन) रहित हों। आप की आज्ञा और आपसे भिन्न को लेशमात्र भी ईश्वर न मानें, यही हमारा व्रत है। इससे अन्य व्रतको कभी न मानें, किन्तु आपको "सश्चिम" सदा सेवें। यही हमारा परमनिश्चय है। इस परमनिश्चय की रक्षा आप ही कृपा से करें ॥ ४१ ॥

प्रार्थना विषय

यो नः पिता जनिता यो विधाता
धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामधा एक एव
तꣳ सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥ ४२ ॥
य० १७ । २७ ॥

व्याख्यान—हे मनुष्यो ! जो अपना पिता (नित्य पालन करने वाला) जनिता (जनक) उत्पादक "विधाता" सब मोक्षसुखादि कामों का विधायक, (सिद्धिकर्त्ता) "विश्वा" सब भुवन लोकलोकान्तर धाम अर्थात् स्थिति के स्थानों को यथावत् जानने वाला, सब जात-मात्र भूतों में विद्यमान है। जो दिव्य सूर्यादिलोक तथा इन्द्रियादि और विद्वानों का नाम व्यवस्थादि करने वाला एक अद्वितीय वही है अन्य कोई नहीं। अन्य स्वामी और पितादि हम लोगों का है, इसमें शंका नहीं रखनी। तथा उस परमात्मा के सम्यक् प्रश्नोत्तर करने में विद्वान् वेदादि शास्त्र और प्राणीमात्र प्राप्त हो रहे हैं। क्योंकि सब पुरुषार्थ यही है कि परमात्मा, उसकी आज्ञा और उसके रचे जगत् का यथार्थ से निश्चय (ज्ञान) करना। उसीसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार प्रकार के पुरुषार्थ के फलों की सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं। इस हेतु से तन, मन, धन और आत्मा इनसे प्रयत्नपूर्वक ईश्वर के साहाय्य से सब मनुष्यों को धर्मादि पदार्थों की यथावत् सिद्धि अवश्य करनी चाहिये ॥ ४२ ॥

स्तुति विषय

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं
तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ४३ ॥
य० । ३४।१ ॥

व्याख्यान—हे धर्म्मनिरुपद्रव परमात्मन् ! मेरा मन सदा शिवसंकल्प, धर्म, कल्याण संकल्पकारी ही आपकी कृपा से हो, कभी अधर्मकारी न हो। वह मन कैसा है ? कि जागते हुए पुरुषका दूर दूर जाता आता है। दूर जाने का जिसका स्वभाव है। अग्नि, सूर्यादि, श्रोत्रादि इन्द्रिय, इन ज्योति प्रकाशकों का भी ज्योतिप्रकाशक है, अर्थात् मन के विना किसी पदार्थ का प्रकाश कभी नहीं होता। वह एक बड़ा चञ्चल वेगवाला मन आपकी कृपा से ही स्थिर, शुद्ध, धर्म्मात्मा, विद्यायुक्त हो सकता है। "दैवम्" देव (आत्मा का) मुख्यसाधक भूत, भविष्यत् और वर्त्तमानकाल का ज्ञाता है। वह आपके वश में ही है। उसको आप हमारे वश में यथावत् करें। जिससे हम कुकर्म्म में कभी न फसें। सदैव विद्या, धर्म्म और आपकी सेवा में ही रहें ॥ ४३ ॥

प्रार्थना विषय

न तं विदाथ य इमा
जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या
चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥ ४४ ॥
य० १७ । ३१ ।

+ऋत की भरी। —सम्पादक

व्याख्यान—हे जीवो ! जो परमात्मा इन सब भुवनों के बनाने वाला विश्वकर्मा है, उसको तुम लोग नहीं जानते हो। इसी हेतु से तुम "नीहारेण" अत्यन्त अविद्या से आवृत मिथ्यावाद, नास्तिकत्व, बकवाद करते हो। इससे दुःख ही तुमको मिलेगा सुख नहीं। तुम लोग "असुतृपः" केवल स्वार्थसाधक प्राणपोषणमात्र में प्रवृत्त हो रहे हो। "उक्थशासश्चरन्ति" केवल विषयभोगों के लिये ही अवैदिक कर्म करने में प्रवृत्त हो रहे हो। और जिसने ये सब भुवन रचे हैं, उस सर्वशक्तिमान् न्यायकारी परब्रह्म से उलटे चलते हो। अतएव उसको तुम नहीं जानते। (प्रश्न) वह ब्रह्म और हम जीवात्मा लोग, ये दोनों एक हैं वा नहीं ? (उत्तर) "यद्युष्माकमन्तरं बभूव" ब्रह्म और जीव की एकता वेद और युक्ति से सिद्ध कभी नहीं हो सकती, क्योंकि जीव ब्रह्म का पूर्व से ही भेद है। जीव अविद्यादि दोषयुक्त है, ब्रह्म अविद्यादि दोषयुक्त नहीं है। इससे यह निश्चित है कि जीव और ब्रह्म एक न थे, न होंगे और न हैं। किञ्च व्याप्यव्यापक, आधाराधेय, सेव्यसेवकादिसम्बन्ध तो जीव के साथ ब्रह्म का है। इससे जीव ब्रह्म की एकता मानना किसी मनुष्य को योग्य नहीं ॥ ४४ ॥

स्तुति विषय

भग एव भगवाँ२ऽअस्तु देवा-
स्तेन वयं भगवन्तः स्याम ।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति
स नो भग पुर एता भवेह ॥ ४५ ॥
य० ३४ । ३८ ॥

व्याख्यान—हे सर्वाधिपते ! महाराजेश्वर ! आप भग परमैश्वर्यस्वरूप होने से भगवान् हो। हे (देवाः) विद्वानो ! "तेन" (भगवता प्रसन्नेश्वरसहायेन) उस भगवान् प्रसन्न ईश्वर के सहाय से हम लोग परमैश्वर्ययुक्त हों। हे "भग" परमेश्वर सर्व संसार "तन्त्वा" उन आपको ही ग्रहण करने को + अत्यन्त इच्छा करता है, क्योंकि कौन ऐसा भाग्यहीन मनुष्य है ? जो आपको प्राप्त होने की इच्छा न करे। सो आप हमको प्रथम से प्राप्त हों। फिर कभी हमसे आप और ऐश्वर्य अलग न हों। आप अपनी कृपा से इसी जन्म में परमैश्वर्य्य का यथावत् भोग हम लोगों को करावें। परजन्म में तो कर्मानुसार फल होता भी है। तथा आपकी सेवा में हम नित्य तत्पर रहें ॥ ४५ ॥

+ प्राप्त करने की। —सम्पादक

प्रार्थना विषय

गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे
प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳ हवामहे
निधीनां त्वा निधिपतिꣳ हवामहे
वसो मम। आहमजानि
गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम् ॥ ४६ ॥
य० २३ । १९॥

व्याख्यान—हे समूहाधिपते ! आप मेरे सब समूहों के पति होने से आपको गणपति नाम से ग्रहण करता हूं। मेरे प्रिय कर्मकारी पदार्थ और जनों के पालक भी आप ही हैं। इससे आपको प्रियपति मैं अवश्य जानूं। इसी प्रकार मेरी सब निधियों के पति होने से आपको मैं निश्चित निधिपति जानूं। हे "वसो सब जगत् को जिस सामर्थ्य से उत्पन्न किया है, उस अपने सामर्थ्य का धारण और पोषण करने वाला आपको ही मैं जानूं। सबका कारण आपका सामर्थ्य है। यही सब जगत् का धारण और पोषण करता है। यह जीवादि जगत् तो जन्मता और मरता है, परन्तु आप सदैव अजन्मा और अमृतस्वरूप हैं। आपकी कृपा से अधर्म, अविद्या, दुष्टभावादि को "अजानि" दूर फेंकूं। तथा हम सब लोग आपकी ही "हवामहे" अत्यन्त स्पर्धा (प्राप्ति की इच्छा) करते हैं। सो आप अब शीघ्र हमको प्राप्त होओ। जो प्राप्त होने में आप थोड़ा भी विलंब करेंगे, तो हमारा कुछ भी ठिकाना न लगेगा ॥ ४६ ॥

प्रार्थना विषय

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि
तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् ।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥ ४७ ॥
यजु० १ । ५ ॥

व्याख्यान—हे सच्चिदानन्द स्वप्रकाशस्वरूप ईश्वराग्ने ! ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास आदि सत्यव्रतों का आचरण मैं करूंगा। सो इस व्रतको आप कृपा से सम्यक् सिद्ध करें। तथा में अनृत अनित्य देहादि पदार्थों से पृथक् हो के इस पदार्थ सत्य जिसका कभी व्यभिचार विनाश नहीं होता, उस विद्यादि लक्षण धर्म को प्राप्त होता हूँ। इस मेरी इच्छा को आप पूरी करें। जिससे मैं सभ्य विद्वान् सत्याचरणी, आपकी भक्तियुक्त, धर्मात्मा होऊं ॥ ४७ ॥

स्तुति विषय

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व
उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥४८॥
य० २५। १३ ॥

व्याख्यान—हे मनुष्यो जो परमात्मा अपने लोगों को "आत्मदाः" आत्मा का देने वाला तथा आत्मज्ञानादि का दाता है, जीवप्राणदाता तथा "बलदाः" त्रिविध बल-एक मानसविज्ञान-बल, द्वितीय इन्द्रियबल अर्थात् श्रोत्रादि की स्वस्थता तेजोवृद्धि, तृतीय शरीर-महापुष्टि दृढाङ्गता और वीर्यादि वृद्धि इन तीनों बलों का जो दाता है। जिसके "प्रशिषम्" अनुशासन (शिक्षामर्यादा) को यथावत् विद्वान् लोग मानते हैं, सब प्राणी और अप्राणी जड़ चेतन विद्वान् वा मूर्ख उस परमात्मा के नियमों को कोई कभी उल्लङ्घन नहीं कर सकता। जैसे कि कान से सुनना, आंख से देखना, इसको उलटा कोई नहीं कर सकता है। जिसकी छाया=आश्रय ही अमृत विज्ञानी लोगों का मोक्ष कहाता है। तथा जिसकी अच्छाया (अकृपा) दुष्ट जनों के लिये वारम्वार मरण और जन्म रूप महाक्लेशदायक है। हे सज्जन मित्रो ! वही एक परमसुखदायक पिता है। आओ, हम सब मिल के प्रेम, विश्वास और भक्ति करें। कभी उसको छोड़ के अन्य को उपास्य न मानें। वह अपने को अत्यन्त सुख देगा, इसमें कुछ सन्देह नहीं ॥ ४८ ॥

स्तुति विषय

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः।
अथोऽअन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः।
क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये
शिवꣳ शग्मꣳ शंय्योः शंय्योः ॥ ४९ ॥
य० ३। ४३ ॥

व्याख्यान—हे पश्वाधिपते ! महात्मन् ! आप की ही कृपा से उत्तम गाय, भैंस, घोड़े, हाथी, बकरी, भेड़ तथा उपलक्षण से अन्य सुखदायक पशु और अन्न सर्व रोगनाशक ओषधियों का उत्कृष्ट रस "नः" हमारे घरों में नित्य स्थिर (प्राप्त) रख। जिससे किसी पदार्थ के विना हमको दुःख न हो। हे विद्वानो "वः" (युष्माकम्) तुम्हारे संग और ईश्वर की कृपा से क्षेम कुशलता और शान्ति तथा सर्वोपद्रव विनाश के लिये "शिवम्" मोक्षसुख "शग्मम्" और इस संसार के सुख को, मैं यथावत् प्राप्त होऊं। मोक्ष सुख और प्रजा-सुख इन दोनों की कामनाओं को आप यथावत् शीघ्र पूरी कीजिये। आपका यही स्वभाव है कि अपने भक्तों की कामना अवश्य पूरी करना ॥४९॥

प्रार्थना विषय

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं
धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम्।
पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे
रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥५०॥
य० २५। १८ ॥

व्याख्यान—हे सुख और मोक्ष की इच्छा करने वाले जनो ! उस परमात्मा को ही "हूमहे" हम लोग प्राप्त होने के लिये अत्यन्त स्पर्धा करते हैं कि उसको हम कब मिलेंगे। क्योंकि वह ईशान (सब जगत् का स्वामी) है। और ईशन (उत्पादन) करने की इच्छा करने वाला है। दो प्रकार का जगत् है अर्थात् चर और अचर। इन दोनों प्रकार के जगत् का पालन करने वाला वही है। "धियञ्जिन्वम्" विज्ञानमय, विज्ञानप्रद और तृप्तिकारक ईश्वर से

अन्य कोई नहीं है। उसको "अवसे" अपनी रक्षा के लिये हम स्पर्द्धा (इच्छा) से आह्वान करते हैं। जैसे वह ईश्वर "पूषा" हमारे लिये पोषणप्रद है, वैसे ही "वेदसाम्" धन और विज्ञानों की वृद्धि का "रक्षित." रक्षक है। तथा "स्वस्तये" निरुपद्रवता के लिये हमारा 'पायुः' पालक वही है। और "अदब्धः' हिंसा रहित है। इसलिये ईश्वर जो निराकार सर्वदानन्दप्रद है, हे मनुष्यो! उसको मत भूलो। विना उसके कोई सुख का ठिकाना नहीं है ॥ ५० ॥

स्तुति विषय

मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधात्वस्मान्
रायो मघवानः सचन्ताम् ।
अस्माकꣳ सन्त्वाशिषः
सत्या नः सन्त्वाशिषः ॥ ५१ ॥

य० २। १० ॥

व्याख्यान—हे इन्द्र परमैश्वर्यवन् ईश्वर! "मयि" मुझमें विज्ञानादि शुद्ध इन्द्रिय, "रायः" और उत्तम धनको "मघवानः" परम धनवान् आप "सचन्ताम्" सद्यः प्राप्त करो। हे सर्व काम पूर्ण करने वाले ईश्वर! आपकी कृपा से हमारी आशा सत्य ही होनी चाहिये। (पुनरुक्त अत्यन्त प्रेम और त्वरा द्योतनार्थ है।) हे भगवन्! हम लोगों की इच्छा आप शीघ्र ही सत्य कीजिये, जिससे हमारी न्याययुक्त इच्छा के सिद्ध होने से हम लोग परमानन्द में सदा रहें ॥ ५१ ॥

प्रार्थना विषय

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
सनिं मेधामयासिषꣳ स्वाहा ॥ ५२ ॥

य० ३२। १३ ॥

व्याख्यान—हे सभापते! विद्यामय न्यायकारिन् सभासद्! सभाप्रिय सभा ही हमारा राजा न्यायकारी हो। ऐसी इच्छा वाले आप हमको कीजिये। किसी एक मनुष्य को हम लोग राजा कभी न मानें। किन्तु आपको ही हम सभापति, सभाध्यक्ष, राजा मानें। आप अद्भुत आश्चर्य विचित्र, शक्तिमय हैं तथा प्रियस्वरूप ही हैं। इन्द्र जो जीव, उसको कमनीय (कामना के योग्य) आप ही हैं। "सनिम्" सम्यक् भजनीय और सेव्य भी जीवों के आप ही हैं। "मेधा" अर्थात् विद्या सत्यधर्मादिधारण वाली बुद्धि को हे भगवन्! मैं याचता हूँ। सो आप कृपा करके मुझको देओ। "स्वाहा" यही स्वकीय वाक् "आह" कहती है कि एक ईश्वर से भिन्न कोई जीवों को सेव्य नहीं है। यही वेद में ईश्वराज्ञा है, सो सब मनुष्यों को मानना योग्य अवश्य है ॥ ५२ ॥

स्तुति विषय

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं
कुरु स्वाहा ॥ ५३ ॥

य० ३२। १४ ॥

व्याख्यान—हे सर्वज्ञाग्ने परमात्मन्! जिस विज्ञानवती यथार्थधारणा वाली बुद्धि को देव (विद्वानों) के वृन्द उपासते (धारण करते) हैं। तथा यथार्थ पदार्थविज्ञान वाले पितर जिस बुद्धि के उपाश्रित होते हैं। उस बुद्धि के साथ इसी समय कृपा से मुझको मेधावी कर। "स्वाहा" इसको आप अनुग्रह और प्रीति से स्वीकार कीजिये। जिससे मेरी जड़ता सब दूर हो ॥ ५३ ॥

प्रार्थना विषय

मेधां मे वरुणो ददातु
मेधामग्निः प्रजापतिः
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च
मेधां धाता ददातु मे स्वाहा ॥ ५४ ॥

य० ३२। १५ ॥

व्याख्यान—हे सर्वोत्कृष्टेश्वर! आप "वरुणः' वर (वरणीय) आनन्दस्वरूप हो। कृपा से मुझको मेधा सर्वविद्यासम्पन्न बुद्धि दीजिये। तथा "अग्निः"

× यह मन्त्र इस ग्रन्थ के प्रथम प्रकाश में ऋग्वेदीय मन्त्रों में संख्या दस पर भी आचुका है। परन्तु वहां और यहां के विनय-व्याख्यान में महर्षि ने भेद रखा है। यहां पुनरुक्ति नहीं है। -- सम्पादक

विज्ञानमय विज्ञानप्रद "प्रजापतिः" सब संसार के अधिष्ठाता पालक, "इन्द्रः" परमैश्वर्यवान्, "वायुः" विज्ञानवान् अनन्तबल, "धाता" तथा सब जगत् का धारण और पोषण करने वाले आप मुझको अत्युत्तम मेधा (बुद्धि) दीजिये× ॥ ५४ ॥

स्तुति विषय

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं
चोभे श्रियमश्नुतां ताम् ।
मयि देवा दधतु श्रिय-
मुत्तमां तस्यै ते स्वाहा ॥५५॥

य० ३२ । १६ ॥

व्याख्यान—हे महाविद्य महाराज सर्वेश्वर ! मेरा ब्रह्म (विद्वान्) और क्षत्र (राजा) राज्य, महाचतुर न्यायकारी शूरवीर राजादि (क्षत्रिय) ये दोनों आपकी अनन्त कृपा से यथावत् अनुकूल हों । "श्रियम्" सर्वोत्तम विद्यादिलक्षणयुक्त महाराज्य श्री को हम प्राप्त हों । हे "देवाः" विद्वानो ! दिव्य ईश्वर गुण परमकृपा आदि उत्तम विद्यादि लक्षण समन्वित श्री को मुझ में अचलता से धारण कराओ । उसको मैं अत्यन्त प्रीति से स्वीकार करूं और उस श्री को विद्यादि सद्गुण वा सर्व संसार के हित के लिये तथा राज्यादि प्रबन्ध के लिये व्यय करूं ॥५५॥

× अनेक बार मांगना ईश्वर से अत्यन्त प्रीति द्योतनार्थ सबः दानार्थ है । बुद्धि से उत्तम पदार्थ कोई नहीं है । उसके होने से जीव को सब सुख होते हैं । इस हेतु से बारम्बार परमात्मा से बुद्धि की ही याचना करनी श्रेष्ठ बात है ॥ [महर्षि]

इति

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीयुत विरजानन्द सरस्वतीस्वामिनां महाविदुषां शिष्येण दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचित आर्याभिविनये द्वितीयः प्रकाशः सम्पूर्णः ॥

॥ समाप्तश्चाऽयं ग्रन्थः ॥

वैदिक-प्रार्थना

[लेखक—श्री पण्डित जगत्कुमार जी शास्त्री]

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का मुख-पत्र "आर्य" लिखता है :—

"गेटअप, भाषा, छपाई आकर्षणपूर्ण है । वैदिक ऋचाओं का अर्थ और भाव काव्यमयी भाषा में लेखक ने इस सुन्दरता से अंकित किया है कि पढ़ते-पढ़ते हृदय प्रभु चरणों में लीन हो जाता है । अंतस की कालिमा धोने के लिये वेद-मन्त्रों के आधार पर लिखी हुई ये प्रार्थनाएं, प्रत्येक आस्तिक को ऊँचा उठा सकती हैं, और नास्तिक को भी आस्तिक बना सकती हैं । पुस्तक के परिशिष्ट में दिये गये भक्ति-भाव-पूर्ण भजनों ने इस पुस्तक की उपयोगिता को चार चान्द लगा दिये हैं । हम आत्म-शुद्धि के लिये हर हाथ में यह पुस्तक देखना चाहते हैं ।"

सम्पूर्ण पुस्तक की छपाई लाल और काले दो रंगों में, बहुत सुन्दर तथा कलापूर्ण ढंग पर कराई गई है । नित्य-पाठ करने तथा भेंट और पुरस्कारमें देनेके लिये उत्तम है । मुखपृष्ठ चार रंगका है ।

सजिल्द पुस्तक का मूल्य—एक रुपया आठ आने । डाकव्यय पृथक्

मिलने का पता—गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, देहली

* ओ३म् *

ऋग्वेद-भाष्य का नमूना

सम्पादक का निवेदन

महर्षि दयानन्द ने अपने अल्पकालीन जीवन में अनेक बड़े-बड़े कार्य किये। पहिले वे सत्यशील बालक थे। युवावस्था में वे सत्य के अन्वेषक बने। फिर सत्य के प्रबल प्रचारक के रूप में संसार ने उनके दर्शन किये। भारतीय स्वराज्य-संग्राम के आदिम नायक, भारतीय समाज-सुधार-आन्दोलन के आदिम विधायक, स्त्री-शिक्षा, गो-रक्षा, अच्छूतोद्धार, संस्कृत-भाषा-प्रचार, शुद्धि, संगठन, आदि अनेकानेक प्रगतियों के आदिम-प्रवर्तक, आर्य समाज संस्थापक, आर्ष-साहित्योद्धारक, वेद-भाष्यकार, आदि-आदि अनेक रूपों में हमें उनके दर्शन होते हैं। उनका प्रत्येक रूप दिव्य तेज से युक्त है। उस पर आत्म-विश्वास और सफलता की स्पष्ट-छाप अंकित है।

लेखक के रूपमें वे महान लेखक हैं, वक्ताके रूप में वे सर्वश्रेष्ट वक्ता हैं, प्रबन्धकों में उत्तम प्रबन्धक हैं, और शोधकों में महान संशोधक। उनका प्रत्येक रूप महानता से युक्त है। यद्यपि महर्षि दयानन्द भी एक मनुष्य ही थे, तथापि वे महामानव थे, दिव्य योग-विभूतियों से युक्त थे, उनके प्रत्येक कार्य पर विचार करके, यह तथ्य उत्तमतया सम्पुष्ट होता है।

अनेक बार यह विचार हमें आन्दोलित किया करता है, कि महर्षि के वेद-भाष्य के महत्व के विषय में विस्तार पूर्वक लिखें। फिर भी प्रस्तुत-प्रसंग में तो हमें संक्षेप से ही काम लेना होगा। इस विषय का विस्तृत उल्लेख तो फिर कभी, किसी स्वतन्त्र-प्रसंग में ही किया जा सकेगा।

योगीराज श्री अरविन्द घोष ने ठीक लिखा है:-

"तीसरी भारतीय सहायता तिथि में कुछ पुरानी है; परन्तु मेरे वर्तमान प्रयोजन के अधिक नजदीक है। यह है वेद को फिर से एक सजीव धर्म-पुस्तक के रूप में स्थापित करने के लिये आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द के द्वारा किया गया अपूर्व प्रयत्न। दयानन्द ने पुरातन भाषा-विज्ञान के स्वतन्त्र प्रयोग को अपना आधार बनाया, जिसे कि उसने निरुक्त में पाया था। स्वयं एक संस्कृत का महाविद्वान होते हुए, उसने उसके पास जो सामग्री थी, उस पर अद्भुत शक्ति और स्वाधीनता के साथ विचार किया। विशेष कर प्राचीन संस्कृत भाषा के अपने उस विशिष्ट तत्व का उसने रचनात्मक प्रयोग किया, जो कि सायण के—"धातुओं की अनेकार्थता" इस वाक्यांश से बहुत अच्छी तरह से प्रकट हो जाता है। हम देखेंगे कि इस तत्व का, इस मूल सूत्र का ठीक-ठीक अनुसरण वैदिक ऋषियों की निराली प्रणाली समझने के लिये बहुत अधिक महत्व रखता है।"

[वेद रहस्य पृष्ठ-४१]

फिर लिखते हैं:—

"दयानन्द की मन्त्रों की व्याख्या इस विचार से नियन्त्रित है कि वेद धार्मिक, नैतिक, और वैज्ञानिक सत्य का एक पूर्ण ईश्वरप्रेरित ज्ञान है। वेद की धार्मिक शिक्षा एक देवतावाद की है। और, वैदिक देवता एक ही देव के भिन्न-भिन्न वर्णनात्मक नाम हैं। साथ ही वे देवता उसकी उन शक्तियों के सूचक भी हैं, जिन्हें कि हम प्रकृति में कार्य करता हुआ देखते हैं। और, वेदों के आशय को सच्चे रूप में समझ कर, हम उन सभी वैज्ञानिक सच्चाइयों पर पहुँच सकते हैं, जिनका कि आधुनिक अन्वेषण द्वारा आविष्कार हुआ है।"

[वेद रहस्य पृष्ठ—५१]

एक स्थान पर लिखते हैं:—

"दयानन्द ने ऋषियों के भाषा सम्बन्धी रहस्य का मूल सूत्र हमें पकड़ा दिया है और वैदिक धर्म के एक केन्द्र-भूत विचार अर्थात अनेक देव एक परम देव में आ जाते हैं, पर फिर से बल दिया है।"

[वेद रहस्य पृष्ठ—१३]

इस प्रकार श्री अरविन्द महर्षि दयानन्द की वेद भाष्य शैली की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हैं। महर्षि दयानन्द के वेद भाष्य से पूर्व सायणाचार्य, उव्वटाचार्य और महिधराचार्य के वेद भाष्य यहां प्रचलित थे। ये सभी भाष्य अश्लीलता, पशुहिंसा, आदि दोषों से तो परिपूर्ण हैं ही, साथ ही इनमें तर्क, विरुद्ध, सृष्टि-क्रम विरुद्ध और अनीति वर्धक तथा वेदों को सब प्रकार से अत्यन्त हेय सिद्ध करने वाली बातों की भी बहुत भरमार है। अट्ठारहवीं शताब्दि में जो वेदों के बहुत से अनुवाद योरपीय विद्वानों ने अंग्रेजी, फ्रेंच तथा जर्मन भाषाओं में तैयार किये थे, वे वास्तव में इन सायण, महीधर और उव्वट के दोषपूर्ण भाष्यों के ही दोषपूर्ण अनुवाद हैं। महर्षि दयानन्द ने इन दोषपूर्ण वेद-भाष्यों के खण्डन और वेदों के सत्य सत्य अर्थों को दर्शाकर मानव-जाति को पुनरपि वैदिक सच्चाइयों से लाभान्वित करने के उदात्त विचार से ही अपने वेद-भाष्य-कार्य की प्रवर्तना की थी। और अपने इस कार्य में उन्हें आशातीत सफलता मिली है—यह सत्य सिद्ध हो चुका है।

सायण के विषय में योगीराज श्री अरविन्द क्या कहते हैं? पाठक संक्षेप में यह भी जान लें:—

"सायण-भाष्य द्वारा ऋषियों का, उनके विचारों का, उनकी संस्कृति का, उनकी अभीप्साओं का, एक ऐसा प्रतिनिधित्व हुआ है, जो इतना संकुचित और दारिद्र्योपहत है कि यदि उसे स्वीकार कर लिया जाय, तो वह वेद के सम्बन्ध में प्राचीन पूजा भाव को, इसकी पवित्र प्रमाणिकता को, इसकी दिव्य ख्याति को, बिल्कुल अबुद्धिगम्य कर देता है, या उसे इस रूप में रखता है कि इसकी व्याख्या केवल मात्र यही हो सकती है कि यह उस श्रद्धा की एक अन्धी और बिना ननुनच किये मानी गई परम्परा है, जिस श्रद्धा का प्रारम्भ एक मौलिक भूल से हुआ है।"

[वेद रहस्य पृष्ठ—२६]

कैसे चुभते हुए शब्द हैं? और देखिये:—

"वेद के सब संभव अर्थों में से इस निम्नतर अर्थ के साथ ही वेद को अन्तिम तौर पर और प्रमाणिकतया बान्ध देना, यह है, जो कि सायण के भाष्य का सब से अधिक दुर्भाग्य पूर्ण परिणाम हुआ। कर्मकाण्ड परक व्याख्या की प्रधानता ने पहिले ही भारत वर्ष को अपने सर्व श्रेष्ठ धर्म-शास्त्र (वेद) के सजीव उपयोग से और उपनिषदों के समस्त आशय को बतलाने वाले सच्चे मूल सूत्र से वंचित कर रखा था, सायण के भाष्य ने पुरानी मिथ्या धारणाओं पर प्रमाणिकता की मोहर लगा दी, जोकि कई शताब्दियों तक नहीं टूट सकती थी। और इसके दिये हुए निर्देश उस समय, जब कि एक दूसरी सभ्यता ने वेद को ढूण्ड कर निकाला और इसका अध्ययन प्रारम्भ किया, युरोपियन विद्वानों के मन में नई-नई गलतियों के कारण बने।"

[वेद रहस्य पृष्ठ –२६]

श्री अरविन्द की 'स्वामी दयानन्द और वेद' नामक पुस्तक के कुछ उद्धरण और लीजिये:—

"स्वामी दयानन्द ने वेद को अपनी आधार भूत दृढ़-चट्टान के रूप में अपनाया। वह वेद को जीवन का पथ-प्रदर्शक, आन्तरिक सत्ता का नियम और बाहर के कार्यों का प्राणदाता समझता था। इतना ही नहीं वह मनुष्य मात्र के ईश्वर विषयक ज्ञान के लिये और उस दिव्य पुरुष के प्रति अपने सम्बन्धों के लिये, इस वेद को शाश्वत सत्य वचन मानता था, जिससे अपने सम्बन्धों को दृढ़ किया जा सकता है।"

[पृष्ठ—१६]

और देखिये—

"आज जब एक ओर पाश्चात्य विद्वान् सायण के भाष्यों व निर्देशों के आधार पर इन्हें प्राकृतिक देवों के प्रति आधारित कर्मकाण्डपरक सूक्तों की संग्रह पुस्तक मानते हैं, तो दूसरी ओर भारतीय आत्मा ने दयानन्द की दिव्य-दृष्टि से देखते हुए सदियों से चली आ रही इस भूल को सुधारने का बुद्धिमत्ता से काम लिया। इसने देखा कि वेद तो अनादि प्रभुदत्त दैवी प्रकाश का अन्तःप्रेरित ज्ञान

है—जो मानव जाति के लिये प्रभु की अमूल्य देन है। अतः अब भारतीयों को इन दोनों में से एक का चुनाव कर लेना पड़ेगा।"

[पृष्ठ—१८, १६]

अब एक स्थल और भी देखिये:—

"दयानन्द कृत अर्थों पर यह विपत्ति उठाई जाती है कि ये अर्थ सत्य नहीं; अपितु कल्पना कुशल, पाण्डित्य और दक्षता का मनमाना अस्वाभाविक रचना जाल हैं, जिसकी शैली स्वच्छन्दता एवं अप्रासंगिकता से परिपूर्ण है, जिसे अन्यों की तर्कबुद्धि कदापि नहीं मान सकती।

* * *

दयानन्द के कार्यों का अपताप करने वाले आलोचकों के मुख से क्या यह शोभा देता है कि वेदों के ये अर्थ दयानन्द ने अपनी कल्पना और प्रखर दक्षता पूर्ण चतुराई के साथ किये हैं। सायण के परम्परागत भाष्य को स्वीकार करने वाले व्यक्तियों को यह शोभा नहीं देता। क्योंकि महान एवं स्वछन्द पाण्डित्य पूर्ण दशा का, न्याय निर्णय, सुनिश्चित रुचि, निर्दोष एवं तुलनात्मक निरीक्षण और साधारण एव सहज बुद्धि की उपेक्षा कर पूर्वकल्पित सिद्धान्त के मूलग्रन्थ का अर्थ तोड़ मरोड़ कर यह भाष्य किया गया है, जिसके कर्त्ता निःसन्देह रूप में आचार्य सायण हैं।"

[पृष्ठ—१६, २०]

श्री अरविन्द ने सायण भाष्य के दुष्परिणामों और दोषों को बहुत अधिक विस्तार पूर्वक दर्शाया है। जो सज्जन विशेष देखना चाहें, वे उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वेद-रहस्य' तथा 'स्वामी दयानन्द और वेद' में देखने का कष्ट करें।

वैदिक सम्पत्ति के यशस्वी लेखक श्री पण्डित रघुनन्दन शर्मा लिखते हैं:—

"जब तक स्वामी दयानन्द ने बुद्धि, तर्क, और धातु के सहारे अर्थ नहीं किया था, तब तक लोग वेदों से अनेक ऊल-जलूल बातें निकाला करते थे। किन्तु उनके आर्षप्रणाली से अर्थ करते ही वेदों का उज्वल रूप सामने आ गया। और वेदों का अन्तरंग प्रकाशित हो उठा। तथा हमारे सामने अर्वाचीन, मध्यमकालीन और प्राचीन वेदार्थों का नमूना उपस्थित हो गया।"

[वैदिक सम्पत्ति पृष्ठ—५८५]

एक समय था जब कि युरोपियन विद्वानों में वेद भाष्य करने की एक भारी होड़-सी लग गई थी और सभी ने सायण, महीधर आदि के दूषित भाष्यों के आधार पर वेदों के भाष्य अंग्रेजी आदि में रचे थे। और वेदों के विरुद्ध जी भर कर दोषारोपण किये थे। परन्तु महर्षि दयानन्द के कार्यों का यह शुभ परिणाम आज हमारे सामने है कि युरोपियन लोगों ने वेदों के विरुद्ध दोषारोपण का वह पुराना ढंग अब छोड़ दिया है। उनके वेद विषयक विचारों में उत्तम परिवर्तन आता जा रहा है। और वे अब वेद के विषय में अपने विचारों के प्रकाशन में अधिक सावधानता रखने लगे हैं।

यद्यपि अधिक लेख विस्तार का अवकाश यहां नहीं है, तथापि पाश्चात्य वेद विचारकों में विशेष प्रसिद्ध प्रो० मोक्षमूलर [मैक्समूलर] के विचार भी संक्षेप में यहां दर्शाने का लोभ हम संवरण नहीं कर सकते। प्रोफेसर मोक्षमूलर लिखते हैं:—

"मुझे आर्य समाज संस्था के साथ पूरी सहानुभूति है। आर्य सामाजिक पुरुषों को उचित है कि जो कुछ कार्य स्वामी जी कर गये, उसी पर सन्तुष्ट न रहें। परन्तु उस कार्य को जारी रखें, जोकि वे अधूरा छोड़ गये हैं।"

[प्रोफेसर मोक्षमूलर के आर्य समाज लन्दन के प्रधान के नाम ७-७-८८ के पत्र से उद्धृत]

महर्षि द्वारा विरचित प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका' के विषय में प्रो० मोक्षमूलर महोदय अपनी पुस्तक—"India what can it teach us"

अर्थात् भारत से हमें क्या शिक्षा मिल सकती है? में पृष्ठ ७४ पर लिखते हैं:—

"हमें तमाम संस्कृत साहित्य को दो भागों में विभाजित करना चाहिये, जोकि ऋग्वेद से आरम्भ होना है और दयानन्द की ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पर समाप्त होना है। स्वामी जी की ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका बहुत मनोरंजक पुस्तक है।"

यहां प्रो० मोक्षमूलर बहुत आदर के साथ महर्षि की पुण्य कृति—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका को संस्कृत साहित्य के अन्तिम ग्रन्थ के रूप में उद्घोषित करते हैं।

एक बार प्रो० मोक्षमूलर महोदय ने महर्षि दयानन्द का जीवन-चित्र लिखने का उपक्रम भी किया था। कदाचित् वह ही सर्वप्रथम गम्भीर प्रयास था, जोकि महर्षि दयानन्द का जीवन-चरित्र लिखने के लिये किया गया था। इस विषय में प्रो० मोक्षमूलर महोदय ने 'परोपकारिणी सभा' के उस समय के मन्त्री श्री पण्डित मनोहरलाल विष्णुलाल पण्ड्या से पत्र-व्यवहार भी किया था। इससे स्पष्ट है कि महर्षि के व्यक्तित्व और कार्यों, विशेष कर वेदभाष्य सम्बन्धी कार्यों का, प्रो० मोक्षमूलर पर बहुत उत्तम प्रभाव हुआ था। अपने ग्रन्थ जीवन-चरित्र सम्बन्धी निबन्धों [Biographical Essays.] में महर्षि दयानन्द के विषय में लिखते हुए मोक्षमूलर महोदय लिखते हैं:—

"उसकी सम्मति में न केवल प्रत्येक विद्या वेद में पाई जाती है; अपितु वह इससे भी एक पग आगे गया है। उसने दूसरे लोगों को निश्चय करा दिया कि प्रत्येक वस्तु, जो जानने योग्य है, वेद में उसका उल्लेख पाया जाता है। अस्तु, विज्ञान के आधुनिक काल के आविष्कार भी जैसे—भाप से चलने वाले यन्त्र, रेल, तार, हवाई जहाज, ये सब बीज रूप में वैदिक ऋषियों को ज्ञात थे। क्योंकि वेद के अर्थ ईश्वरीय ज्ञान के हैं। इस लिये यह कैसे हो सकता है कि ये बातें परमात्मा से गुप्त रहें और वह मनुष्यों को इनका ज्ञान न दे। स्वामी जी को मनुष्य-जीवन के लिये वेद ऐसे ही थे, जैसे जहाज के वास्ते लंगर। उसका कथन था कि वेद की ओर वापिस चलो।"

महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों को पढ़कर प्रोफेसर मोक्षमूलर ने वेदों के विषय में अपने विचारों को बहुत बदल लिया था। यही कारण है कि अपने उत्तर कालिन जीवन के ग्रंथों में मोक्षमूलर साहेब वेदों को गडरियों के गीत नहीं बताते; अपितु उनको श्रेष्ठ विद्याग्रन्थ स्वीकार करते हैं। अपने ग्रन्थ 'भारत से हमें क्या शिक्षा मिल सकती है' में पृष्ठ ११२ पर वे लिखते हैं:—

"मेरा यह दावा है कि संसार में मनुष्य मात्र के स्वाध्याय के लिये कोई पुस्तक ऐसी आवश्यक नहीं, जैसा कि वेद है। मेरा यह दावा है कि प्रत्येक मनुष्य जो आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहे, या मानव इतिहास मालूम करना चाहे, या मस्तिष्क की उन्नति करना चाहे, तो उसके लिये वेद का स्वाध्याय करना अत्यन्त आवश्यक है।"

प्रो० मोक्षमूलर के ग्रंथों में से इस प्रकार के बहुत से उद्धरण दिये जा सकते हैं। विस्तार भय से हम यहाँ अधिक नहीं लिखते। फिर किसी दूसरे प्रसंग में लिखेंगे।

जब महर्षि दयानन्द ने वेदोद्धार और वेद प्रचार का कार्य आरम्भ किया और भारत की जनता ने प्रशंसापूर्वक उनके विचारों को ग्रहण करना आरम्भ किया, एवं जब भारत के अनेक स्थानों में आर्य समाजों की स्थापना का कार्य भी आशाजनक रूप में आरम्भ हो गया, तब महर्षि ने वेद-भाष्य के कार्य को भी आरम्भ करने का दृढ़ निश्चय किया और कार्य आरम्भ कर दिया।

निर्दोष वेद-भाष्य कार्य के सम्पादन के लिये जिन-जिन साधनों की आवश्यकता होती हैं, उनको जुटाना आज-कल के युग में भी बड़ा कठिन है। और तो और महर्षि के अपूर्ण वेद भाष्य को पूर्ण करना भी कठिन हो रहा है। ऐसी अवस्था में महर्षि दयानन्द के सामने जो-जो कठिनाइयां थीं, उनका अनुमान सहज में ही किया जा सकता है। महर्षि के समय में तो आज कल जैसी रेल, डाक आदि की उत्तम सुविधायें भी सुलभ न थीं। बड़े-बड़े पुस्तकालय न थे। आजकल के समान समाचार-पत्र न थे। अनुयाइयों की बड़ी संख्या न थी। किसी राजा महाराजा वा सरकार आदि का सहयोग न था। योग्य सहकारियों और कार्यकर्ताओं का भी अभाव था। और बहुत ही साधारण प्रकार के लोगों की सहायता से महर्षि को अपना कार्य करना पड़ा था। तथापि उन्होंने कार्य किया और सफलता पाई, एवं वेदभाष्य कार्य की चिरकाल से लुप्त-शैली के

पुनरुद्धार तथा प्रचार में वे सफल हुए, यह हम-आप सभी जान चुके हैं।

आज—जबकि छपाई और रेल-डाकादि की अनेक सुविधायें पहिले की अपेक्षा बहुत अधिक हैं, सहायक पुस्तकें भी अधिक सुलभ हैं और जनमत भी अधिक अनुकूल एवं उत्साह वर्धक है—तब भी वेदभाष्य का कार्य एक जटिलसमस्या के रूप में सबके सामने अपूर्ण पड़ा है। कोई भी उसे पूर्ण करने का साहस कर नहीं पा रहा। बाकुतूर पण्डित घोषणायें करते हैं। चन्दा-बटोर सभायें योजनायें बनाकर रुपया बटोरती हैं। तथापि वेदभाष्य का कार्य, वहीं रुका पड़ा है, जहाँ कि महर्षि ने अपने निधन के समय उसे छोड़ा था। इस से महर्षि के वेद-भाष्य-कार्य के महत्व को भली प्रकार आंका जा सकता है।

वेद-भाष्य-कार्य और अपने अन्य ग्रन्थों की पूर्ति के लिये यह तो आवश्यक ही था कि महर्षि अपने सहायकों की समुचित व्यवस्था करते; परन्तु तब सहायकों का मिलना भी तो आसान न था। अतः जो भी मिल सके, उन्हीं को साथ लेकर महर्षि ने कार्यारम्भ कर दिया। इन सहायकों में कुछ तो फर्रुखाबाद आदि स्थानों में महर्षि दयानन्द द्वारा संस्थापित पाठशालाओं में ही शिक्षित भी हुए थे। पण्डित भीमसेन शर्मा और पण्डित ज्वालादत्त भी उन्हीं में से थे।

महर्षि के सहायक-विद्वान् बहुत ही साधारण प्रकार के थे। अधिक योग्य पुरुषों के अभाव में ही महर्षि ने उन को अपना सहायक बनाया था। वे किस-किस प्रकार के थे? यह भी पाठक महर्षि के शब्दों में ही यहां थोड़ा-सा जान लें। "ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन" नामक पुस्तक में पण्डित भीमसेन के विषय में महर्षि के ये उद्गार पाये जाते हैं:—

निष्कपट है। पृ० २६८

भाषा बहुत ढाली बनाता है। पृ० ३२४

भीमसेन के शोधे भये पुस्तकों में बहुत भूल निकलती है। पृ० ३४४

व्याकरण आदि शास्त्रों को पढ़ा है, उतना ही पांडित्य है, अन्यत्र बालक है। पृ० ३४५

भीमसेन को अत्यन्त अयोग्यता के कारण सब दिन के लिये निकाल दिया। पृ० ३६६

भीमसेन बकवृत्ति है। पृ० ३०५

भीमसेन काम के अयोग्य है। पृ० ४०८

आर्यसमाज में रखने योग्य नहीं। पृ० ५४४

दूसरे पण्डित से न्यायदर्शन पूरा करले। पृ० ५२२

समय-समय पर पण्डित ज्वालादत्त के विषय में महर्षि ने जो विचार प्रकट किये थे, 'ऋषि दयानन्दकेपत्र और विज्ञापन' नामक ग्रन्थ में ही उनका विवरण इस प्रकार है:—

शोधने में बहुत गलती रहती हैं। पृ० ३११

ये दोनों [भीमसेन और ज्वालादत्त] एकसे हैं, काम चोर हैं। पृ० ३७२

व्याकरण का अभ्यास कम है। पृ० ३७४,३७६

वैसा ही उस [भीमसेन] से ही विलक्षण, दम्भी, क्रोधी, हठी और स्वार्थ साधन तत्पर ज्वालादत्त भी है। मेरी समझ में भीमसेन का छोटा भाई ज्वालादत्त है। पृ० ४०५

घर पै जाके दशगात्रादि मृतक कर्म कराके मुर्दाबधान खाया करेगा। पृ० ४१६

पहिले जैसे भाषा नहीं बनाता। पृ० ४८८

अब भाषा अच्छी नहीं बनाता। घास काटता है। पदार्थ कुछ और है, भाषा बनाई कुछ और ही। पृ० ४८५

पण्डित भीमसेन और पण्डित ज्वालादत्तके अतिरिक्त जो अन्य समय-समय पर सज्जन महर्षि के सहकारी रहे थे, उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं:-

१—दिनेश राम
२—स्वामी पूर्णानन्द
३—पण्डित सहजानन्द
४—पण्डित लक्ष्मण शास्त्री
५—पण्डित रामानन्द ब्रह्मचारी
६—पण्डित शिव दयालु
७—पण्डित रामनाथ
८—मुन्शी समर्थदान

वेदभाष्य-कार्य की आरम्भिक रूप रेखा निश्चित करने के पश्चात् महर्षि ने जो वेद भाष्य के नमूने का प्रथम अंक प्रकाशित किया था, उसके विषय में श्री देवेन्द्रनाथ मुख्योपाध्याय लिखते हैं:—

"स्वामी जी ने ऋग्वेद के पहिले सूक्त का भाष्य जिस में गुजराती और मराठी भाषा में अनुवाद भी था, वेदभाष्य के नमूने के तौर पर प्रकाशित किया। जिसमें ऋग्वेद के पहिले मन्त्र—'अग्निमीडे पुरोहितम्' आदि के दो अर्थ किये थे। एक भौतिक दूसरा पारमार्थिक। उसकी भूमिका में लिखा था कि मैं सारे वेदों का इसी शैली पर भाष्य करूँगा। यह नमूना स्वामी जी ने काशी के पण्डित बालशास्त्री, स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती प्रभृति तथा कलकत्ता और अन्य स्थानों के पण्डितों के पास भेजा था, परन्तु किसी ने भी उसकी आलोचना नहीं की। न उस पर कोई आपत्ति उठाई।"

—महर्षि दयानन्द सरस्वती का जीवन-चरित्र पृ० २६५

महर्षि दयानन्द का जीवन-चरित्र पृष्ठ २६५ पर ही नीचे यह टिप्पणी प्रकाशित हुई है--"इस नमूने को स्वामी जी ने मिस्टर ग्राउस कलक्टर बुलन्दशहर व ग्रिफिथ साहेब के पास भी भेजा था और उन्होंने उस पर विरुद्ध सम्मति दी थी।"

हमारा अनुमान है कि यह टिप्पणी महर्षि के जीवन-चरित्र के सम्पादक स्वर्गीय श्री पण्डित घासी राम जी एम० ए० ने लिखी होगी।

अनुमान है कि ऋग्वेद-भाष्य का यह प्रथम नमूना सवंत् १६३२ वि० में छपा था। इस समय यह सर्वथा अप्राप्त है। यदि यह कहीं से प्राप्त हो सके, तो हम एक दुर्लभ इतिहासिक वस्तु के रूप में उस की सुरक्षा की व्यवस्था करेंगे। यदि कोई सज्जन इस विषय में कुछ विशेष जानकारी दे सकें, तो अवश्य ही दें, बड़ी कृपा होगी। बम्बई, महाराष्ट्र और गुजरात प्रान्त के आर्य भाई खोज करेंगे, तो शायद यह कहीं मिल ही जायेगा।

महर्षि ने वेद-भाष्य के नमूने का दूसरा अंक पुनः सम्वत् १६३३ वि० में काशी के लाजरस प्रेस में छपवाकर प्रसिद्ध किया था। इसमें ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त का और द्वितीय सूक्त के प्रथम मन्त्र का संस्कृत भाष्य था। वैदिक यन्त्रालय अजमेर द्वारा प्रकाशित "ऋग्वेद-भाष्य के प्रथम नौ मन्त्रों का भाष्य" नामक जो पुस्तक इन दिनों उपलब्ध होती है, वह महर्षि द्वारा प्रकाशित वेद-भाष्य के इस दूसरे नमूने के आधार पर ही तैयार हुई है। इस में संस्कृत भाष्य तो महर्षि का ही रचा हुआ है, परन्तु हिन्दी अनुवादक का नाम उस पुस्तक में नहीं है। यह हिन्दी अनुवाद कितना प्राचीन है, इस प्रश्न का उत्तर देना भी हमारे लिये कठिन है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि यह अनुवाद संक्षिप्त भावानुवाद मात्र ही है।

वेद-भाष्य के इस दूसरे नमूने पर कलकत्ता संस्कृत कालिज के स्थानापन्न आचार्य श्री पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न ने कुछ आक्षेप लिखकर प्रकाशित करवाये थे। महर्षि ने श्री न्यायरत्न महोदय के आक्षेपों के उत्तर में उसी समय अपना सुप्रसिद्ध भ्रान्ति-निवारण' नामक उत्तम ग्रन्थ रचकर प्रकाशित करवाया था। इस विषय का विशेष उल्लेख हमने "भ्रान्ति निवारण" की अपनी भूमिका में किया है।

महर्षि के वेद-भाष्य की संपूर्ण विशेषताओं को उनके इन केवल नौ मन्त्रों के भाष्य से ही जान लेना तो सम्भव नहीं है, न ही पाठक ऐसी आशा करेंगे; तथापि हम कहना चाहते हैं, यह अपूर्व है। यही वह नमूना है जोकि वेद-भाष्य के एक नवीन और उज्वल युग का आरम्भिक यत्न है। यही वह नमूना है, जिसके द्वारा महर्षि ने भारतीय जनता को अपनी ओर आकर्षित करके, बड़े उत्साह से वेद-भाष्य का अनुष्ठान किया था। और यही वह नमूना है, जो कि महर्षि के विरोधी-आलोचकों तथा उनके प्रतिपक्षियों के लिये एक गम्भीर चुनौती के रूप में प्रगट हुआ था, और आज भी एक चुनौती के रूप में विद्यमान है। भावी वेद भाष्य कारों के लिये यह नमूना चिरकाल तक पथ प्रपदी बना रहेगा।

वैदिक यन्त्रालय अजमेर द्वारा संवत् २००० वि० में प्रकाशित "ऋग्वेद-भाष्य के प्रथम नौ मन्त्रों का भाष्य" नामक पुस्तक आधुनिक ढंग पर मुद्रित करवाने के लिये हमने दुबारा लिखी है और वही अब आगे प्रकाशित हो रही है। इसमें सम्पूर्ण लेख अजमेर की पुस्तक के अनुसार ही है। भेद यह है कि प्रमाणभाग मोटे अक्षरों में और नई पंक्तियों में छपे हैं तथा लम्बे परिच्छेदों को छोटे परिच्छेदों का रूप दे दिया गया है।

हमें खेद है कि देहली में उत्तम प्रबन्ध न होने के कारण, हम मन्त्रों पर स्वरों का अङ्कन नहीं करवा सके यद्यपि जनसाधारण के लिये तो स्वरों का मुद्रण बे-अर्थ ही रहता है, तथापि हम मन्त्रों को स्वरांकित अवश्य कराना चाहते थे।

—सम्पादक

* ओ३म् *

ऋग्वेद का प्रथम सूक्त

अष्टक १ । अध्याय १ वर्ग १ ॥

अस्याग्नेयसूक्तस्य—मधुच्छन्दा ऋषिः । अग्निर्देवता । गायत्रीच्छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

मूलः—

ओ३म् । अग्निमीळे पुरोहितं
यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ॥१॥

पदपाठः—अग्निम् । ईळे । पुरःऽहितम् । यज्ञस्य । देवम् । ऋत्विजम् । होतारम् । रत्नधातमम् ॥ १ ॥

॥ अथ वेदभाष्यम् ॥

अथात्र प्रथमत ईश्वर एवार्थोऽग्निशब्देन गृह्यते । अत्र प्रमाणानि ।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु-
रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्य-
ग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

ऋग्वेद अष्टक २ । अध्याय ३ ।
वर्ग २२ । मन्त्र ४६ ॥

अस्यायमर्थः । एकस्य सतः परब्रह्मण इन्द्रादीनि बहुधा नामानि सन्तीति वेदितव्यम् ॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपस्स प्रजापतिः ॥

यजुर्वेद अध्याय ३२ । मन्त्र १ ॥

यत्सच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्म तदेवाग्न्यादिनामवाच्यमत्र बोध्यम् ॥

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः ।
देवो देवेभिरागमत् ॥

ऋ० अ० १ । अ० १ । व० १ । मंत्र ५ ॥

कविः सर्वज्ञः, सत्यः सर्वदा विनाश रहितः, अत्यन्ताश्चर्यश्रवणश्चेत्यादि विशेषणयुक्तो मुख्यतया परमेश्वरो भवितुमर्हति नान्यः ।

ब्रह्म ह्यग्निः ॥

शतपथ काण्ड १ । अध्याय ५ ।

आत्मा वा अग्निः ॥

शतपथ कां० ७ । अध्याय २ ।

अयं वा अग्निः प्रजाश्च प्रजापतिश्च ॥

श० काण्ड ६ । अ० १ ।

संवत्सरो वा अग्निर्वैश्वानरः ॥

श० काण्ड ६ । अ० ६ ।

अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः ॥

श० कां० १ । अ० १ ।

अग्निर्ब्रह्मात्मनोरत्र वाचकोस्ति । प्रजाशब्देन भौतिकोग्निः प्रजापतिशब्देनात्रेश्वरो ग्राह्यः, देवानां विदुषां व्रतं—

एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम् ॥

श० कां० १ । अ० १ ॥

सत्याचार नियमपालनं व्रतं तत्पतिरीश्वरः ॥

एष वै देवा ननु विद्वान्यदग्निः ॥

श० कां० १ । अ० ५ ।

तेषूभयेषु मर्त्येष्वग्निरेवामृत आस ॥

श० कां० २ । अ० । २ ।

विद्या संभवः ईश्वरे ऽस्ति नैव च भौतिके तथा-मृतत्त्वं परमेश्वर एव घटते नान्यत्रेति ॥

प्राणोग्निः परमात्मेति ॥

मैत्र्युपनिषदि प्रपाठक ६ । खण्ड ६ ॥

एष हि खल्वात्मेशानः शंभुर्भवो रुद्रः । प्रजापतिर्विश्वसृक् हिरण्यगर्भः सत्यं प्राणो हंसः शास्ता विष्णुर्नारायणोऽर्कः सविता धाता विधाता सम्राडिन्द्र इन्दुरिति य एष तपत्यग्नि-रिवाग्निनापिहितः सहस्राक्षेण हिरण्मयेनाण्डेन एष वा जिज्ञासितव्योऽन्वेष्टव्यः सर्वभूतेभ्योऽभयं दत्वेत्यादि ॥

मैत्र्युपनिषदि प्र० ६ । खं० ८ ॥

प्राणाग्न्यात्मेशानादीनीश्वरस्यनामान्यत्र सन्तीति बोध्यम् ॥

अग्निर्वै सर्वा देवता इत्याद्यै तरेब्राह्मणे पंचका ॥ १ ॥ अध्याये १ ॥

यत्रोपास्यत्वेन सर्वा देवतेत्युच्यते तत्र ब्रह्मात्मैव ग्राह्यः । आत्मैव देवताः सर्वाः । सर्वमात्मन्यवस्थि-तमिति मनुनोक्तं १२ अध्याये ।

अग्निः कस्मादग्रणी भवत्यग्रं यज्ञेषु प्रणीयतेऽगं नयति सन्नममानो क्नोपनो भव-तीति स्थौलाष्ठीविर्न क्नोपयति न स्नेहयति त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिरि-तादक्तादग्धाद्वा नीतात्स खल्वेतेरकरमादत्ते गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा नीः परस्तस्यैषा भवतीति ।

निरुक्त अध्याय ७ । खण्ड १४ ॥

अग्रणीः सर्वोत्तमः सर्वेषु यज्ञेषु पूर्वमीश्वरस्यैव प्रतिपादनादीश्वरस्यात्र ग्रहणम् । दग्धादिति विशेष-णाद्भौतिकस्यापि च ।

अग्निः सर्वा देवता इति निर्वचनाय, इन्द्रं मित्रं वरु०, एकं सद्विप्रा व०, इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदंतीन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं दिव्यंच गरुत्मन्तं, दिव्यो दिविजो गरुत्मान् गरणावान् गुर्वात्मा महात्मेति यास्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरू-प्यते यमेव सोग्निर्निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ॥

नि० अ० ७ । खण्ड १८

अनेनोभयोर्ज्ञानप्रकाशवतोर्ज्योतिषोरीश्वरभौतिका-ग्नियोर्ग्रहणमित्युभयार्थग्रहणस्येदं प्रमाणम् ॥

अग्निः पवित्रमुच्यते अग्निः पवित्रं स मा पुनातु वायुः सोमः सूर्य इन्द्रः पवित्रं ते माम्पु-नन्त्वित्यपि निगमो भवति ॥

नि० अ० ५ । खं० ६ ।

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ॥
रुक्माभं स्वप्नधिगम्यं विद्यात्तं पुरुषम्परम् ॥१॥
एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥२॥

इति मनुस्मृतिः अ० १२। श्लोक १२२, १२३ ॥

पवित्रः पवित्रकर्ता परमात्मास्तीत्यतः पवित्र शब्देन परमेश्वरस्यैव ग्रहणम् ॥ तथापरः पुरुषोऽग-न्यादीनि च परमेश्वरस्यैवत्र नामानि सन्तीति बोध्यम् ॥ इत्यादिभिः प्रमाणैरग्निशब्देन परमात्मनोत्र ग्रहणमिति सिद्धम् ॥

(अग्निमीले) सर्वज्ञस्सर्वशक्तिमान् न्यायकारी-त्यादिविशेषणयुक्तः परमेश्वरोग्निः पितृवत् पुत्रान् प्रत्युपदिशति स्म । हे जीव मनुष्य देहधारिन् ! अहं अग्निं परमात्मानं ईले स्तौमीति वदेति पूर्वान्वयः । ततो जीवोभिवदति सर्वज्ञं शुद्धं सनातनमजमनाद्य-नन्तं सर्वव्यापकं जगदादिकारणं स्वप्रकाशं परमेश्वर-मग्निमहमीले स्तौमि । तस्मादन्यमी श्वरत्वेन लेशमात्रमपि नाश्रये, कस्मै प्रयोजनाय धर्मार्थकाम-मोक्षसिद्धय इति निश्चयः ।

अञ्चु गतिपूजनयोः । णीञ् प्रापणे । अग्नि गत्यर्थः इण गतौ, इत्यादि धातुभ्योग्निशब्दः सिद्ध-

यति। अंचति। अंच्यते। जानाति। ज्ञायते। गच्छति। गम्यते प्राप्नोति। प्राप्यते। सत्करोति। सत्क्रियते। पूजयति। पूज्यते। नयति। नीयते। प्राप्यते। धर्मात्माजनो विद्वान् तथा विद्वद्भिर्धर्मात्मभिर्मुमुक्षुभिश्चेत्यादि व्याकरणनिरुक्तप्रमाणैरप्यग्निशब्देन परमेश्वर ग्रहणे सुष्ठुत्तिर्गम्यते॥

कथंभूतः सोऽग्निः (पुरोहितः) सर्वस्य जगतः स्वभक्तानां च धर्मात्मनां भक्तेरारंभात् पूर्वमेव सकलपदार्थोत्पादनेन विज्ञानादिदानेन चैनं जीवं दधाति स पुरोहितः परमात्माग्निः।

डुधाञ् धारणपोषणयोः। अस्मात्पुरः पूर्वात् क्तप्रत्ययान्तात्पुरोहितशब्दः सिध्यति, अतएव सर्वधारकस्सर्वपोषकश्चेश्वर एव नान्यः॥ अत्राह निरुक्तकारः।

पुरोहितः पुर एनं दधाति होत्राय वृतः कृपायमाणोन्वध्यायद्देवश्रुतं देवा एनं शृण्वन्ति वृष्टिवनिं वृष्टियाचिनं रराणो रातिरभ्यस्तो बृहस्पतिर्ब्रह्मासीत् सोऽस्मै वाचमयच्छद् बृहदुपव्याख्यातामिति॥

नि० अ० २ खं० १२॥

(यज्ञस्य देवम्) यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु। अस्माद्धातोर्नङ्प्रत्ययांतो यज्ञशब्दः साध्यते। अग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तस्य क्रियासमूहजन्यस्य सर्वजगदुपकारकस्य यज्ञस्य।

यद्वा परमेश्वरस्य सामर्थ्यात्सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिरुत्पन्नासोत्तत् प्रकृत्यादिपृथिव्यंतकार्यकारणसंगत्योत्पन्नस्यास्य जगतो यज्ञस्य।

अथवा सत्संगतिकरणोत्पन्नस्य विद्यादिविज्ञानयोगादेर्यज्ञस्य।

यज्ञः कस्मात्प्रख्यातं यजति कर्मेतिनैरुक्ता याञ्चो भवतीति वा यजुरुन्नो भवतीति वा बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवो यजूंष्येनं नयन्तीति वा॥

निरुक्त अ० ३ खं० १६॥

देवं दातारं सुखानां द्योतकं सर्वस्य जगतः प्रकाशकं सर्वैर्विद्वद्भिः कमनीयम्। स्वभक्तानां मोदकं हर्षकरम। शत्रूणां मनुष्याणां कामक्रोधादीनां वा विजिगीषकम्। विजेतुमिच्छन्तं देवम्।

दिवुक्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकांतिगतिषु। अस्माद्धातोरचिप्रत्ययेकृते देवशब्दः सिध्यति॥

(ऋत्विजम्) कृत्युटो बहुलमिति वार्त्तिकम्। कृत्यल्युटो बहुलमितस्य भाष्येऽस्यतः कर्मण्यति क्विन्। सर्वेषु ऋतुषु यजनीयं पूजार्हं यथाकालं जगद्रचकं ज्ञानादियज्ञसाधकमृत्विजम्। ऋतूपपदात् क्विन्प्रत्ययान्ताद्यजधातोरयं प्रयोगः॥

(होतारम्) सर्वं जगते सर्वपदार्थानां दातारम्। मोक्ष समये प्राप्त मोक्षाणां जनानामादातारं ग्रहीतारम्। वर्त्तमान प्रलयोः समये सर्वस्य जगत आदातारं ग्रहीतारमाधारभूतं होतारम्॥

हु दानादनयोः। आदाने चेत्येके। अस्माद्धातोरयं शब्दः सिद्धो जायते। अदनं भक्षणं न किन्तु चराचरस्य जगतो ग्रहणं तत्कर्त्ता परमेश्वरोऽत्त्येत्युच्येत॥ अत्रप्रमाणम्।

अत्ता चराचरग्रहणात्।

इतिवेदान्तशास्त्रस्य सूत्रम्।

अ० १। पा० २ सू० ६॥

(रत्नधातमम्) रत्नानि सर्वजनैरमणीयानि प्रकृत्यादिपृथिव्यन्तानि ज्ञानहीरकसुवर्णादीनिच जीवेभ्य दानार्थं दधातीति रत्नधाः, अतिशयेन रत्नधाः स रत्नधातमस्तं रत्नधातमम्।

रत्नोपपदात् क्विबन्ताड्डुधाञ धातोस्तमबंतः प्रयोगः॥

इमं मन्त्रं यास्को निरुक्तकार एवं समाचष्टे।

अग्निमीळेऽग्निं याचामीलिरध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा वा, पुरोहितो व्याख्यातो यज्ञश्च देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा यो देवः सा देवता, होतारं ह्वातारं जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभो रत्नधातमं रमणीयानां दातृतमम् तस्यैषापरा भवतीति॥

नि० अ० ७। खं० १५॥

अथास्य मन्त्रस्यान्वयो लिख्यते॥

पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजं होतारं रत्नधातमं

परमात्मानमग्निमहमीळे स्तौमि याचामि तस्यैवाध्यन्वेषणं कुर्व इत्यन्वयः ॥

॥अथ संस्कृतभाष्यस्य प्राकृभाषायार्थो लिख्यते॥

(अग्निमीले) इस मन्त्र का ईश्वराभिप्राय से जो अर्थ है, सो प्रथम किया जाता है। इस मन्त्र में अग्नि शब्द से परमेश्वर का ग्रहण होता है। इसके ग्रहण में "इन्द्रं मित्रं वरुणं" यथा लिखित प्रमाण का आधार है।

सब जगत् को उत्पन्न करके संसारस्थ पदार्थों का और परमात्मा का जिस से पदार्थ ज्ञान होता है, उस सनातन अपनी विद्या का, सब जीवों के लिये, आदि सृष्टि में परमात्मा ने उपदेश किया है, जैसे अपने सन्तानों को पिता उपदेश करता है, वैसे ही परम कृपालु पिता जो परमेश्वर है, उसने हम सब जीवों के हित के लिये सुगमता से वेदों का उपदेश किया है। जिससे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और सब पदार्थों का विज्ञान और उनसे यथावत् उपकार लेवें। इस लिये अत्यन्त हित से हम लोगों को उपदेश किया है। हम लोग भी अत्यन्त प्रेम से इसको स्वीकार करें।

अब जैसा उपदेश परमात्मा को करना है, सो सब जीवों की ओर से परमेश्वर करता है, कि जीव लोग जब इस वेद को पढ़ें, पढ़ावें, पाठ करें और विचारेंगे तब यथावत् कर्त्ता, क्रिया और कर्म का सम्बन्ध हो जायेगा।

जो सबका जानने वाला, शुद्ध, सब विकारों से रहित, सनातन, जो सब काल में एक रस बना रहता है, जो अज है, जिसका कभी जन्म नहीं होता, जो अनादि है, जिसका आदिकारण कोई नहीं, जो अनन्त है, जिसका अन्त कोई नहीं ले सकता, जगत् में जो परिपूर्ण हो रहा है, सब जगत् का आदि कारण और जो प्रकाशस्वरूप है, ऐसा जो परमेश्वर, जिसका नाम अग्नि है, उस की मैं स्तुति करता हूँ। उससे भिन्न कोई दूसरा ईश्वर नहीं है और उसको छोड़ के दूसरे को लेशमात्र भी आश्रय में कभी नहीं करता। किस प्रयोजन के लिये ? धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इनकी सिद्धि के लिये।

अंचुगतिपूजनयोः इत्यादि धातुओं से अग्नि शब्द सिद्ध होता है। अंचतीत्यादि० जो सबको जानता है, जो सब वेदादिकशास्त्रों से जाना जाता है, जो सबमें गत नाम प्राप्त हो रहा है, जो सर्वत्र प्राप्त होता है, जो सब धर्मात्माओं का सत्कार करता है, जिसका सत्कार सब विद्वान् लोग करते हैं, जो सब सुख को प्राप्त करता है, और जो सब सुखों के अर्थ प्राप्त किया जाता है, इस प्रकार व्याकरण निरुक्त आदि के प्रमाणों से, अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण में कोई भी विवाद नहीं है।

पूर्वोक्त अग्नि कैसा है कि (पुरोहितः) सब देहधारियों की उत्पत्ति से प्रथम ही सब जगत् और स्वभक्त धर्मात्माओं के लिये सब पदार्थों की उत्पत्ति जिसने की है। और विज्ञानादि दान से जो जीवादि सब संसार का धारण और पोषण करता है। इस से परमात्मा का नाम पुरोहित है।

पुरः पूर्वक क्त प्रत्ययान्त डुधाञ् धातु से पुरोहित शब्द सिद्ध हुआ है। इसी से सब का धारण और पोषण करने वाला एक परमात्मा ही है। अन्य कोई भी नहीं। इस पुरोहित शब्द में पुर एनं० इत्यादि निरुक्त का भी प्रमाण है॥

(यज्ञस्य देवम्) यज धातु से यज्ञ शब्द सिद्ध होता है। इसका यह अर्थ है कि अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यन्त विविध क्रियाओं से, जो सिद्ध होता है, जो वायु और वृष्टि जल की शुद्धि द्वारा सब जगत् को सुख देने वाला है, उसका नाम यज्ञ है। अथवा परमेश्वर के सामर्थ से सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीनों गुणों की जो एक अवस्था रूप कार्य उत्पन्न हुआ है, जिसका प्रकृति, अव्यक्त, और अव्याकृतादि नामों से वेदादि शास्त्रों में कथन किया है, उस से ले के पृथिवी पर्यन्त कार्य कारण संगति से उत्पन्न होता है, जो जगत् रूप यज्ञ है, अथवा सत्यशास्त्र सत्यधर्माचरण, सत्पुरुषों के संग से जो उत्पन्न होता है, जिसका नाम विद्या, ज्ञान और योग है। उसका भी नाम यज्ञ है।

इन तीनों प्रकार के यज्ञों का जो देव है, जो सब सुखों का देने वाला, जो सब जगत् का प्रकाश करने वाला, जो सब भक्तों को आनन्द कराने वाला, जो अधर्म अन्यायकारी शत्रुओं का और काम क्रोधादि

शत्रुओं का विजिगीषक* नाम जीतने की इच्छा पूर्ण करने वाला है, इस से ईश्वर का नाम देव है ॥

(ऋत्विजम्) जो सब ऋतुओं में पूजने योग्य है, जो सब जगत् का रचने वाला और ज्ञानादि यज्ञ की सिद्धि का करने वाला है, इस से ईश्वर का नाम ऋत्विज् है। ऋतु शब्द पूर्वक क्विन् प्रत्ययान्त यज धातु से ऋत्विज् शब्द सिद्ध होता है ॥

(होतारम्) जो सब जगत् के जीवों को सब पदार्थों का देने वाला है, जो मोक्ष समय में मोक्ष को प्राप्त हुए जीवों का ग्रहण करने वाला है, तथा जो वर्त्तमान् और प्रलय में सब जगत् का ग्रहण और धारण करने वाला है, इससे परमात्मा का होता नाम है। हु दानादानयोः। आदाने चेत्यके। इस धातु से तृच् प्रत्यय करने से होता शब्द सिद्ध हुआ है ॥

(रत्नधातमम्) जिन में रमण करना योग्य है, जो प्रकृत्यादि पृथिवीपर्यन्त रत्न यथा विज्ञान हीरादि जो रत्न और सुवर्णादि जो रत्न हैं, जिन के यथावत् उपयोग करने से आनन्द होता है, उन रत्नों का सब जीवों को दान के लिये जो धारण करता है, वह रत्नधा कहाता है, और अतिशय से पूर्वोक्त रत्नों का धारण करने वाला है, इस से परमेश्वर का नाम रत्नधातमम् है।

रत्न शब्द पूर्वक क्विप् प्रत्यान्त डुधाञ् धातु से तमप् प्रत्यय करने से यह शब्द सिद्ध हुआ है। इस मन्त्र की निरुक्तकार यास्कमुनि ने जिस प्रकार की व्याख्या की है, सो संस्कृत में लिखी है, उस को वहीं देख लेना।

—*—

अथ द्वितीयोर्थः

(अग्निमीले) अत्राग्निशब्देन भौतिकोग्निर्गृह्यते। रूपगुणं दाहकमूर्ध्वगामिनं भास्वरमग्निमहमीडे। तस्य गुणानामन्वेषणं कुर्वे। कीदृशगुणोग्निरस्तीत्याह। कलाकौशलयानचालनादिपदार्थविद्याया अग्निरेव मुख्यं कारणमस्ति। विनाग्निनेदृगुत्तमक्रिया नैव सिध्यति। अतएव सर्वविद्वद्भिः शिल्पिभरग्नेः स्वभावगुणा यथावदन्वेषणीयाः ॥ पुरा ह्यार्यैर्याश्वविद्या शीघ्रगमनहेतुः सम्यक् सम्पादितेति श्रूयते साग्निविद्यैवासीत्। अत्र प्रमाणानि।

तो देवा एतं वज्रं ददृशुः। यदश्वं त पुरस्तादुदश्रयँस्तस्याभयेनाष्ट्रे निवातेग्निरजायतत-स्माद्यत्राग्निं मन्थिष्यन्त्स्यात्तदश्वमानेतवै ब्रूयात्स पूर्वेणोपतिष्ठते वज्रमेवैतदुच्छ्रयति तस्याभयेनाराष्ट्रेनिवाते ऽग्निजायत इति ॥

श० कां० २। अ० १॥

वृषो अग्निरिति ।। श० कां० १। अ० ४॥

अग्निर्वा अश्वः ।। श० कां० ३। अ० ६॥

अश्वो ह वा एष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति ॥

श० कां० १। अ० ४॥

तूर्णिर्हव्यवाडिति ॥ श० कां० १। अ० ४॥

अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्येति ॥ श० कां० १। अ० ६॥

इत्याद्यनेक प्रमाणैरश्वनाम्ना भौतिकोग्निरेवात्र गृह्यते। आशुगमनहेतुत्वादश्वोग्निर्विज्ञेयः। अयमेवाग्निर्वज्रः सर्वपदार्थच्छेदकत्वत्स्वायमच्छेद्यत्वाच्चाश्वविमानादियानानां शीघ्रं गमयितेति विज्ञायते। वृषवद्यानानां वोढाग्निरिति च। तथाश्ववदपि।

एषोग्निरश्वो भूत्वा देवेभ्यो विद्वद्भ्यः शिल्पविद्याविद्भ्यो मनुष्येभ्यः शिल्प विद्या संगतं विमानादियानाख्यं यज्ञमेषोग्निरेव वहति प्रापयतीति शेषः। अतएव तूर्णिः शीघ्रगमनहेतुः। हव्यवाड् दातुं ग्रहीतुं योग्यं शिल्पविद्यामयं यज्ञं वहति प्रापयतीत्यर्थः। इत्थं शिल्पविद्यासमूह भूतस्य यज्ञस्याग्निरेव योनिः कारणं बीजं निदानमिति शेषः ॥

(पुरोहितम्) अतएव सोग्निः पुरोहितः पुरस्तात् विमानकलाकौशलक्रियाप्रचालनादिगुणमेनं शिल्प विद्यामयं दधातीतिपुरोहितः ॥

(यज्ञस्य देवम्) विविधक्रियाजातस्य शिल्पविद्यादिक्रियाजन्यव्यवसंगतस्य, देवः व्यावहारिकविद्याप्रकाशकस्तम् ॥

(ऋत्विजम्) सर्वशिल्पादिव्यहारविद्यायोतनमर्हम् ॥

(होतारम्) तद्विद्यादिगुणानां दातारमदातारं च ॥ अतएव--

(रत्नधातमम्) तद्विद्यानिष्ठानां शिल्पिनां रत्नैरतिशयेन पोषकम्। तद्विद्याऽऽधारकं वा।

अत्रान्यत्रयत्तु पूर्ववद्वेदितव्यः ॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत॥
शुक्ल य० अ० ३१। म० १२॥

तथा--

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निरिति०
तैत्तिरीयोपनिषदि अनुवाक १॥

इत्यादिभिः प्रमाणैर्भौतिकोऽग्निरेवात्र ग्राह्यः। कुतः। उत्पत्तिस्थितिप्रलयवतां पदार्थानां संसारेऽन्तर्गतभावात्। परमेश्वरस्त्वेतेभ्यो विलक्षण एवातः। भौतिकाग्न्यादीनि जन्मादिधर्मवन्ति सन्ति कार्यत्वात्। परमेश्वरस्य जन्मादयो धर्मा न विद्यन्ते सर्वस्यादिकारणत्वात्। इति द्वितीयोऽर्थः॥

पूर्वेषां भाष्यकृतां सायणाचार्यादीनां ये गुणाः सन्ति ते त्वस्माभिरपि स्वीक्रियन्ते। गुणानां सर्वैः शिष्टैः स्वीकार्यत्वात्। तेषां ये दोषाः सन्ति तेऽत्र दिग्दर्शनेन खण्ड्यन्ते।

रावणोवटसायणमाधवमहीधराणां दोषवद्भाष्यखण्डनविषये यत्र यत्र समानं भाष्यं तत्र तत्रैकस्य खण्डनेनेतरेषामपि भाष्यस्य खण्डनं वेद्यम्। यत्र यत्र च विरोधस्तत्र तत्र पृथक् पृथक् खण्डनं विधास्यामि। तेनैव यैर्ङ्गलण्डभाषादिनिर्मितस्य व्याख्यानस्यापि खण्डनं बोध्यम्।

सायणाचार्यादिभिरग्निशब्देनात्र भौतिकोऽग्निर्गृहीतः। तद्यथा। तथाग्निरपि यज्ञस्यापेक्षितं होमं संपादयति। यद्वा यज्ञस्य संबन्धिनि पूर्वभाग आहवनीयरूपेणावस्थितम्। यद्यपीन्द्रादयस्तत्र तत्र हूयन्ते तथापि परमेश्वरस्यैवेन्द्रादिरूपेणावस्थानादविरोधः। इत्युक्तत्वात्। इदमसमंजसं मुख्येश्वरार्थस्य त्यागात्। इन्द्रादिरूपधारणमपीश्वरो नैव करोति। स पर्यगाच्छुक्रमकायम्। अज एकपात्। इति मन्त्रार्थ विरोधात्। इन्द्रं मित्रमित्यादि प्रमाणैः सिद्धस्य परमेश्वरार्थस्य त्यागः शिष्टसम्मतो नास्ति। भौतिकाग्न्यर्थस्य विषयस्याप्यल्पत्वात्। तस्मादयमर्थोऽपि निर्दोषो नास्ति।

इन्द्रादीनि परमेश्वरस्य सूर्यादीनां च नामानि सन्ति। तान्यैतरेय शतपथादिब्राह्मणनिरुक्तव्याकरणादिषु व्याख्यातानि तथा वेदेष्वपि तेषां मध्यादस्मिन् मन्त्रभाष्येऽपि कानिचिदिन्द्रादीनि नामानि प्रकाशितानि। अग्रे यत्र यत्र यस्य यस्य मन्त्रार्थस्य विषय आगमिष्यति तत्र तत्र खण्डनं मयोदाहरिष्यते। सायणाचार्येण तथा प्रतिपादनं नैव कृतमतस्तद्भाष्यं दोषवदस्तीति बोध्यम्।

एतत्खण्डनाभ्यंतरे डाक्तरविलसनाख्यवेदार्थयत्नादीनामपि खण्डनमागतमिति विज्ञेयम्।

कश्चिद् ब्रूयात्। सायणाचार्यादिभिर्निरुक्तादिप्रमाणयुक्तं भाष्यं विहितम्। कथं दोषवदिति। अत्रोच्यते। निरुक्तादिवचनानि तु लिखितानि। परन्तु तानि तद्वचनाद्विरुध्यन्त एव। तद्यथा। अग्निः कस्मादग्रणीर्भवतीत्यादि। अग्रणीः। सर्वोत्तमः। अग्रं सर्वोत्तमं नयतीत्यनेन परमेश्वरस्यैव ग्रहणं भवितुमर्हति नान्यस्य। कुतः। गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्य संप्रत्ययः॥ इति व्याकरणन्यायेन परमेश्वरादग्रणीर्मुख्यः कश्चिदपि नास्त्यतो विरोध एव तद्भाष्येऽस्ति। अन्येऽपि बहवो दोषास्तत्र सन्ति ग्रंथभूयस्त्वभयान्नोलिख्यन्ते। एतादृशानि वेदशानि पूर्वजकृतानि भाष्याण्यासन्। यानि भवन्ति भविष्यन्ति च तेषां खण्डनं तावदेव बोध्यम्। अग्रे ऽग्रे यद्यद्वेदान्तविरुद्धं भाष्यमस्ति तत्तदेव खण्डयिष्यामि नान्यदिति च॥ १॥

भावार्थ

(अग्निमीळे) अब दूसरा अर्थ व्यवहारविद्या के अभिप्रायः से प्रमाण के सहित किया जाता है। इस में अग्नि शब्द से भौतिक अग्नि जो यह जलाने और

ऊपर चलने वाला है। तथा सब पदार्थों का अलग-करने और बल देने वाला तथा जिसका रूप गुण है, और मूर्तिमान् द्रव्यों का जो प्रकाशक है, ज्वालारूप उसका ग्रहण किया जाता है। मैं उस अग्नि की स्तुति करता हूं। उसके गुणों का अन्वेषण अर्थात् खोज करता हूं। अग्नि में कौन-कौन गुण हैं और किस-किस विद्या की सिद्धि होती है? जो-जो कला-कौशल, सवारीचालनादि पदार्थ विद्याओं की सिद्धि करने के उत्तम गुण हैं, सो-सो अग्नि से ही प्राप्त होते हैं। इससे अग्नि ही शिल्प विद्या का मुख्य कारण है।

क्योंकि बिना अग्नि से कोई भी उत्तम गुणवाली पदार्थविद्या सिद्ध नहीं हो सकती, इसी से जो विद्वान् लोग पदार्थविद्या में हो गये होते हैं। और होंगे, उन सबों ने पदार्थविद्या में अग्नि को ही मुख्य साधन माना है, मानते हैं, और मानेंगे। इस समय में भी जो पदार्थविद्याओं को किया चाहे, सो भी अग्नि के गुणों का खोज करे।

पहले आर्यों ने अश्वविद्या नामसे जो विमानादि शिल्पविद्या सिद्ध की थी, वह अश्वविद्या ही थी। अश्व-विद्या जो अग्न्यादि पदार्थोंसे रसायनविद्या होती है, सो शिल्पविद्या ही है। इसमें अनेक प्रमाण हैं। 'ततो देवा एतं वज्रं ददृशुः यदश्वमित्यादि' शतपथादि ग्रंथों का यथा लिखित प्रमाण देख लेना। उनमें अश्व जो अग्नि है, उसी का ग्रहण किया है। इस प्रकार के अनेकों प्रमाणों से अश्वादिक नामों से इस भौतिक अग्नि का ही ग्रहण किया जाता है। आशु नाम शीघ्र चलाने का जो हेतु है, इस से अग्नि को ही अश्व जानना।

शिल्पविद्या रूप यज्ञ का अग्नि ही देव है। इसी अग्नि का वज्र नाम है। क्योंकि सब पदार्थों को अलग-अलग करने और प्रकाशनेवाला अग्नि ही है। और वह किसी से छेदन में नहीं आता। इससे अग्नि का नाम वज्र है।

वृषः। वृषवत् बैल की नाईं सवारियों को चलाने वाला अग्नि ही है। तथा घोड़े की नाईं भी सवारियों को दौड़ाने वाला अग्नि ही है। तथा तूर्णिः। अग्नि को ही अत्यन्त वेगवाला सवारियों के चलाने में जानना। तथा हव्यवाट्। शिल्प विद्यारूप यज्ञ की प्राप्ति कराने वाला भी अग्नि ही है॥

(पुरोहितम्) इसी से इस अग्नि को पुरोहितम् जानना। विमान, कला, कौशल, क्रिया चालन आदि गुणों का धारण करने वाला है। और सब विद्याओं का प्रथम हेतु होने से अग्नि का नाम पुरोहित है।

(यज्ञस्य देवम्) यज्ञ का देव अर्थात् विविध क्रियाओं से जो शिल्पविद्या बनती है, उस विद्या का जो प्रकाश करने वाला है, सो देव है।

(ऋत्विजम्) जो शिल्पादि सब व्यवहारों की सिद्धि करने वाला है।

(होतारम्) जो उस विद्या के दिव्यगुणों को देने और धारण करने वाला है।

(रत्नधातमम्) जो उस शिल्प विद्या के जानने वाले मनुष्य को रत्नों से अत्यन्त सुख देने वाला है, उसी को हम लोग शिल्प विद्या की सिद्धि के लिये ग्रहण करें।

चन्द्रमा मन से उत्पन्न हुआ है, इत्यादि शुक्ल यजुर्वेद तथा तैत्तिरीयोपनिषदादि प्रमाणों से व्यवहार विद्या में भौतिक अग्नि का ही ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि जिन की उत्पत्ति वर्तमान होके पुनः प्रलय हो, उन सब पदार्थों को संसार ही में जानना चाहिये। इससे भौतिक अग्नि को ही इस अर्थ में जानना। परमेश्वर तो इन जन्मादि धर्मवाले पदार्थों से सदा अलग ही है और सब का आदि कारण है।

पूर्व जो सायणाचार्य आदि वेद भाष्य के करने वाले हैं और जो उनके भाष्य में दोष हैं, उनका खण्डन संक्षेप से दिखाया जाता है। जो रावण, उव्वट सायण और महीधर वेदों के व्याख्या करने वाले हैं। इन में से एक के खण्डन से इस प्रकार के अन्य का भी खण्डन सर्वत्र जान लेना। और जहां-जहां उन में बड़ा दोष है, उस-उस का अलग अलग खण्डन किया जायगा। वैसे ही आर्यभाषा, दक्षिणभाषा किंवा अन्य भाषा तथा अंग्रेजी भाषा में किये व्याख्यान का भी खण्डन जानना। उन का दोष संक्षेप से लिखते हैं।

इस मन्त्र के अर्थ में सायणाचार्य आदि ने भौतिक अग्नि का ही ग्रहण किया है, जिस में होम करते हैं।

इस अर्थ से भिन्न अर्थ का ग्रहण नहीं किया है। इस का खण्डन संस्कृत में लिखा है, वहां समझ लेना। अन्यथा भाष्य बनाने वाले जितने पहले हो गये हैं, इस समय जितने हैं, वा आगे जितने होंगे, इन सब का भाष्य खण्डन के योग्य अवश्य है। क्योंकि मनुष्यों की वृद्धि. विद्या, विचार, बल और पराक्रमादि अधिक न्यून होते ही रहते हैं। इस से विना विचार किये ग्रन्थ का प्रमाण सर्वदा नहीं रहता, इस में कुछ आश्चर्य नहीं ॥ १ ॥

॥ अथ द्वितीयामृचामाह ॥

मूलः—

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवाँ एह वक्षति ॥२॥

प०—अग्निः। पूर्वेभिः। ऋषिभिः। ईड्यः। नूतनैः। उत। सः। देवान्। आ। इह। वक्षति ॥ २ ॥

भाष्यम्

(अग्निः) अयमग्निः परमेश्वरः। (पूर्वेभिः) पूर्वैस्तथा। (नूतनैरुत) नवीनैरपि। (ऋषिभिरीड्यः) मन्त्रद्रष्टृभिर्ऋषिभिस्तर्कैः प्राणैश्च स्तुत्यो वन्द्योऽन्वेषणीयः पूज्यश्चास्ति। स जगदीश्वरः स्वकृपाकटाक्षेण देवान् दिव्यानीन्द्रियाणि विद्यादिदिव्यगुणान् दिव्यर्तून् दिव्यभोगांश्च। (एह वक्षति) इहास्मिन् संसारे जन्मन्यात्मनि च। आवक्षति। आवहतु। आसमंतात्प्रापयतु न इति शेषः ॥

अत्र प्रमाणानि।

प्राणा वा ऋषयो दैव्यासः

ऐत० पं० २। अ० ४॥

प्राणा वा ऋषयः। ऋतवो वै देवाः॥

श० कां० ७ अ० २॥

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवां एह वक्षति ॥ १ ॥

अग्निर्यः पूर्वैर्ऋषिभिरीडितव्यो वन्दितव्योऽस्माभिश्च नवतरैः स देवानिहावहत्विति। स न मन्येतायमेवाऽग्निरित्यप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते।

नि० अ० ७। खं० १६॥

पुरस्तान्मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्को न ऋषिर्भविष्यतीति तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन्मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम् इति

नि० अ० १३। खं० १२॥

अयमर्थः पूर्वैभिर्जगत्कारणस्थैर्नूतनैः कार्यशरीरस्थैर्ऋषिभिः प्राणैः सह मनुष्यैरीड्य इत्यर्थः। (अग्निर्य०) यो अग्निः परमेश्वरो भौतिको वास्तिसोऽत्र ग्राह्यः। कुतः। स न मन्येतायमेवाग्निरित्यप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्यते इत्युक्तत्वात्। परमेश्वरो विद्युदादिदिव्यश्चैतावग्नी उत्तरे ज्योतिषी अत्र ग्रहीतुं योग्ये स्तः। एतमेव तर्कैर्वेदशास्त्रादिस्थैः पूर्वैभिरस्मदादिभिरिदानीन्तनैर्नवतरैश्चैवेश्वरः स्तुत्या वन्दनेन वेद्योऽस्तिनान्यथा।

अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्क इति गोतमाचार्येण न्यायशास्त्रे प्रतिपादितत्वात् मनुष्याणां तर्कविना यथार्थज्ञानं नैव कदाचिद्भवत्यत उक्तमृषिभिस्तर्करिति ॥

तथेश्वरस्य त्रिकालज्ञत्वात्। नवीनापेक्षया प्राचीनैः प्राचीनापेक्षया नवीनैश्च विद्वद्भिरीड्य इत्युक्ते सति न दोषो भवति वेदस्य सर्वज्ञवाक्यत्वात्। प्रथममन्त्रभाष्ये निरुक्तव्याकरणादिरीत्या देवशब्दार्थ उक्तः सोऽत्र द्रष्टव्यः।

एतन्मन्त्रार्थः सायणाचार्यादिभिरन्यथोक्तः॥ तद्यथा। पुरातनैर्भृग्वंगिरः प्रभृतिभिः। नूतनैरुतेदानींतनैरस्माभिरपि स्तुत्यः॥ देवान् हविर्भुज आवक्षतीत्यन्यथेदं व्याख्यानमस्ति, तद्यूरोपखण्डस्थैश्च कृतमिंगलैंडभाषायां वेदार्थयत्नादिषु च व्याख्यानमप्यसमंजसम्। कुतः। ईश्वरोक्तस्यानादिभूतस्य वेदस्येदृशं व्याख्यानं क्षुद्राशयं गम्यते, तथा निरुक्तशतपथादिग्रंथाशयविरुद्धं चातः॥ २॥

भाषार्थ

(अग्निः) अग्नि जो परमेश्वर (पूर्वेभिर्ऋ०) प्राचीन और नवीन ऋषि जो प्राण, मन्त्रार्थ जानने वाले जो विद्वान् और तर्क हैं। अर्थात् स्थूल जगत् का

कारण जो ईश्वर की सामर्थ्य प्रकृति और परमाणु रूप है, इन में जो सूक्ष्म प्राण हैं, उनका नाम प्राचीन है और जो प्राण सदैव निर्विकार बने रहते हैं। जो ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले हैं, उनका 'पूर्वेभिः' इस पद से ग्रहण होता है और कार्य जो स्थूल जगत् तथा शरीर में जो प्राण हैं तथा पहिले और वर्तमान में जो विद्वान् हैं, उन पूर्व हो गये विद्वानों के जो तर्क थे और आत्मा में जो तर्क हैं, उनको भी 'पूर्वेभिः' तथा "नूतनैः" इन पदों से ग्रहण करते हैं। क्योंकि ये सब शरीर के साथ ही उत्पत्ति, वृद्धि और क्षय को प्राप्त होते हैं।

इन दोनों प्राणों के साथ अभ्यास करने से इन के बीच ही परमेश्वर प्राप्त होता है। तथा मन्त्रार्थ जानने वाले प्राचीन और नवीन ऋषियों को भी स्तुति करने के योग्य ईश्वर ही है। सो जगदीश्वर अपनी कृपाकटाक्ष से शुद्ध सद्विद्यादि गुण, श्रेष्ठ इन्द्रियां, उत्तम ऋतु और सब प्रकार के जो उत्तम भोग हैं कि जिन गुणों से परमानन्द मोक्ष प्राप्त होता है।

जिन इन्द्रियों से धर्माचरण, विद्या और उत्तम सुख होता है, दिव्य ऋतु=जिनमें परमार्थ और व्यवहार के दोनों सुख बढ़ें। दिव्य भोग=जो मोक्ष और व्यवहार में भी होते हैं।

(स देवान् एह वक्षति) इस संसार, इस जन्म, और हमारे आत्मा में, हे परमेश्वर! कृपा से आप हम लोगों को सब प्रकार से उन सुखों को प्राप्त करो [प्रदान करो]।

प्राण, तर्क और मन्त्रार्थ के जानने वाले विद्वानों को ऋषि कहते हैं। सद्विद्यादि जो दिव्य गुण और ऋतु आदि को देव कहते हैं। इस में शतपथादि ग्रन्थों का लेख संस्कृत में लिखा है, सो देख लेना॥

इस मन्त्र का सायणाचार्य आदि लोगों ने अन्यथा वर्णन किया है. इस का खण्डन संस्कृत में देख लेना। तद्वत् डाक्टर विलसन साहेब कृत और वेदार्थयत्न में भी इस मन्त्र का अर्थ ठीक नहीं किया है। वेदार्थयत्नवाले ने जो यह बात लिखी है कि यह मन्त्र लक्ष्य में रखने के योग्य है अर्थात् वेद ईश्वरकृत सनातन नहीं है। उनका ऐसा अभिप्राय देखने में आता है। सो उन की बुद्धि के अनुसार ही है। यह प्रमाण युक्त नहीं।

अथ द्वितीयोऽर्थः

प्राक्तनैर्नवीनैः प्राणैः शिल्पविद्याविद्भिस्तर्कैः पूर्वोक्तैर्ऋषिभिरयमेवाग्निरन्वेष्टव्यगुणोऽस्ति। कुतः। सोऽयमाग्नरिह पदार्थविद्यायां कलाकौशलस्य विमानादीनां यानानां दिव्यगुणानावक्षति। अ.वह्निर्याप्तादेत चेति॥ २॥

भावार्थ

(अग्निः) शिल्पविद्या के जानने तथा शिल्पविद्या को सिद्ध करने की इच्छा रखने वाले, उसको पढ़ाने और पढ़ने वाले जो ऋषि अर्थात् कारीगर लोग हैं, वे अग्नि के गुणों के सुतर्क पूर्वक खोज से पदार्थविद्या को सिद्ध करते हैं और करें; क्योंकि पदार्थ विद्या में कला कौशल विमान आदि सवारियों के परमोत्तम गुणों की प्राप्ति अग्नि से ही होती है। इससे अग्नि के गुणों के खोजने में सब लोग सदा प्रवृत्त करें॥२॥

अथ तृतीयमन्त्रमाह

मूलः—

अग्निना रयिमश्नवत्पोषमेव दिवे दिवे। यशसं वीरवत्तमम् ॥३॥

प०—अग्निना। रयिम्। अश्नवत्। पोषम्। एव। दिवेदिवे। यशसम्। वीरवत्तमम् ॥ ३॥

भाष्यम्

(अग्निना) विज्ञानानन्दस्वरूपेण दयालुना सद्धर्मानुष्ठानयोगाभ्यासपरमप्रीत्युपासनोपासितेनैवाग्निनेश्वरेण विद्याधर्मयुक्तः सन् जीवः (रयिम्) धर्ममोक्षविद्याचक्रवर्तिराज्यारोग्यादिस्वरूपं धनम्। (अश्नवत्) प्राप्नुयात् प्राप्नोति वा नान्यथेति निश्चयः। कथं भूतं तद्धनम्। आत्मनः शरीरेन्द्रियाणां (दिवे दिवे) प्रतिदिनं नित्यम्। (पोषमेव) पुष्टिकरमेव भवति, तथा (यशसम्) यशः सत्कीर्तिवर्धकं शिष्टाचारादिकीर्त्तिमच्च। तथा (वीरवत्तमम्) प्रतिदिनं बुद्धिबलवीर्यशौर्यादिगुणयुक्ताः पुत्रबन्धुमित्रभृत्यादयो वीरा भवन्ति यस्मिन्धने तद्वीरवत् अतिशयेन वीरवत् इति वीरवत्तमम्॥

अयमाशयः परमेश्वरोपासनेन विना स्थिरं नित्यं च सुखं कदाचित्कस्यापि नैव भवतीति॥

रयिमिति धननामास्ति निघंटौ।

सायणाचार्येण यज्ञहोमसम्बन्धमात्रेणैवेयमृग्व्याख्याता। अत्रेश्वरान्यपदार्थविद्यात्यागात्तद्व्याख्यानं सम्यङ् नास्तीति विज्ञेयम्।

तथा वेदार्थयत्नकर्तृडाक्तरविलसनाख्यकृतमपि च तादृशमेवास्ति। अस्य स्वल्पविषयत्वात्। मुख्यार्थस्येश्वरस्य त्यागादस्पष्टार्थत्वाच्च विदुषां महाप्रदकरमीदृशं व्याख्यानं नैव भवतीति दिक्॥ ३॥

भावार्थ

(अग्निना) अग्नि जो विज्ञान और आनन्दस्वरूप है और दया करने वाला है, सत्य धर्म का आचरण, योगाभ्यास जो समाधि का करना तथा परमेश्वर में अत्यन्त प्रीति और विज्ञान से जो दृढ़ विश्वास का यथावत् होना, इस प्रकार की उपासना से जो प्रसन्न होता है, उस अग्नि ईश्वर की कृपादृष्टि से सत्यविद्या और सत्य धर्माचरण से युक्त जो जीव, सो (रयिम्) जो धर्म, मोक्षविद्या और चक्रवर्ती राज्य का होना, इस धन को (अश्नवत्) प्राप्त होता है। इस से दूसरे प्रकार से नहीं।

वह धन कैसा है ? (पोषमेव दिवे दिवे) आत्मा, मन, शरीर और इन्द्रिय इनको नित्य पुष्टि और आनन्द कराने वाला है, तथा (यशसम्) अर्थात् दिन दिन के प्रति सत्कीर्त्ति का बढ़ाने वाला, और जिस धन से शिष्टाचार और सब मनुष्यों का उपकार हो। तथा (वीरवत्तमम्) बुद्धि, बल, शरीर, पराक्रम, शूरता, धीरज आदि गुणवाले जो हैं, वे पुत्र, भाई, मित्र और भृत्यादि वीर पुरुष प्राप्त हों, जिस धन से, उस धनको वीरवत् कहते हैं। और जो पूर्वोक्त गुणोंसे अत्यन्तयुक्त हो, उस धन को वीरवत्तम कहते हैं।

इसका यह अभिप्राय है कि विना परमेश्वर की उपासना से संसार में स्थिर जो सुख और मोक्ष में जो नित्यसुख, उसको कोई भी प्राप्त नहीं हो सकता।

सायणाचार्य ने अग्निमीडे आदि मन्त्रों का अग्नि में आहुति डालना मात्र प्रयोजन लिखा है। इस अर्थ में ईश्वर और होम से भिन्न अन्य पदार्थ-विद्या के त्याग से वह व्याख्यान अच्छा नहीं है। वेदार्थ-यत्न में और डाक्टर विलसन साहेब का किया व्याख्यान भी वैसा ही है। तथा सायणाचार्य के व्याख्यान बहुत अल्पार्थ हैं। क्योंकि वे सब व्याख्यान से मुख्य अर्थ जो ईश्वर उसके त्याग और निश्चितार्थ नहीं होने से विद्वानों को प्रिय और साधारण को भी यथावत् उपकारक नहीं हो सकता॥३॥

॥ अथ द्वितीयोऽर्थः ॥

भौतिकाग्निनिमित्तेन शिल्पविद्याचिकीर्षुः पुरुषः सुवर्णरत्नादि राज्यादि च पूर्वोक्तविशेषणयुक्तं रयिं धनमश्नवत् प्राप्नोतु प्राप्तुमिच्छेत् शिल्पविद्यायामग्नेरेव मुख्य साधनत्वात्॥३॥

॥ भावार्थ ॥

प्रत्यक्ष जो यह अग्नि इसके विना उत्तम कारीगरी सिद्ध नहीं हो सकती। कारीगरी के विना धन और राज्य के जो उत्तम व्यवहार तथा पदार्थ हैं, वे सब मनुष्यों को यथावत् प्राप्त नहीं हो सकते। क्योंकि उत्तम कारीगर के होने में अग्नि ही मुख्य साधन है। इस अग्नि से बिजली आदि पदार्थों को सिद्ध करके अनेक विमान आदि विद्या रच लेना चाहिये। इस से पृथिवी, जल और आकाश मार्ग में चलने के लिये विमान आदि विद्या रचनी सब मनुष्यों को उचित है।

अथ चतुर्थो मन्त्रः

मूलः—

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परि-भूरसि। स इद्देवेषु गच्छति॥४॥

प०—अग्ने। यम्। यज्ञम्। अध्वरम्। विश्वतः। परिऽभूः। असि। सः। इत्। देवेषु। गच्छति।॥४॥

॥ भाष्यम् ॥

(अग्ने) हे अनन्तशक्ते परमात्मन्नग्ने ! त्वं (विश्वतः) सर्वतः (परिभूरसि) व्याप्तः सन् (यं) यज्ञं (अध्वरम्) अहिंसनीयमर्थात्सर्वथा रक्षयितव्यं (यज्ञं) कि वा अग्निहोत्राद्यश्वमेधपर्यन्तं यज्ञं तथा भवत्स्तुतिप्रार्थनोपासनाख्यं च, त्वमेव पालितवानसि, स एव यज्ञः परिपूर्णः सन्निष्टफलप्रापको भवति। अस्य यज्ञस्यानुष्ठातुर्जनस्य भवानेव रक्षकोस्ति। (सः)

तस्मात् स मनुष्यः (देवेषु) विद्यादिदिव्यगुणेषु, विद्वत्सु वा प्रवर्त्तमानः सन् (इत्) सुखेनैव। (गच्छति) परमानन्दं प्राप्नोति न चान्यथेति॥

(इत्) अत्र निश्चयार्थोस्ति ॥ अयमपि मन्त्रः सायणाचार्यादिभिरन्यथा व्याख्यातः भौतिकाग्नेर्जडत्वा-द्यज्ञरक्षणं न संभवति सर्वव्यापकत्वं चातः। विश्वतः परिभूरसीत्यग्नेरीश्वरस्यैव विशेषणत्वात्। एवमेव डाक्तरविलसनाख्यकृतं वेदार्थयत्नाख्यं च व्याख्यान-मस्य मन्त्रस्य सम्यङ् नास्तीति गम्यते ॥ ४॥

॥ भाषार्थ ॥

(अग्ने) हे परमेश्वर अग्ने ! (विश्वतः परिभूरसि) सब संसार में परिपूर्ण होके (यं यज्ञमध्वरम्) रक्षा करने के योग्य वह जगत्रूप जो यज्ञ, अथवा अग्नि होत्र से लेके अश्वमेध पर्यन्त जो यज्ञ, तथा आप की स्तुति, प्रार्थना और उपासना का यथावत् करना जो यज्ञ, इन तीन प्रकार के यज्ञ का रक्षण आप ही कर रहे हो। इस कारण से यज्ञ परिपूर्ण हो के सुखरूप फल को सदा करता है। जो मनुष्य इस यज्ञ के अनुष्ठान करने वाला है। उसकी भी रक्षा करने वाले आप ही हो।

(स इद्देवेषु) सो मनुष्य विद्या, मोक्षादि दिव्यगुणों में और श्रेष्ठ विद्वानों के संग करने में प्रवर्तमान् होके सुखपूर्वक ही आनन्द को (गच्छति) प्राप्त होता है, अन्य प्रकार से नहीं।

इस मन्त्र को भी सायणाचार्य और डाक्टर विलसन साहेब ने तथा वेदार्थयत्नादि में अन्यथा व्याख्यान किया है। क्योंकि जड़ पदार्थ को रक्षा करने का ज्ञान ही नहीं होता और वह सर्वत्रव्यापक भी नहीं हो सकता। इससे उनका व्याख्यान ठीक नहीं ॥४॥

अथ द्वितीयोर्थः

(अग्ने) हे परमेश्वर ! भवद्रचितगुणोयमग्निः, शिल्पक्रियामयं (यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूःअ) सर्वतो व्याप्तवानस्ति, यः परितः सर्वेषां शिल्पविद्या-साधनानामुपरि विराजमानः सन् सर्वशिल्पविद्यायाः प्रधानसाधनं वर्त्तते तमग्निं त्वं रचितवानसि। एवं तेनाग्निना निमित्तभूतेन यो मनुष्यः शिल्पविद्यां गृह्णाति (स इद्देवेषु) स एव पुरुषो दिव्येषु द्योतमा-नेषूत्तमेषु भोगेषु स्थिरः सन् परमानन्दं गच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः ॥४॥

भाषार्थः

(अग्ने) जो कारीगरी क्रिया का मुख्य हेतु है। जिससे विमान आदि यान सिद्ध होते हैं। जिनसे मार्ग में शीघ्र गमन कर सकें। हे परमात्मा ! उस अग्नि को अनेक गुणयुक्त आपने ही उत्पन्न किया है। इसी अग्नि के गुणों के ज्ञान से जो मनुष्य पदार्थविद्या को सिद्ध करता है, वही दिव्य भोगों में स्थिर होके सदैव अत्यन्त सुखी रहता है ॥४॥

॥ अथ पंचमी ऋक् ॥

मूल—

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्र-श्रवस्तमः। देवो देवेभिरागमत् ॥५॥

प०—अग्निः। होता। कविक्रतुः। सत्यः। चित्रश्रवस्तमः। देवः। देवेभिः। आ। गमत् ॥५॥

॥ भाष्यम् ॥

(अग्निः) पूर्वोक्तविशेषणयुक्तः परमेश्वरोग्निः। (होता) सर्वोत्तमपदार्थानां दाता पृथिव्यादीनामादाता ग्रहीता यो धारणकर्त्तास्ति। (कविक्रतुः) कविश्चासौ क्रतुश्च स कविक्रतुः। कविः=सर्वज्ञः क्रांतप्रज्ञः सर्वेषां जीवानां बुद्धेः क्रमिता तदग्ने न कस्यापि बुद्धिः क्रमते सर्वेषां बुद्धेः प्रभुत्वात्। क्रतुः=सर्वजग-त्कर्त्ता। (सत्यः) अस्तीति सत् सति साधुः सत्यः विनाशरहितः। (चित्रश्रवस्तमः) चित्रमाश्चर्यं श्रवः श्रवणं यस्य स चित्रश्रवाः। अतिशयेन चित्र श्रवाः इति चित्रश्रवस्तमः॥

इत्यत्रार्थे प्रमाणम्—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
शृण्वन्तोपि बहवो यन्न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोस्य लब्धा—

आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥

कठोपनि० वल्ली ॥२॥

इत्यनेन आश्चर्यश्रवणत्वं परमेश्वरे एव घटते नान्यत्रेति ।

(देवः) स जगदीश्वरः सर्वजगत् प्रकाशकः (देवेभिरागमत्) दिव्यैः सर्वज्ञपरमानन्दादिभिर्गुणैः सह, अस्माकं हृदयेऽस्मिन्संसारे च प्रकाशमागमत्, आगच्छतु । स्वसामर्थ्येन कृपया च सर्वथा प्रकाशितो भवत्विति प्रार्थ्यतेऽस्माभिः ॥

कविसत्यशब्दार्थौ यास्केनाप्येवं व्याख्यातः ।

कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा प्रसुवति भद्रमित्यादि ॥

नि० अ० १२। खं० १३ ॥

कुङ् शब्दे, कु शब्दे, कवते, कौति वा सर्वविद्यायुक्तं वेदशास्त्रमुपदिशति स कविरीश्वरः। प्रसुवति भद्रं=भद्रैश्वर्यों पादनदानाख्यम् ।

सत्यं कस्मात्सत्सु तायते सत्प्रभवं भवतीति वा इति ॥

नि० अ० १२। खं० १३॥

सत्सु गुणेषु, भोगेषु, पदार्थेषु वा सन्तानयति पालयति वा सर्वान् जनान् यः। सत्प्रभ०=सताज्ञानेन योगेन धर्मेण वेदैर्वा प्रभवः प्रकटता यस्य च ॥ अतः स परमेश्वर एव सत्यो भवितुमर्हति नान्यः ।

अयमपि मन्त्रः सायणाचार्येण तथा तदनुसारिभिरध्यापकविलसनाख्यादिभिश्च न सम्यग्वर्णितः । कुतः ! अस्य मन्त्रस्यार्थो होममात्रसंबन्धेनैव वर्णितस्तस्मात् । एवमेव प्राकृतभाषाकृतामप्यर्थोऽन्यथैवास्तीति बोध्यम् ॥४॥

॥ भाषार्थ ॥

(अग्निः) पूर्वोक्त विशेषणयुक्त जो परमेश्वर है। (होता) जो सत्यविद्यादि शुभगुण और चक्रवर्त्तिराज्य ऐश्वर्य का देनेवाला है, तथा जो पृथिव्यादि लोकों का धारण करने वाला है। (कविक्रतु) जो सबका जानने वाला है और सब की बुद्धि का अध्यक्ष है, उसको कवि कहते हैं। जिसके सामने सब की बुद्धि अल्प हो जाती है। क्योंकि वह सब की बुद्धियों का प्रभु है, तथा क्रतुः=जो सब जगत् का करने वाला है (सत्यः) जिसका नाश कभी नहीं होता। (चित्रश्रवस्तमः) जिसका कथन, श्रवण और स्वरूप अत्यन्त अद्भुत है। (देवो देवेभिरागमत्) उस परमेश्वर की सत्यभाव से हम लोग भक्ति करते हैं। वही जगदीश्वर एक अद्वितीय देव है। क्योंकि प्रकाश करने वाले जो सूर्यादि सब लोक हैं, उनका भी प्रकाशक एक वही परमेश्वर है और उसका प्रकाश करने वाला दूसरा कोई नहीं। किन्तु वह तो आपसे आप ही प्रकाशित है।

वह परमेश्वर जो सर्वज्ञ और परमानन्दादि दिव्य उत्तम गुण हैं, उनके सह वर्तमान हमारे हृदय और इस संसार में कृपा करके प्रकाश को प्राप्त हो, ऐसी प्रार्थना उसकी हम लोग करते हैं, जिससे वह अपनी कृपा करके जगत् के बीच में सर्वदा प्रकाशित हो।

श्रवणाया०=जिस परमेश्वर को सुनने को बहुत मनुष्य प्रवृत्त होते हैं, परन्तु उनमें जो विद्वान् सत्याचरण करने वाले हैं, वे ही परमेश्वर को सुन के प्राप्त होते हैं। और जो इस प्रकार के नहीं हैं वे परमेश्वर को सुन के भी प्राप्त नहीं होते । क्योंकि इस परमेश्वर का यथार्थ उपदेश करने वाले का मिलना कठिन है। तथा ब्रह्म जानने वाले से परमेश्वर को सुन के जानने वाला भी कठिन है। सो जो कुशल अत्यन्त चतुर है, वही इस ब्रह्म को प्राप्त होता है। क्योंकि इसका जानने वाला अत्यन्त अद्भुत है और इस कुशल पुरुष के उपदेश से भी जो इस ब्रह्म को यथावत् जानता है, वह भी इस जगत् में आश्चर्य रूप ही है। इस कारण से परमेश्वर को चित्रश्रवस्तम इस मन्त्र में विशेषण दिया है।

तथा—सत्सु ता०=जो सत्य गुण, सत्य भोग, सत्य पदार्थ और सत्य व्यवहार हैं, इनमें ही जो मनुष्य प्रवर्तमान हैं, उनको जो सुख में विस्तृत करता है, किंवा उनका जो पालनकर्त्ता है, इस से परमेश्वर का सत्य नाम है।

तथा—सत्प्रभवं=जो सत्यज्ञान, सत्य योग,

सत्य धर्म और सत्य जो वेद हैं, इनसे ही जिसकी प्रकटता होती है, इसलिये परमेश्वर का नाम सत्य है।

इस मन्त्र का भी सायणाचार्यादि, अध्यापक विलसन साहेब ने और वेदार्थयत्न में भी अच्छी रीति से व्याख्यान नहीं किया है ॥५॥

॥ अथ द्वितीयोर्थः ॥

(अग्निर्होता) अग्निर्भौतिकोऽश्वः । होता सर्वशिल्पविद्यागुणधारकोऽस्ति । (कविः) शिल्पविद्यायाः क्रान्तदर्शनः क्रमप्रकाशकः । (क्रतुः) शिल्पविद्या क्रियते येन सोऽयं क्रतुः । (सत्यः) सति शिल्पविद्याव्यवहारे साधुर्यः स सत्योऽग्निः । (चित्रश्रवस्तमः) विद्युदादिस्थगुणानां चित्रमद्भुतं श्रवः श्रवणं यस्मिन्सः । अतिशयेन चित्रश्रवा इति चित्रश्रवस्तमः । (देवः) शिल्पविद्यादिगुणद्योतकः सोऽग्निः । (देवेभिः) शिल्पविद्याद्योतकैर्गुणैर्दिव्यैः सह वर्त्तमानो योऽग्निरस्ति सः । हे परमेश्वर ! भवत्कृपया (आगमत्) अस्माभिर्ज्ञातो भवतु । येन सर्वां शिल्पविद्यां वयं लभेमहि ॥५॥

॥ भाषार्थ ॥

(अग्निर्होता) जिस अग्नि का नाम अश्व है जो सब शिल्पविद्या के गुणों का धारण करने वाला है । (कविक्रतुः, कविः=जो शिल्प विद्या का प्रकाश करने वाला और क्रतुः=कि शिल्पविद्या जिससे की जाती है । (सत्यः) कारीगरी में जो साधु उत्तम साधन है । (चित्रश्रवस्तमः) विजुली आदि में अत्युत्तम जो वेगादि गुण हैं, वे जिसमें सुनते हैं और जिसमें अत्यन्त अद्भुत सामर्थ्य ईश्वर ने रखा है। (देवोदेवेभिः०) जो अग्निवेदादि गुणों का प्रकाश करने वाला है, सो हमारे शिल्पविद्या व्यवहार में अत्यन्त उपकार करने वाला आप की कृपा से हो। जिससे शिल्पविद्या में जो दिव्य गुण हैं उनको हम लोग यथावत् सिद्ध करके अत्यन्त सुखी हों।

इति प्रथमेऽध्याये प्रथमोवर्गः ॥

॥ अथ षष्ठो मन्त्रः ॥

मूल—

यदंग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि । तवेत्तत्सत्यमंगिरः ॥६॥

प०—यत् । अंग । दाशुषे । त्वम् । अग्ने । भद्रं । करिष्यसि । तव । इत् । तत् । सत्यम् । अंगिरः ॥६॥

॥ भाष्यम् ॥

(यदंग) हे अग्ने प्रापणीयेश्वर ! हे अंग सर्वमित्र ! तुभ्यं सर्वपदार्थदात्रे परमेश्वराय, यो मनुष्य आत्मप्राणाद्युत्तमपदार्थान्दत्तवानस्ति, तस्मै (दाशुषे) त्वय्यत्यंतप्रेमकारिणे मनुष्याय । (भद्रं) भजनीयं परमानन्दस्वरूपं मोक्षाख्यं कल्याणं सुखं च । (त्वमग्ने) त्वमेव । (करिष्यसि) करोषि वेति निश्चयो नः (तवेत्तत्०) हे अंगिरः प्राणानां रसभूतपरमेश्वरेदं सत्यं व्रतं शीलं तवैवास्ति न कस्यचिदन्यस्येति, त्वया यद्भद्रं क्रियते तदेव सत्यमविनाशिस्वरूपमस्ति नान्यदीदृशमिति विजानीमः ॥

यास्काचार्येण भद्रशब्दार्थ एवं वर्णितः—

भद्रं भगेन व्याख्यातं भजनीयं भूतानामभिद्रवणीयं भवद्रमयतीति वा भाजनवद्वा इति ।

नि० अ० ४ । खं० ६ ॥

प्राणो वा अंगिराः ॥

श० कां ६ । अ० १ ॥

आंगिरसो अंगानांहि रसः ।

प्राणो वा अंगानां रसः ॥

श० कां० १४ । अ० ३ ॥

यजमानो वै दाश्वान् इति ॥

श० कां ७ । अ० ४ ॥

अयमर्थः । यत्र दुःखं लेशमात्रमपि नास्ति, यन्मुक्त्याख्यं परमसुखं सत्यमस्ति तदत्र विज्ञेयम् ।

परमेश्वरं यजते स यजमानो विद्यादिदानशीलः स दाश्वान् । अंगानां पृथिव्यादीनां सारभूतोन्तर्यामी परमेश्वरः सर्वस्य प्राणभूतत्वादंगिरोस्तीति बोध्यम् ॥

अतः सायणाचार्य वेदार्थयत्नकृताध्यापकविलसनादिभिश्चायं मन्त्रो यथावन्नैव व्याख्यात इति विज्ञायते ॥६॥

भावार्थ

(अग्ने) हे प्राप्त होने के योग्य ईश्वर अग्ने ! (अंग) हे अंग, सबके परममित्र ! (दाशुषे) जो मनुष्य आपको प्राण और आत्मा का समर्पण करता है, जो आप में अत्यन्त प्रेम करने वाला है, (भद्रम्) परमानन्दस्वरूप जो मोक्ष का सुख, सो उस मनुष्य को आप ही देने वाले हो। (अंगिरा) हे प्राणों के प्राण ईश्वर ! जो प्राणवत् प्रिय सुख है, सो आप की कृपा से ही होता है । क्योंकि (तवेत्तत्सत्यम्) वह आप का ही स्वाभाव है, जो सत्य सुखों को ही देना, यह सामर्थ्य अन्य किसीका नहीं। जो आपका दिया सुख है, वही एक नित्य है । इससे दूसरा कोई ऐसा सुख नहीं हैं ।

इसकी व्याख्या निरुक्त और शतपथ के भाष्य में लिखी है, सो देख लेना। इससे यह जानना कि सायणाचार्य वेदार्थयत्न तथा डाक्टर विलसन साहेब आदि के व्याख्यान में इस मन्त्र का अर्थ ठीक नहीं किया है ॥६॥

॥ अथ सप्तमो मन्त्रः ॥

मूल—

उपत्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया
वयम् । नमो भरन्त एमसि ॥७॥

प०—उप । त्वा । अग्ने । दिवेदिवे । दोषाऽवस्तः । धिया । वयम् । नमः । भरन्त । आ । इमसि ॥

॥ भाष्यम् ॥

(उप त्वाग्ने) हे अग्ने पूज्यतमेश्वर ! (दिवेदिवे) प्रतिदिनं, नित्यं । (धिया) बुद्धया । (त्वा) त्वाम् । वयं (उपैमसि) तव उप सामीप्यं आ सर्वतः, इमः प्राप्नुमः । तथा (दोषावस्तः) अहर्निशं निरतंरं । (भरन्तः) ज्ञानेन प्रेम भक्तिं धारयन्तः सन्तो, (वय) त्वा (नमः) नमस्कुर्मः । यतो भवान् सद्योऽस्मान्प्राप्नुयात् । भवद् प्राप्त्या वयं सुखिनो नित्यं भवेम ॥

अत्र मन्त्र व्याख्याने सायणाचार्याध्यापक विलसनादिभिर्भौतिकाग्निमात्रस्यैव गृहीतत्वात्तद्व्याख्यानमन्यथास्ति । कुतो, भौतिकाग्नेरनायासेन होम मात्रे प्राप्तत्वान्नमस्करणीया भावाच्चेति ॥७॥

॥ भावार्थ ॥

(उप त्वाग्ने) हे अग्ने ईश्वर ! हम को एक पूज्य आप ही हो। हम लोग (धिया) बुद्धि जो ज्ञान है, इस से (दिवेदिवे) सब दिन के लिये, आप के समीप को (त्वामुपैमसि) शरणागतिको प्राप्त होते हैं । (दोषावस्त) तथा दिन और रात्रि में, सत्यभक्ति-पूर्वक आप को (वयम्) हम लोग, नित्य ही (नमोभरन्तः) नमस्कार करते हैं। जिस से कृपा करके आप हम को शीघ्र प्राप्त हों। आप की प्राप्ति से हम लोग निरन्तर सुखी हों ॥

सायण, डाक्टर विलसन और वेदार्थयत्नादि के कर्त्ताओं ने इस अर्थ को जाना भी नहीं ॥ ७ ॥

॥ अथ द्वितीयोर्थः ॥

(उप त्वाग्ने) हे पूर्वोक्त विशेषणयुक्तेश्वराग्ने ! भवन्तमुपगता नमस्कुर्वन्तः कथयन्तश्च भवन्तं नित्यं प्रार्थयामः । भवत्प्रार्थनया त्वद्रचितस्य भौतिकाग्नेः सकाशाद्वायुवृष्टिशुद्धिकरं यज्ञानुष्ठानं शिल्पविद्यामयं च प्राप्नुयाम । एतदर्थं निरन्तरं नमोस्तु ते ॥ ७ ॥

॥ भावार्थ ॥

(उप त्वाग्ने) हे परमेश्वर अग्ने ! हम लोग आपके शरणागत हैं । नित्य आपको नमस्कार और प्रार्थना करते हैं कि जो जो आपने भौतिक अग्नि में गुण रखे हैं, उन गुणों से हम लोग सुगन्धि आदि पदार्थों का होम करके वायु तथा वर्षा के जल की शुद्धि करें। तथा शिल्प विद्या को भी प्राप्त हों। इस लिये और मोक्षादि सुख के लिये भी आप को निरन्तर नमस्कार करते हैं ॥ ७ ॥

॥ अथाष्मो मन्त्रः ॥

मूल —

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य
दीदिविम्। वर्धमानं स्वे दमे ॥८॥

प०—राजन्तम् । अध्वराणाम् । गोपाम् । ऋतस्य । दीदिविम् । वर्धमानम् । स्वे । दमे ॥८॥

॥ भाष्यम् ॥

एमसीत्यनुवर्तते ॥ (अध्वराणाम्) अग्निष्टोमादियज्ञानां तत्कर्तॄणां धर्मात्मानां मानवानां च। (गोपाम्) रक्षकं। तथा (राजन्तम्) सूर्यादीनां लोकानां मध्ये योगिनामात्मनश्च मध्ये धारकान्तर्यामितया राजन्तं सदा प्रकाशमानं। (ऋतस्य दीदिविम्) सत्यविद्यामयस्य वेदचतुष्टयस्य मोक्षस्य च दीदिविम् सम्यक् प्रकाशकं। तथा (स्वे) स्वकीये। (दमे) परमोत्कृष्टे पदे।(वर्धमानम्) अत्यन्त वृद्धिमन्तम्। एवंभूतं परमेश्वरमग्निं त्वां वयं सदैवोपैमसि। भवत्परूपमोक्षप्राप्तये परमप्रेम्णा सर्वतः सदा भवन्तं जगदीश्वरमेवोपाप्नुमः। यतोऽस्मिन्नेव जन्मनि भवत्कृपयाऽस्माकं निश्चितो मोक्षो भवेदिति नित्यमिच्छामः ॥८॥

॥ भाषार्थ ॥

(अध्वराणां गोपाम्) अध्वर जो अग्निष्टोम आदि यज्ञ और इन यज्ञों के करने वाले जो धर्मात्मा मनुष्य हैं, उनकी जो यथावत् रक्षा करने वाला है। तथा (राजन्तम्) सूर्य आदि जो लोक उनके बीच में और योगियों के आत्मा के बीच में, जो धारण करने वाला और अन्तर्यामी रूप से प्रकाशमान् है। तथा (ऋतस्य दीदिविम्) सत्यविद्यास्वरूप जो चारों वेद हैं, उनका और मोक्ष का जो प्रकाश करने वाला है। (वर्धमानं स्वे दमे) स्वे=अपना जो, दमे=परमपद है, उसमें वर्धमानम्=सब सामर्थ्य से युक्त होके जो सदा विराजमान है, और जो मनुष्य मोक्ष को प्राप्त होते हैं, उनको उस अपने परमपद में, विज्ञान और आनन्द आदि गुणों से जो सदा बढ़ाने वाला है, उस परमात्मा को मोक्ष आदि सुखों की प्राप्ति के लिये (उपेमसि) हम लोग प्राप्त होते हैं। अर्थात् हे परमेश्वर! सत्य प्रेम-भक्ति से हम लोग आपको सदा प्राप्त रहें कि आप और आपकी आज्ञा से विरुद्ध हम लोग कभी न हों। जिससे हम लोग को आपकी प्राप्ति से मोक्ष आदि सुख इसी जन्म में प्राप्त हो ॥ ८ ॥

॥ अथ नवमो मन्त्रः ॥

मूल—

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥ ९ ॥

प०—सः। नः। पिताऽइव। सूनवे। अग्ने। सुऽउपायनः। भव। सचस्व। नः। स्वस्तये ॥९॥

भाष्यम्

(सः) यः। अग्निमीडे पुरोहितमित्यादि मन्त्रेषु पुरोहितादिविशेषणैः प्रतिपादितोऽग्नि संज्ञः परमेश्वरः सोत्र गृह्यते। (अग्ने) हे परमात्मन्! (नः) अस्मान्। (सूपायनः) स्वकृपया सुखेनैव प्राप्तस्त्वं भव। तथा हे परमेश्वराभिधाग्ने! (नः स्वस्तये) ऐहिक पारमार्थिक सुखायास्मान् स्वकृपया। (सचस्व) समवेतान् कुरु। अर्थात् तत्सुखेन सह वर्त्तमानानास्मान् सदा कुरु। एवं तत्सुखस्य यथावत् सिद्ध्यर्थं सचस्व त्वं नित्यं समवेतः कृपयानुकूलो भव। कस्मै कइव।। (पितेव सूनवे) यथा स्वसन्तानाय स्वप्रजायै अत्यन्त प्रेम्णानुकंपयमानः संतान सुखाय प्रवर्त्तमानः पिता इव। कुतः। भवानेवास्माकं पितास्त्यतः ॥

वर्गद्वयस्थैर्नवभिर्मन्त्रैरग्निहोत्राद्यश्वमेधपर्यन्तेषु वायुवृष्टिजलशुद्धिप्रयोजनेषु यज्ञेषु युक्तिप्रमाणसिद्धानां कर्मणामनुष्ठानं कर्तुं योग्यमस्ति, परन्तु, सूत्रब्राह्मणग्रन्थेषु यादृशो विनियोगः प्रतिपादितः सोप्यत्र तदुक्तरीत्या कार्यः ॥ ९ ॥

भावार्थ

(सः) अग्निमीडे इत्यादि आठ मन्त्रों में पुरोहित आदि विशेषणों से जिस परमेश्वर का कथन किया है, उसी का 'स' शब्द से ग्रहण होता है (अग्ने) हे परमेश्वर अग्ने! अपनी कृपा से ही (नः) हमको प्राप्त हो तथा (सूपायनः) इस लोक और परलोक के सुख के लिये (नः) हमको (सचस्व) संयुक्त कर। तथा आप भी हमारे सहायकारी नित्य रहो। तथा (स्वस्तये) सद्विद्यादि शुभ गुणों में मोक्ष आदि सुख के लिये हमको सदा युक्त कर। जिससे स्वस्ति=जो परम सुख सो सदा हम को प्राप्त हो। जैसे पिता अत्यन्त प्रेम से अपने सन्तानों को सुख देता है, वैसे ही आप हमको पुरुषार्थ से आनन्द युक्त करके नित्य पालन करो। क्योंकि आप ही हम लोगों के पिता हो। इससे हमको सुख देने वाले एक आप ही हो ॥ ९ ॥

इति प्रथमस्य अष्टकस्य प्रथमेऽध्याये द्वितीयो वर्गः ॥

प्रथमं सूक्तं समाप्तम् ॥

* ओ३म् *

आर्योद्देश्यरत्नमाला

सम्पादक का निवेदन

—×*×—

"आर्योद्देश्यरत्नमाला" महर्षि दयानन्द की बहुत प्रसिद्ध पुस्तक है। भारत की सभी मुख्य मुख्य भाषाओं में इसके अनुवाद हो चुके हैं। यद्यपि यह छोटी-पुस्तक है; तथापि बहुत महत्वपूर्ण है। महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों और उद्देश्यों की सूचक तो यह है ही, साथ ही महर्षि के गम्भीर चिन्तन एवं सुविस्तृत स्वाध्याय का परिणाम और प्राचीन आर्ष-साहित्य के सार-स्वरूप भी यह है।

जिस प्रकार सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त और मीमांसा—छः प्राचीन दर्शन हैं, और वे छोटे-छोटे होने पर भी अपने अन्दर अथाह अर्थ गाम्भीर्य रखते हैं, मानव-जीवन को उन्नत करने में सहायक होते हैं, और जीवन के सभी अंगों को छूते हुए, मनुष्य को मोक्ष-मार्ग पर अग्रसर करते हैं, वैसा ही स्वरूप और फल इस "आर्योद्देश्यरत्नमाला" का भी है। यदि प्रकार की दृष्टि से, हम इसे 'आर्य-दर्शन' कहें, तो अधिक उपयुक्त है।

'सत्यार्थप्रकाश' के अन्त में महर्षि ने उपसंहार रूप में 'स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश' नामक एक पृथक् परिच्छेद में अपने सिद्धान्तों का जो प्रतिपादन किया है, वैसा ही अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन महर्षि ने अपनी इस पुस्तक में भी किया है। वहां मन्तव्यों और अमन्तव्यों की संख्या ५१ है, यहां रत्नों की संख्या १०० है। स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश का प्रकाशन पृथक् रूप में पहिले भी होता रहा है और हमने भी उसे पृथक् रूप में प्रकाशित कराया है, तथापि वह कोई स्वतन्त्र पुस्तक नहीं है। परन्तु यह 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' स्वतन्त्र पुस्तक है। स्वतन्त्र रूप में ही प्रचार और विचार के लिये महर्षि ने इसकी रचना की थी। अपने सिद्धांतों, मन्तव्यों और उद्देश्यों आदि का उल्लेख महर्षि ने जैसा उस 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' में किया है, वैसा ही इसमें भी किया है। महर्षि की इन दोनों रचनाओं की वाक्य रचना में तो कुछ-कुछ भेद है; परन्तु सिद्धान्तों के स्वरूप में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। दोनों की शैली एक ही है, और प्रकार की दृष्टि से दोनों एक जैसी ही हैं। दोनों को मिलाकर। तुलनात्मक, रूप में विचार करने से महर्षि के सिद्धान्तों को समझने में बहुत सरलता हो जाती है। स्वाध्याय में विशेष आनन्द प्राप्त होता है। और, पाठक वा विचारकके मानस-पटल पर सिद्धान्तों का यथावत् स्वरूप भी सुस्पष्ट अंकित हो जाता है तथा प्रभाव भी चिरस्थायी होता है।

आचार्य ईश्वरदत्त जी मेधार्थी विद्यालंकार ने 'आर्यमन्तव्यदर्पण' के नाम से एक उत्तम पुस्तक का संकलन किया था। उसका प्रकाशन 'आर्य साहित्य मण्डल' अजमेर की ओर से किया गया था। उसमें 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' और 'आर्योद्देश्यरत्नमाला" इन दोनों पुस्तकों के एक ही विषय के लेखों को साथ ही साथ छपवाया गया था और उनकी व्याख्या के रूप में भी कुछ-कुछ संक्षेप में लिखा गया था। बहुत पहिले हमने उस पुस्तक को पढ़ा और पढ़ाया भी था। छोटी होने पर भी वह अच्छी पुस्तक थी; परन्तु कई वर्ष से अब वह देखने में नहीं आ रही है। इसका कारण शायद यही है कि श्री मेधार्थी जी आर्य समाज को छोड़ चुके हैं, गुरुकुल की डिग्री भी सुनते हैं कि उन्होंने लौटा दी है और अब वे 'आर्य-बौद्ध' नामक एक नया सम्प्रदाय चला रहे हैं।

पूज्यपाद श्री स्वामी वेदानन्द जी महाराज ने आर्योद्देश्यरत्नमाला' और 'स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश', इन दोनों की तुलना करते हुए—दोनों का

एक बहुत विस्तृत भाष्य लिखा था। श्री स्वामी जी उसके प्रकाशन का आयोजन कर ही रहे थे कि इसी बीच में भारत-विभाजन की दुर्घटना घटित हो गई। और, सब कुछ के साथ, वह भाष्य भी श्रीमद्दयानन्दोपदेशक विद्यालय गुरुदत्त भवन लाहौर में पाकिस्तानियों ने भस्मीभूत कर डाला। आज कल श्री स्वामी जी महाराज फिर उसी प्रकार के भाष्य की रचना कर रहे हैं। हम कभी-कभी सोचा करते हैं कि ऐसा भाष्य-ग्रन्थ तो आज से बहुत पहिले ही छप जाना चाहिये था—फिर यह कार्य अभी तक भी क्यों नहीं हो सका? तब अन्तरात्मा यही उत्तर देता है कि आर्य समाजस्थ पण्डितवर्ग अपने में विद्या और योग्यता की विशेष कमी अनुभव करता है, अतः इस कार्य की पूर्ति का साहस उसे हो नहीं रहा है।

व्याख्यान दाताओं के लिये भी यह आर्योद्देश्यरत्नमाला बहुत काम की है। इसमें उन्हें एक सौ शास्त्रीय विषयों का मौलिक स्वरूप एक ही स्थान पर मिल जाता है। और, उसे ध्यान में रखकर अपने शाब्दिक हेर-फेर द्वारा विविध प्रकार के व्याख्यान देना, उनके लिये बहुत सरल हो जाता है। जो लोग वक्तृत्व-कला का अभ्यास करना चाहें, उन्हें महर्षि की इस रचना से अवश्य ही लाभ उठाना चाहिये। साथ ही यह भी जरूरी है कि आर्योपदेशकों से अनुरोध करके 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' और 'स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश' के आधार पर विशेष व्याख्यानों की परम्परा आर्य समाज में चलाई जावे। कुछ लोग दो-चार भाषण रट कर ही व्याख्यानकेसरी बने हुए घूम रहे हैं, नया विचार और स्वाध्याय नहीं करते, पैसा ही उनका ध्येय है, उन्हें रोका जाये।

'आर्योद्देश्यरत्नमाला' की रचना महर्षि ने पंजाब में की थी। उस समय तक भारत के मुख्य-मुख्य नगरों में आर्य समाजों की स्थापना हो चुकी थी। सर्वत्र जोरदार विचार संघर्ष चल रहा था। अनुयायी और विरोधी सभी महर्षि दयानन्द पर जोर दे रहे थे कि वे संक्षिप्त और प्रमाणिक रूप में अपने सम्पूर्ण सिद्धान्तों को एक ही पुस्तक में प्रकाशित करें। इस जोरदार मांग को पूर्ण करने के लिये ही महर्षि ने इसे लिखा था। आर्योद्देश्यरत्नमाला के विषय में, महर्षि के अमृतसर में निवास और प्रचारादि का वृत्तान्त लिखते हुए धर्मवीर श्री पण्डित लेखराम जी आर्य मुसाफिर लिखते हैं:—"उन्हीं दिनों में स्वामी जी ने यहां रह कर 'आर्योद्देश्यरत्न माला' नामक एक लघु पुस्तक १५ अगस्त सन् १८७७ ई० मुताबिक श्रावण सुदी ७ सम्वत् १६३४ वि० को तसनीफ किया और उसे प्रेस में देकर गुरुदासपुर की तरफ चले गये। और २७ अगस्त सन् १८७७ ई० को वापिस तशरीफ लाये। १२ सितम्बर सन् १८७७ ई० को वह किताब छप कर हर तरह तैयार होगई।"

स्वामी जी अपने एक खत में लाहौर आर्य समाज के मन्त्री के नाम इस तरह लिखते हैं:—

"आर्य समाज के सब सभासदों को स्वामी जी का आशीर्वाद पहुँचे। आगे सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर की कृपा से प्रतिदिन अमृतसर आर्य समाज का उत्साह वृद्धि को प्राप्त होता जाता है। सौ नियम का पुस्तक [आर्योद्देश्यरत्नमाला] भी आजकल छप के जिल्द बंध के तैयार हो जावेगा। पांच सौ पुस्तक लाहौर और पचास पुस्तक गुरुदासपुर को भेजे जावेंगे। और सम्वत् १६३४ वि० भादों शुदी ६, गुरुवार तारीख १३ सितम्बर सन् १८७७ ई० प्रातःकाल साढ़े नौ की रेल में जालन्धर जाना होगा, सो जानना। जो वेदभाष्य पर विरुद्ध सम्मति के उत्तर के पत्र छपवा कर बम्बई आदि में भेज दिये जावेंगे और नीज समाचार पत्रों में छपवा दिये जावें तो बहुत अच्छी बात होगी। आगे आप लोगों की जैसी इच्छा हो वैसा कीजियेगा।"

सम्वत् १६३४ वि० मिति भादों शुदि ३, सोमवार मुताबिक १० सितम्बर सन् १८७७ ई०

दयानन्द सरस्वती

'आर्योद्देश्यरत्नमाला' की रचना अमृतसर में हुई थी और वहीं से इसका प्रथमवार मुद्रण भी हुआ था। यदि अमृतसरके आर्यसज्जन और सब आर्य समाज ही इस ग्रन्थ का विस्तृत-भाष्य तैयार करवा कर प्रकाशित करावें और सब भाषाओं में इस पुस्तक को उत्तम रूप में प्रकाशित करावें, तो बहुत उत्तम होगा। बालवर्गों के

लिये बहुत मोटे अक्षरों में भी इसका प्रकाशन होना चाहिये ।

थ्यासोफिकल सोसाइटी अमरीका के प्रधान ने एक पत्र लिख कर महर्षि से पूछा था कि हम आर्य सिद्धान्तों को किस प्रकार जानें इत्यादि। उसके उत्तर में महर्षि ने जो विस्तृत पत्र संस्कृत में लिखा था, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है, और, उसका बहुत अधिक ऐतिहासिक महत्त्व भी है। उस पत्र में महर्षि के ये शब्द उपलब्ध होते हैं:—

"ये च मया वेद-भाष्यसन्ध्योपासनार्याभिविनय वेदविरुद्धमतखरडन वेदान्तिध्वान्तनिवारणसत्यार्थ प्रकाशसंस्कारविध्यार्योद्देश्यरत्नमालाख्या ग्रन्था निर्मिता........।' इत्यादि ।

यहाँ महर्षि ने अपने अन्य ग्रन्थों के साथ ही 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' का भी उल्लेख किया है। अतः यह सिद्ध है कि छोटी पुस्तक होने पर भी महर्षि इसे बहुत महत्त्वपूर्ण समझते थे।

'आर्योद्देश्यरत्नमाला' का प्रथम संस्करण अमृतसर के "चश्मनूर" नामक छापेखाने में लीथो में छपा था।

'आर्योद्देश्यरत्नमाला' के बहुत से, साधारण संस्करण अनेक स्थानों से प्रसिद्ध हो चुके हैं; परन्तु उनमें कोई विशेषता नहीं है। कुछ लोगों ने तो अपने प्रचार के उत्साह में, रद्दी कागज पर भद्दे टाईप में, छपवाकर इस ग्रन्थ रत्न की हत्या का उपक्रम भी कर डाला है।

वैदिक यन्त्रालय अजमेर से प्रकाशित 'आर्योद्देश्य-रत्नमाला' का सोलहवां संस्करण हमारे सामने है, और वह अब नये रूप में मुद्रित होने जा रहा है।

—सम्पादक

——*——

वैदिक सिद्धान्तों पर—

बहिनों की बातें

लेखक—स्वर्गीय कविवर श्री सिद्धगोपाल जी (साहित्य वाचस्पति)

(संशोधित एवं परिवर्द्धित पंचम संस्करण । मूल्य— १।)

शास्त्रार्थ महारथी श्री पण्डित रामचन्द्र जी देहलवी की शुभ सम्मति—

मैंने श्रीमान् पण्डित सिद्धगोपाल जी की लिखी हुई "बहिनों की बातें" नामक पुस्तक को देखा और बड़े ध्यान से देखा। यह बहुत ही उपयोगी पुस्तक सिद्ध होगी। जो विषय आज कल के अच्छे-अच्छे शिक्षित पुरुष नहीं समझा सकते हैं और न समझे हुए हैं, वह पंडित जी ने बड़े ही सरल, सरस और सुचारु रूप से समझा दिये हैं। यदि यह पुस्तक पाठशालाओं और स्कूलों में प्रचलित कर दी जावे, तो बच्चे बचपन से ही नास्तिकता व अज्ञान के गढ़े में पड़ने से बच जावें। मैं इसको देखकर बहुत प्रसन्न हुआ हूँ, और चाहता हूँ कि यह जल्दी से जल्दी सर्वसाधारण में प्रचलित हो जावे।"

पुस्तक मिलने का पता:—

पता—गोविन्दराम हासानन्द, आर्य साहित्य भवन, नई सड़क, देहली

* ओ३म् *

आर्य्योद्देश्यरत्नमाला

१-ईश्वर—जिसके गुण, कर्म, स्वभाव और स्वरूप सत्य ही हैं, जो केवल चेतनमात्र वस्तु है, तथा जो अद्वितीय, सर्वशक्तिमान्, निराकार, सर्वत्र व्यापक, अनादि और अनन्त आदि सत्य गुणवाला है, और जिसका स्वभाव अविनाशी, ज्ञानी, आनन्दी, शुद्ध, न्यायकारी, दयालु और अजन्मादि है, जिसका कर्म जगत् की उत्पत्ति, पालन और विनाश करना तथा सर्व जीवों को पाप पुण्य के फल ठीक ठीक पहुँचाना है, उसको 'ईश्वर' कहते हैं।

२-धर्म—जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन और पक्षपातरहित न्याय सर्वहित करना है, जो कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सुपरीक्षित और वेदोक्त होने से सब मनुष्यों के लिये यही एक मानना योग्य है, उसको 'धर्म' कहते हैं।

३-अधर्म—जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा को छोड़ कर और पक्षपातसहित अन्यायी होके, बिना परीक्षा करके, अपना ही हित करना है, जो अविद्या, हठ, अभिमान, क्रूरतादि दोषयुक्त होने के कारण वेदविद्या से विरुद्ध है, और सब मनुष्यों को छोड़ने के योग्य है, वह 'अधर्म' कहाता है।

४-पुण्य—जिसका स्वरूप विद्यादि शुभ गुणों का दान और सत्य भाषणादि सत्याचार का करना है, उसे 'पुण्य' कहते हैं।

५-पाप—जो पुण्य से उलटा और मिथ्याभाषणादि पाप करना है, उसको 'पाप' कहते हैं।

६-सत्यभाषण—जैसा कुछ अपने आत्मा में हो और असम्भवादि दोषों से रहित करके सदा वैसा ही बोले, उसको 'सत्यभाषण' कहते हैं।

७-मिथ्याभाषण—जो कि सत्यभाषण अर्थात् सत्य बोलने से विरुद्ध है, उसको 'मिथ्याभाषण' कहते हैं।

८-विश्वास—जिसका मूल अर्थ और फल निश्चय करके सत्य ही हो, उसका नाम 'विश्वास' है।

९-अविश्वास—जो विश्वास से उलटा है, जिसका तत्त्व अर्थ न हो, वह 'अविश्वास' कहाता है।

१०-परलोक—जिसमें सत्यविद्या से परमेश्वर की प्राप्ति हो, और उस प्राप्ति से इस जन्म वा पुनर्जन्म और मोक्ष में परमसुख प्राप्त होना है, उसको 'परलोक' कहते हैं।

११-अपरलोक—जो परलोक से उलटा है, जिसमें दुःख विशेष भोगना होता है, उसे 'अपरलोक' कहते हैं।

१२-जन्म—जिस में किसी शरीर के साथ संयुक्त होके, जीव कर्म करनेमें समर्थ होता है, उसको 'जन्म' कहते हैं।

१३—मरण—जिस शरीर को प्राप्त होकर जीव क्रिया करता है, उस शरीर और जीव का किसी काल में जो वियोग हो जाना है, उसको 'मरण' कहते हैं।

१४—स्वर्ग—जो विशेष सुख और सुख की सामग्री को जीव का प्राप्त होना है, वह 'स्वर्ग' कहाता है।

१५—नरक—जो विशेष दुःख और दुःख की सामग्री को जीव का प्राप्त होना है, उसको 'नरक' कहते हैं।

१६—विद्या—जिससे ईश्वर से लेके पृथिवी-पर्यन्त पदार्थों का सत्य विज्ञान होकर, उनसे

यथायोग्य उपकार लेना होता है, इसका नाम 'विद्या' है।

१७—अविद्या—जो विद्या से विपरीत है, भ्रम, अन्धकार और अज्ञान रूप है, इसको 'अविद्या' कहते हैं।

१८—सत्पुरुष—जो सत्यप्रिय धर्मात्मा विद्वान् सब के हितकारी और महाशय होते हैं, वे 'सत्पुरुष' कहाते हैं।

१९—सत्संगकुसंग—जिस करके झूठ से छूट के सत्य की ही प्राप्ति होती है, उसको सत्संग और जिस करके पापों में जीव फसे, उसको 'कुसंग' कहते हैं।

२०—तीर्थ—जितने विद्याभ्यास, सुविचार, ईश्वरोपासना, धर्मानुष्ठान, सत्य का संग, ब्रह्मचर्य, जितेन्द्रियतादि उत्तम कर्म हैं, वे सब 'तीर्थ' कहाते हैं। क्योंकि इन करके जीव दुःखसागर से तर जा सकते हैं।

२१—स्तुति—जो ईश्वर वा किसी दूसरे पदार्थ के गुण ज्ञान, कथन, श्रवण और सत्यभाषण करना है; वह 'स्तुति' कहाती है।

२२—स्तुति का फल—जो गुणज्ञान आदि के करने से, गुणवाले पदार्थों में प्रीति होती है, यह 'स्तुति' का फल कहाता है।

२३—निन्दा—जो मिथ्याज्ञान, मिथ्याभाषण, झूठ में आग्रहादि क्रिया है, जिससे कि गुण छोड़ कर, उनके स्थान में अपगुण लगाना होता है, वह 'निन्दा' कहाती है।

२४—प्रार्थना—अपने पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त उत्तम कर्मों की सिद्धि के लिये परमेश्वर वा किसी सामर्थ्यवाले मनुष्य के सहाय लेने को 'प्रार्थना' कहते हैं।

२५—प्रार्थना का फल—अभिमान का नाश, आत्मा में आर्द्रता, गुण ग्रहण में पुरुषार्थ और अत्यन्त प्रीति का होना, 'प्रार्थना का फल' है।

२६—उपासना—जिससे ईश्वर ही के आनन्द स्वरूप में अपने आत्मा को मग्न करना होता है, उसको 'उपासना' कहते हैं।

२७—निर्गुणोपासना—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग, वियोग, हलका, भारी, अविद्या जन्म, मरण और दुःख आदि गुणों से रहित परमात्मा को जानकर, जो उसकी उपासना करनी है, उसको 'निर्गुणोपासना' कहते हैं।

२८—सगुणोपासना—जिसको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, शुद्ध, नित्य, आनन्द, सर्वव्यापक, एक सनातन, सर्वकर्त्ता, सर्वाधार, सर्वस्वामी, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, मंगलमय, सर्वानन्दप्रद, सर्वपिता, सब जगत् का रचनेवाला, न्यायकारी, दयालु आदि सत्य गुणों से युक्त जानके, जो ईश्वर की उपासना करना है, सो 'सगुणोपासना' कहाती है।

२९—मुक्ति—अर्थात् जिससे सब बुरे काम और जन्म मरणादि दुःखसागर से छूटकर, सुखरूप परमेश्वर को प्राप्त होके, सुख ही में रहना है, वह 'मुक्ति' कहाती है।

३०—मुक्ति के साधन—अर्थात् जो पूर्वोक्त ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना का करना, धर्म का आचरण और पुण्य का करना, सत्संग, विश्वास, तीर्थ सेवन, सत्पुरुषों का संग और परोपकारादि सब अच्छे कामों का करना तथा सब दुष्ट कर्मों से अलग रहना है, ये सब 'मुक्ति के साधन' कहाते हैं।

३१—कर्त्ता—जो स्वतन्त्रता से कर्मों का करने वाला है. अर्थात् जिसके स्वाधीन सब साधन होते हैं, वह 'कर्त्ता' कहाता है।

३२—कारण—जिनको ग्रहण करके करने वाला किसी कार्य व चीज को बना सकता है, अर्थात् जिसके विना कोई चीज़ बन नहीं सकती, वह 'कारण' कहाता है, सो तीन प्रकार का है—

५२—अनादि पदार्थ—जो ईश्वर, जीव और सब जगत् का कारण है, ये तीन 'स्वरूप से अनादि' हैं।

५३—प्रवाह से अनादि पदार्थ—जो कार्य जगत् जीव के कर्म, और जो इनका संयोग वियोग है, ये तीन 'परंपरा से अनादि' हैं।

५४—अनादि का स्वरूप—जो न कभी उत्पन्न हुआ हो, जिसका कारण कोई भी न होवे, अर्थात् जो सदा से स्वयंसिद्ध हो, वह 'अनादि' कहाता है।

५५—पुरुषार्थ—अर्थात् सर्वथा आलस्य छोड़ के उत्तम व्यवहारों की सिद्धि के लिये मन, शरीर, वाणी और धन से जो अत्यन्त उद्योग करना है, उसको 'पुरुषार्थ' कहते हैं।

५६—पुरुषार्थ के भेद—जो अप्राप्त वस्तु की इच्छा करनी, प्राप्त का अच्छे प्रकार रक्षण करना, रक्षित को बढ़ाना, और बढे हुए पदार्थ का सत्यविद्या की उन्नति में तथा सब के हित करने में खर्च करना है, इन 'चार प्रकार के कर्मों को पुरुषार्थ' कहते हैं।

५७—परोपकार—अर्थात् अपने सब सामर्थ्य से दूसरे प्राणियों के सुख होने के लिये जो तन, मन, धन से प्रयत्न करना है, वह 'परोपकार' कहाता है।

५८—शिष्टाचार—जिसमें शुभगुणों का ग्रहण और अशुभ गुणों का त्याग किया जाता है, वह 'शिष्टाचार' कहाता है।

५९—सदाचार—जो सृष्टि से लेके आज पर्यन्त सत्पुरुषों का वेदोक्त आचार चला आया है, कि जिसमें सत्य का ही आचरण और असत्य का परित्याग किया है, उसको 'सदाचार' कहते हैं।

६०—विद्यापुस्तक—जो ईश्वरोक्त, सनातन, सत्य विद्यामय चार वेद हैं, उनको 'विद्यापुस्तक' कहते हैं।

६१—आचार्य—जो श्रेष्ठ आचार को ग्रहण करा के सब विद्याओं को पढ़ा देवे, उसको 'आचार्य कहते हैं।

६२—गुरू—जो वीर्यदान से लेके भोजनादि करा-के पालन करता है, इससे पिता को 'गुरु' कहते हैं। और जो अपने सत्योपदेश से हृदय का अज्ञानरूपी अन्धकार मिटा देवे, उस को भी 'गुरु' अर्थात् आचार्य्य कहते हैं।

६३—अतिथि—जिसकी आने और जाने में कोई भी निश्चित तिथि न हो, तथा जो विद्वान् होकर सर्वत्र भ्रमण करके प्रश्नोत्तर के उप-देश से सब जीवों का उपकार करता है, उसको 'अतिथि' कहते हैं।

६४—पञ्चायतनपूजा—जीते माता, पिता, आचार्य-अतिथि, और परमेश्वरको जो यथायोग्य सत्कार करके प्रसन्न करना है, उसको 'पञ्चायनपूजा' कहते हैं।

६५—पूजा—जो ज्ञानादि गुणवाले का यथायोग्य सत्कार करना है, उसको 'पूजा' कहते हैं।

६६—अपूजा—जो ज्ञानादि रहित जड़ पदार्थ, और जो सत्कार के योग्य नहीं है, उसका जो सत्कार करना है, वह 'अपूजा' कहाती है।

६७—जड़—जो वस्तु ज्ञानादि गुणों से रहित है, उसको 'जड़' कहते हैं।

६८—चेतन—जो पदार्थ ज्ञानादि गुणों से युक्त है, उसको 'चेतन' कहते हैं।

६९—भावना—जो जैसी चीज हो, उसमें विचार से वैसा ही निश्चय करना, कि जिसका विषय भ्रमरहित हो, अर्थात् जैसे को वैसा ही समझ लेना, उसको 'भावना' कहते हैं।

७०—अभावना—जो भावना से उलटी हो, अर्थात् जो मिथ्याज्ञान से अन्य निश्चय मान लेना है, जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़ का निश्चय कर लेना है, उसको 'अभावना' कहते हैं।

७१—पण्डित—जो सत् असत् को विवेक से जाननेवाला, धर्मात्मा, सत्यवादी, सत्यप्रिय, विद्वान् और सबका हितकारी है, उसको 'पण्डित' कहते हैं।

७२—मूर्ख—जो अज्ञान, हठ, दुराग्रहादि दोष सहित है, उसको 'मूर्ख' कहते हैं।

७३—ज्येष्ठकनिष्ठव्यवहार—जो बड़े और छोटों से यथायोग्य परस्पर मान्य करना है, उसको 'ज्येष्ठकनिष्ठ व्यहार' कहते हैं।

७४—सर्वहित—जो तन, मन और धन से सबके सुख बढ़ाने में उद्योग करना है, उसको 'सर्वहित' कहते हैं।

७५—चोरीत्याग—जो स्वामी की आज्ञा के विना किसी के पदार्थ का ग्रहण करना है, वह 'चोरी' और उसका छोड़ना 'चोरीत्याग' कहाता है।

७६—व्यभिचारत्याग—जो अपनी स्त्री के विना दूसरी स्त्री के साथ गमन करना, और अपनी स्त्री को भी ऋतुकाल के विना वीर्यदान देना तथा, अपनी स्त्री के साथ भी वीर्य का अत्यन्त नाश करना, और युवावस्था के विना विवाह करना है, यह 'व्यभिचार' कहता है। उसको छोड़ देने का नाम 'व्यभिचारत्याग' है।

७७—जीव का स्वरूप—जो चेतन, अल्पज्ञ, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान गुणवाला तथा नित्य है, वह 'जीव' कहाता है।

७८—स्वभाव—जिस वस्तु का जो स्वभाविक गुण है, जैसे की अग्नि में रूप और दाह, अर्थात् जब तक वह वस्तु रहे, तब तक उसका वह गुण भी नहीं छूटता, इसलिये इसको 'स्वभाव' कहते हैं।

७९—प्रलय—जो कार्य जगत् का कारणरूप होना, अर्थात् जगत् का करने वाला ईश्वर जिन-जिन कारण से सृष्टि बनाता, जो कि अनेक कार्यों को रचके, यथावत् पालन करके, पुनः कारणरूप करके रखता है, उसका नाम 'प्रलय' है।

८०—मायावी—जो छल कपट स्वार्थमें ही प्रसन्नता, दम्भ, अहङ्कार, शठतादि दोष हैं, और जो मनुष्य इनसे युक्त हो, वह 'मायावी' कहाता है।

८१—आप्त—जो छलादि दोषरहित, धर्मात्मा, विद्वान्, सत्योपदेष्टा, सब पर कृपादृष्टि से वर्त्तमान होकर, अविद्यान्धकार का नाश करके अज्ञानी लोगों के आत्माओं में विद्यारूप सूर्य का प्रकाश सदा करे, उसको आप्त कहते हैं।

८२—परीक्षा—जो प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण, वेदविद्या आत्मा की शुद्धि, और सृष्टिक्रम से अनुकूल विचार के, सत्यासत्य को ठीक-ठीक निश्चय करना है, उसको 'परीक्षा' कहते हैं।

८३—आठ प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव, और अभाव, ये 'आठ प्रमाण' हैं। इन्हीं से सब सत्यासत्य का यथावत् निश्चय मनुष्य कर सकता है।

८४—लक्षण—जिससे जाना जाय, जो कि उसका स्वाभाविक गुण है, जैसे कि रूप से अग्नि जाना जाता है, इसको 'लक्षण कहते हैं।

८५—प्रमेय—जो प्रमाणों से जाना जाता है, जैसे कि आँख का प्रमेय रूप अर्थ है, जो कि इन्द्रियों से प्रतीत होता है, उसको 'प्रमेय' कहते हैं।

८६—प्रत्यक्ष—जो प्रसिद्ध शब्दादि पदार्थों के साथ श्रोत्रादि इन्द्रिय और मन के निकट सम्बन्ध से ज्ञान होता है, उसको 'प्रत्यक्ष' कहते हैं।

८७—अनुमान—किसी पूर्व दृष्ट पदार्थ के एक अंग को प्रत्यक्ष देख के, पश्चात् उसके अदृष्ट अंगों का जिससे यथावत् ज्ञान होता है, उसको 'अनुमान' कहते हैं।

८८—उपमान—जैसे किसी ने किसी से कहा कि गाय के तुल्य नील गाय होती है, ऐसे जो उपमा से सादृश्य ज्ञान होता है, उसको 'उपमान' कहते हैं।

८९—शब्द—जो पूर्ण आप्त परमेश्वर और आप्त

मनुष्य का उपदेश है, उसी को 'शब्द'प्रमाण कहते है।

९०—ऐतिह्य—जो शब्दप्रमाण के अनुकूल हो, जो कि असम्भव और झूठ लेख न हो, उसी को 'ऐतिह्य' (इतिहास) कहते हैं।

९१—अर्थापत्ति—जो एक बात के कहने से दूसरी विना कहे समझी जाय, उसको 'अर्थापत्ति' कहते हैं।

९२—सम्भव— जो बात प्रमाण, युक्ति और सृष्टिक्रम से युक्त हो, वह 'सम्भव' कहाता है।

९३—अभाव—जैसे किसी ने किसी से कहा कि तू जल ले आ। उसने वहां देखा कि जल नहीं है, परन्तु जहां जल है, वहां से ले आना चाहिये। इस अभाव निमित्त से जो ज्ञान है, उसे 'अभाव' कहते हैं।

९४—शास्त्र—जो सत्य विद्याओं के प्रतिपादन से युक्त हो, और जिस करके मनुष्यों को सत्य सत्य शिक्षा हो, उसको 'शास्त्र' कहते हैं।

९५—वेद—जो ईश्वरोक्त, सत्य विद्याओं से युक्त, ऋक्संहितादि चार पुस्तक हैं, जिनसे मनुष्यों को सत्यासत्य का ज्ञान होता है, उनको 'वेद' कहते हैं।

९६—पुराण—जो प्राचीन ऐतरेय, शतपथ ब्राह्मणादि ऋषि मुनि-कृत सत्यार्थ पुस्तक हैं, उन्हीं को 'पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा और नाराशंसी' कहते हैं।

९७—उपवेद—जो आयुर्वेद वैद्यकशास्त्र, जो धनुर्वेद शस्त्रास्त्र विद्या राजधर्म्म, जो गान्धर्ववेद गानशास्त्र, और अर्थवेद जो शिल्पशास्त्र हैं, इन चारों को 'उपवेद' कहते हैं।

९८—वेदांग—जो शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष आर्ष सनातन शास्त्र हैं, इनको 'वेदांग' कहते हैं।

९९—उपांग—जो ऋषि मुनिकृत मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त छः शास्त्र हैं, इनको 'उपाङ्ग' कहते हैं।

१००—नमस्ते—मैं तुम्हारा मान्य करता हूँ॥

वेदरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे विक्रमार्कस्य भूपतेः।
नभस्ये सितसप्तम्यां सौम्ये पूर्तिमगादियम्॥

श्रीयुत महाराजा विक्रमादित्यजी के १९३४ के संवत में श्रावण महीने के शुक्लपक्ष ७ सप्तमी बुधवार के दिन स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ने आर्य्यभाषा में सब मनुष्यों के हितार्थ यह आर्य्योद्देश्यरत्नमाला पुस्तक प्रकाशित किया। *

---

*प्रकाशित किया इन शब्दों का यह अर्थ है कि लिखा, न कि छपवाकर प्रकाशित किया। महर्षि का मन्त्री आर्य समाज लाहौर के नाम जो पत्र हम ने अपने निवेदनमें, इस पुस्तक के आरम्भ में उद्धृत किया है, उस से यह स्पष्ट है कि भाद्रपद संवत् १९३४ वि० में इस ग्रन्थ के प्रकाशन का प्रबन्ध किया जा रहा था।

—सम्पादक

श्री स्वामी वेदानन्द जी महाराज की एक नई पुस्तक

वेद हमारा परम पवित्र धर्म ग्रन्थ है। इसका परिचय प्रत्येक को होना आवश्यक है। इस पुस्तक में श्री स्वामीजी ने वेदों के विषय में प्रचलित वादों और धारणाओं का विवेचन एवं वेदों की बहिरंग और अन्तरंग परीक्षा करके वेदों का महत्व बड़ी उत्तमता से दर्शाया है। आर्य साहित्य में यह एक नई और ठोस वृद्धि हुई है। मूल्य ।=) मात्र

मिलने का पता—गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, देहली

* ओ३म् *

भ्रान्ति-निवारण

सम्पादक का निवेदन

———*———

महर्षि दयानन्द अपना वेदभाष्य मासिक-पत्र के रूप में क्रमशः प्रकाशित किया करते थे। आश्विन सम्वत् १९३६ वि० के यजुर्वेद भाष्यके ग्यारहवें अंक के अन्त में 'भ्रान्ति-निवारण' के सम्बन्ध में एक विज्ञापन प्रकाशित हुआ था। हम सर्वप्रथम उसे ही यहाँ उद्धृत करते हैं, जो कि इस प्रकार है:—

"यह पुस्तक स्वामी जी ने आर्य भाषा में शंका समूह दूर करने के लिये कि जो बहुत लोगों को हुआ है, बनाया है। आजकल बहुत से लोगों ने कि जिन्होंने वेद के आशय पर प्राचीन आर्ष-ग्रन्थ नहीं पढ़े और केवल आधुनिक ग्रन्थों पर आश्रय किये बैठे हैं, इस वेदभाष्य पर अपनी आश्चर्यजनक सम्मति देते हैं। जैसे पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न, और पण्डित गोविन्दराम इत्यादि ने वेदभाष्य के खण्डन पर पुस्तक बनाये हैं। और पण्डित शिवनारायण अग्निहोत्री ने भी उसके खण्डन में थोड़े लेख अपने रिसाले 'बिरादरे हिंद' में लिखे और पृथक् भी पुस्तक 'दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य रेव्यू' इस नाम से मुद्रित कराया है। पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न का पुस्तक सबसे पीछे बना है और उसके पुस्तक में इतर सब पण्डितों की शंकायें भी पाई जाती हैं। इसलिये स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ने केवल इसी पुस्तक को मुख्य समझकर, इस समस्त पुस्तक का खण्डन इस प्रकार किया है कि प्रथम उस पुस्तक का वाक्य, फिर ऋषि-मुनियों के प्रमाण देकर अपनी ओर से उसका खण्डन।

इस पुस्तक के अवलोकन से पक्षपात रहित मनुष्यों को किसी प्रकार की शंका न रहेगी। उचित है कि द्वेष रहित होकर लोग इस पुस्तक को शुद्ध अन्तःकरण से अवलोकन करें। यह पुस्तक देवनागरी लिपि में बिलायती कागज पर स्वच्छतापूर्वक 'आर्य भूषण यन्त्रालय शाहजहांपुर में मुद्रित हुआ है। डाक महसूल सहित मूल्य ॥–) भेजकर मंगालें।"

महर्षि ने इस ग्रन्थ की रचना क्यों की थी? इस प्रश्न का उत्तर इस विज्ञापन में आ गया है। साथ ही इससे यह भी स्पष्ट है कि आश्विन सम्वत् १९३६ से पूर्व ही इसका प्रकाशन हो चुका था। आजकल वैदिक यन्त्रालय अजमेर द्वारा प्रकाशित 'भ्रान्ति-निवारण' के अन्त में सम्वत् १९३४, कार्तिक शुक्ला २, का उल्लेख किया जाता है, यह इस पुस्तक को लिखकर पूर्ण करने का काल समझना चाहिये। श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक लिखते हैं:—

"महर्षि कार्तिक कृ० ३० से कार्तिक शु० २ [सम्वत् १९३४] तक लाहौर में ठहरे थे। अतः यह ग्रन्थ लिखकर लाहौर में ही पूर्ण हुआ होगा। और इसका प्रारम्भ कदाचित फिरोजपुर में हुआ होगा, क्योंकि इससे पूर्व कार्तिक कृ० ४ से कार्तिक कृ० १४ तक महर्षि ने फिरोजपुर में निवास किया था।"

[ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास पृ० ११२]

महर्षि ने अमृतसर से मन्त्री आर्य समाज लाहौर के नाम 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' के विषय में जो पत्र लिखा था, उसमें यह लेख भी है—

"जो वेदभाष्य पर विरुद्ध सम्मति के उत्तर के पत्र छपवाकर बम्बई आदि में भेज दिये जावेंगे और नीज समाचारपत्रों में भी छपवा दिये जावें, तो बहुत अच्छी बात होगी। आगे आप लोगों की जैसी इच्छा हो, वैसा कीजिये।"

महर्षि ने यह पत्र सम्वत् १९३४ मिति भादों सुदी ३, सोमवार तदानुसार १० दिसम्बर सन् १८७७ ई० को लिखा था। श्री पं० लेखराम कृत महर्षि के बृहद् जीवन-चरित्र में यह पृष्ठ ३२६ पर छपा है और

"ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन" नामक श्री पं० भगवद्दत्त जी द्वारा सम्पादित उत्तम पुस्तक में भी पृ० ७५ पर प्रकाशित किया गया है।

हमारा अनुमान है कि पत्र का ऊपर उद्धृत लेख इस 'भ्रान्ति-निवारण' के विषय में ही है। तब महर्षि ने यह पुस्तक पूर्ण करके लाहौर के आर्य पुरुषों को दे दिया होगा, और वहां इसके प्रकाशन आदि की व्यवस्था हो रही होगी। लाहौर से भी 'भ्रान्ति-निवारण' का प्रकाशन हुआ था वा नहीं, अथवा 'भ्रान्ति-निवारण' का सर्वप्रथम संस्करण कब कहां से प्रकाशित हुआ था? ये विषय अभी तक भी विवादास्पद ही बने हुए हैं।

विरोध परिहार करते हुए इस पुस्तक में महर्षि ने 'ऋग्वेदादि-भाष्य भूमिका' के तत्तत् सम्बन्धी प्रकरणों को देखने का उल्लेख बारम्बार किया है, इस पुस्तक का पाठ और विचार करते हुए महर्षि के आदेशानुसार ऋग्वेदादि-भाष्य भूमिका के उन—उन प्रकरणों का भी पाठ और विचार अवश्य ही करना चाहिये। हमारी इच्छा थी कि हम ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के पाठ भी इस ग्रन्थ में यथास्थान उद्धृत करें। परन्तु ऐसा करते, तो इस ग्रन्थ का कलेवर कई गुना बढ़ जाता। अतः हमें यह विचार इस समय छोड़ देना पड़ा है।

आज तो महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य का खूब आदर होने लगा है, उन की शैली की प्रशंसा हो रही है, विरोधियों ने भी उनके मन्तव्यों, सिद्धांतों, विचारों, प्रमाणों, तर्कों और कार्यों का महत्व स्वीकार कर लिया है; परन्तु जब 'भ्रान्ति-निवारण' की रचना महर्षि ने की थी, तब तो महर्षि के सभी विरोधी मिल कर एक हो गये थे। और, वे सभी घेरकर महर्षि को परास्त करना चाहते थे। ऐसा करने के लिये वे नाना प्रकार के प्रपंच रचते रहते थे और घोर मिथ्याचरण करने का पाप तक भी कर डालते थे। यहां एक बात विशेष रूप से ध्यान देने की यह है कि जो भारतीय विद्वान् तब महर्षि का विरोध करने को आगे बढ़ते थे—वे प्रायः ग्रिफ्थ साहेब वा किसी न किसी विदेशी विद्वान् के बहकाये-सिखाये हुए ही होते थे। विदेशी विद्वान् स्वयं तो सामने आने का साहस करते नहीं थे अतः वे अपना कोई न कोई भाड़े का टट्टू महर्षि के आगे खड़ा कर देते थे। महर्षि इस चाल को भली प्रकार समझ भी चुके थे। तभी तो 'भ्रान्ति-निवारण' में २ पर वे लिखते हैं:—

"उन्होंने अटकल पच्चू कूप मण्डूक के समान चतुराई दिखाई है। ये सब किसी ईर्ष्यक, स्वार्थी, विद्याहीन और पक्षपाती मनुष्य के फुसलाने वा अपनी ही थोड़ी सामग्री अर्थात् हलदी की गांठ के बल से लिख कर बैठे रहे कि जिस में वृथा कीर्ति देश में हो जावे। सो पण्डित जी यह न समझें कि भारतवर्ष में विद्वान् नहीं रहे। यह व्याघ्र की खाल किसी दिन उघड़ कर सब कलई खुल जायेगी।"

अपने वेदभाष्य में महर्षि को कितनी प्रगाढ़ आस्था थी और वे क्या-क्या आशायें मन में रखते थे, यह भी उनके ही शब्दों में देखिये:—

"परमात्मा की कृपा से मेरा शरीर बना रहा और कुशलता से वह दिन देख मिला कि वेदभाष्य सम्पूर्ण हो जावे, तो निसन्देह इस आर्यावर्त्त देश में सूर्य का-सा प्रकाश हो जावेगा। कि जिसके मेटने और झांपने को किसी का सामर्थ्य न होगा। क्योंकि सत्य का मूल ऐसा नहीं कि जिस को कोई सुगमता से उखाड़ सके। और कभी भानु के समान ग्रहण में भी आ जावे, तो थोड़े ही काल में फिर उग्रह अर्थात् निर्मल हो जावेगा।"

[भ्रान्ति-निवारण]

लीजिये, महर्षि के ही शब्दों में उनके गम्भीर और सुविस्तृत स्वाध्याय तथा ग्रन्थों के प्रामाण्याप्रामाण्य विषय को भी देखिये:—

"मैं अपने निश्चय और परीक्षा के अनुसार ऋग्वेद से लेकर पूर्व मीमांसा पर्यन्त अनुमान से तीन हज़ार ग्रन्थों के लगभग मानता हूँ।"

[भ्रान्ति-निवारण]

महर्षि ने 'भ्रान्ति-निवारण' के आरम्भ में जो भूमिका लिखी है, वह बड़ी ही मर्मस्पर्शी है। उसके एक-एक शब्द से गहरी टीस और दर्द की कराहट प्रतिध्वनित होती है। वह इस योग्य है कि पाठक मनोयोग पूर्वक उसका पाठ और विचार करें। महर्षि भरे हुए हृदय से भूमिका में लिखते हैं—

इससे कई कठिन शंका तो मेरे बनाये ग्रन्थों ही के ठीक-ठीक मन लगाकर विचारने से ही निवारण हो सकती हैं। फिर निष्प्रयोजन मेरा सर्वहितकारी काल क्यों खोते हैं?"

जरा महर्षि के अन्तरात्मा की इस स्पष्टोक्ति को विचारिये:—

"जो मैं निरानिरी संसार ही का भय करता, और सर्वज्ञ परमात्मा का कुछ भी नहीं कि जिसके आधीन मनुष्य के जीवन मृत्यु और सुख दुःख हैं, तो मैं भी ऐसे ही अनर्थक वादविवादों में मन देता। परन्तु क्या करूं, मैं तो अपना तन, मन, धन, सब सत्य के ही प्रकाशार्थ समर्पण कर चुका। मुझ से खुशामद करके अब स्वार्थ का व्यवहार नहीं चल सकता। किन्तु संसार को लाभ पहुँचाना ही मुझको चक्रवर्ती राज्य के तुल्य है।"

वैदिक यन्त्रालय अजमेर द्वारा छटी बार प्रकाशित प्रति के पाठानुसार, पुनरपि सम्पादन करके 'भ्रान्ति-निवारण' का प्रकाशन आगे किया जा रहा है।

—सम्पादक

स्वाध्याय-सन्दोह

(लेखक—वेद शास्त्रज्ञ श्री स्वामी वेदानन्द सरस्वती जी)

कहने को तो इस पुस्तक में ३६७ मन्त्र हैं, परन्तु जब आप इसका स्वाध्याय करेंगे, तो आप देखेंगे कि मन्त्रों की व्याख्या में प्रसंग-से अनेकों मन्त्र, मन्त्रखण्ड, उपनिषदों के वाक्य, मनुस्मृति के श्लोक, ऋषि दयानन्द के वचन तथा अन्य महा पुरुषों के वचन भी उद्धृत हुए हैं। इस प्रकार सामग्री अधिक है। साथ ही लोक व्यवहार की उपेक्षा भी स्वामी जी ने नहीं की। सद् गृहस्थों के लिये बहुत उपयोगी मन्त्र इसमें पायेंगे। यह संग्रह बहुत सुन्दर बन गया है। सारा वर्ष प्रति दिन आप इससे अमृत पान कर सकते हैं। श्री स्वामी जी महाराज ने दिन रात के घोर परिश्रम से जो दुग्ध वेद धेनु से प्राप्त किया है, उसे पान कीजिये और आत्मिक, शारीरिक तथा सामाजिक शक्ति प्राप्त कीजिये। नित्य पाठ करने और समाजों में वेद प्रवचन के लिये यह सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है।

वेद प्रकाश जैसे बड़े साइज के ५०० पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य केवल ६) मात्र

डाक व्यय पृथक्।

मिलने का पता—

गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, देहली

भूमिका

—*—

विदित हो कि जो मैंने संसार के उपकारार्थ वेद-भाष्यके बनानेका आरंभ किया है, कि जो सब प्राचीन ऋषियों की, की हुई व्याख्या और अन्य सत्य ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त बनाया जाता है। जिससे इस बात की साक्षी वे सब ग्रन्थ आज पर्य्यन्त वर्त्तमान हैं। और मेरे बनाये मासिक अङ्कों में भी विद्वानों के समझने के लिये संकेतमात्र जहां तहां लिख दिये हैं, कि देखने वालों को सुगमता हो। और किसी प्रकार की भ्रान्ति वा शंका मेरे लेख पर होकर, वृथा कुतर्क खड़ी करके, कोई मनुष्य मेरे काल को न खोवे, कि जिससे देश-भर की हानि हो, और उस को भी कुछ लाभ न हो। परन्तु बहुधा संसार में यह उलटी रीति है, कि लोग उत्तम कर्म कर चुके और करते हुये को देखकर, ऐसे प्रसन्न नहीं होते, जैसे कि निषिद्ध कर्म वा हानि को देखकर होते हैं।

जो मैं निरानिरी संसार ही का भय करता और सर्वज्ञ परमात्मा का कुछ भी नहीं, कि जिसके आधीन मनुष्य के जीवन मृत्यु और सुख-दुःख हैं, तो मैं भी ऐसे ही अनर्थक वाद विवादों में मन देता। परन्तु क्या करूँ, मैं तो अपना तन, मन, धन, सब सत्य के ही प्रकाशार्थ समर्पण कर चुका। मुझसे खुशामद करके अब स्वार्थ का व्यवहार नहीं चल सकता। किन्तु संसार को लाभ पहुँचाना ही मुझको चक्रवर्ती राज्य के तुल्य है।

मैं इस बात को प्रथम ही अच्छे प्रकार जानता था कि न्यारिये के समान बालू से सुवर्ण निकालने-वाले चतुर कम होंगे, किन्तु सजीन मच्छी की नाईं निर्मल जल को गदला करने और बिगाड़नेवाले बहुत हैं। परन्तु मैंने इस धर्मकार्य का सर्वशक्तिमान् सत्य-ग्राहक और न्यायलम्बनी परमात्मा के शरण में शीस धर के, उसी के सहाय के अवलम्ब से आरम्भ किया है।

मैं यह भी जानता था, कि इस ग्रंथ के विषय में जो शंका होंगी, तो कम विद्वान् और ईर्ष्या करनेवालों को होंगी, परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि कई विद्वान् भी इसी अन्धकार में फिसल पड़े। और इतना न हुआ कि आंख खोल कर अथवा लालटेन लेकर चलें, कि जिसमें चाल चूकने पर हांसी और दुःख न हो। यह पूर्व विचार करना बड़े विद्वान् अर्थात दीर्घ-दृष्टिवाले का काम है। नहीं तो गिरे की लज्जा का फिर क्या ही ठीक है।

इस वेद भाष्य के विषय में पहिले आर० ग्रिफ़िथ साहब सी० एच० टानी और पण्डित गुरुप्रसाद आदि पुरुषों ने कहीं-कहीं अपनी सामर्थ्य के अनुसार पकड़ की थी। सो उन का उत्तर तो अच्छे प्रकार दे दिया गया था। परन्तु अब पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न जो आफीशियेटिंग * प्रिन्सिपल कलकत्ते में के संस्कृत-कालेज के हैं, उन्होंने भी पूर्वोक्त विद्वान पुरुषों का रंग पकड़ कर, सन के छूछे गोले चलाये हैं। इसलिये यद्यपि मेरा बहुत अमूल्य समय ऐसे तुच्छ कामों में खर्च होना न चाहिये, परन्तु दो बातों की सिद्धि समझ कर संतोष से कुछ लेख करना आवश्यक जानता हूँ। एक तो यह कि ईश्वरकृत सत्यविद्यापुस्तक वेदों पर दोष न आवे कि उसमें अनेक परमेश्वर की पूजा पाई जाती है। और दूसरे यह कि आगे को मनुष्यों को प्रकट हो जाय, कि ऐसी-ऐसी व्यर्थ कुतर्क फिर खड़ी करके मेरा काल न खोवें। क्योंकि इससे कई कठिन शंका तो मेरे बनाए ग्रन्थों ही के ठीक-ठीक मन लगा-कर विचारने से ही निवारण हो सकती हैं। फिर निष्प्रयोजन मेरा सर्वहितकारी काल क्यों खोते हैं?

यह दोष इस देश में बहुत काल से पड़ा हुआ है? अर्थात् महाभारत के युद्ध में जब अच्छे-अच्छे पूर्ण विद्वान् वेद और शास्त्रादिक के जानने वाले चल बसे। विद्या का प्रचार तथा सत्य उपदेश की व्यवस्था छूट कर तमाम देश में नाना प्रकार के विघ्न और उपद्रव उठने लगे। लोगों ने अपना-अपना छप्पर अपने-अपने हाथ से छाने की फिकर की।

---

* अर्थात् स्थानापन्न। —सम्पादक

और इस थोड़े से सुख के लोभ में उत्तम-उत्तम विद्याओं को ऐसा हाथ से खो बैठे कि जिससे उनका विचारा हुआ लाभ भी नष्ट हो गया। और तमाम अपने देश को भी धर कर डुबा दिया। बड़े शोक की बात यह है, कि आंखों से देखकर भी कूप में गिरना अच्छा समझ कर, अपनी अज्ञानता पर दुखी और लज्जावान् होने की जगह भी बराबर हठ ही करते चले जाते हैं। इसका परिणाम न जाने क्या होगा है।

दूसरा कारण आर्यों के बिगाड़ का यह भी है कि उन को जैन लोगों ने बहुत कुछ दबाया और सत्यग्रन्थों का नाश किया। फिर इन्हीं के समान मुसलमानों ने भी अपने धर्म का पक्ष करके दुःख दिया। और जब से देश में अङ्गरेजों ने इस देश में राज किया तो इन्होंने यह बात बहुत अच्छी की कि सब प्रकार की विद्याओं का प्रचार करके प्रजा को समानदृष्टि से सुधारा। परन्तु कुछ-कुछ निज धर्म का पक्ष करते ही रहे। इसी से लोगों का उत्साह भी कमती होता गया। और आजतक वेदों का प्रचार और सत्य उपदेश का प्रबन्ध ठीक-ठीक होता तो किसी को शंका भ्रान्ति और हठ वेद के विरुद्ध नवीन कल्पित मत-मतान्तर का न होता, जैसे कि पण्डित महेशचन्द्र का गुमान है। यह केवल उन का वेदों से विमुख होने का कारण है। इसलिये उनकी भ्रान्ति-निवारण विषय में कुछ लिखा जाता है।

—इति—

—दयानन्द सरस्वती

वेद-मंजरी

शब्दार्थ और भावार्थ सहित चार सौ वेद मन्त्रों का स्वाध्याय कीजिये।

ऋग्वेद-मंजरी

महर्षि दयानन्द सरस्वती कृत भाष्य सहित एक सौ वेद-मन्त्र

यजुर्वेद-मंजरी

महर्षि दयानन्द सरस्वती कृत भाष्य सहित एक सौ वेद-मन्त्र

सामवेद-मंजरी

श्री पण्डित तुलसीराम स्वामी कृत भाष्य सहित एक सौ वेद-मन्त्र

अथर्ववेद-मंजरी

श्री पण्डित क्षेमकरणदास जी त्रिवेद कृत भाष्य सहित एक सौ वेद-मन्त्र

कागज बढ़िया और आकार प्रकार सुन्दर है।

मूल्य—आठ आने प्रति पुस्तक। पूरा सैट दो रुपये। डाक व्यय पृथक्।

मिलने का पता—गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, देहली

* ओ३म् *

भ्रान्ति-निवारण

अर्थात्

पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न कृत वेदभाष्यपरत्व प्रश्न पुस्तक का पण्डित स्वामी दयानन्द सरस्वती जी की ओर से उत्तर

पंडित महेशचन्द्र न्यायरत्नजी ने विरुद्ध पंडितों के साथ में अपनी राय दी है, तो उन्हीं के उत्तर में इनका भी उतर मेरी ओर से जान लेना।

पं० महेश०—पण्डित दयानन्द सरस्वती जी के परिश्रम, विद्या और पण्डिताई निस्संदेह प्रशंसा योग्य हैं, परन्तु उनका कुछ फल मालूम नहीं देता।

स्वामीजी–सम्मति देने वालों की निष्पक्षता और न्याय तो उनके कथन से ही प्रत्यक्ष हैं, कि जिसको छोटे विद्वान् लड़के भी जान लेंगे। क्योंकि पंडित जी लिखते हैं कि 'स्वामी जी सब तरह विद्या आदि पूर्ण गुणयुक्त होने से प्रशंसा योग्य हैं, परन्तु कुछ फलदायक नहीं'। तो उनका यह कथन पूर्वापर विरोधी है। और इसमें उनका हठ वा वेदविद्या से विमुखता साबित होती है।

पं० महेश०–स्वामी जी का यह गुमान वा अभिप्राय है कि वेद में परमेश्वर की पूजा ठीक है, तथा सब संसारी विद्या और वर्त्तमानकाल की कलाकौशलादि पदार्थविद्या वेदों से ही निकली है। इत्यादि बातें उनका काम मट्टी कर देती हैं।

स्वामीजी–इस बात का उत्तर मैं ग्रिफिथ साहब के उत्तर में दे चुका हूँ। जब पण्डित जी के विचार से वेदों में एक परमेश्वर की उपासना नहीं है, तो उनको उचित था, वा अब भी चाहिये कि कोई मन्त्र वेदों में से लिखकर, यह बात सिद्ध कर दें कि वेदों में अनेक परमेश्वरों का होना सिद्ध है। क्योंकि उन्होंने वेदमन्त्रों में से कोई प्रमाण अपने पक्ष की पुष्टि के लिये नहीं लिखा, इससे इनके मन का अभिप्राय खुल गया। और उनकी विद्या की थाह मिल-गई कि उन्होंने जो अटकलपच्चू कूप शब्द के समान चतुराई दिखलाई है, ये सब किसी ईर्ष्यक, स्वार्थी, विद्याहीन और पक्षपाती मनुष्य के फुसलाने से वा अपनी ही थोड़ी सामग्री अर्थात् हलदी की गांठ के बल से लिखकर बैठ रहे, कि जिसमें वृथा कीर्त्ति देश में हो जावे।

सो पंडितजी यह न समझें कि भारतवर्ष में विद्वान् नहीं रहे। यह व्याघ्र की खाल किसी दिन उघड़ कर सब कलई खुल जावेगी। और मैं तो अपनी थोड़ी-सी विद्या और बुद्धि के अनुसार जो कुछ लिखूंगा, वह सब को मालूम होता जावेगा। और जितना कर चुका, वह जान लिया होगा। और कदाचित् पण्डित जी ने भी समझ लिया होगा। परन्तु मूक के समान संसारी और कल्पित भय से कंद का स्वाद जानकर यथार्थ और निष्पक्षता से कह और मान नहीं सकते हैं।

परमात्मा की कृपा से मेरा शरीर बना रहा और कुशलता से वह दिन देख मिला कि वेदभाष्य संपूर्ण हो जावे, तो निस्सन्देह इस आर्य्यावर्त्त देश में सूर्य्य का सा प्रकाश हो जावेगा कि जिसके मेटने और झांपने को किसी का सामर्थ्य न होगा। क्योंकि सत्य का मूल ऐसा नहीं कि जिसको कोई सुगमता से उखाड़ सके। और कभी भानु के समान ग्रहण में भी आ जावे, तो थोड़े ही काल में फिर उग्रह अर्थात् निर्मल हो जावेगा।

पं० महेश०—स्वामी हिन्दुओं के धर्मप्रचारी ग्रन्थों को नहीं मानते कि जिनमें कर्मकाण्ड और होमादिक का विधान है, किन्तु केवल वेदों ही की तरफ खिचते हैं। इससे मेरी समझ से तो उनको यही उचित है कि वेदों को भी एक तरफ डालकर, अपनी युक्ति और बुद्धि ही के अनुसार वर्ताव वर्त्तें।

स्वामीजी—इस जगह पण्डितजी की और भी बढ़कर भूल साबित होती है। तथा जाना जाता है कि उन्होंने प्राचीन सत्य ग्रन्थ कभी देखे भी नहीं और कल्पना किया कि देखे हों, तो केवल दर्शनमात्र किया हो। नहीं तो खाली तुकें न मिलाते। अब कोई साहब पण्डित जी से पूछें कि उन्होंने हिन्दू शब्द कौन से ग्रन्थ में देखा है, कि जिसके अर्थ गुलाम वा काफिर आदि के हैं। और जो कि आर्य्यावर्त्तियों को कलंकरूप नाम यवनादिक की ओर से है। और आर्य्य शब्द जिसके अर्थ श्रेष्ठ के हैं, वह वेदों में अनेक ठिकाने मिलता है। सो पण्डितजी नौका में धूर उड़ाते हैं। सो कब हो सकता है? और भूषण को दूषण करके मानते हैं, तो माना करो। परन्तु विद्वानों और पूर्ण पण्डितों की ऐसी उल्टी रीति निज धर्मशास्त्र से विरुद्ध कभी नहीं होगी।

आगे वे लिखते हैं कि 'स्वामीजी धर्मप्रचारी ग्रन्थों को ही नहीं मानते हैं कि जिनमें कर्मकाण्ड का विधान है।' तो यह बड़े तमाशे की बात है न तो पण्डित जी ने कभी मुझ से मिलकर चिरकाल विचार किया, और न उन्होंने मेरे बनाये हुए ग्रन्थ देखे, किन्तु प्रथम ही मेरे मानने न मानने के विषय में अपना सिद्धान्त कर बैठे। तो यह वही बात हुई कि सोवें झोंपड़े में और स्वप्न देखें राजमहलों का। क्योंकि मैं अपने निश्चय और परीक्षा अनुसार ऋग्वेद से ले के पूर्व मीमांसा पर्य्यन्त अनुमान से तीन हजार ग्रन्थों के लगभग मानता हूँ।

तथा कर्मकाण्ड के विषय में यह उत्तर है कि मेरा मत वेद पर है। इसलिये जो कर्मकाण्ड वेदानुकूल है, उस सब को मानता हूँ, उससे विरुद्ध को नहीं। क्योंकि वे ग्रन्थ मनुष्यों ने अपने स्वार्थ-साधन के निमित्त रच लिये हैं। वे वेद युक्ति वा प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकते। जो-जो संस्कार आदि मैं मानता हूं, वे सब मेरी बनाई हुई वेदभूमिका अङ्क ३ में तथा संस्कारविधिः आदि ग्रन्थों में देखना चाहिये।

और वे लिखते हैं कि 'वेदों को भी एक तरफ धर दें, केवल अपनी युक्ति वा बुद्धि ही के आधारी रहें, तो उत्तर यह है कि मैं वेदों में कोई बात युक्ति-विरुद्ध वा दोष की नहीं देखता, और उन्हीं पर मेरा मत है। सो यह भेद मेरे वेदभाष्य में खुलता जायेगा। और विद्वानों का यह काम नहीं कि किसी हेतु से सत्य को त्याग के असत्य ग्रहण करें।

पं० महेश०—हिन्दुओं का विश्वास है कि देववाणी का प्रकाश परमेश्वर की ओर से वेद पुस्तकों के रूप से हुआ है, वा ऋषियों के द्वारा प्रेरणा की गई है, परन्तु मेरी समझ से तो दोनों प्रकार से ठीक नहीं हो सकता।

स्वामीजी—इस बात का उत्तर वेदभाष्य की भूमिका अंक १ प्रथम 'वेदोत्पत्ति प्रकरण' में देख लेना चाहिये। परन्तु इतना यहां भी मैं कहता हूँ कि आर्य्य लोग सनातन से युक्ति-प्रमाण सहित वेदों को परमेश्वरकृत मानते बराबर चले आये हैं। इसका ठीक-ठीक विचार आर्य्य लोग ही कर सकते हैं। हिन्दू विचारों का क्या ही सामर्थ्य है।

पं० महेश०—वेद इस विषय में स्वतः प्रमाण हैं कि उनमें बहुधा होम बलिदान आदि का विधान है। तथा इसका प्रमाण अन्य ग्रन्थों में भी पाया जाता है, कि जिनको स्वामी जी भी मानते हैं। इसलिये वे वेदमत को स्वीकार करके, होमादिक से अलग नहीं बच सकते हैं। सिवाय ऐसे मनुष्य के कि जो स्वामी जी की तरह अपनी नवीन रीति से मंत्रभाष्य की रचना करे। देखना चाहिये कि यह स्वामी जी का परिश्रम कैसा वृथा समझा जा सकता है कि जब मैं उनके भाष्य की परीक्षा करूंगा।

स्वामीजी—वेदों में जो यज्ञादिक करने की आज्ञा है, उस सबको प्रमाण और युक्तिसिद्ध होने के कारण मैं मानता हूँ। और सब को अवश्य मानना चाहिये,

जैसे कि वेदभूमिका अंक ३ के 'यज्ञप्रकरण' में लिख दिया है। उससे विरुद्ध जो बलिदान आदि आजकल के लोगों ने समझ रक्खा है, यह सब वेदविरुद्ध है। और मेरा भाष्य तो नवीन रीति का नहीं ठहर सकता, क्योंकि वह प्राचीन सत्य ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त बनता है। परन्तु पंडित जी का जो कथन है, सो केवल अप्रमाण है। और पंडितजी ने मन के ही गुलगुले खाये हैं। आगे मेरे ग्रन्थ की परीक्षा तो तमाम देश भर को हो ही जावेगी, परन्तु पंडित जी की विद्या तो अभी तुल गई।

पं० महेश०--स्वामी जी का मंत्रभाष्य ही अद्भुत नहीं है, किन्तु उनके लिखने की रीति और व्याकरण भी पण्डितों के आगे हँसी के कराने वाले हैं। तथा कई अशुद्धियां जो उनके परीक्षकों ने निकाली हैं, वे इस बात को साफ-साफ सिद्ध करती हैं कि स्वामीजी सत्य का प्रकाश तो नहीं करते, किन्तु अपनी कीर्ति और नाम की प्रसिद्धि अवश्य चाहते हैं। जैसे कि वे 'उपच'क्रे शब्द को पाणिनी के 'गन्धनावक्षे०' सूत्र से सिद्ध करते हैं, यह कभी नहीं हो सकता। यह बात मानी जा सकती है कि 'उपचक्रे' में आत्मनेपद लाया गया है, साफ कहने के अर्थ में। परन्तु 'उपकृञ्' से यह अर्थ नहीं निकल सकता है। और न स्वामीजी का यह अभिप्राय है। क्योंकि वे उसका भाषा में अर्थ करते हैं कि 'किया है'।

स्वामीजी--इनका उत्तर मैं पण्डित गुरुप्रसाद आदि के 'तर्कखण्डन' के साथ दे चुका हूँ। और पण्डित जी ने कुछ उनसे विशेष पकड़ नहीं की है। परन्तु इस बात का भेद सिवाय अन्तर्यामी परमेश्वर के जीव नहीं जान सकता, कि मैं लोकहित चाहता हूं वा केवल विजय, अर्थात् नाम की प्रसिद्धि।

भाषार्थ में जो शब्द 'किया है' लाया गया, तो इसका कारण यह है कि भाषा में संस्कृत का अभिप्रायमात्र लिखा है, केवल शब्दार्थ ही नहीं। क्योंकि भाषा करनेका तो केवल यही तात्पर्य है कि जिन लोगों को संस्कृत का बोध नहीं है, उनको विना भाषार्थ के यथार्थ वेदज्ञान नहीं हो सकेगा। इसलिये भला यह कोई बात है कि ऐसी तुच्छ बातों में दोष पैदा करना, जो कि विद्वानों के विचार से दूर हैं। और 'उप, 'कृञ्' धातु का अर्थ है 'उपकार और किया'। ये दोनों अर्थ भी भूतकाल की क्रिया को बतलाते हैं कि ईश्वर ने जीवों के हित के लिये वेदों का उपदेश किया है और ठीक ठीक घट सकता है।

पं० महेश०--खैर ये तो साधारण बातें थीं। परन्तु अब मैं भारी भारी दोषों पर आता हूं। मंत्र-भाष्य के प्रथम संस्कृतखण्ड में 'अग्निमीडे पुरोहितम्' इसके भाष्य में स्वामी जी ने अग्नि शब्द से ईश्वर का ग्रहण किया है, जब कि प्रसिद्ध अर्थ अग्नि शब्द के सिवाय आग के दूसरे कोई नहीं ले सकता। तथा सायणाचार्य्य वेद के भाष्यकार की इसी विषय में साक्षी वर्त्तमान है।

स्वामीजी अपने पक्ष में शतपथ ब्राह्मण और निरुक्त आदि को प्रमाण मानते हैं। परन्तु क्या ये भाष्य आदि अग्नि शब्द से परमेश्वर के अर्थ की पुष्टि कर सकते हैं। अर्थात् कभी नहीं। क्योंकि जो-जो शब्द उनमें ईश्वरार्थ में लिखे हैं, उनमें अग्नि शब्द का नाम भी नहीं है। फिर स्वामी जी इसी पक्ष में ऐतरेयब्राह्मण का प्रमाण धरते हैं कि—

'अग्निर्वै सर्वा देवताः॥ ऐ० १। पं० १॥'

जिसका यहां कुछ संबन्ध नहीं है, किन्तु दीक्षा-स्थितियज्ञ में लग सकता है। मैं यह आगे का वाक्य डाक्टर एम० हाग साहब के टीका सहित लिखता हूँ।

स्वामीजी--अब पंडितजी की ऐसी पकड़ से मालूम होगया कि उनको संस्कृत ग्रन्थ समझने का बहुत ही बोध है। और विद्वानों को चाहिये कि पण्डितजी की खातर से मान भी लें कि वेदविद्या के बड़े प्रवीण हैं। सत्य तो यह है कि उन्होंने प्राचीन ऋषिमुनियों के ग्रन्थ कभी नहीं देखे। और उनको ठीक-ठीक अर्थ समझने का बिलकुल ज्ञान नहीं। क्योंकि जिन-जिन ग्रन्थों अर्थात् वेद, शतपथ और निरुक्त आदियों के प्रमाण मैंने वेदभाष्य में लिखे हैं, उनको ठीक-ठीक विचारने से आयने के समान जान पड़ता है कि 'अग्नि' शब्द से 'आग' और 'ईश्वर' दोनों का ग्रहण है। जैसे देखो कि—

१—'इन्द्रं मित्रं वरुणं० ॥'

२—'तदेवाग्निस्तदादित्य० ॥'

३—'अग्निर्होता कविः॥

४—'ब्रह्म ह्यग्निः॥'

५—आत्मा वा अग्निः॥'

देखिये विद्यानेत्र से इन पांच प्रमाणों में 'अग्नि' शब्द से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है।

'अयं वा अग्निः प्रजाश्च प्रजापतिश्च ॥'

और इस प्रमाण में प्रजा शब्द से भौतिक अग्नि और प्रजापति शब्द से परमेश्वर लिया जाता है। इसी प्रकार—

'संवत्सरोऽग्निः॥'

इत्यादि प्रमाणों में 'अग्नि' शब्द से ठीक-ठीक परमेश्वर का ग्रहण होता है। तथा—

'अग्निर्वै सर्वा देवताः॥'

इस वचन में भी परमेश्वर और सांसारिक अग्नि का ग्रहण होता है। क्योंकि जहां उपास्य उपासक प्रकरण में सर्व देवता शब्द से अग्निसंज्ञक परमेश्वर का ग्रहण होता है, इसमें मनु का प्रमाण दिया है। क्योंकि —

'यत्रोपास्यत्वेन सर्वा देवतेत्युच्यते तत्र ब्रह्मात्मैव ग्राह्यः॥'

जो वे इस पंक्ति का अभिप्राय समझते, तो उनको अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण में कभी भ्रम न होता।

तथा निरुक्त से भी परमेश्वर और भौतिक इन दोनोंका यथावत् ग्रहण होता है। देखो एक तो 'अग्रणी, इस शब्द से उत्तम परमेश्वर ही माना जाता है, इसमें कुछ संदेह नहीं। और दूसरा हेतु यह है कि 'इतात्' इस शब्द से अग्नि नाम ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ही का ग्रहण हो सकता है। क्योंकि 'इण गतौ' इस धातु से यहां ज्ञानार्थ ही अभिप्रेत है। 'दग्धात्' इस पद से केवल भौतिक अग्नि लिया जायगा, परमेश्वर नहीं। तथा 'अक्तात्' और 'नीतात्' इन दोनों से परमेश्वर और भौतिक दोनों लिये जाते हैं। क्योंकि 'इण्' धातु से ऋषि का प्राप्ति और गमन अर्थ ही लेने का अभिप्राय होता, तो 'अक्तात्, दग्धात्, नीतात्' ऐसे शब्दों का ग्रहण नहीं करते।

तथा जो 'अग्नि' शब्द से धात्वर्थ ग्रहण में यास्कमुनि का अभिप्राय नहीं होता, तो पृथक्-पृथक धातुओं को नहीं गिनते। और

'अग्निर्वै सर्वा देवताः इति निर्वचनाय'

इस वचन का अर्थ निरुक्तकार करते हैं कि जिस को बुद्धिमान लोग अनेक नामों से वर्णन करते हैं, जो कि एक अद्वितीय सब से बड़ा सब का आत्मा का है, उसी को 'अग्नि' कहते हैं।

'उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते॥'

इस वचन में अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों का ग्रहण होता है। क्योंकि इस अग्नि नामधेय से दोनों उत्तर ज्योति अर्थात् अनन्त ज्ञान प्रकाश युक्त परमेश्वर जो कि प्रलय के उत्तर सब से सूक्ष्म तथा आधार है, उसका, और जो विद्युत्रूप गुणवाला सब से सूक्ष्म स्थूल पदार्थों में प्रकाशित और प्रकाश करने वाला भौतिक अग्नि है, इन दोनों का यथावत् ग्रहण होता है। इसी प्रकार

अग्निः पवित्रमुच्यते॥

इत्यादि में भी अग्नि शब्द से दोनों ही को लेना होता है। तथा 'प्रशासितारं०' जो सब को शिक्षा करने वाला, सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म, स्वप्रकाशस्वरूप, समाधियोग से जानने योग्य, परपुरुष परमात्मा है, विद्वान् उसी को परमेश्वर जानें। फिर-

'एतमेके वदन्त्यग्निं०

विद्वान् लोग अग्नि आदि नामों करके एक परमेश्वर को ही कहते हैं।

ऊपर के सब प्रमाण अग्नि अर्थात् परमेश्वर में प्राचीन सत्यग्रन्थों की साक्षी से ठीक-ठीक घटते हैं। परन्तु जो पण्डितजी के घर के निराले ग्रन्थ हैं, उनमें न होगा। और कदाचित् वे कहें कि निघण्टु में जो ईश्वरके नाम हैं, उनमें अग्नि शब्द नहीं आता, इससे मालूम हुआ कि अग्नि परमेश्वर का वाची नहीं, तो समझना चाहिये कि जैसे— निघण्टु के अ० २। खं०

२२ में जो 'राष्ट्री, अर्य्यः, नियुत्वान, इनः ये चार ईश्वर के अप्रसिद्ध नाम हैं। और यह नहीं हो सकता कि जो नाम ईश्वरके निघण्टु में हों, वे ही माने जायें औरों को विद्वान् लोग छोड़ देवें। परमेश्वर के तो असंख्यात नाम हैं, और आप क्या चार ही नाम ईश्वर के समझते ? और क्या निघण्टु में न लिखने से ब्रह्म, परमात्मा आदि ईश्वर के नाम नहीं हैं ? यह पंडितजी की बिलकुल भूल है। जैसे ब्रह्म आदि ईश्वर के नाम निघण्टु के बिना लिखे भी लिये जाते हैं, वैसे अग्नि आदि भी परमेश्वर के नाम हैं। इस पूर्व पक्ष में जो कुछ अवश्य था संक्षेप से लिख दिया। यह बात वेदभाष्य के अंक में विस्तारपूर्वक सिद्ध करदी है, वहां देख लेना।

पण्डितजी आर० ग्रिफिथ साहब और सी० एच० टानी साहबों के पीछे-पीछे चलते हैं। सो इसका कारण यह है कि पण्डितजीने महीधरादि की अशुद्ध टीका देख ली है। और उक्त साहबों ने प्रोफेसर विलसन आदि के उन्हीं अशुद्ध भाष्यों के उलथे अङ्गरेजी में देख लिये होंगे। उन से क्या हो सकता है। जब तक सत्य-ग्रन्थों और मूलमन्त्रों को न देखें समझें, तब तक वेदमन्त्रों का अभिप्राय ठीक-ठीक जान लेना लड़कों का खिलौना नहीं है। इसी के समान पंडितजी का और कथन भी है। इसलिये अब दूसरी बात का उत्तर लिखते हैं—

'अग्निर्वै सर्वा देवताः देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः।'

इत्यादि पर जो पंडितजी ने लिखा है, सो भी अनुक्त है। क्योंकि वेदमंत्रादि प्रमाणों को छोड़कर 'अग्निर्वै सर्वा०' इस पद पर लिखने से मालूम होता है कि पंडितजी ने भाष्य की परीक्षा तो न की, किन्तु छल अवश्य किया है। सो भी पंडितजी ने इस वाक्य को तो लिखा; परन्तु इसके अभिप्राय को यथार्थ नहीं जाना। क्योंकि इसका अभिप्राय यह है कि-सब कर्मकांड के अग्निहोत्रादि अश्वमेध पर्यन्त होमक्रिया में अग्निमन्त्रप्रथम और विष्णुमंत्र का पश्चात् उच्चारण करते हैं। जहाँ कहीं व्यावहारिक ३३ देव गिनाये हैं, वहां भी अग्नि प्रथम और विष्णु अन्त में गिनाया है। तथा "अग्निर्देवता०" इस मन्त्रमें भी अग्नि का प्रथम और विष्णु का अन्त में ग्रहण किया है। सो ऐतरेयब्राह्मण के पं० १ अ० २ कं० १० में लिखा है कि– 'त्रयस्त्रिंशद वै देवा अष्टौ वसव' इत्यादि।

तथा शतपथब्राह्मण में भी इस बात की व्याख्या वेदभाष्य की भूमिका के अङ्क ३ के पृष्ठ ५६ की ३१ पंक्ति में देवता शब्द से किस-किस को किस-किस गुण से ग्रहण करना लिखा है, वहां देख लेना। तथा उसी अंक ३ के पृष्ठ ६६ पंक्ति ७ में अग्नि से आरम्भ करके प्रजापति यज्ञ अर्थात् विष्णु में गिनती पूर्ण करदी है। इसलिये 'अग्निर्वै०' इस वचन में अग्नि को प्रथम और विष्णु को अन्त में गिना है। सो पूर्व लिखित ग्रन्थ में देखने से सब शंका निवारण हो जायगी। तथा उक्त साहब लोगों और पंडितजी की यह भी शंका निवृत्त होजावेगी कि वेदों में एक के सिवाय दूसरा ईश्वर कोई भी नहीं है। किन्तु जिस-जिस हेतु से जिस-जिस पदार्थ का नाम देव धरा है, उस-उस को वहां अर्थात् अंक ३ में देख लेना।

और डाक्टर एम० साहब की अशुद्ध टीका का जो हवाला देते हैं, तो यह पंडित जी की एक लज्जा की बात है कि प्राचीन सत्य संस्कृत ग्रन्थों को छोड़कर, इधर-उधर कस्तूरिये हिरन के समान भूलते और भटकते हैं। डाक्टर एम० साहब वा सी० एच० टानी साहब वा आर० ग्रिफिथ साहब आदि कुछ ईश्वर नहीं कि जो कुछ वे लिख चुके, वह बिना परीक्षा वा विचार के मान लेने योग्य ठहरे। क्या डाक्टर एम० हाग साहब हमारे आर्य्य ऋषि मुनियों से बढ़कर हैं, कि जिन को हम सर्वोपरि मान निश्चय करलें, और प्राचीन सत्य ग्रन्थों को छोड़ देवें, जैसा कि पंडितजी ने किया है। जो उन्होंने ऐसा किया, तो किया करो, मेरी दृष्टि में तो वे जो कुछ हैं, सो ही हैं।

तथा इस कण्डिका में भी 'यज्ञस्यान्ते' वचन में आदि में अग्निमन्त्र और अन्त में विष्णुमन्त्र का प्रयोग किया जाता है। फिर इन दोनों में व्यवहार के सब मन्त्र देवते गिने हैं। अग्नि को प्रथम [इस कारण माना है, कि] जिन-जिन द्रव्यों का वायु और वृष्टि

जल की शुद्धि के लिये अग्नि में होम किया जाता है, वे सब परमाणुरूप होकर विष्णु अर्थात् सूर्य्य के आकर्षण से वायु द्वारा आकाश में चढ़ जाते हैं। फिर मेघमण्डल में जल वृष्टि के साथ उतर कर बाकी जो बीच में ३० देव गिना दिये हैं, इन सभों को लाभ पहुँचाते हैं।

पं० महेश०—अब ऊपर के वचन से साफ जाना जा सकता है कि वेद में एक परमेश्वर की पूजा नहीं, किन्तु निस्सन्देह देवता विधान पाया जाता है। और उन देवताओं को बलिदान आदि पदार्थों का भेंट करना लिखा हुआ है। इस वाक्य में यह बात सिद्ध नहीं हो सकती कि अग्नि शब्द का अर्थ ईश्वर है, किन्तु इसमें ईश्वर का जिकर भी नहीं है। इस बात की साबूती में स्वामीजी एक प्रमाण देते हैं—'यत्रोपास्यत्वेन०' अर्थात् जहां सब देवों का पूजन कहा है, वहां परमेश्वर को समझना चाहिये। फिर इस की पुष्टि में स्वामीजी मनु का प्रमाण देते हैं—'आत्मैव देवता सर्वाः०' अर्थात् आत्मा सब देव हैं, और आत्मा ही में सब संसार स्थित है। यह नहीं समझ सकते कि यह वचन स्वामीजी का मन प्रसन्न की पुष्टता कैसे कर सकती है।

स्वामीजी—ऊपर के वचनों से ईश्वर का नाम अग्नि सिद्ध कर दिया है। परन्तु पक्षपात छोड़ के विद्या की आंख से देखनेवाले को स्पष्ट मालूम होता है कि निस्सन्देह अग्नि ईश्वर का भी नाम है। वेदों में अनेक ईश्वर का विधान कहीं नहीं है। और जो देवता शब्द से सृष्टि के भी पदार्थों का विधान है, उसका उत्तर 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, के अंक ३ के 'देवता विधान प्रकरण' को देखने से अच्छे प्रकार जान लेना। अर्थात् जिस-जिस गुण और अभिप्राय से सृष्टि के पदार्थों का नाम देवता रक्खा गया है, उसको देख लेना चाहिये। क्योंकि वहां यह बात अनेक प्रमाणों से सिद्ध करदी है। परन्तु चारों वेदों में एकसे दूसरा ईश्वर कहीं नहीं माना है। और न ईश्वर के तुल्य पूजना कहा है। किन्तु उसकी दिव्यगुणों से व्यवहारमात्र में 'देवता' संज्ञा मानी है। चारों वेदों में एक से दूसरा ईश्वर कहीं प्रतिपादन नहीं किया है। तथा इन्द्र, अग्नि और प्रजापति आदि शब्दों से ईश्वर भौतिक दोनों का प्रतिपादन किया है।

और जो पंडितजी लिखते हैं कि—'अग्नि शब्द का अर्थ ईश्वर नहीं है, किन्तु उस स्थान में जिकर भी नहीं। इसका उत्तर यह है कि इस में वेद, वेदांत, ब्राह्मण तथा मेरा दोष नहीं किन्तु इसमें पंडितजी के शास्त्रों में न्यून अभ्यास का दोष है। क्योंकि जो-जो मनुष्य वेदानि शास्त्रों का यथार्थ अर्थ न समझता होगा, उस के उलटे ज्ञान होजाने का संभव है। वेदों में एक ईश्वर के प्रतिपादन में भूमिका अंक ४ में ८६ के पृष्ठ से ९२ तक 'ब्रह्मविद्याप्रकरण' की समाप्ति पर्य्यन्त देखना चाहिये।

'आत्मैव देवताः सर्वाः०'

इसका अभिप्राय पंडितजी ने ठीक-ठीक नहीं समझा है। क्योंकि इस का मतलब यह है कि आत्मा अर्थात् परमेश्वर ही अग्नि आदि सब व्यवहार के देवताओं का रचन, पालन और विनाश करनेवाला है तथा 'अग्निर्देवता:०' इत्यादि प्रकरण में व्यवहार के देवता और अग्नि आदि नामों से परमेश्वर का भी ग्रहण है। क्योंकि 'सर्वमात्मन्यवस्थितम्' इस वचन से सिद्धहोता है कि सब जगत् का आत्मा जो परमेश्वर है सो उसी में स्थितहै, और वही सब में व्यापक है। इस अभिप्राय से यह बात सिद्ध होती है कि अग्नि परमेश्वर का भी नाम है। इससे मेरा कहना यथार्थ पुष्टि रखता है।

पं० महेश—ऐतरेय ब्राह्मण के प्रमाण से अग्नि और विष्णु दो ही देव मुख्य करके पूजनीय माने हैं। क्योंकि वे ही यज्ञ में आदि अन्त के देव हैं, जिन के द्वारा सब बीचवालों को भाग पहुँचता है। इसलिये इन्हीं दोनों की सब देवों के तुल्य स्तुति की गई है। इसमें स्वामीजी ऐतरेय ब्राह्मण का जो प्रमाण देते हैं, सो उनके कथन की पुष्टि तो नहीं करता; किन्तु विरुद्ध पड़ता है।

स्वामीजी—अब जो पंडित जी 'अग्निर्वै सर्वा देवताः' इस में भ्रान्त हुए हैं, सो ठीक नहीं। और जो—

'अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तद-न्तरेण सर्वा अन्या देवताः ॥'

इत्यादि ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण धरा है, इस का अर्थ ठीक-ठीक पंडितजी नहीं समझे हैं। इसका अभिप्राय यह है कि 'अग्निर्वै सर्वा देवताः, विष्णुः सर्वा देवताः' इसका भी मनु के प्रमाण समान अर्थ होने से मेरे अभिप्राय की पुष्टि करता है। और जहां भौतिक वा मन्त्र ही देवता लिये गये हैं, वहां पुरोडाश आदि करने की क्रिया द्रव्ययज्ञ में संघटित यथावत् की गई है। क्योंकि जब प्रथम अग्नि में होम किया जाता है और उसमें सब द्रव्यों के रस और जल आदि के परमाणु पृथक्-पृथक् हो जाते हैं, तब वे हलके होके सूर्य के आकर्षण से वायु के साथ मेघ-मण्डल में जाके रहते हैं। फिर वे ही मेघाकार संयुक्त होकर वृष्टि द्वारा पृथ्वी आदि मध्यस्थ देवसंज्ञक व्यवहार के पदार्थों को पुष्ट करते हैं। इस का नाम 'भाग' और 'बलिदान' है। तथा इसी कारण अग्नि को प्रथम और सूर्य को अन्त में माना है। ऐसे ही अग्नि को सूक्ष्म और सूर्यलोक को अग्नि का बड़ा पुंज समझा है। इत्यादि अभिप्राय से यह पंक्ति ऐतरेय ब्राह्मणमें लिखी है, जिसको पंडितजी ने न जान कर, मेरे लेख पर विरुद्ध संमति दी है।

पं०महेश—निरुक्त भी कुछेक ही साक्षी देता है।

स्वामी जी—

'अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति।'

इत्यादि निरुक्त का प्रमाण धरते हैं, कि जिसमें अग्नि शब्द की साधना की गई है। कई धात्वर्थ केवल भौतिक अग्नि के वाची हैं। और स्वामीजी भी इस बात को मानते हैं, और कहते हैं कि सिवाय भौतिक के अग्नि शब्द से ईश्वर का भी ग्रहण होता है। और यह अर्थ 'अग्रणीः' शब्द से लेते हैं, जैसे कि निरुक्तकार समझता है कि अग्नि शब्द अग्र+नी से मिल कर बना है। निरुक्तकार इस शब्द के कुछ विशेष अर्थ नहीं करता है। शतपथ ब्राह्मण जिसको स्वामीजी मानते हैं, विशेष अर्थ बताता है, परन्तु ईश्वर के नहीं। यद्यपि वे कुछ कहते हैं, लेकिन सिवाय भौतिक के दूसरा अर्थ नहीं हो सकता।

स्वामीजी—अब जो पंडित जी लिखते हैं कि निरुक्तकार भी कुछेक ही संमति देता है, सो नहीं। क्योंकि निरुक्त में 'अग्नि' शब्द से 'परमेश्वर, और भौतिक दोनों अर्थों का यथावत् ग्रहण किया है। तथा उस में अग्नि शब्द का साधुत्व तो कुछ भी नहीं लिखा है, किन्तु धात्वर्थ के निर्देश से अर्थ प्रतीति कराई है। क्योंकि शब्दों का साधुत्व व्याकरण का ही विषय है, निरुक्त का नहीं। इसलिये उस में रूढ़ि यौगिक और योगरूढ़ शब्दों को निरूपण मुख्य करके किया गया है। जैसे कि—

'इतात् अक्तात् दग्धात् वा नीतात्'

इन में 'इण' धातु गत्यर्थक, 'अञ्जू' व्यक्ताद्यर्थ, 'दह' भस्मीकरणार्थ, 'णीञ्' प्रापणार्थ दिखाने से विद्वानों को ऐसा भ्रम कभी नहीं हो सकता है कि अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों का ग्रहण नहीं है। क्योंकि 'इण' और अञ्जू इन धातुओं के गत्यर्थ होने से ज्ञान, गमन, प्राप्ति ये तीनों अर्थ लिये जाते हैं। इन में ज्ञान और प्राप्त्यर्थ से भौतिक पदार्थ ये दोनों ही लिये जाते हैं।

और 'अग्रणी शब्द तथा

'अग्रं यज्ञेषु प्रणीयतेऽगं नयति।'

इस के अभिप्राय से अग्नि शब्द परमेश्वर और

'न क्नोपयति न स्नेहयति'

इससे भौतिक पदार्थ में लिया जाता है। यह निरुक्त का अभिप्रायार्थ है, मंत्रभाष्य के दूसरे पृष्ठ में ठीक-ठीक लिख दिया गया है। जो उसको पंडितजी यथार्थ विचारते, तो इस वेदभाष्य पर ऐसी विरुद्ध सम्मति कभी न देते। क्योंकि निरुक्तकार ने पूर्वोक्त प्रकार से दोनों अर्थ का विशेष अच्छी तरह दिखला रक्खा है। परन्तु जो कोई किसी के लेख का अर्थ यथावत् नहीं समझते, उन को उसके विशेष वा सामान्य का ज्ञान कभी नहीं हो सकता।

पं० महेश०—'प्रजापतिर्हि वा इदमग्र०' हमारी मुराद यह नहीं है कि हम शतपथ ब्राह्मण में अग्नि शब्द भौतिक का वाची ढूंढें, किन्तु में यह बताता हूं

कि पूर्वोक्त वाक्य से निश्चय होता है, कि अग्नि सिवाय आग के दूसरा अर्थ नहीं देतो है।

स्वामजी—पण्डित जो का कथन है कि हमारी मुराद यह नहीं है कि हम शतपथ ब्राह्मण में अग्नि शब्द भौतिक का वाची ढूढें इत्यादि। इस का उत्तर यह है कि मैं पूर्वोक्त प्रकार अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों अर्थों को लेता हूं, सो वेदादि शास्त्रों के प्रमाण से निर्भ्रमता के साथ सिद्ध है। परन्तु पण्डित जी का अभिप्राय जो अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण में विरुद्ध है, उसका हेतु यह मालूम पड़ता है कि पंडितजी बाल्यावस्था से लेकर आज पर्य्यन्त अग्नि शब्द से भौतिक अर्थात् चूल्हे आदि में जलने वाली ही अग्नि को सुनते और देखते आये हैं, इसलिये वहीं तक उनकी दौड़ है।

परन्तु मैं उन से मित्रभाव से कहता हूं कि वे वेद वेदाङ्ग, उपाङ्ग और ब्राह्मण आदि सनातन आर्षग्रन्थों के अर्थ जानने में अधिक पुरुषार्थ करें कि जिस से ऐसी ऐसी तुच्छ शंका हृदय में उत्पन्न न हों। क्योंकि जो-जो शतपथ के प्रमाण मैंने वेदभाष्य में अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहणविषय में धरे हैं, वे क्या शतपथ के नहीं हैं? जो शंका हो, तो उक्त जगह पुस्तक में देख लेवें।

और जिस वाक्य की पंक्ति का प्रमाण पंडितजी ने धरा है, उस में का मुख्य पाठ उन्होंने पहिले ही उड़ा दिया। इस चालाकी को देखना चाहिये कि—

'तद्यदेनं मुखादजनयत्तस्मादन्नादोऽग्निः स यो हैवमेतमग्निमन्नादं वेदान्नादो हैव भवति ॥'

इस में 'अन्नाद' शब्द अग्नि का वाची है। और—

'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् ।
अहमन्नादो अहमन्नादो अहमन्नादः ॥'

यह तैत्तिरीय उपनिषद् का वचन परमेश्वर के विषय में है। अर्थात् वह उपदेश करता है कि मैं ही अन्नाद हूं। और 'अन्नाद' अग्नि को कहते हैं, इससे यहाँ भी परमेश्वर का नाम अग्नि आता है।

और दूसरी चाल पंडितजी यह भी खेले हैं कि जिस आधी पंक्ति से शतपथ में अग्नि शब्द से परमेश्वर लिया है, उस पाठ को अपने पुस्तक में नहीं लिखा। देखिये कि—

"प्रजापतिः परमेश्वरः यत् यस्मात् मुख्यात् प्रकाशमयान्मुख्यात्कारणात् एनं भौतिकमग्निमजनयत्तस्मात्स परमेश्वरोऽन्नादोऽग्निरथोदग्निसंज्ञो विज्ञेयः। यो मनुष्यो ह इति निश्चयेनैवममुना प्रकारेणैतमन्नादं परमेश्वरमग्निं वेद जानाति ह इति प्रसिद्धे स एवान्नादो भवत्यर्थाद् ब्रह्मविद्भवतीति ॥'

इस प्रकार से यह बात निश्चय होती है कि पंडित जी उन ग्रन्थों का अर्थ ठीक-ठीक नहीं जानते। और जितना जानते हैं उस में भी कपट और आग्रह से सत्य नहीं लिखते। पंडितजी को विदित हो कि यहां पाठशालाओं के लड़कों से प्रश्नोत्तर लेख वा उनकी परीक्षा नहीं है। इस से जो कुछ वे लिखें, सो विचारपूर्वक होना चाहिये कि उन को किसी की खुशामद वा आग्रह से लिखना उचित नहीं। जो-जो शतपथके प्रमाण मैंने वहां-वहां लिखे हैं, उस का अर्थ भी संक्षेप से लिख दिया है, उनको ध्यान देकर देख लेवें।

पं० महेश०—

'अग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः ॥'

पृथिवी का अग्नि ईश्वर अर्थ में कभी नहीं लिया जा सकता है। इस बात को अच्छी तरह प्रकाश करने के लिये कि निरुक्तकार अग्नि शब्द के क्या अर्थ लेता है।

स्वामीजी—फिर जो पंडितजी ने

'अग्निः पृथ्वीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः'

इसमें अपना अभिप्राय जताया है कि क्या पृथ्वी का अग्नि ईश्वर अर्थ में कभी लिया जा सकता है। इसी में पंडितजी से मैं पूछता हूं कि क्या आप अन्तरिक्ष और सूर्य्यादि लोकस्थ अग्नि ईश्वर अर्थ में ग्रहण करते, तथा क्या परमेश्वर के व्यापक होने से पृथिवीस्थान नहीं हो सकता?

और उनको विचारना चाहिये कि—

'पृथिवीस्थानं यस्य सः परमेश्वरोऽग्नि-भौतिकश्चेत्यर्थद्वयं गृह्यताम् ।'

इस वचन के अर्थ पर उनका अभिप्राय ठीक नहीं सिद्ध होता। क्योंकि इस बातको कौन सिद्ध कर सकता है कि पृथिवी से भिन्न अन्य पदार्थ में भौतिक अग्नि नहीं है, जब कि यहां पृथिवी अर्थात् सब सृष्टि भर ली जाती है। तथा कार्य्य कारणरूप को भी पृथिवी शब्द से लेते हैं। फिर उन का अभिप्राय इस बात में शुद्ध कभी नहीं हो सकता। क्योंकि रूप गुण वाला पदार्थ अग्नि शब्द से गृहीत होता है, और न केवल चूल्हे वा वेदि में धरा हुआ।

तथा पृथिवी—स्थान के होने से अग्नि शब्द का ग्रहण परमेश्वर अर्थ में भी यथावत् होता है। जैसे—

"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरोऽयं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं पृथिवीमन्तरोऽयमयति स त आत्मा अन्तर्य्याम्यमृतः ॥"

यह वचन शत०कां० १८ अ० ६ ब्रा० ५ कण्डिका ७ का है, कि जिसमें पृथिवीस्थान शब्द से परमेश्वर का ग्रहण किया है। क्योंकि जहां कहीं अन्तर्यामी शब्द से परमेश्वर की विवक्षा होती है, वहाँ एक जीव के हृदय की अपेक्षा से भी परमेश्वर का ग्रहण होता है। जैसे—

"स त आत्माऽन्तर्य्याम्यमृतः ॥"

अर्थात् गौतमऋषि से याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे गौतमजी! जो पृथिवी में ठहर रहा है और उससे पृथक् भी है, तथा जिसको पृथिवी नहीं जानती, जिस के शरीर के समान पृथिवी है; जो पृथिवी में व्यापक होकर उसको नियम में रखता है, वही परमेश्वर अमृत अर्थात् नित्यस्वरूप तेरा जीवात्मा का अन्तर्य्यामी आत्मा है।

इतने ही से बुद्धिमान् समझ लेंगे कि पण्डितजी निरुक्त का अभिप्राय कैसा जानते हैं।

पं० महेश०—तथा देवता विषय में उसका कैसा विचार था, आगे के प्रमाण अङ्गरेजी टीका सहित लिखते हैं—

"यत्कामऋषिर्यस्यां०"

जिस मन्त्र से जिस देवता की स्तुति की जाती है, वही उस मन्त्र का देवता है। "महाभाग्यद्देवतायाः०" अर्थात् देवता एक ही है परन्तु उसमें बहुतसी शक्ति होने के कारण अनेक रूपों में पूजा जाता है। उसके सिवाय और-और देव उसके अङ्ग हैं। प्राचीन अनुक्रमणिकाकार भिन्न-भिन्न मन्त्रों के पृथक्-पृथक् देवता विभाग करता है। और इस का प्रमाण स्वामीजी ने माना है। देखो पृष्ठ १ पं० तथा पृ० २३ पं० १४ इसी विषय की।

परन्तु बात काट के उस के असली अर्थ के विरुद्ध कहते हैं कि सब मंत्रों का देवता परमेश्वर है, अग्नि वायु आदि नहीं। यह हिन्दुओं का बड़ा सत्यानुसार धर्म है कि अनेक देवते एक ईश्वर ही के प्रकाशस्वरूप हैं। इस बात का प्रमाण ऐतरेयोपनिषद् में लिखा है कि जिसको स्वामीजी भी मानते हैं। जैसे:—

"निहितमस्माभिरेतद्यथावदुक्तमनसीत्यथोत्तरप्रश्नमनुब्रूहीति० इत्यादि ॥ ४ । ५ । ६ ॥"

स्वामी जी—

"यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मंत्रो भवति।"

इसका उत्तर भूमिका अंक ३ के देवता विषय में देख लेना। वहां अभिप्राय सहित लिख दिया है। अर्थात् प्रकारान्तर से व्यवहार के पदार्थों की भी देवसंज्ञा मानी है, पूज्योपास्य बुद्धि से नहीं।

अब प्राचीन अनुक्रमणिकाकार जो भिन्न-भिन्न देवता मानता है, सो भी इस अभिप्राय से है कि इस मन्त्र के अग्निदेवता इत्यादि लेख से कुछ आप की बात की पुष्टि नहीं होती। क्योंकि वहाँ केवल नाममात्र का प्रकाश है, विशेष अर्थ का नहीं। वैसे ही अग्नि शब्द के पूर्वोक्त प्रकार से घटित दोनों अर्थ लिखे जाते हैं। तथा सब मन्त्रों का देवता परमेश्वर इस अभिप्राय से है कि [सब देवों का देव पूजनीय और उपासना योग्य एक अद्वितीय ईश्वर ही है।] सो यथावत् देवता प्रकरण में लिख दिया है, वहाँ देख लेना, कि व्यावहारिक अग्नि वायु को देवता किस

लिये और परमेश्वर किस प्रकार माना जाता है।

ऐसे ही सब जगत् को ब्रह्म मानना तथा ब्रह्म को जगत्रूप समझना, यह हिन्दुओं की बात होगी, आर्यों की नहीं। हम लोग आर्य्यावर्तवासी ब्राह्मणादि वर्ण और ब्रह्मचर्यादि आश्रमस्थ ब्रह्मा से लेकर आज पर्य्यन्त परमेश्वर को वेदरीति से ऐसा मानते चले आये हैं कि वह शुद्ध, सनातन, निर्विकार, अज अनादि-स्वरूप जगत् के कारण से कार्यरूप जगत् का रचन, पालन और विनाश करने वाला है। [और हिन्दू उस को कहते हैं कि जो वेदोक्त सत्यमार्ग से विरुद्ध चले।] इसमें पंडित जी ने जो मैत्र्युपनिषद् का प्रमाण धरा है, सो भी विना अर्थ जाने हुए लिखा है। क्योंकि वहाँ ब्रह्म की उपासना का प्रकरण है। तद्यथा:—

"यस्तपसाऽपहतपाप्मा ओं ब्रह्मणो महिमेत्येवैतदाह। यः सुयुक्तोजस्रं चिन्तयति तस्माद्विद्यया तपसा चिन्तया चोपलभ्यत ब्रह्म स ब्रह्मणः पर एता अधिदैवत्वं देवेभ्यश्चेत्यपक्षय्यमपरिमितमनामयं सुखमश्नुते एवं विद्वानेनत्रिकेण ब्रह्मोपास्ते॥"

जो पण्डित जी इस प्रकरण का अर्थ ठीक-ठीक समझ लेते, तो परमेश्वर का नाम अग्नि नहीं, ऐसा कभी न कह सकते। क्योंकि उसी ब्रह्म के अग्नि आदि नाम यहाँ भी हैं। और ब्रह्म की तनू अर्थात् व्याप्य जो पूर्वोक्त स्थान 'शतपथ ब्राह्मण' में अन्तर्यामी पृथिवी से लेकर जीवात्मा पर्यन्त २४ अर्थात् अन्वय और व्यतिरेकालंकार से शरीर शरीरी अर्थात् व्याप्य सम्बन्ध परमेश्वर का जगत् के साथ दिखलाया है, सो देख लेना।

उसी शतपथ में पाँचवें ब्राह्मण की ३१ कण्डिका में—

"अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽस्ति द्रष्टेत्यादि।"

व्याप्य व्यापक सम्बन्ध पूर्वोक्त अलंकार से यथावत् दिखला दिया है। इससे—

"ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वम्।"

इसका अर्थ इस प्रकार से है कि ब्रह्म केवल एक चेतनमात्र तत्त्व है। जैसे किसी ने किसी से कहा कि 'यह सुवर्ण खरा है', तो इस वाक्य का अभिप्राय यह है कि इस सुवर्ण में दूसरे धातु का मेल नहीं। इसी प्रकार जैसे कार्य जगत् के संघातों में अनेक तत्त्वों का मेल है, वैसे ब्रह्म नहीं। किन्तु वह भिन्न वस्तु है। तथा तात्स्थ्योपाधि से यह सब जगत् ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मस्थ है और ब्रह्म सर्व विश्वस्थ भी है। यह इस वचन का ठीक अर्थ है। क्योंकि फिर इसी के आगे यह पाठ है कि:—

"याबास्याग्यास्तन्वस्ता अभिध्यायेदर्चयेन्निन्हयाच्चातस्ताभिः सहैवोपर्युपरि लोकेषु चात्यथ कृत्स्नक्षय एकत्वमेति पुरुषस्य पुरुषस्य।"

अर्थात् जो विद्वान् पुरुष अपने आत्मा में ब्रह्म की उपासना ध्यान और उसी की अर्चा कर अपने हृदय के सब दोषों को अलग करता, इसके उपरान्त जब अपने अन्तःकरण से शुद्ध होकर मुक्ति पा चुकता है, तब वह उन्हीं पूर्वोक्त तनुओं के सहित उपरि सब लोकों के बीचों बीच रहता हुआ, अन्त में परमेश्वर की सत्तामात्र को प्राप्त हो जाता है। सब मुक्त पुरुषों के समीप रहता हुआ अकथनीय परम आनन्द में किलोल करता है।

इसके आगे भी 'मैत्र्युपनिषद्' के पञ्चम प्रपाठक के आरम्भ में कौत्सायिनी स्तुति के अनुसार भी—

"त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापतिरग्निः।"

इत्यादि प्रमाण से अग्न्यादि परमेश्वर के नाम यथावत् हैं। इससे यह बात पाई गई कि यद्यपि पंडित जी प्रोफेसर ग्रिफिथ, टानी साहब के वकील भी हुए, तथापि मुकद्दमे में खारिज होने के योग्य हैं। तथा यह भी जान पड़ा कि वेदभाष्य पर विरुद्ध सम्मति देने वाले वेदादि शास्त्रों का ज्ञान कम रखते हैं।

पण्डित महेश—

"तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः।"

जो लोग निरुक्त के समझने वाले हैं, वे कहते हैं कि देवता तीन ही हैं। अग्नि, वायु और सूर्य। इन देवताओं का बल बड़ा और काम पृथक्-पृथक् होने से, उनको कई नामों से बोलते हैं।

अथाकारचिन्तनं देवतानां पुरुषविधाः स्युरित्येके चेतनावद्वद्धि स्तुतयो। भवन्ति तथाभिधानि। अथापि पौरुषविधिकैरंगैः संस्तूयन्ते॥

कितने ही देवते मनुष्यों के समान हैं। अर्थात् वे मनुष्यों के तुल्य घोड़े आदि की सवारी और खाना पीना सुनना बोलना आदि काम करते हैं। कुछ देवते ऐसे हैं कि मनुष्यों के तुल्य नहीं, परन्तु दृष्टि में आते हैं, जैसे अग्नि, वायु, आदित्य, पृथिवी और चन्द्रमा। तथा कितने ही चेतन नहीं हैं, जैसे सिक्का वनस्पति आदि।

हम कह चुके हैं कि देवता तीन हैं—अग्नि, वायु, और सूर्य, जिनके गुणों की व्याख्या करदी है। अब अग्नि के गुण बताते हैं, अर्थात् वह देवताओं के पास चढ़ावा पहुँचाता है तथा उन को यज्ञ में बुलाता है, ये अग्नि के प्रत्यक्ष काम हैं।

"अग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः।"

जो अग्नि पृथिवी पर रहता है, प्रथम हम उसी का वर्णन करते हैं। इसका अग्नि नाम क्यों हुआ, क्योंकि वह प्रथम ही आता है। देखो 'अग्निमीडे' इत्यादि।

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि निरुक्तकार अग्नि शब्द से सिवाय भौतिक के दूसरी चीज नहीं समझा है। यह भ्रा० नि० से स्वामी जी का कथन ठीक नहीं। श्रौतसूत्र जो वेद की प्राचीन व्याख्या है, यद्यपि स्वामी जी ने उसका कोई प्रमाण नहीं दिया, परन्तु मैं कुछ साक्षी के तौर पर प्रमाण देता हूँ—सू० २६। कण्डिका १। अ० १ तथा सू० ७। कं० १३। अ० ४ में देखने से साफ मालूम होता है कि 'अग्निमीडे०' यह मन्त्र भौतिक अग्नि की पूजा विधान में लिखा गया है।

स्वामीजी—इसके आगे पण्डित जी 'तिस्र एव देवता०" इत्यादि निरुक्त का अभिप्राय लिखते हैं। सो उन्होंने इसका भी अर्थ ठीक-ठीक नहीं जाना। क्योंकि इस प्रकरण में भी पूर्वोक्त प्रकार से दोनों व्यवस्था जानी जाती हैं। अर्थात् अग्नि आदि नामों से व्यवहारोपयुक्त पदार्थ और पारमार्थिक उपास्य परमेश्वर दोनों ही का यथावत् ग्रहण होता है। इस निरुक्त का अर्थ भूमिका के अंक ३ पृष्ठ ६० पंक्ति ८ वीं से अंक ४ पृष्ठ ७८ तक देखने से ठीक-ठीक उत्तर मिल जायेगा।

और इसके आकार चिन्तन से यह अभिप्राय है कि—जिस जिस पदार्थ में जो-जो गुण होते हैं, उनका यथावत् प्रकाश करना 'स्तुति' कहाती है। सो जड़ और चेतन दोनों में यथावत् घटती है। इसी प्रकरण में

"एकस्य सतोऽपि वा पृथगेव स्युः पृथगिव स्तुतयो भवन्ति तथाऽभिधानानि।"

इस पंक्ति का अर्थ पंडित जी ने न विचारा होगा, नहीं तो इतने आडम्बर का लेख क्यों करते। क्योंकि देखो—

"तासां महाभाग्यादेकैकस्यापि बहूनि नामधेयानि भवन्ति।"

इसका अभिप्राय यह है कि अग्न्यादि संसारी पदार्थों में भी ईश्वर की रचना से अनेक दिव्य गुण हैं कि जिनके प्रकाश के लिये वेदों में उन पदार्थों के अग्न्यादि कई-कई नाम लिखे हैं। तथा वे ही नाम गुणानुसार एक अद्वितीय परमेश्वर के भी हैं। उन्हीं पृथक्-पृथक् गुणयुक्त नामों से परमेश्वर की स्तुति होती है। तथा उसी के वेदों में सर्व सुखदायक स्वयं प्रकाश सत्य ज्ञान प्रकाशक नाना प्रकार के व्याख्यान लिखे हैं।

इस प्रकार सब सज्जन लोगों को जान लेना चाहिये कि अग्न्यादि नामों से पूर्वोक्त दोनों अर्थों का ग्रहण होता है, केवल एक का नहीं। और—

तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः।"

इसका अभिप्राय यह है कि उन व्यावहारिक

देवताओं का जुदापन, साहचर्य अर्थात् संयोग दो प्रकार का होता है—एक समवाय सम्बन्ध, दूसरा संयोग सम्बन्ध। समवाय नित्य गुण गुणी आदि में होता है। और संयोग सम्बन्ध गुणी और अगुणियोंका होता है। जैसे जगत्के पदार्थोंमें स्वाभाविक और नैमित्तिक सम्बन्ध होता है, वैसे ही परमेश्वर में भी जान लेना, कि वह अपने स्वाभाविक गुण और सामर्थ्यादि के साथ समवाय और जगत् के कारण कार्य तथा जीव के साथ संयोग सम्बन्ध अर्थात् व्याप्य व्यापकतादि प्रकार से है। इस वचन में भी परमेश्वर का त्याग कभी नहीं हो सकता।

तथा जैसे भौतिक अग्नि का काम व्यावहारिक देवताओं को जल चढ़ाना वा पहुँचाना है, तथा मन्त्र देव और दिव्य गुणों को जगत् में प्राप्त करना है, वैसे ही सब जीवों को पाप पुण्य के फल पहुँचाना और ज्ञानानन्दी मोक्षरूप यज्ञ में धार्मिक विद्वानों को हर्षयुक्त कर देना परमेश्वर का काम है।

"अग्निः पृथिवीस्थानः० ।"

इसकी व्याख्या पूर्व कर आये हैं। और "अग्निमीडे' इसकी व्याख्या निरुक्त के अनुसार इसी मंत्र के भाष्य में लिख दी है, परन्तु वहाँ भी दो ही अग्नि लिये हैं। क्योंकि एक अध्येषणा कर्मा अर्थात् परमेश्वर और भौतिक दूसरा पूजा कर्मा अर्थात् केवल परमेश्वर ही लिया है।

तथा अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः" इस मंत्र की व्याख्या में निरुक्तकार का स्पष्ट लेख है कि—

"स न मन्येतामयेवाग्निरित्येष्यत उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते।"

इसका अर्थ यह है कि—वह अग्नि जो परमेश्वर का वाची है, चूल्हे में प्रत्यक्ष जलने वाला नहीं है। किन्तु जो कि अपने व्याप्य में व्यापक विद्युत् रूप और जो नत्तर अर्थात् कारणरूप ज्योतिःस्वरूप और सबका प्रकाशक है। तथा जो परमेश्वर का अग्नि शब्द से ग्रहण करना कहा है, एक आनन्द स्वरूप परमात्मा का स्वीकार है, जैसाकि पूर्वोक्त प्रकार से बुद्धिमान् लोग जान लेंगे कि वे सब प्रमाण जो मैंने इस विषय में लिखे हैं, मेरी बात की पुष्टि करते हैं वा नहीं। तथा पण्डित जी की पकड़ ठीक है वा नहीं।

और जो कि वे श्रौतसूत्र का प्रमाण लिखते हैं, उसका भी अभिप्राय उन्होंने यथार्थ नहीं जाना। क्योंकि वहां तो केवल होम क्रिया करने का प्रसङ्ग है, और होता आदि के आसनादिक और अध्वर्यु आदि के काम पृथक्-पृथक् लिखे हैं। इसलिये वहाँ तत्संसर्गी का ग्रहण नहीं हो सकता। क्योंकि जो जिसका काम है, उसको वही करे, यहाँ उस सूत्र की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिये उसका लिखना व्यर्थ है।

तथा आश्वलायन श्रौतसूत्र के चतुर्थाध्याय में तेरहवीं कण्डिका के ७ सूत्र में भी केवल कर्मकाण्ड ही की क्रिया के मन्त्रों की प्रतीकें धरी हैं। वहाँ भी पंडित जी अग्नि शब्द से परमेश्वर का त्याग कभी नहीं करा सकते। किस लिये कि वहाँ मन्त्र ही देवता हैं। और शुभ कर्मों में परमेश्वर ही की स्तुति करना सबको उचित है। वहीं मन्त्र का पाठातिदेश किया है अर्थ नहीं। इससे इस सूत्र का लिखना पंडित जी को योग्य नहीं था, क्योंकि वहाँ तो केवल क्रिया यज्ञ का प्रकरण है, दूसरी बात का नहीं।

पं० महेश०—"अग्निमीडे" इस मंत्र की सिद्धि में और अधिक प्रमाण स्वामी जी ने नहीं दिये। परन्तु कई मन्त्रा का प्रमाण धरके कहते हैं कि अग्नि से ईश्वर का ग्रहण है। सो उन मन्त्रों की साधारण विचार परीक्षा से ही मालूम हो जाता है कि उनसे स्वामी जी के अर्थ नहीं निकल सकते। पहिला मन्त्र 'इन्द्रं मित्रम्०' वे उसको इन्द्र मित्र वरुण और अग्नि आदि नामों से पुकारते हैं। यह मालूम नहीं होता कि इस मन्त्र में किसको सम्मुख करके बोलते हैं। निरुक्तकार कहता है कि वह भौतिक के लिये आया है कोई सूर्य को बताते हैं। खैर, कुछ ही हो, परन्तु अग्नि से ईश्वर कभी नहीं लिया जा सकता।

और यह जाना गया है कि जब किसी विशेष देवता की स्तुति करते हैं, तो उसको शब्द और देवताओं के नाम से लाते हैं। उसके बल आदि गुण बताने के लिये। 'तदेवाग्नि०' शुक्ल यजुर्वेद से कि जिसके समान कृष्ण यजुर्वेद में भी है—देखो 'तैत्ति-

रीय आरण्यक अ० १। प्र०।' इस स्थान में अद्वैत मत का प्रतिपादन है। जैसे देखो—'जो सर्वज्ञ पुरुष सदा था है और रहेगा, जिसका तमाम ब्रह्माण्ड एक अंशमात्र है, जिससे वेद उत्पन्न हुए हैं तथा जिससे घोड़ा, गौ, बकरी और खटमल आदि निकले हैं। जिसके मन से चन्द्रमा नेत्रों से सूर्य कानों से वायु और प्राण और मुख से अग्नि वह सर्वव्यापी और संसार का आधार है।

इसके बाद स्वामीजी मन्त्र का प्रमाण देते हैं, जैसे—'तदेवाग्नि०' अर्थात् अग्नि, सूर्य, वायु आदि सब एक परमेश्वर के ही गुण नाम हैं। जैसे अग्नि शब्द के अर्थ परमेश्वर में नहीं घटते वैसे ही ऊपर के अर्थ भी नहीं लग सकते। सिवाय इसके जो 'तदेवाग्नि०' पद भेद को विषय अर्थ से मिलावें तो स्वामी जी का अग्नि शब्द को परमेश्वर अर्थ में मिलाना ऐसा असंभव होगा, जैसे कहदे कि मनुष्य पशु है अथवा पशु मनुष्य है।

अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥'

इसका अभिप्राय यह है कि अग्नि शब्द से दोनों अर्थों का ग्रहण होता है। अर्थात् भौतिक और परमेश्वर। तथा उसमें तीन आख्यात पद होने से तीन अन्वय होते हैं, अर्थात् आन्यादि नाम भौतिक अर्थ में और परमेश्वर अर्थ में भी दो अन्वय होते हैं।

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निम्।'

अर्थात् एक शब्द से परब्रह्म को विद्वान् लोग अथवा वेदमंत्र अग्न्यादि नामों से अनेक प्रकार की स्तुति करते हैं। तथा सबका निरुक्त जो दूसरे पृष्ठ में लिख दिया है, उसका भी अर्थ पण्डितजी ने नहीं जाना। क्योंकि वहां भी—

'उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ॥'

इसका यह अर्थ कि अग्नि नाम करके पूर्वोक्त प्रकार से उत्तर ज्योति गृहीत होते हैं। अर्थात् भौतिक और परमेश्वर इन दो अर्थों का ग्रहण होता है। तथा 'इममेवाग्नि०' इत्यादि इन दो अर्थों के अभिप्राय में है। क्योंकि विना पठनाभ्यास के कोई कैसा ही बुद्धिमान् क्यों न हो, गूढ़ शब्दों का यथावत् अर्थ जानने में उसको कठिनता पड़ जाती है।

इस मंत्र का अभिप्राय मैंने अच्छी तरह वेदभाष्य में प्रकाशित कर दिया था, तिस पर भी पण्डित जी न समझे। बड़े आश्चर्य्य की बात है कि विद्या के अभिमानी होकर ऐसी भ्रांति में गिर पड़ते, और उन प्रमाण मन्त्रों के यथार्थ अर्थ को उलटा समझते हैं। क्या यह हठ की बात नहीं है कि विद्वान् कहाकर बार-बार यही कहते चले जाना कि अग्नि शब्द से परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता।

'अग्निर्होता कविः क्रतुः०' स्वामीजी 'कवि' शब्द के अर्थ सर्वज्ञ के लेते हैं। तथा सत्य का विनाशरहित, परन्तु निरुक्त में कवि का और ही अर्थ है। और स्वामी जी भी जब मंत्र को शास्त्र-सम्बन्धी अर्थ में लेते हैं, तो कई प्रकार के अर्थ करते हैं। कदाचित् स्वामीजी का अर्थ मान भी लें, तो वह उनके अभिप्राय को अग्नि ईश्वर का नाम है, नहीं खोलता। क्योंकि यह दस्तूर की बात है कि देवता की स्तुति करने में सब प्रकार के विशेषण लाते हैं।

स्वामीजी—अब पण्डितजी प्रमाणों की परीक्षा पर बहुत भूले हैं। क्योंकि मैंने 'अग्नि' शब्द से परमेश्वर के ग्रहण विषय में वेद मंत्रों के अनेक प्रमाण मंत्रभाष्यके आरम्भ में लिखे हैं, उनका विचार छोड़कर मृग के समान आगे कूद कर चले गये हैं। इससे मालुम होता है कि पण्डितजी को मंत्रों का अर्थ मालूम नहीं। और विना इतनी विद्या के वे साधारण वा विशेष परीक्षा कैसे कर सकते हैं। उनका यह भी लिखना ठीक नहीं कि इन प्रमाणों से स्वामी जी का अर्थ नहीं निकल सकता।

अब विद्वान् लोग पंडित जी के लेख की परीक्षा करें। अर्थात् वे लिखते हैं कि यह मालूम नहीं होता कि 'इन्द्रं मित्र०' इस मंत्र में 'उसको' शब्द किस के लिये आया है इत्यादि। तथा निरुक्तकार कहता है कि वह भौतिक अग्नि के लिये आया है इत्यादि। सो पण्डितजी को जानना चाहिये कि विना ज्ञान वेदविद्या के उनकी परीक्षा करना बालकों का खेल नहीं। इस ग्रन्थ में भी अग्नि का पाठ दो वार है। एक—

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः...।

जैसे इस मन्त्र के अर्थ में पण्डितजी भूल गये

हैं, वैसे ही 'तदेवाग्नि०' जो इस में तैत्तिरीय आरण्यक का नाम लिखा उसके प्रकरण का अभिप्राय पण्डितजी ने ठीक-ठीक नहीं जाना। क्योंकि वहाँ परमेश्वर का निरूपण और सृष्टिविद्या दिखलाई है। जैसे वह परमेश्वर भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान् तीनों काल में एक रस रहता है, अर्थात् जब-जब जगत् हुआ था, है और होगा, तब-तब वह—

'तदक्षरे परमे व्योमन् ।'

सर्वव्यापक, आकाशवत्, विनाशरहित, परमेश्वर में स्थित होता है। क्योंकि—

'येनावृतं खं च दिवं महीं च०' इत्यादि।

जिसने आकाश सूर्यादि लोक और पृथिव्यादि-युक्त जगत् को अपनी व्याप्ति से आवृत कर रक्खा है।

'येन जीवान व्यवसर्ज भूम्याम् ।'

जो कि जीवों को कर्मानुसार फल भोगने के लिये भूमि में जन्म देता है।

'अतः परं नान्यदणीयसमस्ति ।'

जिस से सूक्ष्म वा बड़ा कोई पदार्थ नहीं है। तथा जो सबसे परे एक अद्वितीय अव्यक्त और अनन्त-स्वरूपादि विशेषणयुक्त है।

'तदेवावर्त्तद्दु सत्यमहुस्तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम् ।'

वही एक यथार्थ नित्य एक चेतन तत्वमय है, वही सत्य, वही ब्रह्म, तथा विद्वानों का उपास्य परमोत्कृष्ट इष्ट देवता है।

और 'तदेवाग्नि०' अर्थात् वही परमेश्वरअग्न्यादि नामों का वाच्य है।

'सर्वे निमेषा जज्ञिरे इत्यादि ।'

जिससे सब कालचक्रादि पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। तथा—

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम् ।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो
य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

अर्थात् उस परमेश्वर का स्वरूप इयत्ता से दृष्टि में नहीं आ सकता। अर्थात् कोई उस को आँख से नहीं देख सकता, किन्तु जो धार्मिक विद्वान् अपनी बुद्धि से अन्तर्यामी परमात्मा को आत्मा के बीच में जानते हैं, वे ही मुक्ति को प्राप्त होते हैं।

तथा जिस अनुवाक का पंडितजी ने नाम लिखा है, उस का अभिप्राय और ही कुछ है। अद्वैत शब्द का अर्थ उन की समझ में ठीक-ठीक नहीं आया। क्योंकि उन के मन में भ्रम होगा कि सिवाय परमेश्वर के जगत् में दूसरा पदार्थ कोई भी नहीं, किन्तु परमेश्वर ही जगत्रूप बन गया है। क्योंकि वे लिखते हैं कि तमाम ब्रह्माण्ड एक अंशमात्र है, जिस से घोड़ा, गौ और खटमल आदि निकले हैं। इस से उन का अभिप्राय स्पष्ट मालूम होता है कि ब्रह्म ही सब जगत् बन गया है।

यह भ्रान्ति उन को वेदादि शास्त्रों के ठीक-ठीक न जानने के कारण हुई है। क्योंकि देखो 'अद्वैत' शब्द परमेश्वर का विशेषण है, कि जैसे एक-एक मनुष्यादि जाति जगत् में अनेक व्याप्तिमय है, वैसा परमेश्वर नहीं, किन्तु वह तो सब प्रकार से एकमात्र ही है। इसका उत्तर भूमिका अङ्क ४ पृष्ठ ६० की पंक्ति २० में मिलता है। जैसे—

'न द्वितीयो न तृतीयः ॥

इत्यादि में देख लेना। तथा—

'पुरुष एवेदꣳसर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ॥'

इत्यादि मन्त्रों का अर्थ भूमिका अङ्क ५ के ११८ पृष्ठ में 'सहस्रशीर्षा०' इत्यादि की व्याख्या से लेकर अंक ६ के १३४ पृष्ठ की समाप्ति पर्यन्त देखने से इसका ठीक उत्तर मिल जायगा।

अग्निर्होता कविः क्रतुः०

इसके अर्थ विषय में जो पंडितजी को शंका हुई है कि अग्नि शब्द से ईश्वर कैसे लिया जाता है, तो निरुक्त में कवि शब्द का अर्थ क्रान्तदर्शन अर्थात् सब को जानने वाला है। सो सिवाय परमेश्वर के भौतिक में कभी नहीं घट सकता। क्योंकि भौतिक अग्नि जड़ है। इस मन्त्र का अर्थ वेदभाष्य के अंक १ पृष्ठ १६ में देख लेना—क्रतुः सब जगत् का करने वाला सत्यश्चित्रश्रवस्तमः—इत्यादि पदों का अर्थ वहीं देख लेना। जब आग्रह छोड़ के विद्या की

आंख से मनुष्य देखता है, तब उसको सत्यासत्य का ज्ञान यथावत् होता है, और जब इस प्रकार की ठीक-ठीक विद्या ही नहीं, तो उसको सत्यासत्य का विवेक कभी नहीं हो सकता।]

तथा निघं० अ० ३ खं० १५ में 'मेधावी' का नाम कवि लिखा है। सो परमेश्वर के सिवाय भौतिक जड़ अग्नि में कभी नहीं घट सकता। तथा यजुर्वेद अ०४०। म० ८—सपर्यगाच्छुक्र०।' इस मन्त्र में कविर्मनीषी इत्यादि लिखा है। यहां भी कवि नाम सिवाय परमेश्वर के भौतिक जड़ अग्नि में कभी नहीं घट सकता। और ये सब प्रमाण मेरे अभिप्राय को ठीक-ठीक सिद्ध करते हैं। तथा पंडितजी का विशेष लेख की परीक्षा तो नहीं कर सकता, किन्तु उनकी न्यूनविद्या की परीक्षा अवश्य कराता है।

पं० महेश०—'ब्रह्म ह्यग्निः' जो कि आगे की संस्कृत में आता है। जैसे—

'अग्ने महां असि ब्राह्मण भारतेति० ॥'

इसमें अग्नि को ब्राह्मण कहा है। क्योंकि अग्नि इस नियम से—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।'

ब्रह्म है। और भारत इसलिये कहते हैं कि वह चढ़ाया हुआ पदार्थ देवताओं को पहुँचाता है। शत० कां० १। अ० ४। ब्रा० ४। २ इससे मालूम होता है कि यह अग्नि शब्द का अर्थ नहीं, किन्तु ब्राह्मण और भारत अग्नि में लगाये हैं।

'आत्मा वा अग्निः।'

यह शत० कां० ७। अ० ३। ब्रा० ३। क० ४ के अगले प्रमाण में आया है। जैसे—

'यद्वेव विते गार्हपत्येऽचित आहवनीये राजानं क्रीणाति। आत्मा वा अग्निः। प्राणः सोमः आत्मानं ततः प्राणं मध्यतो दधाति।'

अर्थात् 'बाद रखने गार्हपत्य और पूर्व रखने अग्नि के होम करने वाला सोमलता को मोल लेता है। क्योंकि आत्मा अग्नि है तथा प्राण नाम सोम का है, और आत्मा के बीच में प्राण रहते हैं।'

यहां आत्मा का अर्थ ईश्वर नहीं है, किन्तु मनुष्य के जीव से मुराद है। तथा अग्नि का नाम भी आत्मा अलंकार रूप से है। इसीलिये सोमलता प्राण का अर्थ लिया है। अग्नि का अर्थ आत्मा नहीं है जैसे कि सोमलता का प्राण है। ११ भी शतपथ ब्राह्मण से लिये गये हैं। जिस में इस बात का नाम नहीं है कि अग्नि का अर्थ ईश्वर माना जावे। किन्तु जहां से ये प्रमाण रक्खे हैं, वे बराबर होमादि का विधान करते हैं, और वे निस्सन्देह केवल भौतिक अग्नि का अर्थ देते हैं, दूसरा नहीं।

ऐतरेयोपनिषद् के हैं अर्थात् १८ प्रमाण में ईश्वर का वर्णन प्राण, अग्नि, पञ्चवायु आदि से तथा १३ में ईशान शंभु, भव, रुद्र आदि ये सब अर्थ उसी उसी नियम पर हैं कि जिसका कथन कर चुके। सब वस्तु ब्रह्म है, इन प्रमाणों से भी स्वामी जी के कथन की पुष्टता नहीं होती। १३ प्रमाण में अग्नि कहीं नहीं आया है। सिवाय 'अग्निरिवाग्निना पिहितः' ब्रह्म को अग्नि शब्द के तुल्य करने से कि जो 'अग्निरिव' से उत्पन्न होता है। साफ मालूम होता है कि अग्नि और ईश्वर में बड़ा भेद है। परन्तु बड़ा आश्चर्य है कि स्वामीजी इसी को अपना प्रमाण मानते हैं। १४ ऐतरेय ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण के हैं, जो कह दिये गये।

स्वामीजी—इसके आगे जो-जो प्रमाण मैंने शतपथ के इस विषय में क्रम से धरे हैं, उनको तो देखते विचारते नहीं, परन्तु इधर उधर घूमते हैं। विद्वानों का यह काम है कि उलट पुलट के आगे का पीछे और पीछे का आगे कर देवें। 'ब्रह्म ह्यग्नि' इस वचन से स्पष्ट मालूम होता है कि ब्रह्म का नाम अग्नि है। तथा—

'अग्ने महाँ असि ब्राह्मण भारतेति।'

इस वचन के भी दूसरे अर्थ हैं, क्योंकि वहाँ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह नियम कहीं नहीं लिखा—

'ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्राह्मण इति भारतेत्येष हि देवेभ्यो हव्यं भरति तस्माद् भारतोऽग्निरित्याहुरेष उ वा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्ति तस्मादेवाह भारतेति।'

इस कण्डिका का अर्थ पूर्वापर सम्बन्ध से पंडित जी न समझे। क्योंकि इसका अर्थ यह है कि हे अग्ने परमेश्वर! आप महान् सबसे बड़े हैं और बड़े होने से 'ब्राह्मण' तथा सब प्रजा को धारण करने से 'भारत' कहाते हैं। और विद्वानों के लिये सब उत्तम पदार्थों का धारण करते हैं, इसलिये भी आपका नाम भारत है। इस कण्डिकाके अर्थसे यथावत् सिद्ध होता होता है कि अग्नि भारत और ब्राह्मण ये नाम परमेश्वर के हैं। और जो 'आत्मा वा अग्नि' इसमें अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक अग्नि का ग्रहण है, इससे दोष नहीं आ सकता। यही मेरा अभिप्राय है, इसको पण्डित जी ठीक-ठीक नहीं समझे और—

'तस्मादयमात्मन् प्राणो मध्यतः।'

इसका यह अर्थ है कि—(अयम्) यह होम करने वाला परमेश्वर का उपासक सबके बलकारक प्राण को शरीर में वा मोक्ष स्वरूप अन्तर्यामी ब्रह्म के बीच में धारण करता है। क्योंकि सब प्राण सामान्य से परमेश्वर की सत्ता में ठहर रहे हैं। इससे सब का आत्मा प्राण के बीच में है, और मनुष्य के प्राण की अपेक्षा व्यवहार दशा में है। परन्तु—'स उ प्राणस्य प्राणः।' इस केनोपनिषद् के विधान से परमेश्वर का नाम भी प्राण है। इससे यहाँ आत्मा शब्द से जीवात्मा और परमात्मा का ग्रहण है।

और आत्मा का नाम अग्नि अलंकार से नहीं, किन्तु संज्ञा संज्ञि सम्बन्ध से है। क्योंकि उस प्रकरण में वैसे ही अग्नि नाम से पूर्वोक्त दोनों अर्थ सिद्ध हैं। और यज्ञादि कर्मों में परमेश्वर का ग्रहण सामान्य से आता है। सोम का नाम प्राण शतपथ में इसलिये है कि वह प्राण अर्थात् बल बढ़ाने का निमित्त है। परमेश्वर का नाम सोम है, सो पूर्वोक्त ऐतरेय ब्राह्मण के प्रकरण में सिद्ध है। और जहाँ जहाँ से प्रमाण लिखे हैं, वहाँ-वहां सर्वत्र होमादि क्रिया उपासना और परमेश्वर का ग्रहण है। परन्तु पण्डित जी लिखते हैं कि अग्नि नाम से भौतिक अर्थ का ही ग्रहण होता है, यह केवल उनका आग्रह है, इसका उत्तर पूर्व भी हो चुका। और—

'प्राणो अग्निः परमात्मेति।'

यह मैत्र्युपनिषद् का प्रमाण भी यथावत् परमेश्वरार्थ को कहता है। प्राण, अग्नि, परमात्मा, ये तीनों नाम एकार्थवाची हैं। तथा आत्मा और ईशानादि भी संज्ञा संज्ञि सम्बन्ध में स्पष्ट हैं। और 'सब वस्तु ब्रह्म है' इसका उत्तर मैं पूर्व दे चुका हूँ। पंडित जी वेदादि शास्त्रों को न जान कर भ्रम से जगत् को ब्रह्म मानते हैं।

इस प्रकरण में प्राण, अग्नि और परमात्मा पर्याय वाचक लिखे हैं। उनका अर्थ विना विचारे कभी नहीं मालूम हो सकता। क्योंकि 'पञ्चवायु' इस शब्द से पण्डित जी को भ्रम हुआ है। इसमें केवल व्याकरण का कम अभ्यास कारण है। क्योंकि जिसमें पाँच वायु स्थित हों सो 'पञ्चवायुः' परमेश्वर कहाता है। और इस प्रकरण में 'विश्वभुक्' आदि शब्द भी हैं, इससे दोनों अर्थ वहाँ लिये जाते हैं।

'य एष तपति अग्निरिवाग्निनापिहितः। एक वा जिज्ञासितव्योऽन्वेष्टव्यः सर्वभूतेभ्योऽभयं दत्वाऽऽरण्यं गत्वाऽथ बहिः कृत्वेन्द्रियार्थान् स्वाच्छरीरादुपलभेतैनमिति विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तं सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः। तस्माद्वा एष उभयात्मैवं विद्वात्मन्येवाभिध्यायत्यात्मन्येव यजतीति ध्यानम्।'

जो परमेश्वर अग्नि और सूर्य के समान सर्वत्र तप रहा है, जिसको सब विद्वान् लोग जानने की इच्छा करते और खोजते हैं। तथा सब प्राणियों को अभयदान दे के विषयों में इन्द्रियों को रोक के एकान्त देश में समाधिस्थ होकर इसी मनुष्य शरीर में जिसको प्राप्त होते हैं, वह परमेश्वर विश्वरूप है। अर्थात् जिसका स्वरूप विश्व में व्याप्त हो रहा है, और सब पापों को नाश करने वाला, उसी से वेद प्रकाशित हुए हैं, वह सब विश्व का परम अयन, ज्योतिःस्वरूप एक अर्थात् अद्वितीय, सूर्यादि को तपाने वाला असंख्यात ज्योतियुक्त अर्थात् सब विश्व में असंख्यात गुण और सामर्थ्य से सह वर्तमान, सबका

प्राण अर्थात् सब प्रजाओं के बीच में ज्ञानस्वरूप से उदित, और चराचर जगत् का आत्मा है। उस परमेश्वर को जो पुरुष उभयात्मा अर्थात् अन्तर्यामी और परमेश्वर की आत्मा परमेश्वर ही को जानने वाला तथा अपने आत्मा में जगदीश्वर का अभिध्यान और समाधियोग से उसका पूजन करता है, वही मुक्ति को प्राप्त होता है।

इसी प्रकार से 'उपलभेतैनमिति।' मनुष्य परमेश्वर को प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि पंडित जी ने इस प्रकरण का अर्थ कुछ भी नहीं जाना, इसी से विरुद्ध लेख किया। इस प्रकार से यह प्रकरण मेरे लेख का मण्डन और पण्डित जी के लेख का खण्डन करता है। भौतिक अग्नि और परमेश्वर में बड़ा भेद है, यह मैं भी जानता और मानता हूँ, परन्तु पण्डित जी ने मेरे लेख में उन दोनों का भेद कुछ भी नहीं समझा, यह बड़ा आश्चर्य है।

पं० महेश०—'अग्निः पवित्रमुच्यते' पवित्र शब्द की खराबी लगी है कि उसको पवित्र शब्द के अर्थ में लिया है। १८ मनु का है। इस स्थान में मैं कुछ अवश्य कहना चाहता हूँ कि एक बड़ा भाग मनु का, जो कि हिन्दू धर्म का बयान करता है। स्वामी जी उसके लौट डालने को अपनी ओर प्रेरणा अर्थात् रसूली समझते हैं। इसलिये मनु के प्रमाण रखने में उनकी चतुराई नहीं समझी जा सकती। और धरा तो धरा करो। परन्तु उससे भी सिद्ध नहीं हो सकता कि अग्नि ईश्वर का वाची है। जैसे सब दृष्ट अदृष्ट सृष्टि को परमेश्वर में स्थित देखना चाहिये, आत्मा सब देवता है, सब आत्मा में स्थित हो रहे हैं। कोई कहते हैं कि वह अग्नि है, कोई मनु अर्थात् प्रजापति कोई इन्द्र, कोई प्राण और कोई-कोई उसको नित्य ब्रह्म करके समझते हैं। वह मनुष्य जो परमात्मा को सब में व्यापक देखता है स्वीकार करता है कि सब समान हैं, वह परमेश्वर में लवलीन हो जाता है।

सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः।
आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्।
एतमेके वदन्त्यग्निम्मनुमन्ये प्रजापतिम्॥

अब देखना चाहिये कि ये सब मन्त्रों के प्रमाण स्वामी जी ने अग्नि शब्द के परमेश्वरार्थ में सिद्ध करने को दिये हैं, सो कैसे वृथा हैं।

स्वामी जी—'अग्निः पवित्रमुच्यते' इसका उत्तर हम दे चुके और मनु के प्रमाण के विषय में पंडितजी का लेख विपरीत है। क्योंकि जो आर्यों का वेदोक्त सनातन-धर्म है, उसको पंडित जी के समान विचार करने वाले मनुष्यों ने उलटा दिया है। उस उलटे मार्ग को उलटा कर पूर्वोक्त सत्यधर्म का स्थापन मैं किया चाहता हूँ। इससे मेरी चतुराई तो ठीक हो सकती है, परन्तु पंडित जी की चतुराई ठीक नहीं समझी जाती। क्योंकि मनु के प्रमाण का अभिप्राय पण्डितजी ने कुछ भी नहीं समझा। 'प्रशासितारं सर्वेषाम्०।' इस पूर्वोक्त से पुरुष अर्थात् परमेश्वर की अनुवृत्ति 'एतमेके वदन्त्यग्निम्।' इस श्लोक में बराबर आती है। तथा—'अपरे ब्रह्म शाश्वतम्।' इस वचन से भी ठीक-ठीक निश्चय है जिसका नाम परमेश्वर और ब्रह्म है। उसी के अग्न्यादि नाम भी हैं। इस सुगम बात को भी पण्डितजी ने नहीं समझा, यह बड़े आश्चर्य की बात है। और—

सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः।
सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः॥१॥
आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्॥२॥
एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्॥३॥

इन श्लोकों से पण्डित जी ने ऐसा अर्थ जाना है कि परमेश्वर ही सब देवता हैं, और सब जगत् परमेश्वर में स्थित है। यह पण्डित जी का जानना बिलकुल मिथ्या है। क्योंकि इन श्लोकों से इस अर्थ को नहीं सिद्ध करते। 'समाहितः' इस पद को अशुद्ध करके 'समाहितम्' यह पण्डित जी ने लिखा है, 'जो समाधान पुरुष असत्कारण और सत्कार्यरूप जगत् को आत्मा अर्थात् सर्व व्यापक परमेश्वर में देखे, वह कभी अपने मन को अधर्मयुक्त नहीं

कर सकता । क्योंकि वह परमेश्वर को सर्वज्ञ जानता है ॥१॥

आत्मा अर्थात् परमेश्वर ही सब व्यवहार के पूर्वोक्त देवताओं का रचने वाला, और जिसमें सब जगत् स्थित है। वही सब मनुष्यों का उपास्यदेव तथा सब जीवों को पाप पुण्य के फलों का देने हारा है ॥ २ ॥

इसी प्रकार समाधियोग से जो मनुष्य सब प्राणियों में परमेश्वर को देखता है, वह सबको अपने आत्मा के समान प्रेमभाव से देखता है। वही परम पद जो ब्रह्म परमात्मा है, उसको यथावत् प्राप्त होके, सदा आनन्द को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

अब देखना चाहिये मेरे वेदभाष्य पर विना समझे जो पण्डित जी ने तर्क लिखे हैं, वे सब मिथ्या हैं, क्या इस बात को सब सज्जन लोग ध्यान देके न देख लेंगे।

पं० महेश०—फिर स्वामी जी लिखते हैं कि अग्नि परमेश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् न्यायकारी पिता पुत्र के समान मनुष्य को उपदेश करता है कि हे जीव तू इस प्रकार कहो कि मैं अग्नि परमेश्वर की स्तुति करता हूँ। तिस पर जीव कहता है कि मैं अग्ने ईश्वर की स्तुति करता हूँ, जो कि सर्वज्ञ, शुद्ध, अविनाशी, अजन्मा आदि अन्त रहित, सर्वव्यापक सृष्टिकर्त्ता और स्वयं प्रकाशस्वरूप है, दूसरे की नहीं।

इस विषय में स्वामी जी कोई प्रमाण नहीं देते हैं। संसार स्वामी जी की इस प्रेरणा के बताने का ऋणी है। परन्तु उनको ऐसी मधुरता से अपने भाष्य में लेख करना उचित नहीं।

अब 'अग्निमीडे०' पुरोहित शब्द को देखना चाहिये। स्वामीजी अर्थ करते हैं—वह जो जीवों का पालन और रक्षा करता तथा हर एक को उत्पन्न करके सत्य विद्या का उपदेश करता, और अपने उपासकों के हृदय में प्रेम भक्ति का प्रकाश करता है। स्वामी जी हित शब्द को 'डुधाञ्' धातु से बनाते हैं, जिससे आगे 'क्त' है। इसमें वह निरुक्त का प्रमाण धरते हैं—

पुरोहितः पुर एनन्दधाति ।

यह नहीं समझा जा सकता कि स्वामीजी पुरोहित शब्द से अपने अर्थ कैसे निकालते हैं। व्याकरण की रीति से इस 'हित' शब्द के अर्थ आगे रक्खे के हैं, स्वामीजी लेते हैं कि जो कुछ रखता है। व्याकरण की रीति से हित शब्द डुधाञ् धातु का कर्माधार गौण क्रिया है, सकर्मक गौण क्रिया नहीं। स्वामीजी उसे व्याकरण के सूत्र से सिद्ध करदें, परन्तु इस बात का दावा किया जा सकता है कि हित शब्द किसी उदाहरण से सकर्मक गौण क्रिया सिद्ध नहीं कर सकते।

स्वामी जी—जो अग्नि नाम परमेश्वर का लिखा है, उसके प्रमाण उसी मन्त्र के भाष्य में यथावत् लिखे हैं, वहां ध्यान देकर देखने से मालूम हो जायेंगे। तथा 'पुरोहित' शब्द पर जो मैंने प्रमाण वा उसका अर्थ लिखा है, सो भी वहां देखने से ठीक-ठीक मालूम होगा कि जैसा व्याकरण और निरुक्तादि से सिद्ध है। पण्डित जी 'पुरोहित' शब्द को कर्मवाच्य कृदन्त मानते हैं, किन्तु कर्तृवाच्य कृदन्त नहीं, यह उनका कथन कैसा है कि जैसा प्रमत्तगीत। अर्थात् किसी ने किसी से प्रयाग का मार्ग पूछा, उसने उत्तर दिया कि वह द्वारिका का मार्ग सूधा जाता है।

'पुरोहित' शब्द के साधुत्व में यहाँ व्याकरण का यह सूत्र उपयोगी है—

आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च ।

अष्टा० अ० ३। पा० ४। सू० ७१ ॥

इससे आदि कर्म विषयक जो क्त प्रत्यय है, वह कर्ता में सिद्ध है। क्योंकि सकल पदार्थों का उत्पादन और विज्ञानादि दान अर्थात् वेद द्वारा सकल पदार्थ विज्ञान करा देना, यह परमेश्वर का आदि कर्म है। इसके न होने से सत्यासत्य का विवेक, और विवेक के न होने से परमेश्वर को जानना, और परमेश्वर के न होने से उसकी भक्ति होना, ये सब परस्पर असम्भव हैं।

निरुक्तकार ने भी 'पुरोहित' शब्द में 'डुधाञ्' धातु से कर्ता में 'क्त' प्रत्यय मानकर परमेश्वर का ग्रहण किया है। वहाँ अन्वयादेश इसी अभिप्राय में है कि परमेश्वर सब जगत् को उत्पन्न करके उसका धारण

और पोषण करता है। उसी परमेश्वर को संसारी जन इष्टदेव मानकर अपने आत्माओं में धारण करते हैं। देखिये वेदों में अन्यत्र भी—

विश्वस्मा उग्रकर्मणे पुरोहितः।

ऋ० मं० १। सू० ५५। मं० ३॥

यह उदाहरण भी प्रत्यक्ष है।

और जो पण्डित जी—'षड्ढे वापिः०' इस मन्त्र में पुराण की झूंठी आख्यायिका कहते हैं, उनकी बड़ी भूल है। क्योंकि उनको इस मन्त्र के अर्थ की खबर भी नहीं है। और जो इसके ऊपर निरुक्त लिखा है, उसका भी ठीक ठीक अर्थ नहीं जानते। क्योंकि पण्डित जी ने 'शन्तनु' शब्द से भीष्म जी का पिता समझ लिया है, जो 'शन्तनु' शब्द का निरुक्त में अर्थ लिखा है, उसकी खबर भी नहीं है—

शन्तनुः शं तनोस्त्वित वा शमस्मै तन्वा अस्त्विति वा।

जिसका यह अर्थ है कि (शं) कल्याणयुक्त तनु शरीर होता है जिससे वह परमेश्वर 'शन्तनु' कहाता है। और जिस शरीर से जीव कल्याण को प्राप्त होता है, इसलिये उस जीव का नाम भी 'शन्तनु' है। इससे पण्डित जी ने इसमें जो कथा लिखी सो सब व्यर्थ है।

अब 'यज्ञ' शब्द पर पण्डित जी लिखते हैं कि यज्ञ और देव शब्द को मिला करके लिया है, सो बात नहीं है। क्योंकि यह लेख और यन्त्रालय का दोष है। 'यज्ञस्य' यह शैषिकी षष्ठी है, पुरोहित, देव, ऋत्विक्, होता और रत्नधातम ये सब यज्ञ के सम्बन्धी हैं, और अग्नि के विशेषण हैं। यज्ञ शब्द का अर्थ जैसा भाष्य में लिया है, वैसा समझ लेना चाहिये। और निरुक्तकार भी वैसा ही अर्थ लेते हैं। क्योंकि प्रख्यात अर्थात् प्रसिद्ध जो तीन प्रकार का वेदभाष्य में यज्ञ लिखा है, वह निरुक्तकार के प्रमाण से युक्त है।

और जो 'गो' शब्द का दृष्टान्त दिया सो भी नहीं घट सकता। क्योंकि प्रकरण, आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति, तात्पर्य, संज्ञा आदि कारणों से शब्द का अर्थ लिया जाता है। और जो 'देव' शब्द के विषय में पंडित जी ने लिखा है कि स्वामी जी ने जय की इच्छा करने वाले कहां से वा कैसे लिये हैं, इसका उत्तर यह है कि 'दिवु' धातु का धात्वर्थ विजिगीषा भी है। और जो यज्ञ में विघ्नकारक दुष्ट प्राणी और कामक्रोधादि शत्रु हैं, उनका जीतने वाला वही परमेश्वर है। क्योंकि विविध यज्ञ का रक्षक इष्ट और पूज्यदेव परमेश्वर ही है।

'पुरोहितो व्याख्यातो यज्ञश्च।'

इसके अर्थ में पण्डित जी की बहुत भूल है, क्योंकि निरुक्तकार कहते हैं कि हमने पुरोहित और यज्ञ शब्द की पूर्व व्याख्या करदी है। और पण्डित जी कहते हैं कि निरुक्तकार के तीसरे अध्याय के १६ खण्ड में 'यज्ञ' शब्द को व्याकरण से सिद्ध किया है, सो झूंठा है। क्योंकि वहां अर्थ की निरुक्तिमात्र कही है, सिद्धि कुछ भी नहीं। और जो निघण्टु के अ० ३। खं० १७ प्रमाण से यज्ञ के अनेक नाम लिखे हैं कि बहुधा वे होमादिक के विधान में आते हैं। और स्वामीजी के अर्थों में उनमें से एक भी नहीं मिलता, यह बात पण्डित जी की भ्रान्तियुक्त है। क्योंकि उन १५ नामों का अर्थ मेरे अर्थ के साथ बराबर मिलता है। क्योंकि मैंने यज्ञ शब्द का अर्थ त्रिविध लिया है, इसके साथ उनको मिला कर देखो।

और पण्डित जी निरुक्तकार के विषय में कहते हैं कि 'देव' शब्द के अर्थ देने वाला, प्रकाश करने वाला और स्वर्ग में रहने वाला, ये तीन ही हैं। इस देव शब्द विषयक निरुक्त का अर्थ भूमिका के तीसरे अंक के ६३ पृष्ठ की ५ पंक्ति से देख लेना चाहिये। निरुक्तकार—'यो देवः सा देवता०' इत्यादि जो पांच अर्थ लेते हैं, उनको पंडित जी ठीक-ठीक नहीं समझे कि निरुक्तकार कितने अर्थ लेते हैं। इसमें पण्डित जी की परीक्षा हुई कि वे निरुक्तकार का अभिप्राय ठीक नहीं जानते हैं।

पं० महेश०—इसी प्रकार स्वामीजी 'ऋत्विजम्' 'होतारम्' और 'रत्नधातमम्' शब्दों के कई-कई अर्थ अद्भुत रीति से करते हैं। परन्तु क्योंकि उनकी भूल 'यज्ञस्य', 'देवं' शब्दों से सिद्ध कर चुका हूँ।

इसलिये विशेष लिखना वृथा है। स्वामीजी 'ऋत्विजं' का अर्थ करते हैं कि जिसकी सब ऋतुओं में पूजा की जाय, परन्तु सबके प्रामाणिक अर्थ इस शब्द के चढ़ाने वाले अर्थात् भेंट करने वाले के हैं और न कि जिसे भेंट चढ़ाई जाये। यह बात भी निरुक्त की साक्षी से सिद्ध है कि जिसको स्वामी जी भी प्रमाण मानते हैं।

स्वामीजी—अब पण्डित जी 'ऋत्विज' शब्द पर लेख करते हैं। सो भी ठीक-ठीक नहीं वे समझे।

कृत्ल्युटो बहुलम् ।

इस वार्तिक का अर्थ भी नहीं समझे, क्योंकि इस वार्तिक में कृत्संज्ञक प्रत्यय कर्म में भी उन शब्दों में माने जाते हैं, जो कि वेदादि सत्य शास्त्रों में प्रयुक्त हों। इसलिये इस वेदभाष्य में जो इसका अर्थ लिखा गया है, सो व्याकरण से सिद्ध है। परन्तु पंडित जी 'ऋत्विज' शब्द का अर्थ नहीं समझे।

पं० महेश०—स्वामी जी 'होतारं' शब्द के जो अर्थ करते हैं, उनमें से एक 'आधातारं' अर्थात् ग्रहण करने वाले के हैं, यह भिन्न पद है कि जिनसे यह अर्थ लिये जाते हैं। 'होतारं' जो 'हु' से बनता है, जिसके अर्थ अगले नियम धातुपाठ के से 'अदन' होते हैं, और इस ग्रन्थ को स्वामी जी मानते हैं। जैसे

हु दानादनयोरादाने चेत्येके ।

'हु' धातु के अर्थ दान अदन और किसी के मत में आदान अर्थात् ग्रहण करना, अदन का अर्थ ग्रहण या आदान अर्थ ग्रहण करना है। वेदान्तदर्शन का एक सूत्र है—

'अत्ता चराचरग्रहणात् ।'

इस प्रमाण से सिद्ध होता है कि अदन का अर्थ ग्रहण करना है। और फिर धातु-पाठ के उसी नियम से सिद्ध होता है कि अदन शब्द जो उसमें आया है, उसके अर्थ आदान के नहीं हो सकते, किन्तु उसके अर्थ कुछ और ही हैं। नहीं तो उक्त नियम के अनुसार 'आदाने चेत्येके' कैसे बन सकता। किसी के मत में ही धातु का अर्थ भी आदान होता है, इससे मालूम हो गया कि धातुपाठकार ने अदन आदान अर्थ में लाने का कभी ख्याल भी नहीं किया। अर्थात् उस अर्थ में कि जिसमें स्वामीजी ने लिया है।

इस सूत्र में कदाचित् स्वामीजी इस बात को सिद्ध कर सकें कि अदन आदान के अर्थ में आता है, तो यह वेदान्तदर्शन का सूत्र ही हो यह माना, फिर भी वह धातुपाठ के नियम की वृत्ति में नहीं लग सकता। तथा स्वामी जी के प्रमाण की पुष्टि कभी नहीं कर सकता। अब इसलिये इस बात के कहने की आवश्यकता नहीं है कि वेदान्तसूत्र भी जिस को कि स्वामीजी मानते हैं, अदन को आदान अर्थ में से सिद्ध नहीं कर सकता है। यह तमासे की बात है कि स्वामीजी ने 'हु' धातु से अर्थ लेने की अनेक युक्तियां घूम-घूम कर कीं, परन्तु न मालूम स्वामीजी 'होतारं' शब्द का अर्थ ग्रहण करने वा लेने में, ऐसे अधीर क्यों हो गये ? निस्सन्देह ग्रहण करने का जो गुण है, सो ईश्वर में कभी नहीं लग सकता।

अब मैं स्वामीजी के एक ईश्वरप्रतिपादन विषय की परीक्षा कर चुका कि जिस को पढ़नेवाले समझ लेंगे।

स्वामीजी—अब 'होता' शब्द पर पंडितजी के लेख की परीक्षा करता हूँ। पंडितजी को यह शंका हुई कि अदन का अर्थ जब ग्रहण लेंगे, तब आदान अर्थ हो जायेगा। परन्तु इसमें यह बात समझी जाये कि जब होता शब्द परमेश्वर का विशेषण है, तब क्या किसी मनुष्य को शंका न होगी कि परमेश्वर भी अत्ता होने वाला होने से, जगत् का भक्षणकारक होगा। इस की निवृत्ति के लिये आदान का अर्थ धारण किया है। जो इसके तीन अर्थ हैं, उनमें से प्रथम अर्थ को लेकर होता शब्द के अर्थ ईश्वर का जगत् का भक्षण करने वाला कोई मनुष्य न माने। क्योंकि ईश्वर में यह अर्थ नहीं घट सकता। जो निराकार और सर्वव्यापक है, वह भक्षणादि कैसे कर सकता है। हाँ, धारण शक्ति से व्यापक होके, ग्रहण अर्थात् धारण तो कर रहा है। इसलिये इस शङ्का का निवारण इस अर्थ के बिना नहीं हो सकता।

और जो पंडितजी ने लिखा है कि धातुपाठ के कर्ता का यह अभिप्राय नहीं है। सो भी पंडितजी की समझ उलटी है। क्योंकि जब 'हु' धातु का केवल

ईश्वरार्थ के साथ ही प्रयोग हो और अन्यत्र न हो, तब यह दोष—

देवदत्तो भोजनं जुहोत्यत्तीत्यर्थः ।

ऐसे वाक्य में अदन शब्द भक्षण के अर्थ में ही आता है। इस अभिप्राय से पाणिनिमुनि ने 'हु' धातु तीन अर्थों में लिखा है।

आदान चेत्यके

इस के कहने से स्पष्ट मालूम होता है कि धातु-पाठकार के मत में 'हु' धातु दान और अदन इन दोनों अर्थों में है और अदन अर्थ से भक्षण तथा आदान ले लिये जावेंगे। परन्तु कोई आचार्य आदान को पृथक् मानते हैं। धातुपाठकार नहीं। इसलिये आदान अर्थ का पृथक ग्रहण किया है। इससे जानलो धातु-पाठकार का यह ध्यान होता, तो स्वयं दान और अदन में आदान का पाठ क्यों नहीं कर लेते। इससे धातु-पाठ की वृत्ति में ठीक-ठीक मेरा अभिप्राय मिलता और मेरे ही अर्थ की पुष्टि करता है। पंडितजी की नहीं।

इसी प्रकार वेदान्त का सूत्र भी मेरे अर्थ की पुष्टि करता है। पंडितजी की कुछ भी नहीं। क्योंकि 'अत्ता:' शब्द का ग्रहण करने वाले के अर्थ में वेदान्त सूत्रकार का अभिप्राय है। 'आदान' शब्द के अर्थ के लिये नहीं। क्योंकि 'आदान' शब्द तो स्वयं ग्रहण करने अर्थ में है। इसलिये इस सूत्र आदि प्रमाणों के विना 'अत्ता' शब्द की ग्रहणार्थ में कोई कभी नहीं ला सकता। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि पंडित जी अपनी निर्मूल बात को समूल करने के लिये बहुत से यत्न करते हैं, परन्तु क्या झूठा सच्चा और सच्चा झूठा कभी हो सकता है?

इतने ही लेख से पण्डितजी की विद्या की परीक्षा विद्वान् लोग कर लेवें। और पण्डित महेश० न्याय-रत्नजी की संस्कृत में विद्वत्ता कितनी है, इसको समझ लेवें कि इन्होंने क्या केवल विद्याहीन पौराणिक लोगों को वेदार्थ विरुद्ध टीका और वैसे ही अंग्रेजी में जो वेदों पर मूलार्थ विरुद्ध उलटे तरजुमें हैं, उनके सिवाय ब्रह्माजी से लेके जैमिनि मुनि पर्य्यन्त के किये वेदों के व्याख्यान ग्रन्थों को कुछ भी कभी देखा वा समझा है। नहीं तो ऐसी व्यर्थ कल्पना क्यों करते, हां? मैं कह सकता हूँ कि—

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं
स तस्य निन्दां सततं करोति।
यथा किरातः करिकुम्भजाता
मुक्ताः परित्यज्य बिभर्त्ति गुञ्जाः ॥

'चोर कोटपाल को दण्डे' अर्थात् जो सच्चे को झूठा दोष लगाते हैं, वे ऐसे दृष्टान्त के योग्य होते हैं कि जो जिसके उत्तम गुण नहीं जानता वह उसकी निन्दा निरन्तर करता है। जैसे कोई जङ्गली मनुष्य गजमुक्ताओं को हाथ में लेकर, उनको छोड़के, घुंघुची का हार बनाकर गले में पहन कर फूला-फूला फिरे। वैसे जिन्होंने मेरे बनाये भाष्य पर विरुद्ध बात लिखी हैं, क्या इस पत्र को जो-जो बुद्धिमान् लोग देखेंगे, वे जैसी उनकी पण्डिताई की खण्डबण्ड दशा को न जान लेंगे।

परन्तु मैं यह प्रसिद्ध विज्ञापन देता हूँ कि ग्रीफिथ साहब आदि अंग्रेज, पं० गुरुदास और महेश-चन्द्र न्यायरत्न जी और मैं कभी सम्मुख बैठकर वेद-विषय में वार्तालाप करें, तब सब को विदित हो जावे कि विरुद्ध वादियों को वेद के एक मूल मन्त्र का भी अर्थ ठीक-ठीक नहीं आता। यह बात सब को विदित हो जावे। मैं चाहता हूँ कि ये लोग मेरे पास आवें वा मुझको अपने पास बुलावें, तो ठीक-ठीक विद्या और अविद्या का निश्चय हो जावे कि कौन पुरुष वेदों को यथार्थ जानता है, और कौन नहीं। क्योंकि—

विद्यादम्भः क्षणस्थायीः।

सब का दम्भ कुछ दिन चलता जाता, परन्तु विद्या का दम्भ क्षणमात्र में छुट जाता है॥ —इति—
श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृतशङ्कासमाधानयुक्त-पत्रं पूर्तिमगात् ॥

संवत् १९३४, कार्तिक शुक्ला २ ॥

—*—

* ओ३म् *

व्यवहारभानुः

—*—

सम्पादक का निवेदन

—*—

व्यवहारभानु के अन्त में इसके लिखने की तिथि फाल्गुण शुदी १५ संवत् १९३६ वि० मुद्रित है। संवत् १९३६ वि० में ही इसका प्रथम संस्करण महर्षि द्वारा संस्थापित "वैदिक यन्त्रालय काशी" में मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ था। उन दिनों "वैदिक यन्त्रालय" काशी में लक्ष्मीकुण्ड पर अवस्थित था। महर्षि ने सम्वत् १९३६ वि० में ही अपने काशी निवास के दिनों में इसकी रचना भी की थी।

तब से अब तक—इस पुस्तक के अनेक स्थानों से अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। भारत की बहुत-सी भाषाओं में इसके अनुवाद हो चुके हैं। इसकी इस समय तक कुल कितनी प्रतियां छप चुकी हैं? यह बताना तो हमारे लिये कठिन है, तथापि इसका प्रकाशन बहुत बड़ी संख्या में हो चुका है। यह पुस्तक बहुत सरल है, बहुत महत्त्वपूर्ण है, और साथ ही मनोरंजक भी बहुत है। आर्य-शिक्षण संस्थाओं में तो प्रायः सर्वत्र ही धर्मशिक्षा की पाठ्य-पुस्तक के रूप में इसका उपयोग होता है।

देखने में तो यह एक छोटी-सी पुस्तक है; परन्तु धर्म-शिक्षा, लोक-व्यवहार, शिष्टाचार नागरिक-जीवन और राजनीति आदि अनेक अत्यन्त आवश्यक और प्रत्येक मनुष्य के लिये बहुत उपयोगी विषयों, सिद्धांतों और मन्तव्यों आदि के मौलिक-सूत्रों का समावेश इसमें किया गया है। महर्षि ने प्रत्येक विषय का प्रतिपादन संक्षिप्त रूप में जनसाधारण की सरल भाषा में किया है। पुस्तक को विशेष रूप से उपयोगी और मनोरंजक बनाने के लिये इसमें बहुत-से शिक्षा-प्रद दृष्टान्तों तथा लोक-कथाओं का भी उल्लेख किया है। ये दृष्टान्त आदि शिक्षा-प्रद होने के साथ ही उच्चकोटि के हास्यरससे भी परिपूर्ण हैं। इनसे महर्षि के विनोदप्रिय होने का परिचय तो मिलता ही है, साथ ही पढ़ने-पढ़ाने वाले भी हंसते-हंसते लोट-पोट हो जाते हैं। इनके पढ़ने-पढ़ाने और सुनने-सुनाने में सभी का जी खूब लगता है।

महर्षि ने जैसे मानव-जीवन के सभी अंगों के के लिये उत्तमोत्तम प्रेरणायें प्रदान की थीं और समाज सुधार के सभी क्षेत्रों में प्रवेश किया था, वैसे ही उन्होंने बाल-जीवन की व्यवस्था और शिक्षा-दीक्षा आदि से सम्बन्धित सभी पहलुओं पर भी प्रकाश डाला था। आज तो बड़े भारी यत्न से बनाये हुए गुरु-कुलों को भी पाश्चात्य-शिक्षा के प्रवाह में बहकर, साधारण स्कूलों और कालिजों-जैसा बनाया जा रहा है; परन्तु महर्षि पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली से बहुत अधिक असन्तुष्ट थे। नहीं-नहीं, वे पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली के सर्वथा विरोधी थे।

पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली ही नहीं, वे तो आधुनिक शिक्षा-प्रणाली के भी विरोधी थे। आधुनिक शिक्षा-प्रणाली से हमारा अभिप्राय है—आर्ष-प्रणाली के विरुद्ध प्रणाली। अपने ग्रन्थों में आर्ष-शिक्षा-प्रणाली का पूर्ण विवरण महर्षि ने विस्तार पूर्वक लिखा है और उसके प्रचार तथा उद्धार पर बहुत बल दिया है। अपने वेदभाष्य और खण्डन-मण्डन सम्बन्धी ग्रन्थों के निर्माण के साथ ही साथ, उन्होंने छात्रोपयोगी पुस्तकों के निर्माण पर भी समुचित ध्यान दिया था। पठन-पाठन आदि की व्यवस्था सम्बन्धी महर्षि कृत पुस्तकों में—व्यवहारभानु का स्थान तीसरा है।

महर्षि अपने ग्रन्थों में आर्षपाठ-विधिका विवरण छपवा कर तथा अपने मन्तव्यानुसार पठन-पाठन-

व्यवस्था की पांच-सात पुस्तकें लिखकर ही सन्तुष्ट नहीं हो गये थे; अपितु उन्होंने इस दिशा में क्रियात्मक-पग और भी बहुत आगे तक बढ़ाया था, बहुमूल्य परीक्षण किये थे।

सम्वत् १६२० वि० में महर्षि दयानन्द को अपने गुरु पूज्यपाद दण्डी स्वामी श्री विरजानन्द जी सरस्वती के देहावसान की सूचना मिली। सहसा ही उनके मुख से ये उद्‌गार निकल पड़े—"शोक है व्याकरण का सूर्य आज अस्त हो गया।" गुरुजी की मृत्यु के समाचार ने महर्षि को बहुत व्यथित किया। स्वामी विरजानन्द जी महाराज मथुरा में रहकर संस्कृत भाषा और विशेष कर अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य के शिक्षण, प्रचार और उद्धार का जो बहुत श्रेष्ठ कार्य कर रहे थे, वह उनकी परलोक-यात्रा से बन्द हो चुका था। अब महर्षि ने उस कार्य की पूर्ति का प्रयास करने का उपक्रम किया।

सम्वत् १६२५ वि० के अन्त में महर्षि दयानन्द फर्रुखाबाद पधारे। वहां एक सेठ पन्नालाल वैश्य बहुत रुपया खर्च करके, एक शिवालय बनवाना चाहता था। महर्षि के उपदेशों से प्रभावित होकर पन्नालाल का शिवालय बनवाने का विचार हट गया। उसने महर्षि के आदेशानुसार पाठशाला की स्थापना की। महर्षि ने छः मास तक वहाँ रह कर प्रचार किया। बहुत-से लोगों ने यहाँ महर्षि से यज्ञोपवीत भी ग्रहण किये थे।

सम्वत् १६२७ वि० में महर्षि ने कासगंज जिला एटा में दूसरी पाठशाला स्थापित की। फिर इसी वर्ष मिर्जापुर में तीसरी पाठशाला की भी स्थापना करदी। चौथी पाठशाला उन्होंने ठाकुर मुकन्दसिंह जी की सहायता से सम्वत् १६२७ वि० में ही छलेसर जिला अलीगढ़ में खोली थी। इस पाठशाला की स्थापना के लिये उक्त ठाकुर साहिब महर्षि जी को काशी से विशेष मान-सन्मान के साथ अपने साथ लाये थे। और, इस पाठशाला का उद्‌घाटन-समारोह भी बड़ी धूम-धाम से सम्पन्न हुआ था। पाँचवीं पाठशाला सम्वत् १६३० विक्रमी में काशी में खोली गई थी।

फर्रुखाबाद की पाठशाला सात वर्ष तक चली। कासगंज की पाठशाला चार वर्ष चलती रही। मिर्जापुर की पाठशाला तीन वर्ष तक, छलेसर की छः वर्ष तक और काशी की पाठशाला तीन वर्ष तक चली। इन पाठशालाओं के लिये महर्षि को पर्याप्त धन जनता से प्राप्त होता था। छात्र भी खूब मिलते थे। छलेसर और फरुखाबाद की पाठशालाओ में तो बहुत दूर-दूर से विद्यार्थी पढ़ने के लिये आये थे। अधिकांश विद्यार्थियों के निवास, पुस्तक और भोजन-छादन आदि का प्रबन्ध इन पाठशाओं की ओर से ही किया जाता था। और, शिक्षण तो सभी के लिये सर्वथा निःशुल्क था।

महर्षि इन पाठशालाओं के द्वारा एक तो आर्ष-पाठ-विधि को पुनरुज्जीवित करना चाहते थे, दूसरे अपने वेद-प्रचार तथा वेद-भाष्य आदि कार्यों के लिये लेखक, सम्पादक, अध्यापक, और उपदेशक आदि के रूप में सहायक विद्वान् तैयार करना चाहते थे। इन पाठशालाओं के द्वारा जो कार्य उस समय हुआ, उन दिनों की परिस्थितियों को देखते हुए, उसे पर्याप्त माना जा सकता है। महर्षि के अनेक शिष्य और सहयोगी, यथा—पण्डित भीमसेन शर्मा, पण्डित ज्वालादत्त, पण्डित देवदत्त, पण्डित दिनेशराम प्रभृति इन ही पाठशालाओं के पढ़े हुए विद्वान् थे। दयानन्द दिग्विजय नामक महाकाव्य के रचयिता कविरत्न श्री पं० अखिलानन्द शर्मा, जोकि पहिले आर्योपदेशक और गुरुकुल कांगड़ी के अध्यापक थे, तथा बाद में, सनातनी बन गये हैं, वे भी अपने बाल्यकाल में महर्षि की छलेसर की पाठशाला में पढ़ चुके हैं। यह सब होने पर भी महर्षि ने इन पाठशालाओं की प्रगति को सन्तोषजनक नहीं समझा। संस्थावाद की जो भीषण बुराइयां आज हम सब के सामने हैं, महर्षि ने अपने अनुभव से इनको उसी समय जान लिया था। प्रबन्ध सम्बन्धी अनेक विकट प्रश्न उठ खड़े होते थे। धन की चिन्ता भी लगी ही रहती थी। यह सब होने के साथ ही साथ दो बातें विशेष रूप से दुःखदायी और क्षोभकारी थीं। एक तो यह कि इन पाठशालाओं में पढ़कर, विद्वान् बनकर, विद्यार्थी पुनरपि पोपडम में जाकर फंस जाते थे। दूसरी यह

कि अध्यापक लोग हृदय से महर्षि के सिद्धान्तों को न मानते हुए भी, केवल वेतन के लिये ही, इन पाठशालाओं में अध्यापन कार्य स्वीकार कर लेते थे। वे ऊपर से तो अपने आपको आर्य-पण्डित प्रगट करते थे, और, भीतर से पुराण-पन्थी बने रहते थे। तथा चोरी-छिप्पे मृतक-श्राद्ध, मूर्ति-पूजन आदि भी करते रहते थे। इसलिये महर्षि ने साहस और दूरदर्शिता से काम लेकर, इन सब पाठशालाओं को सर्वथा बन्द कर दिया। जग-हंसाई का उन्होंने कुछ भी भय न किया। पाठशालाओं का सब धन उन्होंने वेद-भाष्य-निधि में दे दिया।

इस प्रकार महर्षि ने अपने परीक्षणों से आर्ष-पाठ-विधि के प्रेमियों का मार्ग भी प्रशस्त कर दिया और संस्थावाद की खराबियों का अन्त करने के लिये, जिस साहस की आवश्यकता होती है, वह भी प्रदर्शित कर दिया। मनुष्य के स्वभाव में यह दुर्बलता प्रायः सर्वत्र देखी जाती है, कि वह जानते हुए भी अपनी दुर्बलता को स्वीकार नहीं करता, अपनी खोटी वस्तु को भी उत्तम कहता है, तथा अपनी संस्थाओं को हानिकारक होने पर भी, उत्तम और लोकोपकारक बताता है; परन्तु महर्षि में तो ऐसी त्रुटियां थी ही नहीं। उनका तो आविर्भाव ही इस प्रकार की त्रुटियों के निवारण के लिये हुआ था। सिद्धान्तों के विषय में दबना और मिथ्याचारियों से समझौते करना, तो वे जानते ही न थे। यही कारण है कि उन्होंने अपनी सब पाठशालाओं को स्वयं ही बन्द कर दिया और यह कार्य भविष्य के लिये छोड़ दिया।

व्यवहारभानु का प्रचार और प्रकाशन कुछ कम नहीं हुआ है। फिर भी न जाने कैसे ? एक भ्रान्ति पूर्ण धारणा इस पुस्तक के विषय में फैल गई है— वह यह, कि इसे बालोपयोगी पुस्तक माना जा रहा है। बालकों को यह पढ़ा दी जाती है और बड़ी आयु के स्त्री-पुरुष इसकी ओर ध्यान नहीं देते। अथवा, यूं कह लीजिये कि कम ध्यान देते हैं। महर्षि ने तो आरम्भ में ही लिखा है:—

"जिस लिये सब मनुष्यों को सुशिक्षा से युक्त होना अवश्य है, इसलिये यह बालक से लेकर वृद्ध पर्यन्त मनुष्यों के सुधार के अर्थ व्यवहार सम्बन्धी शिक्षा का विधान किया जाता है।"

इस स्पष्ट लेख पर प्रौढ़-वर्ग को विशेष ध्यान देना चाहिये। जब बड़े लोगों के आचार-विचार में सुधार होगा, तभी बाल-वर्गों का चरित्र भी उन्नत हो सकेगा। बालक तो अनुकरणप्रिय होते हैं। वे अपने माता, पिता और गुरुजनों को जो कुछ भी करते तथा कहते, हुए देखते-सुनते हैं, वही स्वयं भी करने-कहने लग जाते हैं। रोचक होने पर भी पुस्तक-गत शिक्षाओं पर बालक अधिक ध्यान नहीं देते।

प्रौढ़ वर्गों में व्यवहारभानु के प्रचार की आवश्यकता विशेष रूप से बहुत अधिक है। भारत में यह आवश्यकता स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से और भी अधिक तीव्रता के साथ अनुभव की जा रही है। भारत को अपने व्यापार, राज-काज, सामाजिक-जीवन तथा नव-निर्माण के लिये बहुत बड़ी संख्या में ऊँचे चरित्रवाले सुसभ्य नागरिकों की आवश्यकता है। घटिया-चरित्र के लोग, आज भारत के लिये भारी कलंक-स्वरूप हैं। वे भारत की नई-नई स्वतन्त्रता के लिये बहुत बड़ा अभिशाप हैं। बहुत बड़ा खतरा हैं और भारत की उन्नति के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा हैं। अतः व्यवहारभानु और ऐसी ही पुस्तकों के प्रचार की आज-कल सर्वाधिक आवश्यकता है। आर्य पुरुषों को कथा-वार्ता आदि के द्वारा शिक्षित अशिक्षित सभी प्रौढ़-वर्गों में, इस पुस्तक और इसके उपदेशों के प्रसार की ओर प्रथम ध्यान देना चाहिये।

व्यवहारभानु का जो यह नया संस्करण प्रकाशन पथ पर अग्रसर हो रहा है, इसे हमने व्यवहारभानु के सम्वत् २०० वि० में सत्तरहवीं बार वैदिक यन्त्रालय अजमेर द्वारा प्रकाशित तथा सम्वत् २००४ वि० में श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा लाहौर से तीसरी बार प्रकाशित, इन दोनों संस्करणों के आधार पर तैयार किया है। इस में सम्पूर्ण लेखादि तो अजमेरीय-संस्करण के अनुसार ही है, भेद यह है कि कुछ प्रकरणों में पाठकों की सुविधा के लिये नये शीर्षक लगाये गये हैं और लम्बे-लम्बे परिच्छेदों को छोटे-छोटे परिच्छेदों के रूप में मुद्रित कराया गया है। मुद्रण में शुद्धता का विशेष ध्यान रखा गया है।

—सम्पादक

भूमिका

मैंने परीक्षा करके निश्चय किया है कि जो धर्मयुक्त व्यवहार में ठीक-ठीक वर्त्तता है, उसको सर्वत्र सुखलाभ और जो विपरीत वर्त्तता है, वह सदा दुखी होकर अपनी हानि कर लेता है। देखिये जब कोई सभ्य मनुष्य विद्वानों की सभा में वा किसी के पास जाकर अपनी योग्यता के अनुसार नम्रतापूर्वक नमस्ते आदि करके, बैठ के, दूसरे की बात ध्यान दे सुन, उसका सिद्धान्त जान, निरभिमानी होकर, युक्त प्रत्युत्तर करता है, तब सज्जन लोग प्रसन्न होकर उसका सत्कार, और जो अण्डवण्ड बकता है, उसका तिरस्कार करते हैं। जब मनुष्य धार्मिक होता है, तब उसका विश्वास और मान्य शत्रु भी करते हैं। और, जब अधर्मी होता है, तब उसका विश्वास और मान्य मित्र भी नहीं करते। इससे—जो थोड़ी विद्या वा लोभी मनुष्य श्रेष्ठ शिक्षा पाकर सुशील होता है, उसका कोई भी कार्य्य नहीं बिगड़ता। इसलिये मैं मनुष्यों को उत्तम शिक्षा के अर्थ सब वेदादि शास्त्र और सत्याचारी विद्वानों की रीति से युक्त, इस व्यवहारभानु ग्रंथ को बनाकर, प्रकट करता हूं कि जिसको देख-दिखा, पढ़-पढ़ाकर मनुष्य अपने और अपने-अपने मित्र तथा विद्यार्थियों का आचार अत्युत्तम करें कि जिससे आप और वे सब दिन सुखी रहें।

इस ग्रन्थ में कहीं-कहीं प्रमाण के लिये संस्कृत और सुगम भाषा लिखी और अनेक उपयुक्त दृष्टान्त देकर सुधार का अभिप्राय प्रकाशित किया है कि जिसको सब कोई सुख से समझ के, अपना-अपना स्वभाव सुधार के, सब उत्तम व्यवहारों को सिद्ध किया करें

सं० १९३६ फाल्गुन शुक्ला १५ } दयानन्दसरस्वती, काशी,

मद्दयानन्द चित्रावली

सम्पादक श्री पण्डित रामगोपाल विद्यालंकार

महर्षि दयानन्द की जीवन घटनाओं से सम्बन्धित बड़ी साइज के निम्न प्रकार के २६ चित्रों से युक्त ऋषि के प्रभावशाली उपदेश प्रद जीवन घटनाओं का वर्णन भी बड़े अक्षरों में दिये गये हैं, जिससे ऋषि के जीवन चरित्र की सुगमता से हृदयंगम किया जा सकता है; पाठशाला में विद्यार्थी तथा विवाहादि में उपहार देने योग्य सुन्दर पुस्तक है। मूल्य २।)

चित्रों की सूची

१. भारत माता का रंगीन चित्र
२. गुरु विरजानन्द का जीवितावस्था का फोटू
३. महर्षि दयानन्द योगरूढ़
४. शिवरात्रि जागरण व ऋषिबोध
५. अग्नि व चचाकीमृत्यु मृत्युञ्जय की चिन्ता
६. सिद्धपुर के मेले पर पिताजी से अन्तिम भेंट
७. गुरु विरजानन्द के पास विद्याध्ययन
८. गुरु विरजानन्द का रंगीनचित्र
९. गुरु दक्षिणा का अपूर्व दृश्य
१०. ऋषि का असली फोटू शाहपुरधीश से प्राप्त
११. शाहपुर जब्बलपुर से प्राप्त
१२, ,, दानापुर से प्राप्त
१३. ब्रूक्स को गो रक्षा का महत्व समझाना
१४. कुम्भ मेले पर सर्वस्व त्याग
१५. रावकर्णसिंहका तलवारका वार
१६. अपनुशहर में विष देने वाले को छुड़ाना
१७. विष देने वाले को छुड़ाना
१८. काशी-शास्त्रार्थ
१९. लार्ड राबर्टस् व निर्भिक संन्यासी
२०. सुधारकोंके साथ विचार विमर्श
२१. शास्त्रार्थ मेला चान्दापुर
२२. अमृतसर में ऋषि पर पत्थरों की वर्षा
२३. ब्रह्मचर्य बल का प्रमाण
२४. वैश्यागामी नरेश को फटकार
२५. विष देने वाले रसोईये को प्राणदान
२६. अन्तिम मृत्यु शय्या पर रंगीन चित्र

मिलने का पता—गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, देहली

* ओ३म् *

व्यवहारभानुः

ऐसा किस मनुष्य का आत्मा होगा कि जो सुखों को सिद्ध करने वाले व्यवहारों को छोड़कर उलटे आचरण करने में प्रसन्न होगा। क्या यथायोग्य व्यवहार किये बिना किसी को सर्व सुख हो सकता है ? क्या मनुष्य अच्छी शिक्षा से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष फलों को सिद्ध नहीं कर सकता ? और इसके बिना पशु के समान होकर दुखी नहीं रहता है ? जिसलिये सब मनुष्यों को सुशिक्षा से युक्त होना अवश्य है, इसलिये यह बालक से लेकर वृद्ध पर्य्यन्त, मनुष्यों के सुधार के अर्थ व्यवहार सम्बन्धी शिक्षा का विधान किया जाता है।

[पण्डितों के लक्षण]

प्रश्न—कैसे पुरुष पढ़ाने और शिक्षा करनेहारे होने चाहियें ?

उत्तर—पढ़ाने वालों के लक्षणः—

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता।
यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥१॥

[महाभारत उद्योगपर्व विदुरप्रजागर अ० ३३]

जिसको परमात्मा और जीव आत्मा का यथार्थ ज्ञान, जो आलस्य को छोड़कर सदा उद्योगी, सुखः दुःखादि का सहन, धर्म्म का नित्य सेवन करने वाला हो, जिसको कोई पदार्थ धर्म से छुड़ा अधर्म की ओर न खींच सके, वह पण्डित कहाता है ॥१॥

निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते।
अनास्तिकः श्रद्धान एतत् पण्डितलक्षणम् ॥२॥

[महा० उद्योगपर्व विदुरप्रजागार अ० ३३ श्लो० १६॥]

जो सदा प्रशस्त धर्मयुक्त कर्मों को करने और निन्दित अधर्मयुक्त कर्म्मों को कभी न सेवनेहारा, न कदापि ईश्वर, वेद और धर्म का विरोधी और परमात्मा, सत्यविद्या और धर्म में दृढ़ विश्वासी है, वही मनुष्य पण्डित के लक्षणयुक्त होता है ॥२॥

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति
विज्ञाय चार्थं भजते न कामात्।
नासंपृष्टो व्युपयुङ्क्ते परार्थे
तत् प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ॥ ३ ॥

[म० उद्यो० विदु० अ० ३३ श्लो० २२]

जो वेदादि शास्त्र और दूसरे के कहे अभिप्राय को शीघ्र ही जानने, दीर्घकाल पर्य्यन्त वेदादिशास्त्र और धार्मिक विद्वानों के वचनों को ध्यान देकर सुनकर ठीक-ठीक समझ निरभिमानी शान्त होकर, दूसरों से प्रत्युत्तर करने, परमेश्वर से लेकर पृथिवी पर्यन्त पदार्थों को जानकर, उनसे उपकार लेने में तन, मन, धन से प्रवृत्त होकर काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोकादि दुष्ट गुणों से पृथक् वर्त्तमान, दोनों के संवाद में बिना प्रसङ्ग के अयुक्त भाषणादि व्यवहार न करनेवाला मनुष्य है, यही पण्डित की बुद्धिमत्ता का प्रथम लक्षण है ॥३॥

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥४॥

[महा० उद्यो० विदु० अ० ३३ श्लो० २३ ॥]

जो मनुष्य प्राप्त होने के अयोग्य पदार्थों की कभी इच्छा नहीं करते, अदृष्ट वा किसी पदार्थ के नष्टभ्रष्ट हो जाने पर शोक करने की अभिलाषा नहीं करते और बड़े-बड़े दुःखों से युक्त व्यवहारों की प्राप्ति में भी मूढ़ होकर नहीं घबराते हैं, वे मनुष्य पण्डितों की बुद्धि से युक्त कहाते हैं ॥ ४ ॥

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान्।
आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पंडित उच्यते ।५।

[महा० उद्यो० विदु० अ० ३३ । श्लो० २८ ॥]

जिसकी वाणी सब विद्याओं में चलनेवाली, अत्यन्त अद्भुत विद्याओं की कथा को करने, बिना

जाने पदार्थों को तर्क से शीघ्र जानने, सुनी विचारी विद्याओं को सदा उपस्थित रखने और जो सब विद्याओं के ग्रन्थों को अन्य मनुष्यों को शीघ्र पढ़ानेवाला मनुष्य है, वही पण्डित कहाता है ॥ ५ ॥

श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा ।
असंभिन्नार्य्यमर्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः ॥६

[महा० उद्यो० विदु० अ० ३१ । श्लो० २६ ॥]

जिसकी सुनी हुई और पठित विद्या अपनी बुद्धि के सदा अनुकूल और बुद्धि और क्रिया सुनी पढ़ी हुई विद्याओं के अनुसार, जो धार्मिक श्रेष्ठ पुरुषों की मर्यादा का रक्षक और दुष्ट डाकुओं की रीति को विदीर्ण करनेहारा मनुष्य है, वही पण्डित नाम धराने के योग्य होता है ॥ ६ ॥

जहाँ ऐसे-ऐसे सत्य पुरुष और बुद्धिमान् पढ़ानेवाले होते हैं, वहाँ विद्या और धर्म की वृद्धि होकर सदा आनन्द ही बढ़ता जाता है । और, जहाँ निम्नलिखित मूढ़ पढ़ने पढ़ाने-हारे होते हैं, वहां अविद्या अधर्म की उन्नति हो कर दुःख ही बढ़ता जाता है ॥

प्रश्न—कैसे मनुष्य पढ़ाने और उपदेश करनेवाले न होने चाहियें ?

मूर्ख के लक्षण

उत्तर—

अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः ।
अर्थांश्चाकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥१॥

[महा० उद्यो० विदु० अ० ३३ । श्लो० ३०]

जो किसी विद्या को न पढ़ और किसी विद्वान् के उपदेश न सुनकर बड़ा घमण्डी, दरिद्र होकर धन-सम्बन्धी बड़े-बड़े कामों की इच्छा वाला और विना [कर्म] किये बड़े-बड़े फलों की इच्छा करने-हारा है । [विद्वान् लोग उसे मूर्ख कहते हैं] ॥ १ ॥

दृष्टान्त

जैसे—एक दरिद्र शेखचिल्ली नामक किसी ग्राम में था । वहां किसी नगर का बनिया दश रुपये उधार लेकर घी लेने आया था । वह घी लेकर घड़े में भर कर किसी मजूर के खोज में था । वहां शेखचिल्ली आ निकला । उससे पूछा कि इस घड़े को तीन कोस पर ले जाने की क्या मजूरी लेगा । उसने कहा कि आठ आने । आगे बनिये ने कहा कि चार आने लेना हो तो ले । उसने कहा अच्छा । शेखचिल्ली घड़ा लेचला । और बनिया पीछे-पीछे चलता हुआ मन में मनोरथ करने लगा कि दश रुपयों के घी के ग्यारह रुपये आवेंगे । दश रुपया सेठ को दूंगा और एक रुपया घर की पूंजी रहेगी । वैसे ही दश फेरे में दश रुपये हो जायेंगे । इसी प्रकार दश से सौ, सौ से सहस्र, सहस्र से लक्ष, लक्ष से करोड़, फिर सब जगह कोठियां करूंगा । और, सब राजा लोग मेरे कर्जदार हो जायेंगे । इत्यादि बड़े-बड़े मनोरथ करने लगा ।

और शेखचिल्ली ने विचारा कि चार आने की रुई ले सूत कात कर बेचूंगा । आठ आने मिलेंगे । फिर आठ आने से एक रुपया हो जायगा । फिर वैसे ही एक से दो रुपये होंगे । उनसे एक बकरी लूंगा । जब उसके कच्चे, बच्चे होंगे, तब उनको बेच कर एक गाय लूंगा । उसके कच्चे बच्चे बेच, भैंस लूंगा । उसके कच्चे बच्चे, बेच, एक घोड़ी लूंगा । उसके कच्चे बच्चे बेच, एक हथिनी लूंगा । और उसके कच्चे बच्चे बेच, दो बीबियाँ ब्याहूंगा । एक का नाम प्यारी और दूसरी का नाम बेप्यारी रखूंगा । जब प्यारी के लड़के गोद में बैठने आवेंगे, तब कहूंगा—बच्चे ! आओ बैठो । जब बेप्यारी के लड़के आकर कहेंगे कि हम भी बैठें, तब कहूंगा नहीं-नहीं । ऐसा कहकर शिर हिला दिया । घड़ा गिर पड़ा । फूट गया और घी भूमि पर फैल के धूली में मिल गया ।

बनिया रोने लगा और शेखचिल्ली भी रोने लगा । बनिये ने शेखचिल्ली को धमकाया कि घी क्यों गिरा दिया और रोता क्यों है ? तेरा क्या नुकसान हुआ ?

शेखचिल्ली—तेरा क्या बिगाड़ हुआ ? तू क्यों रोता है ?

बनिया—मैंने दश रुपये उधार लेकर प्रथम ही घी खरीदा था । उस पर बड़े बड़े लाभ का विचार किया था । वह मेरा सब बिगड़ गया । मैं क्यों न रोऊं ?

शेखचिल्ली—तेरी तो दश रुपये आदि की ही हानि हुई, मेरा तो घर ही बना बनाया बिगड़ गया। मैं क्यों न रोऊं।

बनिया—क्या तेरे रोने से मेरा घी आजायगा?

शेखचिल्ली—अच्छा तो तेरे रोने से मेरा घर भी न बन जायगा। तू बड़ा मूर्ख है।

बनिया—तू मूर्ख तेरा बाप।

दोनों आपस में एक दूसरे को मारने लगे। फिर मारपीट कर शेखचिल्ली अपने घर की ओर भाग गया। और, बनिये ने धूलि मिले हुए घी को ठीकरे में उठाकर अपने घर की राह ली। ऐसे ही स्वसामर्थ्य के विना अशक्य मनोरथ किया करना, मूर्खों का काम है। और, जो विना परिश्रम के पदार्थों की प्राप्ति में उत्साही होता है, उसी मनुष्य को विद्वान् लोग मूर्ख कहते हैं।

अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते ।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः ॥२॥

[महाभारत उद्योगपर्व विदुरप्रजागर अ० ३३ श्लो० ।३६।]

जो विना बुलाये जहां तहां सभादि स्थानों में प्रवेश कर, सत्कार और उच्चासन को चाहे, वा ऐसे रीति से बैठे कि सब सत्पुरुषों को उसका आचरण अप्रिय विदित हो, विना पूछे बहुत अण्डबण्ड बके, अविश्वासियों में विश्वासी होकर सुख की हानि कर लेवे, वही मनुष्य मूढ़बुद्धि और मनुष्यों में नीच कहाता है ॥ २ ॥

जहां ऐसे-ऐसे मूढ़ मनुष्य पठनपाठन आदि व्यवहारों को करनेहारे होते हैं, वहां सुखों का तो दर्शन कहां; किन्तु दुःखों की भरमार तो हुआ ही करती है। इसलिये बुद्धिमान् लोग ऐसे-ऐसे मूढ़ों का प्रसङ्ग वा इनके साथ पठनपाठन क्रियाको व्यर्थ समझ कर, पूर्वोक्त धार्मिक विद्वानों का प्रसङ्ग और उन ही से विद्या का अभ्यास और सुशील बुद्धिमान् विद्यार्थियों ही को पढ़ाया करें। ये विद्वान् और मूर्ख के लक्षणविधायक श्लोक विदुरप्रजागर के ३३ अध्याय में एक ही ठिकाने लिखे हैं।

जो विद्या पढ़ें और पढ़ावें, वे निम्नलिखित दोषयुक्त न हों—

विद्यार्थियों के दोष

आलस्यं मदमोहौ च चापल्यं गोष्ठिरेव च ।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथाऽत्यागित्वमेव च ॥
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः ।
सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम् ।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम् ॥

[महा० उद्यो० विदु० अ० ४० श्लो० ५–७]

आलस्य, अभिमान, नशा करना, मूढ़ता, चपलता, व्यर्थ इधर उधर की अण्ड-बण्ड बातें करना, जड़ता, कभी पढ़ना कभी न पढ़ना, अभिमान और लोभ-लालच, ये सात विद्यार्थियों के लिये विद्या के विरोधी दोष हैं। क्योंकि जिसको सुख चैन करने की इच्छा है, उसको विद्या कहां? और जिसका चित्त विद्या ग्रहण करने कराने में लगा है, उसको विषय-सम्बन्धी सुख चैन कहां?, इसलिये विषयसुखार्थी विद्या को छोड़े और विद्यार्थी विषयसुख से अवश्य अलग रहे। नहीं तो परमधर्मरूप विद्या का पढ़ना पढ़ाना कभी नहीं हो सकेगा। ये श्लोक भी महाभारत विदुरप्रजागर अध्याय ४० में लिखे हैं।

[ब्रह्मचर्य के गुण]

प्र०—कैसे-कैसे मनुष्य विद्या की प्राप्ति करा सकते हैं?

उत्तर—

ब्रह्मचर्यस्य च गुणं शृणु त्वं वसुधाधिप ।
आजन्ममरणाद्यस्तु ब्रह्मचारी भवेदिह ॥१॥
न तस्य किञ्चिदप्राप्यमिति विद्धि नराधिप !
बह्वयः कोट्यस्त्वृषीणां च ब्रह्मलोके वसन्त्युत ॥२
सत्ये रतानां सततं दान्तानामूर्ध्वरेतसाम् ।
ब्रह्मचर्यं दहेद् राजन् ! सर्वपापान्युपासितम् ॥३॥

भीष्म जी युधिष्ठिर से कहते हैं कि हे राजन्! तू ब्रह्मचर्य के गुण सुन। जो मनुष्य इस संसार में जन्म से लेके मरणपर्यन्त ब्रह्मचारी होता है ॥१॥

उसको कोई शुभगुण अप्राप्त नहीं रहता। ऐसा तू जान कि जिसके प्रतापसे अनेक करोड़ ऋषि ब्रह्मलोक अर्थात् सर्वानन्दस्वरूप परमात्मा में वास करते और इस लोक में भी अनेक सुखों को प्राप्त होते हैं ॥२॥ जो निरन्तर सत्य में रमण, जितेन्द्रिय, शान्तात्मा, उत्कृष्ट, शुभ गुण स्वाभावयुक्त और रोगरहित पराक्रमसहित शरीर, ब्रह्मचर्य अर्थात् वेदादि सत्य-शास्त्र और परमात्मा की उपासना कर अभ्यास कर्मादि करते हैं, उनके वे सब उत्तम गुण बुरे काम और दुःखों को नष्ट कर, सर्वोत्तम धर्मयुक्त कर्म और सब सुखों की प्राप्ति कराने हारे होते हैं। और, इन्हीं के सेवन से मनुष्य उत्तम अध्यापक और उत्तम विद्यार्थी हो सकते हैं ॥३॥

[शूरवीर के लक्षण]

प्र०—शूरवीर किनको कहते हैं ?

उत्तर—

वेदाऽध्ययनशूराश्च शूराश्चाऽध्ययनेरताः।
गुरुशुश्रूषया शूराः पितृशुश्रूषयाऽपरे ॥१॥
मातृशुश्रूषया शूरा भैक्ष्यशूरास्तथाऽपरे।
अरण्यगृहवासे च शूराश्चऽतिथिपूजने ॥२॥

जो मनुष्य वेदादि शास्त्रों के पढ़ने पढ़ाने में शूरवीर, जो दुष्टों के दलन और श्रेष्ठों के पालन में शूरवीर, अर्थात् दृढोत्साही, उद्योगी, जो निष्कपट, परोपकार अध्यापकों की सेवा करके, शूरवीर, जो अपने जनक (पिता) की सेवा करके शूरवीर ॥१॥ जो माता की परिचर्या से शूर, जो संन्यासाश्रम् से युक्त अतिथिरूप होकर, सर्वत्र भ्रमण करके, परोपकार करने में शूर, जो वानप्रस्थाश्रम के कर्म और जो ग्रहस्थाश्रम के व्यवहार में शूर होते हैं, वे ही सब सुखों के लाभ करने कराने में अत्युत्तम होके, धन्यवाद के पात्र होते हैं। कि जो अपना तन, मन, धन, विद्या और धर्मादि शुभगुण ग्रहण करने में सदा उपयुक्त करते हैं ॥ २ ॥

प्र०—शिक्षा किसको कहते हैं ?

उ०—जिससे मनुष्य विद्या आदि शुभगुणों की प्राप्ति और अविद्यादि दोषों को छोड़ के सदा आनन्दित हो सकें, वह शिक्षा कहाती है ?

प्र०—विद्या और अविद्या किसको कहते हैं ?

उ०—जिससे पदार्थ का स्वरूप यथावत् जानकर, उससे उपकार लेके, अपने और दूसरों के लिये सब सुखों को सिद्ध कर सकें, वह विद्या और जिससे पदार्थों के स्वरूप को उलटा जानकर, अपना और पराया अनुपकार कर लेवें, वह अविद्या कहाती है।

प्र०—मनुष्यों को विद्या की प्राप्ति और अविद्या के नाश के लिये क्या-क्या करना चाहिये ?

उ०—वर्णोच्चारण से लेकर वेदार्थज्ञान के लिये ब्रह्मचर्य आदि कर्म करना योग्य है।

प्र०—ब्रह्मचारी किसको कहते हैं ?

उ०—जो जितेन्द्रिय होके ब्रह्म अर्थात् वेदविद्या के लिये तथा आचार्य कुल में जाकर विद्या ग्रहण के लिये, प्रयत्न करे, वह ब्रह्मचारी कहाता है।

प्र०—आचार्य किसको कहते हैं ?

उ०—जो विद्यार्थी को अत्यन्त प्रेम से धर्मयुक्त व्यवहार की शिक्षापूर्वक विद्या होने के लिये तन, मन, और धन से प्रयत्न करे, उसको आचार्य कहते हैं।

(बालकों को कैसी शिक्षा करें)

प्र०—अपने सन्तानों के लिये माता, पिता और आचार्य क्या-क्या शिक्षा करें ?

उ०—मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद।

शतपथब्राह्मण ॥

अहोभाग्य उस मनुष्य का है कि जिसका जन्म धार्मिक विद्वान् माता, पिता और आचार्य के सम्बन्ध में हो। क्योंकि इन तीनों ही की शिक्षासे मनुष्य उत्तम होता है। ये अपने सन्तान और विद्यार्थियों को अच्छी भाषा बोलने, खाने, पीने, बैठने, उठने, वस्त्र धारण करने, माता, पिता आदि के मान्य करने, उनके सामने यथेष्टाचारी न होने, विरुद्ध चेष्टा न करने आदि के लिये प्रयत्नसे नित्यप्रति उपदेश किया करें। और, जैसा-जैसा उसका सामर्थ्य बढ़ता जाय, वैसी-वैसी उत्तम बातें सिखलाते जायें। इसी प्रकार लड़के और लड़कियों को पांच वा आठ वर्ष की अवस्था पर्यन्त माता पिता और इनके उपरान्त आचार्य की शिक्षा होनी चाहिये।

प्र०—क्या जैसी चाहें, वैसी शिक्षा करें ?

उ०—नहीं, जो अपने पुत्र पुत्री और विद्यार्थियों को सुनावें कि सुन मेरे बेटे बेटियो और विद्यार्थी! तेरा शीघ्र विवाह करेंगे। तू इसकी दाढ़ी मूंछ पकड़ ले। इसकी जटा पकड़ के ओढ़नी फेंक दे, धौल मार, गाली दे, इसका कपड़ा छीन ले। ओढ़नी वा टोपी फेंक दे। खेल, कूद, हंस, रो। तुम्हारे विवाह में फुलवारी निकालेंगे। इत्यादि कुशिक्षा करते हैं, उनको माता पिता और आचार्य्य न समझना चाहिये। किन्तु संतान और शिष्यों के पक्के शत्रु और दुःखदायक हैं। क्योंकि जो बुरी चेष्टा देखकर, लड़कों को घुड़कते और न दण्ड देते हैं, वे क्योंकर माता, पिता और आचार्य्य हो सकते हैं।

क्योंकि जो अपने सामने यथातथा बकने, निर्लज्ज होने, व्यर्थ चेष्टा करने आदि बुरे कर्मों से हटाकर विद्या आदि शुभ गुणों के लिये उपदेश नहीं करते, न तन, मन, धन लगा के उत्तम विद्या व्यवहार का सेवन कराकर, अपनी सन्तानों को सदा श्रेष्ठ करते जाते हैं, वे माता, पिता और आचार्य्य कहाकर धन्यवाद के पात्र कभी नहीं हो सकते। और, जो अपने-अपने सन्तान और शिष्यों को ईश्वर की उपासना, धर्म, अधर्म, प्रमाण, प्रमेय, सत्य, मिथ्या, पाखण्ड, वेद, शास्त्र आदि के लक्षण और उनके स्वरूपका यथावत् बोध करा और सामर्थ्य के अनुकूल, उनको वेद शास्त्रों के वचन भी कण्ठस्थ कराकर, विद्या पढ़ने, आचार्य्य के अनुकूल रहने की रीति जना देवें कि जिससे विद्या प्राप्ति आदि प्रयोजन निर्विघ्न सिद्ध हों, वे ही माता, पिता और आचार्य कहाते हैं।

विद्याप्राप्ति के उपाय

प्र०—विद्या किस-किस प्रकार और किन कर्मों से होती है?

उ०—चतुर्भिः प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति। आगमकालेन, स्वाध्यायकालेन, प्रवचनकालेन, व्यवहारकालेनेति॥

महाभाष्य अ० १।१। आ० १॥

विद्या चार प्रकार से आती है—आगम, स्वाध्याय, प्रवचन और व्यवहार काल से।

आगमकाल—उसको कहते हैं कि जिससे मनुष्य पढ़ाने वाले से सावधान होकर ध्यान देके विद्यादि पदार्थ ग्रहण कर सकें।

स्वाध्यायकाल—उसको कहते हैं कि जो पठन समय में आचार्य के मुख से शब्द, अर्थ और सम्बन्धों की बातें प्रकाशित हों, उनको एकान्त में स्वस्थचित्त होकर, पूर्वापर विचार के, ठीक-ठीक हृदय में दृढ़कर सकें।

प्रवचनकाल—उसको कहते हैं कि जिससे दूसरे को प्रीति से विद्याओं को पढ़ा सकना।

व्यवहारकाल—उसको कहते हैं कि जब अपने आत्मा में सत्य विद्या होती है, तब यह करना यह न करना, वही ठीक-ठीक सिद्ध होके वैसा ही आचरण करना हो सके।

ये चार प्रकार हैं। तथा अन्य भी चार कर्म विद्याप्राप्ति के लिये हैं। श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार।

श्रवण—उसको कहते हैं कि आत्मा मन के और मन श्रोत्र इन्द्रिय के साथ यथावत् युक्त करके, अध्यापक के मुख से जो-जो अर्थ और सम्बन्ध के प्रकाश करने हारे शब्द निकलें, उनको श्रोत्र से मन और मन से आत्मा में एकत्र करते जाना।

मनन—उसको कहते हैं कि जो-जो शब्द अर्थ और सम्बन्ध आत्मा में एकत्र हुए हैं, उनका एकान्त में स्वस्थचित्त होकर विचार करना कि कौन शब्द किस अर्थ के साथ और कौन अर्थ किस शब्द के साथ सम्बन्ध अर्थात् मेल रखता और इनके मेल में किस प्रयोजन की सिद्धि और उलटे होने में क्या-क्या हानि होती है? इत्यादि।

निदिध्यासन—उसको कहते हैं कि जो-जो अर्थ और सम्बन्ध सुने विचारे हैं, वे ठीक-ठीक हैं वा नहीं, इस बात की विशेष परीक्षा करके दृढ़ निश्चय करना। और—

साक्षात्कार—उसको कहते हैं कि जिन अर्थों के शब्द और सम्बन्ध सुने, विचारे और निश्चय

किये हैं, उनको यथावत् ज्ञान और क्रिया से प्रत्यक्ष करके, व्यवहारों की सिद्धि से अपना और पराया उपकार करना आदि विद्या की प्राप्ति के साधन हैं।

प्र०—आचार्य के साथ विद्यार्थी कैसा-कैसा वर्त्ताव करें और कैसा-कैसा न करें?

उ०—मिथ्या को छोड़ के सत्य बोलें। सरल रहें। अभिमान न करें। आज्ञा पालन करें। स्तुति करें। निन्दा न करें। नीचे आसन पर बैठें। ऊँचे न बैठें। शान्त रहें। क्रोध कभी न करें। जब कुछ वे पूछें, तो हाथ जोड़ के नम्र होकर उत्तर देवें। घमण्ड से न बोलें। जब वे शिक्षा करें, चित्त देकर सुनें। ठट्ठे में न उड़ावें। शरीर और वस्त्र शुद्ध रक्खें। मैले कभी न रक्खें। जो कुछ प्रतिज्ञा करें, उसको पूरी करें। जितेन्द्रिय होवें। लम्पटपन व्यभिचार कभी न करें। उत्तमों का सदा मान करें। अपमान कभी न करें। उपकार मानके कृतज्ञ होवें। किसी के अनुपकारी होकर कृतघ्न न होवें। पुरुषार्थी रहें। आलसी कभी न रहें। जिस-जिस कर्म से विद्याप्राप्ति हो, उस-उस को करते जायँ। जो-जो बुरे काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक, आदि विद्याविरोधी हों, उनको छोड़कर सदा उत्तम गुणों की कामना करें। बुरे कामों पर क्रोध, विद्याग्रहण में लोभ सज्जनों में मोह, बुरे कामों से भय, अच्छे काम न होने में शोक करके, विद्यादि शुभगुणों से आत्मा और वीर्य आदि धातुओं की रक्षा से, जितेन्द्रिय हो, शरीर का बल सदा बढ़ाते जायं।

प्र०—आचार्य विद्यार्थियों के साथ कैसे वर्त्तें?

उ०—जिस प्रकार से विद्यार्थी विद्वान, सुशील, निरभिमानी, सत्यवादी, धर्मात्मा, आस्तिक, निरालस्य, उद्योगी, परोपकारी, वीर, धीर, गम्भीर, पवित्राचरण, शान्तियुक्त, दमनशील, जितेन्द्रिय, ऋजु, प्रसन्नवदन होकर माता, पिता, आचार्य, अतिथि, बन्धु, मित्र, राजा, प्रजा आदि के प्रियकारी हों, जब किसी से बात चीत करें, तब जो-जो उसके मुख से अक्षर पदवाक्य निकलें, उसको शान्त होकर सुनके प्रत्युत्तर देवें। जब कभी कोई बुरी चेष्टा, मलिनता, मैले, वस्त्रधारण, बैठने, विपरीताचरण, निन्दा, ईर्ष्या, द्रोह, विवाद, लड़ाई बखेड़ा, चुगली, किसी पर मिथ्या दोष लगाना, चोरी, जारी, अनभ्यास, आलस्य, अतिनिद्रा, अतिभोजन, अतिजागरण, व्यर्थ खेलना, इधर उधर अट्टसट्ट मारना, विषयसेवन, बुरे व्यवहारों की कथा करना वा सुनना, दुष्टों के सङ्ग बैठना आदि दुष्ट व्यवहार करे, तो उसको यथापराध कठिन दण्ड देवे। इस में प्रमाण—

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।
लालनाश्रयिणो दोषास्ताड़नाश्रयिणो गुणाः॥१॥

महाभाष्य अ० ८। पा० १। सू० ८॥ १॥

आचार्य लोग अपने विद्यार्थियों को विद्या और सुशिक्षा होने के लिये प्रेमभाव से अपने हाथोंसे ताड़ना करते हैं। क्योंकि सन्तान और विद्यार्थियों का जितना लाड़न करना है, उतना ही उनके लिये बिगाड़ और जितनी ताड़ना करनी है, उतना ही उनके लिये सुधार है। परन्तु ऐसी ताड़ना न करे कि जिससे अङ्ग भङ्ग वा मर्म में लगने से विद्यार्थी वा लड़के लड़की लोग व्यथा को प्राप्त हो जायं।

हुड़दङ्गा और सज्जन संवाद

प्र०—पठितव्यं तदपि मर्त्तव्यं न पठितव्यं तदपि मर्त्तव्यं दन्तकटाकटेति किं कर्त्तव्यम्?

हुड़दङ्ग उवाच—हुड़दङ्गा कहता है, कि जो पढ़ता है, वह भी मरता है और जो नहीं पढ़ता वह भी मरता है, फिर पढ़ने पढ़ाने में दांत कटाकट क्यों करना?

उ०—

नविद्यया विना सौख्यं नराणां जायते ध्रुवम्।
अतो धर्म्मार्थमोक्षेभ्यो विद्याभ्यासं समाचरेत्॥१

सज्जन उवाच—सज्जन कहता है कि सुन भाई हुड़दङ्गे! जो तू जानता है, सो विद्या का फल नहीं, कि विद्या के पढ़ने से जन्म-मरण, आंख से देखना, कान से सुनना आदि, ये ईश्वरीय नियम अन्यथा हो जायं। किन्तु विद्या से यथार्थज्ञान होकर, यथायोग्य व्यवहार करने कराने से आप और दूसरों को आनन्दयुक्त करना विद्या का फल है। क्योंकि विना विद्या के किसी मनुष्य को निश्चल सुख नहीं हो सकता। क्या भया किसी को क्षण भर सुख हुआ

न हुआ-सा है। किसी का सामर्थ्य नहीं है कि जो अविद्वान् होकर, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के स्वरूप को यथावत् जानकर, सिद्ध कर सके। इसलिये सबको उचित है कि इनकी सिद्धि के लिये विद्या का अभ्यास तन, मन, धन से किया और कराया करें।

हुड़दङ्गा—हम देखते हैं कि बहुत से मनुष्य विद्या पढ़े हुए दरिद्र और भीख मांगते तथा विना पढ़े हुए राज्य, धन का आनन्द भोगते हैं।

सज्जन—सुनो प्रिय! सुख दुःख का योग आत्मा में हुआ करता है। जहां विद्यारूप सूर्य्य का अभाव और अविद्यान्धकार का भाव है, वहां दुखों की तो भरमार, सुख की क्या ही कथा कहना है? और जहां विद्यार्क प्रकाशित होकर, अविद्यान्धकार को नष्ट कर देता है, उस आत्मा में सदा आनन्द का योग और दुःख को ठिकाना भी नहीं मिलता है।

हुड़दङ्गा—सिर धुनकर चुप हो गया।

प्र०—आचार्य किस रीति से विद्या और सुशिक्षा का ग्रहण करावें और विद्यार्थी लोग करें।

उ०—आचार्य समाहित होकर ऐसी रीति से विद्या और सुशिक्षा करें कि जिससे उसके आत्मा के भीतर सुनिश्चित अर्थ होकर उत्साह ही बढ़ता जाये। ऐसी चेष्टा वा कर्म कभी न करें कि जिसको देख वा करके विद्यार्थी अधर्मयुक्त हो जावें। दृष्टान्त, हस्तक्रिया, यन्त्र, कलाकौशल विचार आदि से विद्यार्थियों के आत्मा में पदार्थ इस प्रकार साक्षात् करावें कि एक के जानने से हजारों पदार्थ यथावत् जानते जायें।

अपने आत्मा में इस बात का ध्यान रक्खें कि जिस-जिस प्रकार से संसार में विद्या, धर्माचरण की बढ़ती और मेरे पढ़ाये मनुष्य अविद्वान् और कुशिक्षित होकर मेरी निन्दा के कारण न होजायें कि मैं ही विद्या के रोकने और अविद्या की वृद्धि का निमित्त गिना जाऊं। ऐसा न हो कि सर्वात्मा परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव से, मेरे गुण कर्म स्वभाव विरुद्ध होने से, मुझको महादुःख भोगना पड़े।

धन्य वे मनुष्य हैं कि जो अपने आत्मा के समान सुख में सुख और दुःख में दुःख, अन्य मनुष्यों का जानकर धार्मिकता को कदापि नहीं छोड़ते। इत्यादि उत्तम व्यवहार आचार्य लोग नित्य करते जायें। विद्यार्थी लोग भी जिन कर्मों से आचार्य की प्रसन्नता होती जाये, वैसे कर्म करें। जिससे उसका आत्मा सन्तुष्ट होकर चाहे कि ये लोग विद्या से युक्त होकर, सदा प्रसन्न रहें। रात दिन विद्या ही के विचार में लगकर, एक दूसरे के साथ प्रेम से परस्पर विद्या को पढ़ाते जावें। जहां विषय वा अधर्म की चर्चा भी होती हो, वहां कभी खड़े भी न रहें। जहां-जहां विद्यादि व्यवहार और धर्म का व्याख्यान होता हो, वहां से अलग कभी न रहें।

भोजन छादन ऐसी रीति से करें कि जिससे कभी रोग, वीर्यहानि वा प्रमाद न बढ़े। जो बुद्धि के नाश करनेहारे नशा के पदार्थ हों, उनको ग्रहण कभी न करें। किन्तु जो-जो ज्ञान बढ़ाने और रोग नाश करनेहारे पदार्थ हों, उन्हीं का सेवन सदा किया करें। नित्यप्रति परमेश्वर का ध्यान, योगाभ्यास, बुद्धि का बढ़ाना, सत्य-धर्म की निष्ठा और अधर्म का सर्वथा त्याग करते रहें। जो-जो पढ़ने में विघ्नरूप कर्म हों, उनको छोड़कर, पूर्ण विद्या को प्राप्त करें। इत्यादि दोनों के गुण कर्म हैं॥

[सत्य असत्य की परीक्षा के उपाय]

प्र०—सत्य और असत्य का निश्चय किस प्रकार से होता है। क्योंकि जिसको एक सत्य कहता है, दूसरा उसी को मिथ्या बतलाता है। उसका निर्णय करने में क्या-क्या निश्चित साधन हैं?

उ०—पांच हैं। उनमें से प्रथम-ईश्वर, उसके गुण कर्म स्वभाव और वेद विद्या। दूसरा-सृष्टिक्रम। तीसरा-प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण। चौथा-आप्तों का आचार, उपदेश, ग्रन्थ और सिद्धान्त। और पांचवां-अपने आत्मा की साक्षी, अनुकूलता जिज्ञासुता, पवित्रता, और विज्ञान।

ईश्वरादि से परीक्षा करना, उसको कहते हैं कि जो-जो ईश्वर, ईश्वर के न्याय आदि गुण पक्षपात-रहित, सृष्टि बनाने का कर्म और सत्य, न्याय, दयालुता, परोपकारता आदि स्वभाव और वेदोपदेश से सत्य और धर्म ठहरे, वही सत्य और धर्म और जो असत्य और अधर्म ठहरे वही असत्य और अधर्म है। जैसे कोई कहे कि विना कारण और कर्त्ता

के कार्य होता है, सो सर्वथा मिथ्या जानना। इससे यह सिद्ध होता है कि जो सृष्टि की रचना करने हारा पदार्थ है, वही ईश्वर और उसके गुण, कर्म, स्वभाव वेद और सृष्टिक्रम से ही निश्चित जाने जाते हैं।

दूसरा-सृष्टिक्रम उसको कहते हैं कि जो-जो सृष्टिक्रम अर्थात् सृष्टि के गुण, कर्म और स्वभाव से विरुद्ध हो. वह मिथ्या और अनुकूल हो, वह सत्य कहाता है। जैसे कोई कहे कि बिना मां बाप के लड़का, कान से देखना, आंख से बोलना आदि होता वा हुआ है, ऐसी-ऐसी बातें सृष्टिक्रम के विरुद्ध होने से मिथ्या और माता पिता से सन्तान, कान से सुनना और आंख से देखना आदि सृष्टिक्रम के अनुकूल होने से सत्य ही हैं।

तीसरा—प्रत्यक्ष आदि आठ प्रमाणों से परीक्षा करना, उसको कहते हैं कि जो-जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ठीक-ठीक ठहरे, वह सत्य और जो विरुद्ध ठहरे, वह मिथ्या समझना चाहिये। जैसे किसी ने किसी से कहा कि यह क्या है? दूसरे ने कहा कि पृथ्वी, यह प्रत्यक्ष है। इसको देखकर इसके कारण का निश्चय करना, यह अनुमान। जैसे बिना बनानेहारेके घर नहीं बन सकता, वैसे ही सृष्टि का बनानेहारा ईश्वर भी बड़ा कारीगर है, यह दृष्टान्त उपमान। और सत्योपदेष्टाओं का उपदेश, वह शब्द। भूतकालस्थ पुरुषों की चेष्टा, सृष्टि आदि पदार्थों की कथा आदि को ऐतिह्य। एक बात को सुनकर बिना सुने कहे प्रसङ्ग से दूसरी बात को जान लेना, यह अर्थापत्ति। कारण से कार्य होना आदि को सम्भव और आठवां अभाव अर्थात् किसी ने किसी से कहा कि जल ले आ। उसने वहां जल के अभाव को जानकर तर्क से जाना कि जहाँ जल है, वहां से लाकर देना चाहिये। यह अभाव प्रमाण कहाता है।

इन आठ प्रमाणों से जो-जो विपरीत न हो, वह-वह सत्य और जो-जो उलटा हो, वह-वह मिथ्या है। आप्तों के आचार और सिद्धान्त से परीक्षा करना, उसको कहते हैं कि जो-जो सत्यवादी, सत्यकारी, सत्यमानी, पक्षापातरहित, सबके हितैषी विद्वान्, सब के सुख के लिये प्रयत्न करें, वे धार्मिक लोग आप्त कहाते हैं। उनके उपदेश, आचार ग्रन्थ और सिद्धांत से जो युक्त हो, वह सत्य और जो विपरीत हो, वह मिथ्या है।

आत्मा से परीक्षा उसको कहते हैं कि जो-जो अपना आत्मा अपने लिये चाहे, सो-सो सब के लिये चाहना और जो-जो न चाहे, सो-सो किसी के लिये न चाहना। जैसा आत्मा में वैसा मन में, जैसा मन में, वैसा क्रिया में होने को जानने जनाने की इच्छा, शुद्धभाव और विद्या के नेत्र से देखकर सत्य और असत्य का निश्चय करना चाहिये।

इन पांच प्रकार की परीक्षाओं से पढ़ने पढ़ानेहारे तथा सब मनुष्य सत्यासत्य का निर्णय करके, धर्म का ग्रहण और अधर्म का परित्याग करें और करावें।

[धर्म और अधर्म]

प्र०—धर्म और अधर्म किसको कहते हैं?

उ०—जो पक्षापातरहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग, पांचों परीक्षाओं के अनुकूल आचरण, ईश्वराज्ञा पालन, परोपकार करना रूप धर्म, और जो इससे विपरीत, वह अधर्म कहाता है। क्योंकि जो सब के अविरुद्ध, वह धर्म और जो परस्पर विरुद्धाचरण, सो अधर्म क्योंकर न कहावेगा।

देखो किसी ने किसी से पूछा कि सत्य क्या है? उसको उसने उत्तर दिया, जो मैं मानता हूँ। फिर उसने पूछा, और जो वह मानता है, वा जो मैं मानता हूं? वह क्या है? उसने कहा कि अधर्म है। यही पक्षपात से मिथ्या और विरुद्धाचार अधर्म और जब तीसरे ने दोनों से पूछा कि सत्य बोलना धर्म अथवा असत्य? तब दोनों ने उत्तर दिया, कि सत्य बोलना धर्म और असत्य बोलना अधर्म है। इसी का नाम धर्म जानो। परन्तु यहां पांच परीक्षा की युक्ति से सत्य और असत्य का निश्चय करना योग्य है॥

[सभासदों के कर्तव्य]

प्र०—जब-जब सभा आदि व्यवहारों में जावें, तब-तब कैसे-कैसे वर्त्तें?

उ०—जब सभा में जावें, तब दृढ़ निश्चय कर

लेवें कि मैं सत्य को जिताऊं और असत्य को हराऊं। अभिमान न रक्खे। अपनेको बड़ा न माने। जो अपनी बात का खण्डन करे, उस पर क्रुद्ध वा अप्रसन्न न हो। जो कोई कहे, उस वचन को ध्यान देकर सुन के, जो उसमें कुछ असत्य भान हो, उस अंश का खण्डन अवश्य करे। और, जो सत्य हो, तो प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करे। बड़ाई छोटाई न गिने। व्यर्थ बकवाद न करे। कभी मिथ्याका पक्ष न करे। और सत्यको कदापि न छोड़े। ऐसी रीति से बैठे वा उठे कि जिससे किसी को बुरा विदित न हो। सर्वहित पर दृष्टि रक्खे। जिससे सत्य की बढ़ती असत्य का नाश हो, उसको करे। सज्जनों का संग करे और दुष्टों से अलग रहे। जो-जो प्रतिज्ञा करे, वह-वह सत्यसे विरुद्ध न हो और उसको सर्वदा यथावत् पूरी करे। इत्यादि कर्म्म सब सभा आदि व्यवहारों में करे॥

[जड़बुद्धि और तीव्रबुद्धि]

प्र०—जड़बुद्धि और तीव्रबुद्धि किसको कहते हैं ?

उ०—जो आप तो समझ ही न सके, परन्तु दूसरे के समझाने से भी न समझे, वह जड़बुद्धि और जो समझाने से झटपट समझे और थोड़े ही समझाने से बहुत समझ जावे, वह तीव्रबुद्धि कहाता है। यहां महाजड़ और विद्वान् का दृष्टान्त सुनो।

दृष्टान्त

कहीं एक रामदास बैरागी का चेला भूपालदास पाठ करता करता कुएँ पर पानी भरने को गया। वहाँ एक पण्डित बैठा था। उसने अशुद्ध पाठ सुनकर कहा कि तू "श्रीगनेसाय नमः" ऐसा घोकता है, सो शुद्ध नहीं है। किन्तु "श्रीगणेशाय नम" ऐसा शुद्ध पाठ कर। तब वह बोला कि मेरे महन्त जी बड़े पण्डित हैं। उन्होंने जैसा मुझको बताया है, वैसा ही घोखूंगा।

उसने पानी भरकर अपने गुरु के पास जाके कहा कि महाराज जी ! एक बम्मन मेरे पाठ को असुद्ध बतलाता है। तब खाकी जी ने चेलों से कहा कि उस बम्मन को यहां बुला लाओ। वह गुरु का फटकारा मेरे चेले को क्यों बहकाता और सुद्ध का असुद्ध क्यों बतलाता है ? चेला गया। पण्डितजी को बुला लाया।

पण्डित से महन्त बोले कि तू इसके कितने प्रकार के पाठ जानता है ? पण्डित ने कहा कि एक प्रकार का। महन्तजीने कहा कि तू कुछ भी नहीं जानता, देख, मैं तीन प्रकार का पाठ जानता हूँ। एक—स्री गनेसाजनम। दूसरा—स्री गनेसापनम। तीसरा—स्री गनेसायनम।

पण्डित—महन्त जी ! तुम्हारे पाठ में पांच दोष हैं। प्रथम—श का स, दूसरा—ण का न, तीसरा—शा का सा। चौथा—य का ज, प बोलना और विसर्जनीय का न बोलना। ये पांच अशुद्धियाँ हैं।

महन्त जी बोले—चलबे गुरु के बड़े घर में, सब सुद्ध हैं। पंडित चुपकर चले आये। क्योंकि—

सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रकथितं
मूर्खस्य नास्त्यौषधम्

[नीतिशतक श्लोक १०]

सबका औषध शास्त्रों में कहा है; परन्तु शठ मनुष्यों का औषध नहीं कहा। ऐसे हठी मनुष्यों से अलग रहे। जो वे सुधरा चाहें, तो विद्वान् उपदेश कर के, उनको अवश्य सुधारें।

(कैसी आज्ञा नहीं माननी चाहिये)

प्र०—जो माता पिता आचार्य्य और अतिथि अधर्म करें और करने का उपदेश करें, तो मानना चाहिये वा नहीं ?

उ०—कदापि नहीं। कुमाता कुपिता सन्तानों को बुरे उपदेश करते हैं कि बेटा ! बिटिया ! तेरा विवाह शीघ्र कर देंगे, किसी की चीज पावे तो उठा लाना, कोई एक गाली दे, तो उसको तू पच्चास गाली दे, लड़ाई, झगड़ा, खेल, चोरी, जारी, मिथ्याभाषण, भांग, मद्य, गांजा, चरस, अफीम, खाना, पीना आदि कर्म्म करने में कुछ दोष नहीं, क्योंकि अपनी कुलपरम्परा है। सुनो प्रमाण-कुलधर्म्मः सनातनः। जो कुल में धर्म पहिले से चला आता है, उसके करने में कुछ भी दोष नहीं।

सुसन्तान आह—जो तुमने शीघ्र विवाह करना, किसी की चीज उठा लाना आदि कर्म कहे, वे दुष्ट मनुष्यों के काम हैं, श्रेष्ठों के नहीं। किन्तु श्रेष्ठ तो ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़ कर स्वयंवर अर्थात् पूर्ण युवावस्था में दोनों की प्रसन्नतापूर्वक विवाह करना,

किसी की करोड़ों की चीज जंगल में पड़ी देख कर कभी ग्रहण करने को मन में भी इच्छा न करना आदि कर्म किया करते हैं। जो-जो तुम्हारे उत्तम कर्म और उपदेश हैं, उन-उन को तो हम ग्रहण करते हैं, अन्य को नहीं। परन्तु तुम कैसे ही हो, हमको तन, मन, धनसे तुम्हारी सेवा करना परम-धर्म है। क्योंकि जैसी तुमने बाल्यावस्था में हमारी सेवा की है, वैसी तुम्हारी सेवा हम क्यों न करें?

कुसन्तान आह—श्रेष्ठ माता पिता आचार्य्य अतिथियों से अभागे सन्तान कहते हैं कि हमको खूब खिलाओ, पिलाओ, खेलने दो। हमारे लिये कमाया करो, जब तुम मर जाओगे, तब हम ही को सब काम करना पड़ेगा। शीघ्र विवाह करदो। नहीं तो हम इधर उधर लीला करेंगे ही। बाग में जाके नाच तमाशा करेंगे वा वैरागी हो जायेंगे। पढ़ने में बड़ा कष्ट होता है। हमको पढ़के क्या करना है, क्योंकि हमारी सेवा करने वाले तुम तो बने ही हो। हमको सैल, सपट्टा, सवारी, शिकारी, नाच, खाने, पीने, ओढ़ने, पहरने के लिये खूब दिया करो। नहीं तो हम जब जवान होंगे, तब तुमको समझ लेंगे।

दण्डादण्डि, नखानखि,
केशाकेशि, मुष्टामुष्टि।
युद्धमेव भविष्यत्यन्यत्किम्

ऐसे-ऐसे सन्तान दुष्ट कहाते हैं।

उत्तम माता आदि उन से कहते हैं कि सुनो लड़को! अभी तुम्हारी पढ़ने, गुनने, सत्सङ्ग करने, अच्छी-अच्छी बात सीखने, वीर्य-निग्रह और आचार्य आदि की सेवा करने, विद्वान् होने, शरीर और आत्मा को पूर्ण युवावस्था आदि उत्तम कर्म करने की अवस्था है। जो चूकोगे, तो फिर पछतावोगे। पुनः ऐसा समय तुमको मिलना अति कठिन है। क्योंकि जब तक हम घर का और तुम्हारे खाने पीने आदि का प्रवन्ध करने वाले हैं, तब तक तुम सुशिक्षा ग्रहण पूर्वक सर्वोत्कृष्ट विद्या रूपी धन को संचित करो। यही अक्षय धन है कि जिसको चोर आदि न ले सकते, न भार होता और जितना दान करो, उतना ही अधिक-अधिक बढ़ता जाता है। इसके होने से जहां रहोगे, वहाँ सुख और प्रतिष्ठा पाओगे। धर्म, अर्थ काम और मोक्ष सम्बन्धी कर्मों को जान कर सिद्ध कर सकोगे।

हम जब तुमको विद्यारूप श्रेष्ठ गुणों से अलंकृत देखेंगे, तभी हमको परम सन्तोष होगा। और, जो तुम कोई दुष्ट काम करोगे, तो हम अपना भी अभाग्य समझेंगे। क्योंकि हमारे कौन से पापों के फल से हमको दुष्ट सन्तान मिले। क्या तुम नहीं देखते कि जिन मनुष्योंको राज्य, धन प्राप्त भी है, परन्तु विद्या और उत्तम शिक्षा के विना नष्ट भ्रष्ट हो जाते और श्रेष्ठ विद्या सुशिक्षा से युक्त दरिद्र भी राज्य और ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं। तुमको चाहिये कि—

यान्यस्माकꣳ सुचरितानि तानि।
त्वयोपास्यानि नो इतराणि॥

[तैत्तिरीय आरण्यके प्रपाठके ७। अनुवाके ११॥]

जो-जो हमारे उत्तम चरित्र हैं, सो-सो करो और जो कभी हम भी बुरे काम करें, उनको कभी मत करो। इत्यादि उत्तम उपदेश और कर्म करने और करानेहारे माता और आचार्य आदि श्रेष्ठ कहाते हैं।

(राजा प्रजा और इष्ट मित्रों से बर्ताव)

प्र०—राजा प्रजा और इष्ट मित्रादि के साथ कैसा व्यवहार करें?

उ०—राजपुरुष प्रजा के लिये सुमाता और सुपिता के समान, और प्रजापुरुष राजसम्बन्ध में सुसन्तान के सदृश वर्त कर परस्पर आनन्द बढ़ावें। मित्र, मित्र के साथ सत्य व्यवहारों के लिये आत्मा के समान प्रीति से वर्तें। परन्तु अधर्म के लिये नहीं। पड़ौसी के साथ ऐसा वर्तमान करें कि जैसा अपने शरीर के लिये करते हैं। वैसे ही मित्रादि के लिये भी कर्म किया करें। स्वामी, सेवक के साथ ऐसा वर्तें कि जैसा अपने हस्तपादादि अङ्गों की रक्षा के लिये वर्तते हैं। सेवक, स्वामियों के लिये ऐसे वर्तें कि जैसे अन्न, वस्त्र और घर आदि शरीर की रक्षा के लिये होते हैं।

[कन्याओंका विद्याध्ययन और ब्रह्मचर्य]

प्र०—ब्रह्मचर्य के क्या-क्या नियम हैं ?

उ०—कम से पच्चीस वर्ष पर्यन्त पुरुष और सोलह वर्ष पर्यन्त कन्या को ब्रह्मचर्य सेवन अवश्य करना चाहिये। और अड़तालीसवें वर्ष से अधिक पुरुष और चौबीस से अधिक कन्या ब्रह्मचर्य का सेवन न करें। किन्तु इसके उपरान्त गृहाश्रम का समय है।

प्र०—प्रमादी ब्रूते—पागल मनुष्य कहता है। सुनो जी ! कन्याओं का पढ़ना शास्त्रोक्त नहीं। क्योंकि जब वे पढ़ जावेंगी, तो मूर्ख पति का अपमान कर, इधर उधर पत्र भेजकर, अन्य पुरुषों से प्रीति जमा के, व्यभिचार किया करेंगी।

उ०—सज्जनः समाधत्ते—श्रेष्ठ मनुष्य उसको उत्तर देता है। सुनोजी ! तुम्हारे कहने से यह आया कि किसी पुरुष को भी न पढ़ना चाहिये। क्योंकि वह पढ़कर मूर्ख स्त्री का अपमान और डाक गाड़ी चला कर, इधर उधर अन्य स्त्रियों के साथ सैल सपाटा किया करेगा।

प्र०—प्रमादी—हाँ पुरुष भी न पढ़ें, तो अच्छी बात है। क्योंकि पढ़े हुए मनुष्य चतुराई से दूसरों को धोखा देकर, अपमान करके अपना मतलब सिद्ध कर लेते हैं।

उ०—सज्जन—सुनो जी ! यह विद्या पढ़ने का दोष नहीं; किन्तु आप जैसे मनुष्यों के सङ्ग का दोष है। और, जो पढ़ना पढ़ाना धर्म और ईश्वरकी विद्या से विरुद्ध है, सो तो प्रायः बुरे काम का कारण देखने में आता और जो पढ़ना पढ़ाना उक्त विद्या से सहित है, वह तो सबके सुख और उपकार ही के लिये होता है।

प्र०-कन्याओं के पढ़ने में वैदिक प्रमाण कहां है ?

उ०-सुनो प्रमाण—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।

[अथर्व० ११।५।१८]

अर्थ— जैसे लड़के लोग ब्रह्मचर्य करते हैं, वैसे कन्या लोग ब्रह्मचर्य करके, वर्णोच्चारण से लेकर वेद-पर्यन्त शास्त्रोंको पढ़कर, प्रसन्न [पसन्द]करके, स्वेच्छा से पूर्ण युवावस्थावाले विद्वान् पति को वेदोक्त रीति से ग्रहण करें।

क्या अधर्मी से भिन्न कोई ऐसा भी मनुष्य होगा कि पुरुष वा स्त्री को विद्या के पढ़ने से रोक कर, मूर्ख रक्खा चाहे और वेदोक्त प्रमाण का अपमान करके, अपना कल्याण किया चाहे ॥

[विद्याप्राप्ति का क्रम]

प्र०—विद्या को किस—किस क्रम से प्राप्त हो सकते हैं ?

उ०—शुद्ध वर्णोच्चारण, व्यवहार की शुद्धि, पुरुषार्थ, धार्मिक विद्वानों का सङ्ग, विषयकथाप्रसङ्ग का त्याग, सुविचार से व्याकरण आदि [द्वारा] शब्द, अर्थ और सम्बन्धों को यथावत् जानकर, उत्तम क्रिया करके, जो सर्वथा साक्षात् करता जाये। जिस-जिस विद्या के लिये जो-जो साधनरूप सत्यग्रन्थ है, उन-उन को पढ़ कर वेदादि पढ़ने के योग्य ग्रन्थों के अर्थों को जानना आदि कर्म शीघ्र ही विद्वान् होने के साधन हैं॥

[बिना पढ़े मनुष्यों की दो प्रकार की गति]

प्र०—बिना पढ़े हुए मनुष्यों की क्या गति होगी ?

उ०—दो, एक अच्छी और दूसरी बुरी। अच्छी उसको कहते हैं कि जो मनुष्य विद्या पढ़ने का सामर्थ्य तो नहीं रक्खे और वह धर्माचरण किया चाहे, तो विद्वानों का सङ्ग और अपने आत्मा की पवित्रता, अविरुद्धता से धर्मात्मा अवश्य हो सकता है। क्योंकि सब मनुष्यों का विद्वान् होना तो सम्भव ही नहीं। परन्तु धार्मिक होने का सम्भव सब के लिये है। कि जैसे अपने लिये सुख की प्राप्ति और दुःख के त्याग, मान्य होने, अपमान के न होने आदि की अभिलाषा करते हैं, तो दूसरों के लिये क्या न करनी चाहिये ?

जब किसी को कोई चोरी या किसी पर झूठा जाल लगाता है, तो क्या उसको अच्छा लगता और क्या जिस-जिस कर्म के करने में अपने आत्मा की

शंका, लज्जा और भय नहीं होता, वह धर्म किसी को विदित नहीं होता ? क्या जो कोई आत्मविरोध, अर्थात् आत्मा में कुछ और, वाणीमें कुछ भिन्न, और क्रिया में विलक्षणता करता है, वह अधर्मी, और जिसके जैसा आत्मा में, वैसा वाणी और जैसा वाणी में, वैसा ही क्रिया में आचरण है, वह धर्मात्मा नहीं हैं ? । प्रमाण—

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याऽभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥१।
(य० अ० ४० । मं ३)

अर्थ—(ये) जो (आत्महनः) आत्महत्यारे अर्थात् आत्मस्थ ज्ञान से विरुद्ध कहने, मानने और करने हारे हैं (ते) वे ही (लोकाः) लोग (असुर्य्या नाम) असुर अर्थात् दैत्य राक्षस नाम वाले मनुष्य हैं । और, वे ही (अन्धेन तमसावृताः) बड़े अधर्मरूप अन्धकार से युक्त होके जीते हुए और मरण को प्राप्त होकर (तान्) दुःखदायक देहादि पदार्थों को (अभिगच्छन्ति) सर्वथा प्राप्त होते हैं । और, जो आत्मरक्षक अर्थात् आत्मा के अनुकूल ही कहते, मानते और आचरण करते हैं, वे मनुष्य विद्यारूप से शुद्ध प्रकाश से युक्त होकर, देव अर्थात् विद्वान् नाम से प्रख्यात हैं। वे ही सर्वदा सुख को प्राप्त होकर, मरने के पीछे भी आनन्द युक्त देहादि प्रदार्थों को प्राप्त होते हैं ।

प्र०—विद्या और अविद्या किसको कहते हैं ?

उ०—जिससे पदार्थ यथावत् जानकर न्याय युक्त कर्म किये जावें, वह विद्या, और जिससे किसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान न होकर, अन्यायरूप कर्म किये जायं, वह अविद्या कहाती है ॥

प्र०—न्याय और अन्याय किसको कहते हैं ?

उ०—जो पक्षपातरहित सत्याचरण करना है, वह न्याय और जो पक्षपात से मिथ्याचरण करना है, वह अन्याय कहाता है ॥

प्र०—धर्म [और अधर्म] किसको कहते हैं ?

उ०—जो न्यायचरण सब के हित का करना आदि कर्म है, उसको धर्म और जो अन्यायाचरण सब के अहित के काम करने हैं, उनको अधर्म जानो ।

महामूर्ख का दृष्टान्त

एक प्रियदास का चेला भगवानदास अपने गुरु से बारह वर्ष पर्यन्त पढ़ा । एक दिन उसने पूछा कि महाराज ! मुझको संस्कृत बोलना नहीं आया ।

गुरु बोले—सुन बे ! पढ़ने पढ़ाने से विद्या नहीं आती, किन्तु गुरु की कृपा से आ जाती है । जब गुरु सेवा से प्रसन्न होता है, तब जैसे कुंजियों से ताला खोलकर मकान के सब पदार्थ झट देखने में आते हैं, वे ऐसी युक्ति बतला देते हैं कि हृदय के कपाट खुल जाकर, सब पदार्थ-विद्या तत्क्षण आ जाती है । सुन ! संस्कृत बोलने की तो सहज युक्ति है ।

भगवानदास – महाराज जी ! वह क्या है ।

गुरु—संसार में जितने शब्द संस्कृत वा देशभाषा में हों, उन पर एक-एक बिन्दु धरने से सब शुद्ध संस्कृत हो जाते हैं ॥

अच्छा तो महाराज सभी लोटा, जल, रोटी, दाल, शाक, आदि शब्दों पर बिन्दु धरके कैसे संस्कृत हो जाते हैं ।

देखो—लोंटां । जंलं । रोंटीं । दालं । शांकं ॥

चेला बोला—वाह-वाह गुरु के विना क्षणमात्र में पूरी विद्या कौन बतला सकता है ? भगवानदास ने अपने आसन पर जाकर विचार के यह श्लोक बनाया—

वांपं आंजा नंमंस्कृत्यं पंरं पांजं तंथैंयं चं ।
मंयां भंगंवांनंदांसेंनं गींतां टींकां कंरोंम्यंहंम् ॥

जब उसने प्रातःकाल उठकर, हर्षित होके, गुरु के पास जाकर श्लोक सुनाया, तब तो प्रियदास जी भी बहुत प्रसन्न हुए । कि जो चेले हों, तो तेरे ही समान गुरु के वचन पर विश्वासी, और जो गुरु हों, तो मेरे सदृश हों ॥

ऐसे मनुष्य का क्या औषध है ? विना अलग रहने के ॥

प्र०—विद्या पढ़ते समय वा पढ़ के किसी दूसरे को पढ़ावें वा नहीं ?

उ०—बराबर पढ़ाता जाये। क्योंकि पढ़ने से पढ़ाने में विद्या की वृद्धि अधिक होती ही है। पढ़के आप अकेला विद्वान् रहता और पढ़ाने से दूसरा भी

हो जाता है। उत्तरोत्तर काल में विद्या की वृद्धि होती ही है। जो विद्या को प्राप्त होता है, वह मनुष्य परोपकारी धार्मिक अवश्य होता है। क्योंकि जैसे अन्धा कुए में गिर पड़ता है, वैसे देखनेहारा कभी नहीं गिरता और अविद्या की हानि होने आदि प्रयोजन पढ़ाने से ही सिद्ध होते हैं ॥

(क्षुद्रबुद्धि और शूद्र का संवाद)

क्षुद्रबुद्धिरुवाच—सभी विद्वान् हो जावेंगे तो हमको कौन पूछेंगे। और आप ही आप सब पुस्तकों को बांचकर अर्थ समझ लेंगे, पूजापाठ में भी न बुलावेंगे। विशेष विघ्न धनाढ्य और राजाओं के पढ़ाने में है। क्योंकि उनसे हम लोगों की बड़ी जीविका होती है।

जब किसी शूद्र ने उनके पास पढ़ने की इच्छा से जाके कहा कि मुझको आप कुछ पढ़ायें तो—

अल्पबुद्धि—तू कौन है? क्या काम करता है? और तेरे घर में क्या व्यवहार है?

दास—मैं महाराज आपका दास शूद्र हूँ। कुछ जिमीदारी खेतीबाड़ी भी होती और घर में कुछ लेन देन का भी व्यवहार है॥

नष्टमति—छी छी छी!!! तुझको सुनने और हमको सुनाने का भी अधिकार नहीं है। जो तू अपना धर्म्म छोड़कर हमारा धर्म करेगा, तो क्या नरक में न पड़ेगा? हां, तुझको वेदों से भिन्न ग्रन्थों की कथा सुनने की इच्छा हो, तब हमको बुला लेना, सुना देंगे। परन्तु आप से आप मत बांच लेना। नहीं तो अधर्मी हो जावेगा। जो कुछ भेंट पूजा लाया हो, सो धर के चला जा। और सुन हमारे वचन को मान ले। नहीं तो तेरी मुक्ति कभी नहीं होगी। खूब कमा और हमारी सेवा किया कर। इसी में तेरा कल्याण और तुझ पर ईश्वर प्रसन्न होगा॥

दास—महाराज मुझको तो पढ़ने की बहुत इच्छा है। क्या विद्या का पढ़ना बुरी चीज है कि दोष लग जाय।

बकवृत्ति—बस-बस, तुझको किसीने बहका दिया है, जो हमारे सामने उत्तर प्रत्युत्तर करता है। हाय! क्या करें? कलियुग आगया! विद्या को पढ़कर हमारे उपदेश नहीं मानते, बिगड़ गये।

दास—क्या महाराज! हमारे ही ऊपर कलयुग ने चढ़ाई करदी कि जो हम ही को पढ़ने और मुक्ति से रोकता है।

स्वार्थी—हां-हां जो सत्युग होता, तो तू हमारे सामने ऐसा बर-बर कर सकता?

दास—अच्छा तो महाराज जी! आप नहीं पढ़ाते, तो हमको जो कोई पढ़ावेगा, उसके चेले हो जावेंगे।

अन्धकारी—सुन-सुन, कलियुग में और क्या होना है।

दास—आपकी हम सेवा करें, उसके बदले आप हमको क्या देंगे?

मार्जारलिङ्गी—आशीर्वाद।

दास—उस आशीर्वाद से क्या होगा?

धूर्त—तुम्हारा कल्याण।

दास—जब आप हमारा कल्याण चाहते हैं, तो क्या विद्या के पढ़ने से अकल्याण होता है?

पोप उवाच—अब क्या तू हम से शास्त्रार्थ करता है?

[पोप]

प्र०—पोप का क्या अर्थ है?

उ०—यह शब्द अन्य देश की भाषा का है। वहां तो इसका अर्थ पिता और बड़े का है, परन्तु यहां जो केवल धूर्तता करके अपना मतलब सिद्ध करने हारा हो, उसी का नाम है।

प्र०—जो विद्या पढ़ा हो और उसमें धार्मिकता न हो, तो उसको विद्या का फल होगा वा नहीं?

उ०—कभी नहीं, क्यों कि विद्या का यही फल है कि जो मनुष्य को धार्मिक होना अवश्य है। जिसने विद्या के प्रकाश से अच्छा जानकर न किया और बुरा जानकर न छोड़ा, तो क्या वह चोर के समान नहीं है? क्योंकि जैसे चोर भी चोरी को बुरी जानता हुआ करता और साहूकारी को अच्छी जान के भी नहीं करता, वैसा ही जो पढ़ के भी अधर्म्म को नहीं छोड़ता और धर्म को नहीं करनेहारा मनुष्य है।

प्र०—जब कोई मनुष्य मन से बुरा जानता है; परन्तु किसी विशेष भय आदि निमित्तों से नहीं छोड़ सकता और अच्छे काम को नहीं कर सकता, तब भी

क्या उसको दोष वा गुण होता है अथवा नहीं ?

उ०—दोष ही होता है। क्योंकि जो उसने अधर्म कर लिया, उसका फल अवश्य होगा। और, जानकर भी धर्म्म को न किया, उसको सुखरूप फल कुछ भी नहीं होगा। जैसे कोई मनुष्य कुएँ में गिरना बुरा जानके भी गिरे, क्या उसको दुःख न होगा ? और, अच्छे मार्ग में चलना जानकर भी न चले, उसको सुख कभी होगा ? इसलिये—

[सत्पुरुष और असत्पुरुष का लक्षण]

यथामतिस्तथोक्तिर्यथोक्तिस्तथा मतिः ।
सत्पुरुषस्य लक्षणमतो विपरीतमसत्पुरुषस्येति ॥

वही सत्पुरुष का लक्षण है, कि जैसा आत्मा का ज्ञान वैसा वचन और जैसा वचन वैसा ही कर्म्म करना। और जिसका आत्मा से मन, उससे वचन और वचन से विरुद्ध कर्म करना है, वही असत्पुरुष का लक्षण है। इसलिये मनुष्य को उचित है कि सब प्रकार का पुरुषार्थ करके अवश्य धार्मिक हों।

प्र०—पुरुषार्थ किसको कहते और उसके कितने भेद हैं ?

उ०—उद्योग का नाम पुरुषार्थ और उसके चार भेद हैं।

एक—अप्राप्त की इच्छा।

दूसरा—प्राप्त की यथावत् रक्षा।

तीसरा—रक्षित की वृद्धि। और—

चौथा—बढ़ाये हुए पदार्थों का धर्म में खर्च करना पुरुषार्थ के भेद हैं। जो-जो न्याय धर्म से युक्त क्रिया से अप्राप्त पदार्थों की अभिलाषा करके उद्योग करना, उसी प्रकार उसकी सब ओर से रक्षा करनी कि वह पदार्थ किसी प्रकार से नष्ट-भ्रष्ट न हो जाय। उसको धर्मयुक्त व्यवहार से बढ़ाते जाना और बढ़े हुए पदार्थ को उत्तम व्यवहारों में खर्च करना ये चार भेद हैं।

[तन, मन, धन का सदुपयोग]

उ०—किस-किस प्रकार से किस-किस व्यवहार में तन, मन, धन लगाना चाहिये ?

उ०—निम्नलिखित चारों में।

विद्या की वृद्धि, परोपकार, अनाथों का पालन और अपने सम्बन्धियों की रक्षा।

विद्या के लिये शरीर का आरोग्य और उससे याथायोग्य क्रिया करनी, मन में अत्यन्त विचार करना कराना और धन से अपने सन्तान और मनुष्यों को विद्या-दान करना कराना चाहिये।

परोपकार के लिये शरीर और मन से अत्यन्त उद्योग और धन से नाना प्रकार के व्यवहार तथा कारखाने खड़े करने कि जिनमें अनेक मनुष्य कर्म्म करके, अपना-अपना जीवन सुख से किया करें।

अनाथ उनको कहते हैं कि जिनका सामर्थ्य अपने पालन करने का भी न हो। जैसाकि बालक, वृद्ध, रोगी, अङ्ग-भङ्ग आदि हैं। उनको भी तन, मन, धन लगाकर, सुखी रख के, जिस-जिससे जो-जो काम बन सके, उस-उस से वह-वह कार्य्य सिद्धि करना कराना चाहिये कि जिससे कोई आलसी होके नष्ट-बुद्धि न हो।

और अपने सन्तान आदि मनुष्यों के खान-पान अथवा विद्या की प्राप्ति के लिये जितना तन, मन, धन लगाया जाय, उतना थोड़ा है, परन्तु किसी को निकम्मा कभी न रहना और न रखना चाहिये।

[विवाहित स्त्री पुरुष का वर्ताव]

प्र०—विवाह करके स्त्री पुरुष आपस में कैसे वर्तें ?

उ०—कभी कोई किसी का अप्रियाचरण अर्थात् जिस-जिस व्यवहार से एक दूसरे को कष्ट होवे, सो काम न करे। जैसे कि व्यभिचार आदि। एक दूसरे को देखकर प्रसन्न हों। एक दूसरे की सेवा करें। पुरुष भोजन वस्त्र आभूषण और प्रियवचन आदि व्यवहारों से स्त्री को सदा प्रसन्न रखें। और घर के सब कृत्य उसके आधीन करें।

स्त्री भी अपने पति से प्रसन्न-वदन खान-पान प्रेमभाव आदि से उसको सदा हर्षित रक्खे। कि जिससे उत्तम सन्तान हो और सदा दोनों में आनन्द बढ़ता जावे।

प्र०—ऐसा न करे, तो क्या बिगाड़ है ?

उ०—सर्वस्व नाश। क्योंकि परस्पर प्रीति के विना न गृहाश्रम का किञ्चित् सुख, न उत्तम सन्तान और न प्रतिष्ठा वा लक्ष्मी आदि श्रेष्ठ पदार्थों की प्राप्ति कभी होती है। सुनो मनु जी क्या कहते हैं—

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥
मनु० अ० ३। ६०

जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री आनन्दित रहती है, उसी में निश्चित कल्याण स्थित रहता है। परन्तु यह बात होगी कि जब ब्रह्मचर्य से विद्या शिक्षा ग्रहण करके, युवावस्था में परस्पर परीक्षा करके प्रसन्नता पूर्वक स्वयंवर ही विवाह करें। क्योंकि जितना सुख, विद्या और उत्तम प्रजा की हानि बाल्यावस्था में विवाह से होती है, उतना ही सुखलाभ ब्रह्मचर्य से शरीर और आत्मा की पूर्ण युवावस्था में परस्पर प्रीति से विवाह करने से होता है।

जो मनुष्य परस्पर प्रीति से स्वयंवर विवाह करके सन्तानों को उत्पन्न करते हैं, उनके सन्तान भी ऐसे योग्य होते हैं कि लाखों में एक ही होते हैं, जिनमें बुद्धि, बल, पराक्रम, धर्म और सुशीलतादि शुभगुण पूर्ण होके, महाभाग्यशाली कहाकर, अपने कुल को अतिप्रशंसित कर देते हैं।

[मनुष्यपन का लक्षण]

प्र०—मनुष्यपन किसको कहते हैं?

उ०—इस मनुष्य जाति में एक ऐसा गुण है कि वैसा किसी दूसरी जाति में नहीं पाया जाता।

प्र०—वह कौनसा?

उ०—जितने मनुष्य से भिन्न जातिस्थ प्राणि हैं, उनमें दो प्रकार का स्वभाव है। बलवान् से डरना, निर्बल को डराना और पीड़ा देकर अर्थात् दूसरे का प्राण तक निकाल के, अपना मतलब साध लेना, देखने में आता है। जो मनुष्य ऐसा ही स्वभाव रखता है, उसको भी इन्हीं जातियों में गिनना उचित है। परन्तु जो निर्बलों पर दया, उनका उपकार और निर्बलों को पीड़ा देने वाले अधर्मी बलवानों से किञ्चिन्मात्र भी भय शङ्का न करके, इनको परपीड़ा से हटा के निर्बलों की रक्षा तन, मन और धन से सदा करना है, वही मनुष्य-जाति का निज गुण है। क्योंकि जो बुरे कामों के करने में भय और सत्य कामों के करने में किञ्चत् भी भय शङ्का नहीं करते, वे ही मनुष्य धन्यवाद के पात्र कहाते हैं।

[सदा सत्य व्यवहार करना चाहिये]

प्र०—क्यों जी! सर्वथा सत्य से तो कोई व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता। देखो व्यापार में सत्य बात कह दें, तो किसी पदार्थ का विक्रय न हो। हार-जीत के व्यवहारों में मिथ्या साक्षी खड़े न करें, तो हार हो जाय। इत्यादि हेतुओं से सब ठिकानों में सत्यभाषणादि कैसे कर सकते हैं?

उ०—यह बात महामूर्खता की है।

[लाल बुझक्कड़ का दृष्टान्त]

जैसे किसी ग्राम में लाल बुझक्कड़ रहता था कि जिसको पांचसौ ग्राम वाले महापण्डित और एक गुरु मानते थे। एक रात में किसी राजा का हाथी उसी ग्राम के समीप होकर कहीं स्थानान्तर को चला गया था। उसके पग के चिह्न जहां-तहां मार्ग में, बन रहे थे। उनको देखके खेती करनेहारे ग्रामीण लोगों ने परस्पर पूछा कि भाइयो! यह किसका खोज है? सबने कहा कि हम नहीं जानते।

फिर सबकी सम्मति से लालबुझक्कड़ को बुलाके पूछा कि तुम्हारे विना कोई भी मनुष्य इसका समाधान नहीं कर सकता। कहो यह किसके पग का चिह्न है? जब वह रोया और रोकर हँसा, तब सब ने पूछा कि तुम क्यों रोये और हँसे। तब वह बोला कि जब मैं मर जाऊँगा, तब ऐसी ऐसी बातों का उत्तर मेरे विना कौन दे सकेगा? और हंसा इसलिये कि इसका उत्तर तो सहज है। सुनो!

लालबुझक्कड़ बूझिया और न बूझा कोय।
पग में चक्की बांध के हिरना कूदा होय ॥

जो जङ्गल में हिरन होता है, वह किसी जङ्गली मनुष्य की चक्की के पाटों को अपने पगों में बांध के कूदता चला गया है।

तब सुनकर सब लोगों ने वाह-वाह बोलकर, उसको धन्यवाद दिया कि तुम्हारे सदृश पृथिवी में

कोई भी पण्डित नहीं है कि ऐसी बातों का उत्तर दे सके।

जब वह लालबुझक्कड़ ग्रामों की ओर आता ही था। इतने में एक ग्रामीण की स्त्री ने जङ्गल से बेर लाके, जो अपना लड़का छप्पर के खम्भे को पकड़ के खड़ा था, उसको कहा कि बेटा बेर ले। तब उसने हाथों की अञ्जली बाँध बेरों को ले लिया, परन्तु जब छप्पर की थूनी हाथों के बीच में रहने से उसका मुख बेर तक न पहुँचा, तब लड़का रोने लगा। उसको रोते देख कर उसकी मां और बाप भी रोने लगे कि हाय, मेरे लड़के को खम्भे ने पकड़ लिया रे रे रे!

तब उसको सुनके अड़ौसी पड़ौसी भी रोने लगे कि हाय रे दैय्या! इसके लड़के को खम्भे ने कैसा पकड़ लिया है कि छोड़ता ही नहीं। तब किसी ने कहा कि लाल बुझक्कड़ को बुलाओ। उसके विना कोई भी लड़के को न छुड़ा सकेगा। तब एक मनुष्य उसको शीघ्र बुला लाया। फिर उसको पूछा कि लड़का कैसे छूट सकता है?

तब वह बोला कि सुनो लोगो! दो प्रकार से यह लड़का छूट सकता है, एक तो यह है कि कुल्हाड़ा लाके लड़केका हाथ काट डालो अभी छूट जाय। और, दूसरा उपाय यह है कि प्रथम छप्पर को उठाके नीचे धरो फिर लड़के को थूनी के ऊपर से उतार ले आओ।

तब लड़के का बाप बोला कि हम दरिद्र मनुष्य हैं। हमारा छप्पर टूट जायेगा, तो फिर छाना कठिन है। तब लालबुझक्कड़ बोला कि लाओ कुल्हाड़ा फिर क्या देख रहे हो।

कुल्हाड़ा लाके जब तक हाथ काटने को तैयार हुए, तब तक दूसरे ग्राम से एक बुद्धिमती स्त्री भी हल्ला सुनकर वहाँ पहुँच कर देखके बोली कि इसका हाथ मत काटो। मैं इस लड़के को छुड़ा देती हूँ। जब वह खम्भे के पास जाके लड़के की अञ्जलि के नीचे अपनी अञ्जलि करके बोली कि बेटा मेरे हाथ में बेर छोड़ दे। तब वह बेर छोड़के अलग हो गया। फिर उसको बेर दे दिये, खाने लगा।

तब तो बहुत क्रुद्ध होकर लालबुझक्कड़ बोला कि यह लड़का छः महीने के बीच मर जायगा। क्योंकि जैसा मैंने कहा था वैसा ही करते, तो न मरता। तब तो उसके मां बाप घबरा के बोले कि अब क्या करना चाहिये।

तब उस स्त्री ने समझाया कि यह बात झूठ है। और जो हाथ के काटने से अभी मर जाता, तो तुम क्या करते? मरण से बचने का कोई औषध नहीं। तब उनका घबराहट छूट गया।

वैसे जो मनुष्य महामूर्ख हैं, वे ऐसा समझते हैं कि सत्य से व्यवहार का नाश और झूठ से ही व्यवहार की सिद्धि होती है। परन्तु जब किसी को कोई एक व्यवहार में झूठ समझ ले, तो उसकी प्रतिष्ठा और विश्वास सब नष्ट होकर, उसके सब व्यवहार नष्ट होते जाते हैं और जो सब व्यवहारों में झूठ को छोड़कर सत्य ही कहते हैं, उनको लाभ ही लाभ होते हैं, हानि कभी नहीं। क्योंकि सत्य व्यवहार करने का नाम धर्म और विपरीत का अधर्म है। क्या धर्म का सुखलाभ रूपी और अधर्म का दुःखरूपी फल नहीं होता? प्रमाण—

इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि।

यजु० अ० १। मं० ५॥

सत्यमेव जयति नाऽनृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥ २॥

मुण्ड० ३। खं० १। मं० ६॥

न सत्यात्परो धर्मो
नाऽनृतात्पातकं परम्॥ ३॥

इत्यादि॥

मनुष्य में मनुष्यपन यही है कि सर्वदा झूठ व्यवहारों को छोड़कर सत्य व्यवहारों को सदा ग्रहण करे॥ १॥

क्योंकि सर्वदा सत्य ही का विजय और झूठ का पराजय होता है। इसलिये जिस सत्य से चल के धार्मिक ऋषि लोग जहां सत्य की निधि परमात्मा है, उसको प्राप्त होकर आनन्दित हुए थे और अब भी

होते हैं, उसका सेवन मनुष्य लोग क्यों न करें ॥२॥

यह निश्चित है कि न सत्य से परे कोई धर्म और न असत्य से परे कोई अधर्म है। इससे धन्य वे मनुष्य हैं, जो सब व्यवहारों को सत्य से ही करते और झूठ से युक्त कर्म किञ्चिन्मात्र भी नहीं करते हैं ॥ ३ ॥

(झूठा ग्राहक और झूठा बज़ाज़)

दृष्टान्त—एक किसी अधर्मी मनुष्य ने किसी अधर्मी बज़ाज़ की दुकान पर जाकर कहा कि यह वस्त्र कितने आने गज देगा। वह बोला कि सोलह आने, तुम भी कुछ कहो। बज़ाज़ और ग्राहक दोनों जानते ही थे कि यह दश आने गज का कपड़ा है। परन्तु अधर्मी झूठ बोलने में कभी नहीं डरते।

ग्राहक—छः आने गज दो और सच-सच लेने देने की बात करो।

बज़ाज़—अच्छा तो तुमको दो आने छोड़ देते हैं, चौदह आने दो।

ग्राहक—है तो टोटा; परन्तु सात आने ले लो।

बजाज—अच्छा तो सच-सच कहूँ।

ग्राहक—हां।

बजाज—चलो एक आना टोटा सही, तेरह आने दो। तुमको लेना हो तो लो।

ग्राहक—मैं सत्य-सत्य कहता हूँ कि इसका आठ आने से अधिक कोई तुमको न देगा।

बजाज—तुम को लेना हो तो लो, न लेना हो, तो मत लो। परमेश्वर की सौगन्ध, बारह आने गज तो मुझको पड़ा है, तुमको भला मनुष्य जान कर मैं दे देता हूँ।

ग्राहक—धर्म की सौगन्ध, मैं सच कहता हूँ तुझको देना हो, तो दे। पीछे पछतावेगा। मैं तो दूसरे की दुकान से ले लूँगा। क्या तुम्हारी एक ही दुकान है? नव आने गज दे दो, नहीं तो मैं जाता हूँ।

बजाज—तुमने कभी ऐसा खरीदा भी है? नव आने गज लाओ तो मैं सौ रुपये का लेता हूँ।

ग्राहक—धीरे-धीरे चला कि मुझको बुलाता है वा नहीं।

बजाज—तिरछी नज़र से देखता रहा कि देखें वह लौटता है वा नहीं।

जब न लौटा, तब बोला—सुनो इधर आओ।

ग्राहक—क्या कहते हो, नव आने दोगे?

बजाज—ए लो धर्म से कहता हूँ कि ग्यारह आने भी दोगे।

ग्राहक—साढ़े नव आने लो। कहकर कुछ आगे चला।

बजाज—ने समझा कि हाथ से गया, अजी इधर आओ आओ।

ग्राहक—तुम क्यों देर लगाते हो व्यर्थ काल जाता है।

बजाज-मेरे बेटे की सौगन्ध तुम इसको न लोगे तो पछताओगे। अब मैं सत्य ही कहता हूँ, साढे दश आने दे दो नहीं तो तुम्हारी राजी।

ग्राहक—मेरी सौगन्ध तमने दो आने अधिक लिये हैं। अच्छा दश आने देता हूं इतने का तो नहीं।

बजाज—अच्छा सवादश आने भी दोगे?

ग्राहक—नहीं नहीं। वज़ाज़-अच्छा, आओ बैठो, कितने गज लोगे।

ग्राहक—सवागज।

बज़ाज-अजी कुछ अधिक लो।

ग्राहक—अच्छा, नमूना ले जाते हैं, अब तुम्हारी दुकान देखली। फिर कभी आवेंगे, तो बहुत लेंगे।

बजाज ने नापने में कुछ सरकाया।

ग्राहक—अजी देखें तो कि तुमने कैसा नापा?

बजाज—क्या विश्वास नहीं करते हो, हम साहूकार हैं वा ठग हैं। हम कभी झूठ कहते और करते हैं?

ग्राहक—हांजी तुम बड़े सच्चे हो एक रुपया कह कर दश आने तक आये। छः आने घट गये। अनेक सौगन्धें खाई।

बजाज—वाह जी वाह! तुम भी बड़े सच्चे हो। छः आने कहकर दश आने तक देने को तैयार हो। अनेक सौगन्ध खा-खाकर आये। सौदा झूठ के बिना कभी नहीं हो सकता।

ग्राहक—तू तो बड़ा झूठा है।

बजाज—क्या तू नहीं है, क्योंकि एक गज

क्योंकि जो राजा आदि अल्पज्ञ मनुष्यों से डरता और परमेश्वर से भय नहीं करता, वह क्योंकर धर्मात्मा हो सकता है। क्योंकि राजा आदि के सामने बाहर की अधर्मयुक्त चेष्टा करने में तो भय होता है, परन्तु आत्मा और मन में बुरी चेष्टा करने में कुछ भी भय नहीं होता। क्योंकि ये भीतर का कर्म नहीं जान सकते। इससे आत्मा और मन का नियम करनेहारा राजा एक आत्मा और दूसरा परमेश्वर ही है, मनुष्य नहीं। और वे जहां एकान्त में राजादि मनुष्यों को नहीं देखते, वहाँ तो बाहर से भी चोरी आदि दुष्ट कर्म करने में कुछ भी शंका नहीं करते।

दृष्टान्त

जैसे एक धार्मिक विद्वान् के पास पढ़ने के लिये दो नवीन विद्यार्थियों ने आके कहा कि आप हमको पढ़ाइये।

विद्वान्—अच्छा हम तुमको पढ़ावेंगे। परन्तु जो हम कहें सो एक काम तुम दोनों जने कर लाओ। इस एक-एक लड़के को एकान्त में ले जाके, जहां कोई भी न देखता हो, वहाँ इसका कान पकड़ कर, दो चार बार शीघ्र उठा बैठा के, धीरे से एक चपेटिका मार देना।

दोनों, दोनों को लेके चले। एक ने तो चारों ओर देखा कि यहां कोई नहीं देखता। उक्त काम करके झट चला आया।

दूसरा पण्डित के वचन के अभिप्राय को विचारने लगा कि मुझको लड़का और मैं लड़के को भी देखता ही हूँ, फिर यह काम कैसे कर सकता हूँ।

पण्डित के पास आया, तब जो आया था, उससे पण्डित ने पूछा कि जो हमने कहा था सो तू कर आया? उसने कहा, हां।

दूसरे को पूछा कि तू भी कर आया?

उसने कहा, नहीं। क्योंकि आपने मुझको ऐसा कहा था कि जहाँ कोई न देखता हो, वहाँ यह काम करना। सो ऐसा स्थान मुझको कहीं भी नहीं मिल सकता। प्रथम तो मैं इस लड़के को और लड़का मुझको देखता ही था।

पण्डित ने कहा कि तू बुद्धिमान् और धार्मिक है, मुझसे पढ़। दूसरे से कहा कि तू पढ़ने के योग्य नहीं है। यहाँ से चला जा।

वैसे ही क्या कोई भी स्थान वा कर्म है कि जिसको आत्मा और परमात्मा न देखता हो। जो मनुष्य इस प्रकार आत्मा और परमात्मा की साक्षी से अनुकूल कर्म करते हैं, वे ही धर्मात्मा कहाते हैं।

प्र०—सब मनुष्यों को विद्वान् वा धर्मात्मा होने का सम्भव है वा नहीं?

उ०—विद्वान् होने का तो सम्भव नहीं, परन्तु जो धर्मात्मा हुआ चाहें, तो सभी हो सकते हैं। अविद्वान् लोग दूसरों को धर्म में निश्चय नहीं करा सकते और विद्वान् लोग धार्मिक होकर, अनेक मनुष्यों को भी धार्मिक कर सकते हैं। और, कोई धूर्त मनुष्य अविद्वान् को बहका के अधर्म में प्रवृत्त कर सकता है। परन्तु विद्वान् को अधर्म में कभी नहीं चला सकता। क्योंकि जैसे देखता हुआ मनुष्य कूँए में कभी नहीं गिरता, परन्तु अन्धे को तो गिरने का सम्भव है। वैसे विद्वान् सत्यासत्य को जान के, उसमें निश्चित रह सकते हैं। और, अविद्वान् ठीक-ठीक स्थिर नहीं रह सकते हैं।

[मूर्ख राजा का दृष्टान्त]

जैसे एक कोई अविद्वान् राजा था। उसके राज्य में किसी ग्राम में कोई मूर्ख भिक्षुक ब्राह्मण था। उसकी स्त्री ने कहा कि आज कल भोजन भी नहीं मिलता, बहुत कष्ट है। तुम पहले दानाध्यक्ष के पास जाना, वह राजा के पास ले जाके, कुछ जप अनुष्ठान लगवा देगा। उसने वैसा ही किया।

जब उसने दानाध्यक्ष के पास जाके अपना हाल कहा कि आप मेरी कुछ जीविका कर दीजिये।

दानाध्यक्ष—मुझको क्या देगा?

अर्थी—जो तुम कहो।

दानाध्यक्ष—"अर्धमर्धं स्वाहा"।

अर्थी—महाराज मैं नहीं समझा, तुमने क्या कहा?

दानाध्यक्ष—जो तू आधा हमको दे और आधा तू ले, तो तेरी जीविका लगा दें।

स्वार्थी—जैसे तुम्हारी इच्छा हो, वैसा करो।

दानाध्यक्ष–अच्छा चल राजा के पास।

स्वार्थी–चलो।

खुशामदियों से सभा भरी थी। वहाँ दोनों पहुँचे। दानाध्यक्ष ने कहा कि यह गो ब्राह्मण है। इसकी कुछ जीविका कर दीजिये। यह आपका जप, अनुष्ठान किया करेगा।

राजा–अच्छा जो आप कहें।

दानाध्यक्ष–दश रुपये मासिक होने चाहियें।

राजा–बहुत अच्छा।

दानाध्यक्ष–छः महीने का प्रथम मिलना चाहिये।

राजा–अच्छा। कोषाध्यक्ष! इसको छः महीने का जोड़कर दे दो।

कोषाध्यक्ष–जो आज्ञा।

जब स्वार्थी रुपये लेने को गया, तब कोषाध्यक्ष बोले मुझको क्या देगा?

स्वार्थी–आप भी एक दो ले लीजिये।

कोषाध्यक्ष–छीछी दश रुपये से कम हम नहीं लेंगे। नहीं तो आज रुपये न मिलेंगे फिर आना।

जब तक दानाध्यक्ष ने एक नौकर भेज दिया कि उसको हमारे पास ले आओ। तब तक कोषाध्यक्ष जी ने दश रुपये उड़ा लिये।

पचास रुपये ले के चला। मार्ग में–

नौकर–कुछ मुझको भी दे।

स्वार्थी–अच्छा भाई तू भी एक रुपया ले ले।

नौकर–लाओ।

जब दरवाजे पर आया तब सिपाहियों ने रोका कौन! तुम क्या ले जाते हो?

नौकर–मैं दानाध्यक्ष का नौकर हूँ।

सिपाही–यह कौन है?

नौकर–जपानुष्ठानी।

सिपाही–कुछ मिला।

नौकर–यही जाने।

सिपाही–कहो भाई क्या मिला?

स्वार्थी–जितना तुम लोगों से बचकर घर पहुँचे, सो ही मिला।

सिपाही–हमको भी कुछ देता जा।

स्वार्थी–लो आठ आने।

सिपाही–लाओ।

जब तक दानाध्यक्ष घबराया कि वह भाग तो नहीं गया। दूसरे नौकर से बोला कि देखो वह कहां गया। तब तक वह स्वार्थी आदि आ पहुँचे।

दानाध्यक्ष–लाओ, रुपये कहां हैं?

स्वार्थी–ये हैं अड़तालीस।

दानाध्यक्ष–वाह वाह, बारह रुपये कहां गये?

स्वार्थी ने जैसा हुआ था, वैसा कह दिया।

दानाध्यक्ष–अच्छा तो चार मेरे गये और आठ तेरे।

स्वार्थी–अच्छा, जैसी आप की इच्छा हो।

तब छब्बीस लिये दानाध्यक्ष ने और बाईस स्वार्थी ने लेके कहा कि मैं घर हो आऊँ, कल आ जाऊँगा।

वह दूसरे दिन आया और दानाध्यक्ष ने कहा कि तू गङ्गाजी पर जाकर राजा का जप कर। और ले यह धोती अंगोछा, पञ्चपात्र, माला और गोमुखी। वह लेके गङ्गा पर गया, वहाँ स्नान कर माला लेके जप करने बैठा। विचारा कि जो दानाध्यक्ष ने कहा था, वही मन्त्र है। ऐसा वह मूर्ख समझ गया।

सरक माला खटक मणका
मैं राजा का जप करूं,
मैं राजा का जप करूं,
मैं राजा का जप करूं।

जपने लगा। तब तक किसी दूसरे मूर्खने विचारा कि जब उसका लग गया है, तो मेरा भी लग जायगा, चलो, वह गया। वैसा ही हुआ। चलते समय दानाध्यक्ष बोले कि तू जा जैसा वह करता है, वैसा करना। वह गया। वैसे ही आसन पर बैठकर पढ़ने वाले का मन्त्र सुनकर, जपने लगा कि—

तू करे सो मैं करूं,
तू करे सो मैं करूं।

वैसे ही तीसरा कोई धूर्त जाके सब कुछ करा लाया। चलते समय दानाध्यक्ष ने कहा कि जब तक निर्वाह दीखे, तब तक करना। वह भी इसी अभिप्राय

को मन्त्र समझ के, वहां जाकर जप करने को बैठके, जपने लगा कि–

ऐसा निभेगा कब तक,
ऐसा निभेगा कबतक ।

वैसे ही चौथा कोई मूर्ख सब प्रबन्ध कराके, गङ्गा पर जाने लगा । तब दानाध्यक्ष ने कहा कि जब तक निभे तब तक निर्वाह करना । वह भी इसको मन्त्र ही समझ के गङ्गा पर जाके, जप करने को बैठ के, उन तीनों का मन्त्र सुना, तो एक कहता है—

मैं राजा का जप करूं,
मैं राजा का जप करूं ।

दूसरा—

तू करे सो मैं करूं,
तू करे सो मैं करूं,
तू करे सो मैं करूं ।

तीसरा—

ऐसा निभेगा कब तक,
ऐसा निभेगा कब तक,
ऐसा निभेगा कब तक ।

और चौथा जपने लगा कि—

जब तक निभे तब तक,
जब तक निभे तब तक,
जब तक निभे तब तक।

ध्यान रक्खो कि सब अधर्मी और स्वार्थी लोगों की लीला ऐसी ही हुआ करती है कि अपने मतलब के लिये अनेक अन्यायरूप कर्म करके, अन्य मनुष्यों को ठग लेते हैं। अभाग्य है, ऐसे मनुष्यों का कि जिनके आत्मा अविद्या और अधर्मान्धकार में गिरके, कदापि सुख को प्राप्त नहीं होते ।

[धार्मिक विद्वान् राजा का दृष्टान्त]

यहां किसी एक धार्मिक राजा का दृष्टान्त सुनो। कोई एक विद्वान् धर्मात्मा राजा था। उसके दानाध्यक्ष के पास किसी धूर्त ने जाकर कहा कि मेरी जीविका करादो ।

दानाध्यक्ष—तुमने कौन-कौन शास्त्र पढ़ा और क्या क्या काम करते हो ?

अर्थी-मैं कुछ भी न पढ़ा और बीस वर्ष तक खेलता कूदता, गाय भैंस चराता, खेतों में डोलता और माता पिता के सामने आनन्द करता था। अब सब घर का बोझ (मुझ पर) पड़ गया है। आप के पास आया हूँ, कुछ करा दीजिये ।

दानाध्यक्ष-नौकरी चाकरी करो, तो करा देंगे।

अर्थी-मैं ब्राह्मण साधु जहाँ तहाँ बाजारों में उपदेश करने वाला हूँ। मुझ से ऐसा परिश्रम कहां बन सकता है।

दानाध्यक्ष-तू विद्या के बिना ब्राह्मण,, परोपकार के बिना साधु और विज्ञान के बिना उपदेशक का काम कैसे कर सकता होगा ? इसलिये नौकरी चाकरी करना हो, तो कर, नहीं तो चला जा।

वह मूर्ख वहां से निराश होकर चला कि यहाँ मेरी दाल न गलेगी, चलो राजा से कहें।

जब राजा के पास आके वैसा ही कहा, तब राजा ने भी वैसा जवाब दिया कि जैसा दानाध्यक्षजी ने कहा है, वैसा करना हो, तो कर, नहीं तो चला जा। वह वहाँ से चला गया।

इसके पश्चात् एक योग्य विद्वान् ने आके, दानाध्यक्ष से मिल के बातचीत की, तो दानाध्यक्ष ने समझ लिया कि यह बहुत अच्छा सुपात्र विद्वान् है। जाके राजा से मिलके कहा कि पण्डितजी से आप भी कुछ बातचीत कीजिये। वैसा ही किया।

तब राजा ने परीक्षा करके जाना कि यह अतिश्रेष्ठ विद्वान् है। ऐसा जानकर उनसे कहा कि आपको हजार रुपये मासिक मिलेगा। आप सदा हमारी पाठशाला में विद्यार्थियों को पढ़ाया और धर्मोपदेश किया कीजिये। वैसा ही हुआ।

धन्य ऐसे राजा और दानाध्यक्षादि हैं, जिनके हृदय में विद्या, परमात्मा और धर्मरूप सूर्य प्रकाशित होता है।

[दानाभक्ष और दानाध्यक्ष]

प्र०-दानाभक्ष और दानाध्यक्ष किसको कहते हैं ?

उ०—जो दाता के दान का भक्षण करके, अपना स्वार्थ सिद्ध करता जाय, वह दानाभक्ष और जो दाता के दान को सुपात्र विद्वानों को देकर, उनसे विद्या और धर्म की उन्नति कराता जाय, वह दानाध्यक्ष कहाता है।

[राजा]

प्र०-राजा किसको कहते हैं ?

उ०—जो विद्या, न्याय, जितेन्द्रियता, शौर्य, धैर्य आदि गुणों से युक्त होकर, अपने पुत्र के समान प्रजा के पालन में श्रेष्ठों की यथायोग्य रक्षा और दुष्टों को दण्ड देकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति से युक्त होकर, अपनी प्रजा को कराकर, आनन्दित रहता और सब को सुख से युक्त कराता है, वह राजा कहाता है।

[प्रजा]

प्र०-प्रजा किसको कहते हैं ?

उ०—जैसे पुत्रादि तन, मन, धन से अपने माता पितादि की सेवा करके, उनको सर्वदा प्रसन्न रखते हैं, वैसे प्रजा अनेक प्रकार से धर्मयुक्त व्यवहारों से पदार्थों को सिद्ध करके, राजसभा को कर देकर, उनको प्रसन्न रक्खे, वह प्रजा कहाती है।

और, जो अपना हित और राजाका अहित करना चाहे, वह न प्रजा और जो अपना हित और का अहित चाहे, वह राजा भी नहीं है। किन्तु उनको एक दूसरे का शत्रु, डाकू, चोर समझना चाहिये। क्योंकि दोनों धार्मिक होके, एक दूसरे का हित करने में नित्य प्रवर्तमान हों, तभी उनकी राजा और प्रजा संज्ञा होती है, विपरीत की नहीं। जैसे—

[अन्धेर नगरी गवर्गण्ड राजा]

अन्धेर नगरी गवर्गण्ड राजा।
टके सेर भाजी टके सेर खाजा॥

एक बड़ा धार्मिक विद्वान् सभाध्यक्ष राजा यथावत् राजनीति से युक्त होकर प्रजापालनादि उचित समय में ठीक-ठीक करता था। उसकी नगरी का नाम "प्रकाशवती" राजा का नाम "धर्मपाल" और व्यवस्था का नाम "यथायोग्य करनेहारी" था।

वह तो मर गया। पश्चात् उसका लड़का, जो महा अधर्मी, मूर्ख था, उसने गद्दी पर बैठके सभा से कहा कि जो मेरी आज्ञा माने, वह मेरे पास रहे और जो न माने, वह यहां से निकल जाय।

तब बड़े धार्मिक सभासद् बोले कि जैसे आपके पिता सभा की सम्मति के अनुकूल वर्तते थे, वैसे आपको वर्तना चाहिये।

राजा उनका काम उनके साथ गया, अब मेरी जैसी इच्छा होगी वैसा करूंगा।

सभा—जो आप सभा का कहना न करेंगे, तो राज्य का नाश अथवा आपका ही नाश हो जायगा।

राजा—मेरा तो जब होगा, तब होगा, परन्तु तुम यहां से चले जाओ, नहीं तो तुम्हारा नाश तो मैं अभी कर दूंगा।

सभासदों ने कहा **विनाशकाले विपरीतबुद्धिः।** जिसका शीघ्र नाश होना होता है, उसकी बुद्धि पहले ही से विपरीत हो जाती है। चलिये यहाँ अपना निर्वाह न होगा।

वे चले गये और महामूर्ख, धूर्त, खुशामदी लोगों की मण्डली उसके साथ हो गई। राजा ने कहा कि आज से मेरा नाम "गवर्गण्ड" नगरी का नाम "अन्धेर" और जो मेरे पिता और सभा करती थी, उससे सब काम मैं उलटा ही करूंगा।

जैसे मेरे पिता और सभासद् रात में सोते और दिन में राज्यकार्य करते थे। वैसे ही उनसे विपरीत हम लोग दिन में सोवेंगे और रात में राज्य का कार्य करेंगे। उनके राज्य में सब चीजें अपने अपने भाव पर बिकती थीं। हमारे राज्य में केशर कस्तूरी से ले के, मट्टी पर्यन्त, सब चीज एक टके सेर बिकेगी।

जब ऐसी प्रसिद्धि देश-देशान्तरों में हुई, तब किसी स्थान में दो गुरु शिष्य वैरागी अखाड़ों में मल्लविद्या करते पाँच सेर खाते और बड़े मोटे थे।

चेले ने गुरु से कहा कि चलिये अन्धेर नगरी में

वहाँ दश टकों में दश सेर मलाई आदि माल चाब के खूब तैयार होंगे।

गुरु ने कहा कि वहाँ गवर्गण्ड के राज्य में कभी न जाना चाहिये। क्योंकि किसी दिन खाया पिया सब निकल जावेगा, किन्तु प्राण भी बचना कठिन होगा। फिर जब चेले ने हठ किया, तब गुरु भी मोह से साथ चला गया।

वहाँ जाकर अन्धेर नगरी के समीप बगीचे में निवास किया और खूब माल चावते और कुश्ती किया करते थे।

इतने में कभी एक आधी रात में किसी साहूकार का नौकर एक हजार रुपयों की थैली लेके, किसी साहूकार की दुकान पर जमा करने को जाता था। बीच में उचक्के आकर रुपयों की थैली छीन कर भागे। उसने जब पुकारा, तब थाने के सिपाहियों ने आकर पूछा कि क्या है? उसने कहा कि अभी उचक्के मुझ से रुपयों को छीन कर लिये जाते हैं।

सिपाही धीरे-धीरे चल के किसी भले आदमी को पकड़ लाये कि तू ही चोर है। उसने उनसे कहा कि मैं फलाने साहूकार का नौकर हूँ, चलो पूछ लो।

सिपाही—हम नहीं पूछते, चल राजा के पास।

पकड़ कर राजा के पास ले जाकर कहा कि इसने हजार रुपयों की थैली चोर ली है। गवर्गण्ड और आस पास वालों में से किसी ने कुछ भी न पूछा न गछा, वह विचारा पुकारता ही रहा कि मैं उस साहूकार का नौकर हूँ; परन्तु किसी ने न सुना। झट हुक्म चढ़ा दिया कि इसको शूली पर चढ़ा दो।

शूली लोहे की बरछी और सरों के वृक्ष के समान अणीदार होती है, उस पर मनुष्य को चढ़ा उलटा कर नाभि में उसकी अणी लगा देने से पार निकल जाने पर वह कुछ विलम्ब में मर जाता है।

गवर्गण्ड के नौकर भी उसके सदृश क्यों न हों? क्योंकि "समानव्यसनेषु मैत्री" जिनका स्वभाव एकसा होता है, उन्हीं कि परस्पर मित्रता भी होती है। जैसे धर्मात्माओं की धर्मात्माओं, पण्डितों की पण्डितों, दुष्टों और व्यभिचारों की दुष्टों और व्यभिचारियों के साथ मित्रता होती है। न कभी धर्मात्मादि का अधर्मात्मादि और न अधर्मात्माओं का धर्मात्माओं के साथ मेल हो सकता है।

गवर्गण्ड के सिपाहियों ने विचारा कि शूली तो मोटी और मनुष्य है दुबला, अब क्या करना चाहिये। तब राजा के पास जाके सब बात कही।

इस पर गवर्गण्ड ने हुक्म दिया कि अच्छा तो इस को छोड़ दो और जो कोई शूली के सदृश मोटा हो, उसको पकड़ के इसके बदले चढ़ा दो।

तब गवर्गण्ड के सिपाहियों ने विचारा कि शूली के सदृश खोजो। तब किसी ने कहा कि इस शूली के सदृश तो बगीचे वाले गुरु चेला दोनों वैरागी ही हैं। सब बोले कि ठीक-ठीक तो उसका चेला ही है।

जब बहुत से सिपाहियों ने बगीचे में जाके, उसके चेले से कहा कि तुझको महाराज का हुक्म है कि शूली पर चढ़ने के लिये चल। तब तो वह घबड़ा के बोला कि हमने तो कोई अपराध नहीं किया।

सिपाही—अपराध तो नहीं किया; परन्तु तू ही शूली के समतुल्य है, हम क्या करें?

साधु—क्या दूसरा कोई नहीं है।

सिपाही—नहीं, बहुत बर-बर मत कर। चल महाराज का हुक्म है।

तब चेला गुरु से बोला कि महाराज अब क्या करना चाहिये?

गुरु—हमने तुझ से प्रथम ही कहा था कि अन्धेर नगरी गवर्गण्ड के राज्य में मुफ्त के माल चाबने को मत चलो। तूने नहीं माना। अब हम क्या करें? जैसा हो, वैसा भोग। देख अब सब खाया पिया निकल जावेगा।

चेला—अब किसी प्रकार बचाओ, तो यहाँ से दूर राज्य में चले जावें।

गुरु—एक युक्ति है बचने की, सो करो, तो बचने का सम्भव है। शूली पर चढ़ते समय तू मुझको हटा ना मैं तुझको हटाऊँ। इस प्रकार परस्पर लड़ने से कुछ बचने का और उपाय निकल आवेगा।

चेला—अच्छा, तो चलिये।

सब बातें दूसरे देश की भाषा में कीं, इससे सिपाही कुछ भी न समझे। सिपाहियों ने कहा कि चलो देर मत लगाओ, नहीं तो बाँध के ले जायेंगे।

साधुओं ने कहा कि हम प्रसन्नतापूर्वक चलते हैं, तुम क्यों बांधो।

सिपाही—अच्छा तो चलो। जब शूली के पास पहुँचे, तब दोनों लँगोट बाँध के मिट्टी लगा के खूब लड़ने लगे।

गुरु ने कहा कि शूली पर मैं ही चढूँगा।

चेला—चेले का धर्म नहीं कि मेरे होते गुरु शूली पर चढ़े।

गुरु—मेरा भी धर्म नहीं कि मेरे सामने चेला शूली पर चढ़ जाय, हाँ मुझको मार कर पीछे भले ही शूली पर चढ़ जाना। क्यों बकता है ? चुप रह। समय चला जाता है।

ऐसा कह कर शूली पर चढ़ने लगा, तब चेले ने गुरु को पकड़ कर धक्का देकर अलग किया, आप चढ़ने लगा। फिर गुरु ने भी वैसा ही किया।

तब तो गवर्गण्ड के सिपाही कामदार सब तमाशा देखते थे। उन्होंने कहा कि तुम शूली पर चढ़ने के लिये क्यों लड़ते हो ?

तब दोनों साधु बोले कि हमसे इस बात को मत पूछो, चढ़ने दो। क्योंकि हमको ऐसा समय मिलना दुर्लभ है।

यह बात तो यहाँ ऐसे ही होती रही और गवर्गण्ड के पास खुशामदियों की सभा भरी हुई थी। आप वहाँ से उठ और भोजन करके सिंहासन पर बैठकर सब से बोला कि बैंगन का शाक अत्युत्तम होता है।

सुनकर खुशामदी लोग बोले कि धन्य है, महाराज की बुद्धि को बैंगन का शाक चाखते ही शीघ्र उसकी परीक्षा कर ली। सुनिये महाराज ! जब बैंगन अच्छा है, तभी तो परमेश्वर ने उसके ऊपर मुकुट चारों ओर कलगी, ऊपर का वर्ण घनश्याम, भीतर का वर्ण मक्खन के समान बनाया है।

ऐसा सुनकर गवर्गण्ड और सब सभा के लोग अति प्रसन्न होकर हंसे। जब गवर्गण्ड अपने महलों में सोने को गया। ड्योढ़ी बन्द हुई तब खुशामदी लोगों ने चौकी पहरे वालों से कहा कि जब तक प्रातःकाल हम न आवें, तब तक किसी का मिलाप महाराज के साथ मत होने देना।

उसने कहा कि अच्छा आज के दिन कुछ गहरी प्राप्ति नहीं हुई।

खुशामदी—आज न हुई कल हो जावेगी, हमारा और तुम्हारा तो समझा ही है। जो कुछ खजाने और प्रजा से निकाल कर अपने घर में पहुँचे, वही अपना है। जब राजा को नशा और रण्डीबाजी आदि खेल में सब लोग मिलकर लगा देंगे, तभी अपना गहरा होगा। खजाना अपना ही है और सब आपस में मिले रहो, फूटना न चाहिये।

सब ने कहा, हाँ जी हाँ, यही ठीक है।

वे तो चले गये। जब गवर्गण्ड सोने को गया तब गर्म मसाले पड़े हुए बैंगन के शाक ने गर्मी की और जंगल की हाजत हुई। ले लौटा जाजरूर* में गया। रात भर खूब जुलाब लगा। रात्रि में कोई तीस दस्त हुए। रात्रिभर नींद न आई। बड़ा व्याकुल रहा।

उसी समय वैद्य को बुलाया। वे भी गवर्गण्ड के सदृश ही थे। ऊटपटांग औषधियां दीं। उनने और भी बिगाड़ किया। क्योंकि गवर्गण्ड के पास बुद्धिमान् क्योंकर ठहर सकते हैं। जब प्रातःकाल हुआ, तब खुशामदियों की मण्डली ने सभा का स्थान घेर के दासियों से पूछा कि महाराज क्या करते हैं ?

दासी—आज रात भर जुलाब लगा और व्याकुल रहे।

खुशामदी—क्या कोई रात्री को महाराज के पास आया भी था ?

दासी—दश बारह जने आये थे।

खुशामदी कौन-कौन आये थे, उनके नाम भी जानती हो ?

दासी—हां, तीन के नाम जानती हूँ, अन्य के नहीं।

खुशामदी लोग विचारने लगे कि किसी ने अपनी निन्दा तो न करदी हो। इसलिये आजसे हममें से एक दो पुरुषों को रात में भी ड्योढ़ी में अवश्य रहना चाहिये। सब ने कहा बहुत ठीक है।

---

* जाजरूर = शौचालय

इतने में जब आठ बजे के समय मुखमलीन गवर्गण्ड आकर गद्दी पर बैठा, तब खुशामदियों ने भी उससे सौगुणा मुख बिगाड़ कर शोकाकृति मुख होकर, ऊपर से झूठमूठ अपनी चेष्टा जनाई।

गवर्गण्ड—बैंगन का शाक खाने में तो स्वादु होता है, परन्तु बादी करता है। उससे हमको बहुत दस्त लगने से रात्रि भर दुःख हुआ।

खुशामदी—वाह वाह जी वाह! महाराज! आपके सदृश न कोई राजा हुआ, न होगा और न कोई इस समय है। क्योंकि महाराज ने खाते समय तो उसके गुणों की परीक्षा की और रात्री भर में दोष भी जान लिये। देखिये महाराज, जब बैंगन दुष्ट है, तभी तो परमेश्वर ने उसके ऊपर खूंटी, चारों ओर कांटे लगा दिये। ऊपर का वर्ण कोयलों के समान और भीतर का रंग कोढ़ी की चमड़ी के सदृश किया है।

गवर्गण्ड—क्यों जी! कल रात को तो तुमने इसकी प्रशंसा में मुकुट आदि का अलंकार और इस समय उसकी निन्दा में खूंटी आदि की उपमा देते हो? अब हम किसको सच्ची मानें?

खुशामदी घबरा के बोले कि धन्य, धन्य, धन्य है, आपकी विशालबुद्धि को! क्योंकि कल सन्ध्या की बात अब तक भी नहीं भूले। सुनिये महाराज! हमको बैंगन से क्या लेना देना था? हमको तो आपकी प्रसन्नता में प्रसन्नता और अप्रसन्नता में अप्रसन्नता है। जो आप रात को दिन और दिन को रात, सत्य को झूठ वा झूठ को सत्य कहें, सो सभी ठीक है

गवर्गण्ड हां हां, नौकरों का यही धर्म है कि कभी स्वामी को किसी बात में प्रत्युत्तर न दें, किन्तु हांजी हांजी करते जायं।

खुशामदी—ठीक है, राजाओं का यही धर्म है कि किसी बात की चिंता कभी न करें। रात दिन अपने सुख में मग्न रहें। नौकर चाकरों पर सदा विश्वास करके, सब काम उनके अधीन रक्खें। बक्काल के समान हिसाब किताब कभी न देखें। जो कुछ सुपेद का काला और काले का सुपेद करें, सो ही ठीक रक्खें। जिस दरख्त को लगावें, उसको कभी न काटें। जिनको ग्रहण किया, उसको कभी न छोड़े। चाहे कितना ही अपराध करें। क्योंकि जब राजा होके, भी किसी काम पर ध्यान देकर आप अपने आत्मा, मन और, शरीर से परिश्रम किया, तो जानो उनका कर्म फूट गया। और, जब हिसाब आदि में दृष्टि की तो वह महादरिद्र है, राजा नहीं।

गवर्गण्ड—क्योंजी! कोई मेरे तुल्य राजा और तुम्हारे सदृश सभासद् कभी हुए, होंगे वा नहीं?

खुशामदी—नहीं-नहीं कदापि नहीं, न हुआ, न होगा और न है।

गवर्गण्ड—सत्य है, क्या ईश्वर भी हम से अधिक उत्तम होगा?

खुशामदी—कभी नहीं हो सकता, क्योंकि उसको किसने देखा है? आप तो साक्षात् परमेश्वर हैं। क्यों कि आप की कृपा से दरिद्र का धनाढ्य, अयोग्य का योग्य और अकृपा से धनाढ्य का दरिद्र, योग्य से अयोग्य तत्काल ही हो सकता है।

इतने में नियत किये प्रातःकाल को सायंकाल मानकर सोने को सब लोग गये।

जब सायंकाल हुआ तब फिर सभा लगी। इतने में सिपाहियों ने आकर साधुओं के झगड़े की बात कही। सुनकर गवर्गण्ड ने सभासहित वहां जाके साधुओं से पूछा कि तुम शूली पर चढ़ने के लिये क्यों सुख मानते हो?

साधु—तुम हमसे मत पूछो, चढ़ने दो समय चला जाता है। ऐसा समय हमें बड़े भाग्य से मिला है।

गवर्गण्ड—इस समय में शूली पर चढ़ने से क्या फल होगा?

साधु—हम नहीं कहते, जो चढ़ेगा वह देख लेगा, हमको चढ़ने दो।

गवर्गण्ड—नहीं-नहीं जो फल होता हो, सो कहो। सिपाहियो! इनको इधर पकड़ लाओ। पकड़ लाये।

साधु—हमको क्यों नहीं चढ़ने देते? झगड़ा क्यों करते हो?

गवर्गण्ड—जब तक तुम इसका फल न कहोगे, तब तक हम कभी न चढ़ने देंगे।

साधु—दूसरे को कहने की तो बात नहीं है, परन्तु तुम हठ करते हो, तो सुनो जो कोई मनुष्य इस समय में शूली पर चढ़ कर प्राण छोड़ देगा, वह चतुर्भुज होकर विमान में बैठ कर के, आनन्द रूप स्वर्ग को प्राप्त होगा।

गवर्गण्ड—अहो ऐसी बात है, तो मैं ही चढ़ता हूँ, तुमको न चढ़ने दूंगा।

ऐसा कहकर, झठ आप ही शूली पर चढ़कर प्राण छोड़ दिये।

साधु अपने आसन पर आए।

चेले ने कहा कि महाराज! चलिये, यहां अब न रहना चाहिये।

गुरु ने कहा अब कुछ चिन्ता नहीं, जो पाप की जड़ गवर्गण्ड था, मर गया। अब धर्म-राज्य होगा, क्या चिन्ता है, यहीं रहो।

उसी समय उसका छोटा भाई बड़ा विद्वान पिता के सदृश धार्मिक और जो उसके पिता के समान धार्मिक सभासद् और प्रजा में सत्यपुरुष जो कि उसके पिता के मरने के पश्चात् गवर्गण्ड ने निकाल दिये थे, वे सब आके सुनीतिनामक छोटे भाई को राज्याधिकारी करके, उस मुर्दे को शूली पर से उतार के, जला दिया और खुशामदियोंकी मण्डली को अत्युग्र दण्ड दे के कुछ कैद कर दिये और बहुतों को नौका में बैठाकर किसी समुद्र बीच निर्जन द्वीपान्तर में बन्दीखाने में डालकर, अत्युत्तम विद्वान् धार्मिकों की सम्मति से श्रेष्ठों का पालन, दुष्टों का ताड़न, विद्या, विज्ञान और सत्य धर्म की वृद्धि आदि उत्तम कर्म करके पुरुषार्थ से यथायोग्य राज्य की व्यवस्था चलाने लगे और, पुनः नगरी का प्रकाशवती नाम प्रकाश हुआ। और, उचित समय पर सब उत्तम काम होने लगे।

जब जिस देशस्थ प्राणियों का अभाग्य उदय होता है, तब गवर्गण्ड के सदृश स्वार्थी अधर्मी प्रजा का विनाश करनेहारे राजा धनाढ्य और खुशामदियों की सभा और जब जिस देशस्थ प्राणियों का सौभाग्य उदय होने वाला होता है, तब सुनीति के समान धार्मिक विद्वान् पुत्रवत् प्रजा का पालन करने वाली राजासहित सभा और धार्मिक पुरुषार्थी पिता के समान राजप्रबन्ध में प्रीतियुक्त मङ्गलकारिणी प्रजा होती है।

जहाँ अभाग्योदय, वहाँ विपरीतबुद्धि मनुष्य परस्पर द्रोहादिस्वरूप धर्म से विपरीत दुःख के ही काम करते जाते हैं। और, जहाँ सौभाग्योदय, वहाँ उपकार, प्रीति, विद्या, सत्य, धर्म आदि उत्तम कार्य, अधर्म से अलग होकर करते रहते हैं। वे सदा आनन्द को प्राप्त होते हैं।

जो मनुष्य विद्या कम भी जानता हो, परन्तु पूर्वोक्त दुष्ट व्यवहारों को छोड़ कर, धार्मिक होके, खाने, पीने, बोलने, सुनने, बैठने, उठने, लेने, देने, आदि व्यवहार सत्य से युक्त यथायोग्य करता है, वह कहीं कभी दुःखको प्राप्त नहीं होता और जो सम्पूर्ण विद्या पढ़ के पूर्वोक्त उत्तम व्यवहारों को छोड़ के दुष्ट कर्मों को करता है, वह कहीं कभी सुख को प्राप्त नहीं हो सकता।

इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि आप अपने लड़के, लड़की, इष्ट, मित्र, अड़ौसी, पड़ौसी और स्वामी, भृत्य आदि को विद्या और सुशिक्षा से युक्त करके, सर्वदा आनन्द करते रहें॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीनिर्मितो व्यवहारभानुः॥

॥ समाप्त ॥

कर्तव्य-दर्पण

आर्य समाज के सुप्रसिद्ध विद्वान्, नेता और संन्यासी एवं योगी पूज्यवर स्वर्गीय श्री महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज ने इस उत्तम ग्रन्थ की रचना की थी। इस समय तक इसके बहुत-से संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। सन्ध्या, हवन, प्राणायाम, पंचमहायज्ञ, आर्य पर्व पद्धति, महर्षि जीवन आर्यसमाज और वैदिक धर्म के विषय में सब आवश्यक और ज्ञातव्य बातें तथा श्रेष्ठ भजन और स्वाध्याय के लिये चुने हुए वेद मन्त्र, इसमें बहुत उत्तम रूप में प्रकाशित हुए हैं। उत्तम कागज और गुटका साइज है। सजिल्द पुस्तक का मूल्य सवा रुपया मात्र है।

मिलने का पता—गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, देहली

* ओ३म् *

भ्रमोच्छेदन

—⊛—

सम्पादक का निवेदन

महर्षि दयानन्द सरस्वती और भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र प्रभृति के समकालीन, हिन्दी-साहित्य के निर्माताओं में काशी बनारस के राजा शिवप्रसाद जी सितारये हिन्द [C. S. I.] भी विशेष प्रसिद्ध हैं।

राजा साहेब हिन्दी-गद्य के प्रवीण लेखक थे। परन्तु अपनी भाषा में अरबी और फारसी का बहुत अधिक मिश्रण किया करते थे। और, अरबी-फारसी-मिश्रित भाषा लिखने के बहुत प्रबल पक्षपाती थे। अपने मत एवं अपनी शैली का प्रचार भी वे बड़े उत्साह से किया करते थे। आरम्भ में जब भारतीय-भाषाओं में समाचार-पत्रों का प्रकाशन आरम्भ हुआ था, तब राजा साहेब ने भी काशी से 'बनारस अखबार' निकाला था। राजा साहेब का एक बड़ा ग्रन्थ "इतिहास तिमिर नाशक" विशेष प्रसिद्ध है। बहुत सी पाठ्य पुस्तकें भी उन्होंने लिखी थी।

राजा साहेब अरबी-फारसी के विद्वान् थे और सरकारी विभाग में इन्स्पेक्टर आफ स्कूल्स के पद पर नियुक्त थे। सरकार-भक्ति के उपलक्ष में उनको सरकार से राजा और C.S.I. अर्थात् Companion of the Star of India. की उपाधियाँ भी प्राप्त हुई थी।

साहित्य क्षेत्र में राजा शिवप्रसाद जी के प्रबल विरोधी हिन्दी गद्य के प्रसिद्ध लेखक श्री राजा लक्ष्मण सिंह जी थे, जोकि संस्कृत मिश्रित शुद्ध हिन्दी के पक्ष में थे। अन्त में विजय राजा लक्ष्मणसिंह जी की ही हुई। देखते ही देखते, भारतीय गगन-मण्डल पूर्ण चन्द्रके प्रकाशसे जगमगा उठा। अथात, सितारये हिन्द को तेजोविहीन करते हुए, भारतेन्दु श्री बाबू हरिश्चन्द्र जी कार्य क्षेत्र में कूदे और आगे ही आगे बढ़ते गये।

राजा शिवप्रसाद जी जन्मना जैनी थे। यदि वे जैन मत का पक्ष लेकर महर्षि दयानन्द के साथ विचार विमर्श करते और खण्डन-मण्डन में प्रवृत्त होते, तो ठीक होता। परन्तु; वे तो येन-केन-प्रकारेण प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिये ही महर्षि दयानन्द से भिड़ना चाहते थे; वह भी घर में बैठकर ही, पत्र भेज-भेज कर। उन दिनों में महर्षि का वेद-भाष्य कार्य आरम्भ हो चुका था। अपने-अपने पृथक् और परस्पर विरोधी सिद्धांत रखते हुए भी, सब प्रकारके मूर्ति-पूजक महर्षि दयानन्द का विरोध करने के लिये, तब एक हो रहे थे। मूर्ति-अपूजक किरानी, कुरानी दल भी प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष-रूपेण, उनके साथ था। महर्षि के विरोधियों में सर्वत्र भारी खलबली मच चुकी थी। और, वे अपने-अपने कपोल-कल्पित मत-वादों और स्वार्थों की रक्षा के लिये बहुत अधिक उत्साह दिखा रहे थे। 'वेद-भाष्य परत्व', 'दयानन्द-मत-मर्दन', 'दयानन्द-मत-अमूल', इत्यादि गन्दे और भड़काने वाले नामों से, महर्षि के विरोध में लेखों और पुस्तकोंका प्रकाशन उन दिनों खूब होता था। महर्षि की लोकोपकारी-प्रगतियों में बाधा डाली जाती थी। और, उनमें दुर्वचनों की भरमार करके, शेखी बघारी जाती थी। अपने मन की भड़ास निकाली जाती थी।

महर्षि इस प्रकार के कृत्यों की बहुधा तो उपेक्षा ही किया करते थे, परन्तु जब कभी कोई प्रतिष्ठित विद्वान् विरोध करता था, अथवा जब किसी विरोध-पत्र वा पुस्तक आदि को किसी प्रमुख विद्वान् का समर्थन प्राप्त होता था, तब—महर्षि उसका यथोचित उत्तर भी देते थे। ऐसा करते हुए वे मिथ्या-वाद-

परायण जनों को सब प्रकार से हतोत्साहित किया करते थे। और, ईंट का जवाब पत्थर से देने में भी न चूकते थे।

महर्षि दयानन्द अपने प्रचार कार्य में काशी के विद्वानों का सहयोग प्राप्त करने के बहुत अधिक इच्छुक थे। क्योंकि वे यह भली प्रकार समझ चुके थे कि विद्वानों में मतभेद होने से ही जनता में भी मतभेद होता है। और, विद्वानों में एकमत्य होने से जनता में भी एकमत्य का होना सम्भव है। अतः वे अपने प्रचार और वेदभाष्यादि कार्यों में से अवकाश निकाल कर बारम्बार काशी पधारा करते थे। और, जब-जब काशी पधारते थे, तब-तब ही वहां के पण्डित समाज को शास्त्रार्थ अथवा विचार-विनिमय के लिये निमन्त्रित किया करते थे। काशी के पण्डितों ने महर्षि के पक्ष की सत्यता तो, उनके पहले धावे में ही जान ली थी। और, उनके अगाध विद्याबलका परिचय भी वे प्राप्त कर चुके थे; तथापि मानवी-त्रुटियों के वशीभूत होकर, वे महर्षि के पक्ष को प्रगट रूप में स्वीकार करने, वा उसका समर्थन करने में असमर्थ थे। पराजय और अपमान के भय से, वे उनके सामने आने में भी डरते थे।

कार्तिक सुदी सप्तमी सम्वत् १९३६ विक्रमी में महर्षि दयानन्द पाँचवींबार काशी पधारे। और, वैशाख कृष्णा एकादशी सम्वत् १९३७ वि० तक काशी में ही रहे। इस अवसर पर राजा शिवप्रसाद जी ने महर्षि से कुछ पत्र व्यवहार किया। महर्षि ने पत्र व्यवहार से शास्त्रीय विषयों में राजा साहेब की अयोग्यता को जान कर, पत्र व्यवहार को आगे बढ़ाना उचित न समझा। स्पष्ट लिखा--कि आप मिल कर मौखिक रूप में अपनी शंकाओं का समाधान प्राप्त कर लें। और, यदि लिखित रूप में ही आप शास्त्र-चर्चा चलाना चाहें, तो श्री विशुद्धानन्द जी महाराज अथवा श्री बाल शास्त्री जी महाराज, अथवा उनकी कोटि के विद्वानों से पुष्ट-कराकर शंका--पत्र लिखें। तभी उत्तर मिलेगा, अन्यथा नहीं।

इस पर राजा साहेब प्रथम तो मौन रहे; परन्तु जब उन को महर्षि के काशी से प्रस्थान का समाचार मिला, तब उन्होंने महर्षि के साथ अपने पत्र व्यवहार के आधार पर एक पुस्तिका 'निवेदन' शीर्षक प्रकाशित कराई। राजा साहेब के उसी "निवेदन" का उत्तर यह 'भ्रमोच्छेदन' है।

भ्रमोच्छेदन के सम्बन्ध में धर्मवीर पण्डित लेख-राम महर्षि के जीवन-चरित्र में पृष्ठ ८०१ पर लिखते हैं:--

"एक विश्वस्त सूत्र से ज्ञात हुआ कि स्वर्गीय लाला सेवाराम बी० ए० जोकि राये कन्हैयालाल साहेब एग्जिक्यूटिव इन्जीनियर के सुपुत्र थे, ने स्वामी जी को लिखा कि इस में आपने नरमी से काम नहीं लिया है। और, बहुत कठोर शब्दों का प्रयोग किया है। स्वामी जी ने स्वर्गीय लाला साईंदास जी प्रधान आर्य समाज लाहौर की माफत उनको उत्तर दिया--

'मैं आजकल के कालिज और स्कूलों का पढ़ा हुआ नहीं हूं, जो दिल में और हो, और प्रगट कुछ और करूं। मैं जो दिल में ठीक समझता हूं, वही प्रगट करता हूं। मलम्मा बाजी की, और पालिसी की बातें मुझे नहीं आतीं।'

इस पुस्तक के विषय में श्री पण्डित लेखराम जी अपने ग्रन्थ के पृष्ठ ९४५ पर पुनः लिखते हैं:--

"महर्षि दयानन्द दिग्विजय करते हुए कई बार काशी में गये और जाकर वहाँ के पौराणिक मशहूर पण्डितों से शास्त्रार्थ किये और विजय पाई। परन्तु कभी राजा शिवप्रसाद सितराये हिन्द महर्षि के सामने शास्त्रार्थ के लिये न आये। संवत् १९३६ वि० में एक बार राजा साहेब से स्वामी जी की साधारण सी भेंट हुई थी। इस भेंट के बाद सवाचार मास तक स्वामी जी काशी में वैदिक-धर्म का उपदेश देने के लिये ठहरे रहे। परन्तु इस दीर्घकाल में राजा साहेब अपनी शंकाओं के समाधान के लिये कभी न आये। परन्तु जब राजा साहेब ने सुना कि महर्षि काशी से जाने वाले हैं, तो एक पुस्तक बना, स्वामी विशुद्धानन्द जी की सम्मति उस पर लिखवाकर प्रकाशित कर दी। इस पुस्तक में राजा जी ने कई आक्षेप, जो उनके पौराणिक गुरु विशुद्धानन्द ने उन को बताये थे, लिखे हैं। यद्यपि यह पुस्तक राजा

शिवप्रसादजी के नाम से प्रकाशितहुई हैं, परन्तु वास्तव में इसे स्वामी विशुद्धानन्द जी की ओर से ही समझना चाहिये। क्योंकि राजा साहेब संस्कृत विद्या के पण्डित नहीं। और, न ही बेचारे इस प्रकारके शास्त्र विद्यासम्बन्धी प्रश्न करने की योग्यता रखते हैं। महर्षि दयानन्द इसके उत्तर में 'भ्रमोच्छेदन पुस्तक कभी न लिखते—यदि स्वामी विशुद्धानन्द की समिति उस पर न लिखी होती। महर्षि के निम्नलिखित शब्द उनके इसी अभिप्राय को प्रगट कर रहे हैं:—

"जो राजा जी स्वामी विशुद्धनन्द की सम्मति न लिखाते, तो मैं इस पत्र के उत्तर में एक अक्षर भी न लिखता। क्योंकि उनको [राजा जी को] तो अपने पत्र में जैसा लिख चुका हूँ, वैसा ही निश्चित जानता हूँ।"

महर्षि के भ्रमोच्छेदन के पढ़ने से विदित होता है कि किस प्रकार काशी के प्रसिद्ध संन्यासी स्वामी विशुद्धानन्द सत्य के बल से पराजित होते हुए इस बात की प्रबल साक्षी देते हैं कि सत्य रूपी हीरे के आगे, पाखण्ड रूपी चट्टान किस प्रकार खण्ड-खण्ड होता है।"

महर्षि ने २० मई सन् १८८० से ३० जून सन् १८८० ई० तक फर्रुखाबाद में निवास किया था और फर्रुखाबाद में ही 'भ्रमोच्छेदन' की रचना की थी। 'भ्रमोच्छेदन' के अन्त में एक श्लोक द्वारा महर्षि ने इसका रचनाकाल सूचित किया है। श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक "ऋषि दयानन्द के ग्रंथों का इतिहास" नामक अपनी पुस्तक में पृष्ठ १२९ व १३० पर इस विषय में लिखते हैं:—

"इस ग्रंथ के लेखन काल में कुछ अशुद्धि है। श्लोक में 'शुचौ मासे' के स्थान में 'शुक्रे मासे' या तो अशुद्ध छपा है, या अशुद्ध लिखा गया है। 'शुक्र' का अर्थ ज्येष्ठ और 'शुचि' का अर्थ आषाढ़ होता है। यहां वस्तुतः आषाढ़ मास होना चाहिये।"

फिर लिखते हैं:—

"ज्येष्ठ कृष्णा ७ सं० १९३७ को गुरुवार नहीं था।" फिर लिखते हैं:—

"भ्रमोच्छेदन के लेखन की तथा जिस दिन यह ग्रंथ छपने के लिये भेजा गया, उस दिन के पत्र की तिथि, वार और संवत् सब परस्पर मिलते हैं। देखो पत्र व्यवहार पृष्ठ २९७, २९८। केवल महीने के नाम में ही भेद है।"

ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन नामक ग्रंथ में से भ्रमोच्छेदन के विषय में महर्षि के कुछ पत्र तथा पत्रों के उद्धरण आगे उद्धृत किये जा रहे हैं:—

[१]

राजा शिवप्रसाद जी आनन्दित रहो।

आप का पत्र मेरे पास आया देखकर अभिप्राय जान लिया। इससे मुझको निश्चय हुआ कि आप ने वेदों से ले के पूर्वमीमांसा पर्यन्त विद्या पुस्तकों के मध्य में से किसी पुस्तक के शब्दार्थ सम्बन्धों को जाना नहीं। इसलिये आप को मेरी बनाई भूमिका का अर्थ भी ठीक-ठीक विदित न हुआ। जो आप मेरे पास आके समझते तो कुछ समझ सकते। परन्तु जो आप को अपने प्रश्नों के प्रत्युत्तर सुनने की इच्छा हो, तो स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती व बालशास्त्री जी को खड़ा करके सुनियेगा तो भी आप कुछ-कुछ समझ लेंगे। क्योंकि वे आपको समझायेंगे, तो कुछ आशा है, समझ जायेंगे। भला विचार तो कीजिये कि आप उन पुस्तकों के पढ़े विना वेद और ब्राह्मण पुस्तकों का कैसा आपस में सम्बन्ध, क्या-क्या उनमें है और स्वतः प्रमाण तथा ईश्वरोक्त वे और परतः प्रमाण और ऋषि मुनि कृत ब्राह्मण पुस्तक हैं। इन हेतुओं से क्या-क्या सिद्धान्त सिद्ध होते और ऐसे हुए विना आप कभी नहीं समझ सकते॥

सं० १९३७ मि० वै० व० सप्तमी शनिवार

दयानन्द सरस्वती।

[ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृ० १९६]

यह पत्र आद्यन्त महर्षि ने अपने हाथ से लिखकर भेजा था। उक्त ग्रन्थ में इस पत्र का ब्लाक-चित्र भी प्रकाशित किया गया है।

[२]

"आज रजिस्टरी करके राजा शिवप्रसाद का उत्तर यहां से रवाना करेंगे। उसके पहुँचते वखत ही रसीद भेजनी। इस पुस्तक को प्रथम भीमसेन देखकर कम्पोज़िटर को समझा देवे। कहीं टूट-फूट अशुद्ध न होने पावे। नोट जैसा कि इसमें है, वैसा

ही छपे और इसकी भी दो हज़ार कापी छपवानी मूल्य ।-) और वेद भाष्य के साथ जहां-जहां भेजना योग्य समझें, वहां भी भेजना। सब आर्य समाजों में भेज देना और संन्यासियों के पास भी। और जो भाष्य के ग्राहक योग्य हैं, उन सब के पास एक-एक पुस्तक भेज देनी। सब कालेज, गवर्नमेंन्ट स्कूलों और सरकारी पुस्तकालय में भी भेजना।

[पृष्ठ—१६७]

आगे फिर लिखते हैं:—

"जब तक यह भ्रमोच्छेदन ग्रन्थ छप के बाहर न हो तब तक किसी को मत दिखलाना। जब छप जाये, तब काशीराज, राजा शिवप्रसाद, विशुद्धानन्द, बालशास्त्री और राये संकटा प्रसाद की लायब्रेली (लायब्रेरी) तथा पंडित सूबेदराव और हरि पंडित जी को भी एक पुस्तक दे देना और जिस-जिस को योग्य जानो उस उसको भी देना।"

इस पत्र के नीचे लिखने की तिथि—संवत् १६३७ आषाढ़ कृष्णा २ गुरुवार है।

[३]

"हमने २४ वीं जून को राजा शिवप्रसाद का उत्तर भेजा था। २६ वीं को पहुंचा होगा।"

"वेद भाष्य और राजा शिवप्रसाद का उत्तर छपकर अभी तक नहीं आया।"

"वेद भाष्य और राजा शिवप्रसाद का उत्तर जल्दी भेजना चाहिये।" [पृष्ठ—२०१]

इस पत्र के नीचे मिति आ० सुदी १ संवत् १६३७ लिखी है।

[४]

"२४ जून को राजा शिवप्रसाद का जवाब हमने फर्रुखाबाद से तुम्हारे पास भेज दिया था।

"राजा जी के जवाब की पुस्तक हद के दरजह आठ दिन में छपकर तैयार हो सकती है। पर न मालूम अब तक क्यों तैयार नहीं हुई।"

[पृष्ठ—२०२]

इस पत्र में लिखने की तिथि नहीं है। संख्या २, ३ और ४ के पत्र महर्षि ने अपने वैदिक यन्त्रालय काशी के प्रबन्धक बख्तावरसिंह जी के नाम भेजे थे। इन से यह भली प्रकार प्रकट होता है कि महर्षि इस पुस्तक को बहुत ही आवश्यक समझते थे। और, इस यथा शीघ्र ही प्रकाशित करवाना चाहते थे।

संवत २००५ में वैदिक यन्त्रालय अजमेर द्वारा आठवीं बार प्रकाशित "भ्रमोच्छेदन" पुस्तक को अब हम पुनरपि प्रकाशित करता रहे हैं।

—सम्पादक

सस्ते सुन्दर और उपयोगी ट्रैक्ट मंगवा कर प्रचार कीजिये।

१. मनुष्य बन
२. गायत्री-माता
३. ईश्वर-सिद्धि
४. आस्तिक नास्तिक संवाद
५. पितृ-श्राद्ध-विचार
६. सुख का साधन
७. ईश्वरोपासना
८. कल्याणी बन
६. आर्यों का आदि-देश
१०. धर्म-अधर्म
११. स्वामी श्रद्धानन्द
१२. तत्त्ववेत्ता दयानन्द
१३. धर्मवीर पं० लेखराम
१४. सीता-माता
१५. गौ-माता
१६. दयानन्द-दिग्विजय
१७. चोटी का महत्त्व
१८. गुरु विरजानन्द
१६. मांस खाना छोड़ दो
२०. मर्यादा पुरुषोत्तम राम
२१. देश-सुधार होली
२२. मूर्त्ति-पूजा विचार
२३. भक्ति के लाभ
२४. आर्य-समाज का उद्देश्य
२५. वेद-माता
२६. श्रद्धा-माता
२७. धर्म की रक्षा करो
२८. धरती-माता
२६. वेदभाष्य का महत्त्व
३०. आर्यसमाज की उन्नति के साधन
३१. भक्तिवाद की रूपरेखा
३२. वैदिक भक्तिवाद
३३. गोपाल दयानन्द
३४. आर्य-समाज नियम विचार
३५. काशी-विजय—१
३६. काशी विजय—२
३७. वेद में तोप बन्दूक
३८. मांसोदन विचार

मूल्य—एक प्रति एक आना। सब मिलाकर १०० प्रतियां ४) रु०। सब मिलाकर १००० प्रतियां ३५) रु० डाकव्यय पृथक्। चौथाई मूल्य पेशगी भेजें।

पता—गोविन्दराम हासानन्द, आर्य साहित्य भवन, नई सड़क, देहली

* ओ३म् *

भ्रमोच्छेदन

[अविद्वानों का]+

—×*×—

मैंने राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की बुद्धि और चतुराई की प्रशंसा सुन के चित्त में चाहा कि कभी उनसे समागम होकर आनन्द होवे। जैसे पूर्व समय में बहुत ऋषि मुनि विद्वानों के बीच प्रज्ञासागर बृहस्पति महर्षि हुए थे, क्या पुनरपि वे ही महा अविद्यान्धकार के प्रचार से नाना प्रकार के अन्यान्य विरुद्ध मत-मतान्तर के इस वर्त्तमान समय में शरीर धारण करके प्रकट तो नहीं हुए हैं ?

देखना चाहिये कि जैसा मनको मैं सुनता हूं, वैसे ही वे हैं वा नहीं, ऐसी इच्छा थी। यद्यपि मैंने संवत् १९२६ से लेके पांच वार काशी में जाकर निवास भी किया। परन्तु कभी उनसे ऐसा समागम न हुआ+ कि कुछ वर्तालाप होता। मैंने प्रस्तुत संवत् १९३६ कार्तिक शुदी १४ गुरुवार को काशी में आकर महाराजे विजयनगराधिपति के आनन्दबाग में निवास किया × इतने में मार्गशीर्ष सुदी में अकस्मात् राजा शिवप्रसाद जी प्रसिद्ध एस० एच० कर्नल ऑलकाट साहब और एच० पी० मेडम ब्लेवेट्स्की को मिलने के लिये आनन्दबाग में आ, उनने मुझसे मिलकर कहा कि मैं उक्त साहब और मेडम से मिला चाहता हूं। सुनकर मैंने एक मनुष्य को भेज, राजा साहब की सूचना कराई और जबतक उक्त साहब के साथ राजाजी न उठ गये, तबतक जितनी मैं अपने पत्र में लिख चुका हूं, उनसे बातें हुईं। परन्तु शोक है कि जैसा मेरा प्रथम निश्चय राजाजी पर था, वैसा उनको न पाया।× मन में विचारा कि जितनी दूसरे के मुख से बात सुनी जाती है, सो सब सच नहीं होती।

राजाजी लिखते हैं कि--"स्वामीजी की बात सुनकर मैं भ्रम में पड़ गया।

यहां बुद्धिमानों को विचारना चाहिये कि क्या मेरी बात का सुनना ही राजाजी को बड़े सन्देह में पड़ने का निमित्त है, और उनकी कम समझ और आलस्य कारण नहीं है * ? जब कि उनको संदेह ही छुड़ाना था, तो मेरे पास आके उत्तर सुनके यथाशक्ति संदेह निवृत्तकर, आनंदित होना योग्य न था ? जैसा कोमल लेख उनके पत्र में है, वैसा भीतर का अभिप्राय: नहीं +, किन्तु इस में प्रत्यक्ष छल ही विदित होता है।

देखो, मार्गशीर्ष से लेके वैशाख कृष्ण एकादशी बुधवार पर्यन्त, सवा चार मास उनके मिलने के पश्चात्, मैं और वे काशी में निवास करते रहे, क्यों न मिलके सन्देह निवृत्त किये ? जब मेरी यात्रा सुनी,

---

* जो राजा शिवप्रसादजी अपने लेख पर स्वामी विशुद्धानन्दजी का हस्ताक्षर न कराते, तो मैं इसपर एक अक्षर भी न लिखता। क्योंकि उनको संस्कृत विद्या में शब्दार्थ सम्बंध समझने का सामर्थ्य ही नहीं है। इसलिये जो कुछ इस पर लिखता हूं, सो सब स्वामी विशुद्धानंदजी की ओर ही समझा जावे ॥

+ एक बार सय्यद अहमदखां सदरसदूरजी की कोठी पर दूर से देखा था, पर वर्तालाप नहीं हुआ था ॥

× यह तिथि अशुद्ध है। वास्तव में महर्षि कार्तिक सुदी ७ सं० १९३६ वि० को काशी पहुंचे थे। --सम्पादक

× राजाजी की वाचालता बहुत बड़ी और समझ अति छोटी देखी।

* कोई कितना ही बड़ा विद्वान् हो, परन्तु अविद्वान् मनुष्य को विद्या की बातें बिना पढ़ाये कभी नहीं समझा सकता, न वह बिना पढ़े समझ सकता है।

+ हाथी के खाने के दाँत भीतर और दिखाने के बाहर होते हैं ॥

तभी पत्र भेजके प्रत्युत्तर क्यों चाहे ? मेरे चलते समय प्रश्न करना, मेरे बुलाये पर भी उत्तर सुनने न आना, सवाचार महीने पर्यन्त चुप होके बैठे रहना, और मेरे काशी से चले आने पर, अपनी व्यर्थ बड़ाई के लिये पुस्तक छपवाकर काशी में और जहां-तहां भेजना कि काशी में कोई भी विद्वान् स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने में समर्थ न हुआ; किन्तु एक राजा शिवप्रसादजी ने किया। ऐसी प्रसिद्धि होने पर सब लोग मुझको विद्वान् और बुद्धिमान् मानेंगे, ऐसी इच्छा का विदित करना आदि हेतुओं से क्या उनकी अयोग्यता की बात नहीं है ×। भला ऐसे मनुष्यों से किसी विद्वान् को उचित है कि बात और शास्त्रार्थ करने में प्रवृत्त होवे ?

ऐसे कपट छल के व्यवहार न करने में मनुजी की साक्षी अनुकूल है—

अधर्मेण तु यः प्राह यश्चाऽधर्मेण पृच्छति।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति॥ १॥

अर्थ—(यः) जो (अधर्मेण) अन्याय, पक्षपात, असत्य का ग्रहण सत्य का परित्याग, हठ, दुराग्रह से वा जिस भाषा का आप विद्वान् न हो, उसी भाषा के विद्वान् के साथ शास्त्रार्थ किया चाहे, और उस भाषा के सच झूठ की परीक्षा करने में प्रवृत्त होवे, और कोई प्रतिवादी सत्य कहे, उसका निरादर करे, इत्यादि अधर्म कर्म से युक्त होकर छल कपट से * (पृच्छति) पूछता है, (च) और (यः) जो (अधर्मेण) पूर्वोक्त प्रकार से (प्राह) उत्तर देता है, ऐसे व्यवहार में विद्वान् मनुष्य को योग्य है कि न उससे पूछे और न उसको उत्तर देवे। जो ऐसा नहीं करता, तो पूछने वा उत्तर देने वाले दोनों में से एक मर जाता है। (वा) अथवा (विद्वेषम्) अत्यन्त विरोध को (अधि गच्छति) प्राप्त होकर, दोनों दुःखित होते हैं ।१।

जब इस वचनानुसार राजाजी को अयोग्य जानकर लिख के उत्तर नहीं दिये ×, तो फिर क्या मैं ऐसे मनुष्यों से शास्त्रार्थ करने को प्रवृत्त हो सकता हूं ? हाँ, मैं अपरिचित मनुष्यों के साथ चाहे कोई धर्म से पूछे अथवा अधर्म से, उन सबों के समाधान करने को एक बार तो प्रवृत्त हो ही जाता हूं, परन्तु उस समय जिसको अयोग्य समझ लेता हूं, जब तक वह अपनी अयोग्यता को छोड़ कर नहीं पूछता और न कहता है, तब तक उससे सत्याऽसत्यनिर्णय के लिये कभी प्रवृत्त नहीं होता हूं। हां, जो सब विद्वानोंको योग्य है, वह काम तो करता ही हूं। अर्थात् जब-जब अयोग्य-पुरुष मुझ से मिलता वा मैं उससे मिलता हूँ, तब-तब प्रथम उसकी अयोग्यता के छुड़ाने में प्रयत्न करता हूँ। जब वह धर्मात्मता से योग्य होता है, तब मैं उस को प्रेम से उपदेश करता हूँ। वह भी प्रेम से पूछ के निस्सन्देह होकर आनन्दित हो जाता है *।

अब जो राजा शिवप्रसादजी ने स्वामी विशुद्धानन्दजी की सम्मति लिखी, ज्येष्ठ महीने में 'निवेदन-पत्र' छपवा के प्रसिद्ध किया है, उसी के उत्तर में यह पुस्तक है। इसमें जहां-जहां (रा०) चिह्न आवे, वहां-वहां राजा शिवप्रसादजी का, और जहां-जहां (स्वा०) आवें, वहां-वहां मेरा लेख जानना चाहिये॥

रा०—जितना महाराजजी के मुखारविन्द से सुना था, बड़े सन्देह का कारण हुआ, निवृत्त्यर्थ पत्र लिखा। महाराजजी ने कृपा करके उत्तर दिया, उसे देख मेरा सन्देह और भी बढ़ा। महाराजजी के लिखे अनुसार ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका मंगा के पृष्ठ ६ से ८८ तक देखा, विचित्र लीला दिखाई दी। आधे-आधे वचन, जो अपने अनुकूल पाये, ग्रहण किये हैं। शेषार्द्ध

× जो राजा जी प्रश्नों के उत्तर चाहते, तो ऐसी अयोग्य चेष्टा क्यों करते। जब मैंने उनकी अन्यथा रीति जानी, तभी उनसे पत्रव्यवहार आगे को न चलाया, क्योंकि उनसे संवाद चलाना व्यर्थ देखा॥

* जिसके आत्मा में और, और जिसके बाहर और होवे, वह 'छली' कहाता है॥

× जो जिस बात के समझने और जिस काम के करने में सामर्थ्य नहीं रखता, वह उसका अधिकारी नहीं हो सकता॥

* कोई भी वैद्य जबतक रोगी के आँखों की पीड़ा सोजा और मलीनता दूर नहीं कर देता, तबतक उसको दिखला भी नहीं सकता। परन्तु जिसके नेत्र ही फूट गये हैं, उसको कुछ भी दिखलाने का उपाय नहीं॥

को जो प्रतिकूल पाये परित्याग *। उन आधे अनुकूल में भी जो कोई शब्द अपने भाव से विरुद्ध देखे, उनके अर्थ पलट दिये, मनमाने लगा लिये ×, परन्तु आपने याज्ञवल्क्यजी का यह वाक्य आधा ही अपना उपयोगी समझ, क्यों लिखा? क्या इसलिये कि शेषार्द्धवादी का उपयोगी है?

स्वा०—क्या मेरी बात ही संदेह की बढ़ाने-हारी है, उनकी अल्प समझ और आलस्य नहीं है? और यह भी सच है कि जब-जब अविद्वान् होकर विद्वान् के बनाये ग्रन्थ को देखने लगता है, तब-तब काच के मंदिर में प्रविष्ट हुए श्वान के समान भूंस-भूंस, सुख के बदले दुःख ही पाया करता है।

विदित हो कि जहाँ जितने वाक्य के भाग के लिखने की योग्यता हो, उतना ही लिखना उचित होता है, न अधिक न न्यून। जिसलिये यह वेदभाष्य की भूमिका है, इसलिये उस वाक्यसमूह में से जितना वेदों का उपयोगी लिखना उचित था, उतना ही लिखा है। जो इतिहासादि में से जिस किसी की व्याख्या करनी होती, तो वहाँ उस-उस भाग का लिखना भी योग्य था। प्रकरणविरुद्ध लिखना विद्वानों का काम नहीं +।

सब विद्वान् इस बात को निश्चित जानते हैं कि पदों का पद, वाक्यों का वाक्य, प्रकरणों का प्रकरण और ग्रंथों का ग्रंथों ही के साथ सम्बन्ध होता है। जब ऐसा है, तब राजाजी को अपनी बात की पुष्टि के लिये सब पद, सब वाक्य, सब प्रकरण और सब ग्रंथों का प्रमाणार्थ ऐकत्र लिखना उचित हुआ। क्योंकि यह उन्हीं की प्रतिज्ञा है ×कि आधा छोड़ना और आधा लिखना किसी को योग्य नहीं। और जो राजाजी संपूर्ण का लिखना उचित समझते हैं, सो यह बात कोई बालबुद्धि मनुष्य भी नहीं कह सकता। देखिये फिर यही उनकी अविद्वत्ता उलटा उनको उन्हीं मिथ्यादोषों में पकड़कर गिराती रहती है। अर्थात् जो मिथ्या दोष वे मेरे लेख पर देते हैं, उन्हीं में आप डूबे हैं।

यहाँ जो कोई मनुष्य राजाजी से पूछेगा कि—आप जो स्वामी दयानन्द सरस्वती जी की बनाई भूमिका में दोष देते हैं, वही आप के

अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः।

इस लेख में भी आते हैं। इसकी वाक्यावली + तो ऐसी है—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
जङ्घन्यमाना आप यन्ति मूढा
अन्धनैव नीयमाना यथान्धाः॥

फिर आपने इस वाक्यावली में से पूर्व के तीन भाग को छोड़ चौथे भाग को क्यों लिखा? तब राजासाहब घबड़ा कर मौन ही साध जायंगे। क्योंकि

---

* देखिये राजाजी की अद्भुत लीला। मैंने जो वेदार्थ के अनुकूल लिखा है, उसको मेरे अनुकूल, और जो वेदार्थ प्रकरण के प्रतिकूल का त्याग किया है, उसको मेरे प्रतिकूल समझते हैं। इसीलिये राजाजी विद्यारहस्य को कुछ भी नहीं समझते हैं। क्योंकि उनको भी ऐसा ही करना पड़ता है॥

× जैसी राजाजी की समझ है, वैसी किसी छोटे विद्यार्थी की भी नहीं हो सकती। क्योंकि जो व्याख्येय शब्दार्थ के विरुद्ध का छोड़ना और अनुकूल का ग्रहण करना सब को योग्य होता है, उस-उस को वे उलटा समझते हैं। और, फिर कोई उदाहरण भी नहीं लिखते कि इसका अर्थ उलटा वा मनमाना किया। क्या ज्वरयुक्त मनुष्य के लिये कुपथ्य का त्याग और सुपथ्य का ग्रहण करना वैद्य का दोष है? और, मैंने तो अपनी समझ के अनुसार जो कुछ लिखा है, सो सब शास्त्रानुकूल ही है। उसको उलटा वा मनमाना लगा लेना, जो समझते हैं, यह उनकी समझ का दोष है॥

+चेत करना चाहिये, यह उल्टी समझ राजाजी की है कि जो अनेक वाक्यों को एक वाक्य समझना॥

×ऐसा असम्भव वचन किसी विद्वान के मुख से नहीं निकल सकता है, और न हाथ से लिखा जा सकता है॥

+जैसे कोई प्रमत्त अर्थात् पागल पगड़ी पग पर और जूते शिर पर धरता है, वैसे काम विद्वान् कभी नहीं कर सकता॥

वे वाक्यावली में से प्रकरणोपयोगी एक हो भाग का लिखना उचित नहीं समझते। चाहे प्रकरणोउपयोगी हो वा न हो, किन्तु पूरी वाक्यावली लिखना योग्य समझते हैं +। जो ऐसा न समझते तो।

एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि ॥"

इस वाक्य समुदाय को स्वामीजी ने नहीं लिखा, यह मिथ्या दोष क्यों लगाते। पर विचारे क्या करें, उन्होंने न कभी किसी से वाक्य का लक्षण सुना, और न पढ़कर जाना है। जो सुना वा जाना होता तो 'एवं वा०' इससे लेके 'निःश्वसितानि' इस अनेक वाक्य के समुदाय को एक वाक्य क्यों समझते *।

देखिये, यह महाभाष्य में वाक्य का लक्षण लिखा है—

एकतिङ् वाक्यम्।

जिसके साथ एक तिङन्त के प्रयोग का सम्बन्ध हो, वह 'वाक्य' कहाता है। जैसे—

एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य विभोः परमेश्वरस्य साक्षाद्वा परम्परासम्बन्धादेतत्सर्वं वक्ष्यमाणमनेकवाक्यवाच्यं निःश्वसितमस्तीति।

एक, और—

'पूर्वोक्तस्य सकाशादृग्वेदो निःश्वसितोऽस्तीति।

दूसरा वाक्य है। इसी प्रकार इस कण्डिका में २० वाक्य तो पठित हैं, और आकांक्षित वाक्य 'त्वं विद्धि' इत्यादि ऊपर से और चकार से इन्हीं के अविरुद्ध अपठित उपयोगी अनेक अन्य वाक्य भी अन्वित होते हैं।

क्या जिनको वाक्य का बोध न हो, उनको पदार्थ और वाक्यार्थ का बोध, जिनको पदार्थ और वाक्यार्थ का बोध न हो, उनको प्रकरणार्थ और ग्रन्थ के पूर्व पदार्थ का बोध होने की आशा कभी हो सकती है? इसीलिये जो राजा जी को दूसरे पत्र में मैंने लिखा है, सो बहुत ठीक है कि इससे मुझको निश्चित हुआ कि राजाजी ने वेदों से लेके पूर्वमीमांसा पर्यन्त विद्या-पुस्तकों में से किसी भी पुस्तक के शब्दार्थ सम्बन्धों को जाना नहीं है ×। इसलिये उनको मेरी बनाई भूमिका का अर्थ भी ठीक-ठीक विदित न हुआ।

क्या अब जिसको थोड़ी-सी भी बुद्धि होगी, वह राजा साहब को शास्त्रों के तात्पर्यार्थ ज्ञानशून्य जानने में कुछ भी शङ्का रख सकता है? यहाँ 'चोर कोटपाल को दण्डे' यह कहानी चरितार्थ होती है कि जो—

अन्धनैव नीयमाना यथाऽन्धाः।

के समान स्वयं राजाजी और उनके विचारानुकूल चलने वाले होकर, भ्रम से इसके अर्थ को मेरी बनाई भूमिका और मेरे उपदेश को मानने हारे पर झोंक देते हैं। क्या यह उलट पलट नहीं है?

+ मेरी प्रतिज्ञा तो यह है कि जहाँ जितना लिखना योग्य हो, वहाँ उतना ही लिखना॥

* जो राजा जी विद्या में वास कर अविद्या से पृथक् होते, तो उनके मुख से ऐसी असम्भव बात कभी न निकलती॥

+ राजा जी ने समझा होगा कि मैं बड़ा बुद्धिमान् हूँ। हां 'अन्धानां मध्ये काणो राजा' यहाँ इस न्याय के तुल्य तो चाहे कोई समझ लेवे॥

× ईश्वरोक्त चार वेद स्वतः प्रमाण और ब्रह्मा से लेके जैमिनि पर्य्यन्त ऋषि मुनि और ऐतरेय ब्राह्मण से लेके पूर्वमीमांसा पर्य्यन्त ग्रंथों की गणना से कोई भी आर्ष पुस्तक पढ़ना बाक़ी नहीं रहता, कि जिसका परतःप्रमाण ग्रहण न हो सके। क्योंकि ग्रंथकारों में जैमिनी सब के पश्चात् हुए हैं। और, पुस्तकों में पूर्वमीमांसा सब से पीछे बनाया है। इसलिये जो राजा जी ने नोट में "स्वामीजी ने पूर्वमीमांसा पर्यन्त पढ़ा होगा" लिखा है, सो भ्रम से ही है॥

इससे मैं सब आर्य्यसज्जनों को विदित करता हूँ कि जो अपना कल्याण चाहें, वे उनके व्यर्थ वाक्याडम्बर जाल में बद्ध हो, अपने मनुष्यजन्म के धर्मार्थ, काम, मोक्ष, फलों से रहित होकर, दुःखदुर्गन्धसागर रूप घोर नरकमें गिरकर, चिरकाल दारुण दुःख भोग न करें। और अपने सर्वानन्दप्रद वेद के सत्यार्थप्रकाश में स्थिर होकर, सर्वानन्दों का भोग न छोड़ बैठें।

अब जो स्वामी विशुद्धानन्दजी की पक्षपातरहित विद्वत्ता की परीक्षा बाकी है, सो करनी चाहिये।

रा०—श्रीमत्पण्डितवर × बालशास्त्रीजी तो बाहर गये हैं, परमपूज्यनीय जगत्गुरु + श्री स्वामी विशुद्धानन्दजी के चरणों में पहुँच, जो पत्र और उत्तरों को देखकर बहुत हँसे *, और पिछले उत्तर पर, जिसमें इन दोनों महात्माओं का नाम है, कुछ लिखवा भी दिया। स्वामी विशुद्धनन्दजी का लिखवाया राजा साहब के प्रश्नों का उत्तर दयानन्द से नहीं बना, इति।

स्वा०—जिनका पक्षी पक्षपातान्धकार से विचार शून्य हो, उनके साक्षी तत्सदृश क्यों न हों? क्या यथा बुद्धि कुछ विद्वान् होकर स्वामी विशुद्धानन्दजीको योग्य था कि ऐसे अशास्त्रवित् अव्युत्पन्न, व्यर्थ, वैतण्डिक मनुष्य के अत्यन्त अयुक्त लेख पर, बिना सोचे समझे सम्मति लिख देवें। और, इससे 'सजातीय प्रवाह-पतन' न्याय करके यह भी विदित हुआ कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भी राजाजी के तुलयत्व की उपमा के योग्य हैं।

मैं स्वामी विशुद्धानन्दजी को चिताता हूँ कि आगे कभी ऐसा निर्बुद्धिता का काम न करें ×। भला मैंने तो राजाजी को संस्कृत विद्या में अयोग्य जान कर लिख दिया है कि आपने जिसलिये वेदादि विद्या के पुस्तकों में से एक का भी अभ्यास नहीं किया है, जो आप को उत्तर ग्रहण की इच्छा हो, तो मेरे पास आके सुन-समझ कर, अपनी बुद्धि के योग्य ग्रहण करो। आप दूर से वेदादि-विषयक प्रश्न करने और उत्तर समझने योग्य नहीं हो सकते। इसीलिये उनको लिख के यथोचित उत्तर न भेजे और न भेजूंगा।

यह बात भी मेरे दूसरे पत्र से प्रसिद्ध है कि जो वेदादि शास्त्रों में कुछ भी विद्वान् होते, मेरी बनाई भूमिका का कुछ तो अर्थ समझ लेते +। न ऐसी किसी की योग्यता है कि अन्धे को दिखला सके। यह भी मैं ठीक जानता हूँ कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भी वेदादि शास्त्रों में विद्वान नहीं, किन्तु नवीन टीकानुसार दश उपनिषद्, शारीरिक और पूर्वमीमांसा सूत्र और प्राचीन आर्षग्रन्थों से विरुद्ध कपोल-कल्पित तर्कसंग्रहादि ग्रन्थों का अभ्यास तो किया है। परन्तु वे भी नशा से × विस्मृत हो गये होंगे, तथापि उनका संस्कार मात्र तो ज्ञान रहा ही होगा। इसलिये वे संस्कृत पदवाक्य प्रकरणार्थों को यथाशक्ति जान सकते हैं। परन्तु न जाने उन्होंने राजा जी के अयोग्य लेख पर क्योंकर साक्षी लिखी।

अस्तु, जो किया सो किया, अब आगे को वे वा बालशास्त्रीजी जिसके उत्तर वा प्रश्नों पर हस्ताक्षर करके मेरे पास अपनी ओर से भेज दिया करें, और यह भी समझ रक्खें कि जो प्रश्नोत्तर उनके हस्ताक्षरयुक्त आवेंगे, वे उन्हीं की ओर से समझे जायेंगे, जैसा कि यह निवेदन पत्र का लेख

× काशी के पण्डितों में तो बालशास्त्रीजी किसी प्रकार श्रेष्ठ हो सकते हैं, भूगोलस्थ पण्डितों में नहीं।

+ जगत् में जो-जो उनके शिष्य वर्ग में हैं, उन-उन के परमपूजनीय और गुरु होंगे, सब के क्योंकर हो सकते हैं?

* जो कुछ भी पत्रों के अभिप्राय को समझते, तो हास करके अयोग्य पत्र पर संमति क्यों लिख बैठते?

× जो कोई बिना विचारे कर बैठता है, उसको बुद्धिमान् प्राज्ञ नहीं कहते।

+ यह तो सच है कि जो मनुष्य योग्य होकर समझना चहाता है, वह समझ भी सकता है॥

× सुना है कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भांग और अफीम का सेवन करते हैं। जो ऐसा है, तो अवश्य उनको विद्या का स्मरण न रहा होगा। जो मादक द्रव्य होते हैं, वे सब बुद्धिनाशक होते हैं। इससे सबको योग्य है कि उनका सेवन कभी न करें॥

स्वामी विशुद्धानन्द जी की ओर से समझा गया है। इसलिये वे तीनों स्वामी सेवक मिलकर प्रश्नों का विचार शुद्ध लिखकर, मुंशी बख्तारसिंह जी के पास भेज दिया करें। मुंशीजी आपकी ओर से यह लेख है या नहीं, इस निश्चय के लिये पत्रद्वारा आप से संमतिपत्र मंगवा के मेरे पास भेज दिया करेंगे। और, मेरा लेख भी हस्ताक्षर सहित अपने हस्ताक्षर करके, पत्र-सहित उनके पास भेज दिया करेंगे।

वे लोग राजाजी आदि को समझाया करें, और वे आप से मेरे लेखाभिप्राय को समझ लिया करें। जो इस पर भी आप लोग परस्पर विचार करने में प्रवृत्त न होंगे, तो क्या सब सज्जन लोग आप लोगों को भी अयोग्य न समझ लेंगे? क्योंकि जो स्वपक्ष के स्थापन और परपक्ष के खण्डन में प्रवृत्त न होकर, केवल विरोध ही मानते रहें, वे अयोग्य कहाते हैं। इसलिये मैं सब को सूचना करता हूँ कि जो मेरे पक्ष से विरुद्ध अपना पक्ष जानते हों, तो प्रसिद्ध होकर शास्त्रार्थ क्यों नहीं करते? और टट्टी की आड़ में स्थित होकर, ईंट-पत्थर फेंकने वाले के तुल्य कर्म करना नहीं छोड़ते?

और, जो विरुद्ध पक्ष नहीं जानते हों, तो अपने पक्ष को छोड़, मेरे पक्ष में प्रवृत्त होकर प्रीति से इसी पक्ष का प्रचार करने में उद्यत क्यों नहीं होते × ? जो ऐसा नहीं करते, दूर ही दूर रह कर झूठे गाल बजाने और जैसे मेरे काशी से चले आने पर राजा जी के पत्र पर व्यर्थ हस्ताक्षर करने से, उसने अपनी अयोग्यता प्रसिद्ध कराई, वैसे जो वे मुझसे शास्त्रार्थ करेंगे, तो प्रशंसित भी हो सकते हैं। ऐसा किये बिना क्या वे लोग बुद्धिमान् धार्मिक विद्वानों के सामने अमाननीय और अप्रतिष्ठित न होंगे?

जो इसमें एक बात न्यून रही है कि बालशास्त्री-जी भी इसपर अपनी सम्मति लिखते, तो उनको भी राजा शिवप्रसाद और स्वामी विशुद्धानन्दजी के साथ दक्षिणा मिल जाती। कहिये राजाजी! आप अपनी रक्षा के लिये स्वामी विशुद्धानन्दजी के चरणों में पहुँच कर पत्र दिखा, सम्मति लिखा, पुस्तक छपाकर, इधर-उधर भेजने से भी न बच सके, तो आपके जाट, खाट और कोल्हू लौट कर आपही के शिर पर चढ़े वा नहीं? अब इस बोझ के उतारने के लिये आपको योग्य है कि बालशास्त्री जी के चरणों में भी गिरकर बचने का उपाय कीजिये। और आप अपने विजय के लिये स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्रीजी को प्राड्विवाक अर्थात् बारिस्टर करना भी मत छोड़िये।

अथवा उत्तम तो यह है कि वे दोनों आपको ढाल बनाकर न लड़ें। किन्तु सम्मुख होकर शास्त्रार्थ करें। इसी में उनकी शोभा है, अन्यथा नहीं। परन्तु मैं आप और उनको निश्चित कहता हूँ कि सब मिल-कर कितना ही करो, जब तक कोई मनुष्य झूठ छोड़, सत्यमत का ग्रहण नहीं करता, तबतक अपना और दूसरे का विजय कभी नहीं कर सकता और न करा सकता है। क्या दूसरे की वृथा प्रशंसा से हर्षित हो कर स्वामी विशुद्धानन्दजी का बहुत हँसना, बालकों का खेल नहीं है? और जो कोई अपनी योग्यता के सदृश वर्त्तमान न करे, वह संशय में मग्न होकर विनष्ट क्योंकर न होवे?

अब मैं सूचना करता हूँ कि बुद्धिमान् आर्य लोग पक्षी राजाजी और साक्षी विशुद्धानन्दजी के हास्यास्पद लेख को देख, उस पर विश्वास कर इस 'क्वागताः क्व निपतिताः' महाभाष्योक्त वचनार्थ के सदृश हो-कर, धर्म फल आनन्द से छूटकर, दुर्गन्ध गढ़े और दुःखसागर में जा न गिरें।

रा०—हम केवल वेद की संहितामात्र मानते हैं। एक ईशावास्य उपनिषद् संहिता है, और सब उप-निषद् ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण हम कोई नहीं मानते, सिवाय संहिता के हम और कुछ नहीं मानते हैं।

स्वा०—जैसा यह राजाजी का लेख है, वैसा मैंने नहीं कहा था, किन्तु जैसा नीचे लिखा है वैसा कहा गया था। तद्यथा—

रा०—आपका मत क्या है?

× उनको अवश्य योग्य है कि सत्य के आचरण और असत्य के छोड़ने में अति दृढ़ोत्साहयुक्त होके, निन्दा, स्तुति, हानि, लाभ आदि की प्राप्ति में शोक और हर्ष कभी न करें॥

स्वा०—वैदिक।

रा०—आप वेद किसको मानते हैं ?

स्वा०—संहिताओं को।

रा०—क्या उपनिषदों को वेद नहीं मानते ?

स्वा०—मैं वेदों में एक ईशावास्य को छोड़ के अन्य उपनिषदों को नहीं मानता, किन्तु अन्य सब उपनिषद् ब्राह्मण ग्रन्थों में हैं, वे ईश्वरोक्त नहीं हैं।

रा०—क्या आप ब्राह्मण पुस्तकों को वेद नहीं मानते ?

स्वा—नहीं, क्योंकि जो ईश्वरोक्त है, वही वेद होता है, जीवोक्त को वेद नहीं कहते। जितने ब्राह्मण ग्रंथ हैं, वे सब ऋषि मुनि प्रणीत और संहिता ईश्वर प्रणीत हैं। जैसा ईश्वर के सर्वज्ञ होने से तदुक्त निर्भ्रान्त सत्य और मत के साथ स्वीकार करने योग्य होता है, वैसा जीवोक्त नहीं हो सकता। क्योंकि वे सर्वज्ञ नहीं। परन्तु जो जो वेदानुकूल ब्राह्मण ग्रंथ हैं, उनको मैं मानता और विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूँ। वेद स्वतःप्रमाण और ब्राह्मण परतःप्रमाण हैं। इससे जैसे वेदविरुद्ध ब्राह्मण ग्रंथों का त्याग होता है, वैसे ब्राह्मणग्रंथों से विरुद्धार्थ होने पर भी वेदों का परित्याग कभी नहीं हो सकता। क्योंकि वेद सर्वथा सबको माननीय ही हैं।"

यह मेरे पत्र का लेख उनके भ्रमजाल निवारण का हेतु विद्यमान ही था, परन्तु मेरा लेख क्या कर सकता है। जो राजाजी मेरे लेख को समझने की विद्या ही नहीं रखते, तो क्या इसमें राजाजी का दोष नहीं है ?

रा०—वादी कहता है+ जो संहिता ईश्वरप्रणीत है, तो ब्राह्मण भी ईश्वरप्रणीत हैं।

स्वा०—देखिये राजाजी की मिथ्या आडम्बरयुक्त लड़कपन की बात को, जैसे कोई कहे कि जो पृथिवी और सूर्य ईश्वर के बनाये हैं, तो घड़ा और दीप भी ईश्वर न रचे हैं।

रा०—और जो ब्राह्मणग्रंथ सब ऋषि मुनि प्रणीत हैं, तो संहिता भी ऋषि मुनि प्रणीत हैं।

स्वा०—यह भी ऐसी बात है कि जो कोई कहे कि ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रणीत है, तो ऋग्यजुः साम और अथर्व चारों वेद भी उन्हीं के प्रणीत हैं।

रा०—वादीको आप अपना प्रतिध्वनि समझिये।×

स्वा०—देखिये, राजाजी की अविद्या के प्रकाश को। क्या प्रतिवादी का प्रतिध्वनि वादी कभी हो सकता है ? क्योंकि जैसा शब्द और उसमें जैसे पद अक्षर और मात्रा होती हैं, वैसी ही प्रतिध्वनि सुनने में आती है, विपरीत नहीं। कोई बालबुद्धि भी नहीं कह सकता कि वादी अपने मुख से प्रतिवादी ही के शब्दों को निकाले, विरुद्ध नहीं। जबतक प्रतिवादी के पक्ष से विरुद्धपक्ष प्रतिपादन नहीं करता, तबतक वह उसका वादी कभी नहीं हो सकता। जैसे कुएं में से प्रतिध्वनि सुनी जाती है, क्या वह वक्ता के शब्द से विरुद्ध होती है ?

रा०—आपने लिखा वेदसंहिता स्वतःप्रमाण और ब्राह्मण परतःप्रमाण हैं। वादी कहता है कि जो ऐसा है, तो ब्राह्मण ही स्वतःप्रमाण हैं, आपका संहिता परतःप्रमाण होगा।

स्वा०—क्या यह उपहास की बात नहीं है ? जैसे कोई कहे कि सूर्य और दीप स्वतःप्रकाशमान् हैं, तो घटपटादि भी स्वतःप्रकाशमान् हैं।

रा०—आप ने लिखा कि मेरी बनाई हुई ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के नव पृष्ठ से लेके अट्ठासी के पृष्ठ तक वेदसंज्ञाविचार विषयों को देख लीजिये, निश्चय होगा। सो महाराज ! निश्चय के पलटे मैं तो और भी भ्रांति में पड़ गया। मुझे तो इतना ही प्रमाण चाहिये कि आप ने संहिता को माननीय मानकर, ब्राह्मण का क्यों परित्याग किया ? और वादी तो संहिता जैसा ब्राह्मण को वेद मान, जो आपने वेद के अनुकूल लिखा, अपने अनुकूल, और जो ब्राह्मण के प्रतिकूल लिखा, उसे संहिता के भी प्रतिकूल समझता है।

स्वा०—यह सच है कि जो अविद्वान् होकर

+ क्या विद्या और सुशिक्षा रहित मनुष्य प्रश्न और उत्तर करना कभी जान सकता है ? जब राजाजी वाद के लक्षणयुक्त ही नहीं हैं, तो वादी क्योंकर बन सकते हैं ?

× जो मैं राजाजी के सदृश होता, तो वादी को अपनी प्रतिध्वनि समझता, क्योंकि प्रतिध्वनि, ध्वनि से विरुद्ध कभी नहीं हो सकती और वादी प्रतिवादी से अविरुद्ध कभी नहीं हो सकता ॥

विद्वत्ता का अभिमान करे, वह अपनी अयोग्यता से सुख छोड़ कर दुःख क्यों न पावे। मैंने वेदों को स्वतःप्रमाण मानने और ब्राह्मणों को परतःप्रमाण मानने में कारण इस भ्रमोच्छेदन के इसी पृष्ठ में आगे लिखे हैं। क्या बाँचते समय अकस्मात् बुद्धि और आँख अन्धकारावृत हो गये थे ?

परन्तु जो जो वेदानुकूल ब्राह्मणग्रन्थ हैं, उनको मैं मानता और विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूँ। वेद स्वतःप्रमाण और ब्राह्मण परतः प्रमाण हैं। इससे जैसे वेदविरुद्ध ब्राह्मणग्रन्थों का त्याग होता है, ब्राह्मणग्रंथों से विरुद्ध होने पर भी वेदों का परित्याग नहीं हो सकता। क्योंकि वेद सर्वथा सबको माननीय हैं।

रा०—'तस्माद्यज्ञात्.....अजायत, अर्थात् उस यज्ञ से वेद उत्पन्न हुए। पृष्ठ १० पङ्क्ति २६ में आप शतपथ आदि ब्राह्मण का प्रमाण देकर यह सिद्ध करते हैं कि यज्ञ और विष्णु परमेश्वर।

स्वा०—जो राजाजी कुछ भी संस्कृत पढ़े होते, तो सन्निपाती के सदृश चेष्टा करके भ्रमजाल में न पड़ते। क्योंकि 'तच्छब्द' सर्वत्र पूर्व परामर्शक होता है। इसी से मैंने 'सहस्र शीर्षा पुरुषः, यहाँ से लेके 'ग्राम्याश्च ये' यहां तक जो छः मन्त्रों से प्रतिपादित निमित्तकारण परमात्मा पूर्वोक्त है, उसका आमर्ष अर्थात् अनुकर्षण करके अन्वित किया है।

देखो इसी के आगे भूमिका के पृष्ठ ६ पंक्ति—११

(तस्माद्यज्ञात्स०) तस्माद्यज्ञात्सच्चिदानन्दादिलक्षणात्पूर्णात्पुरुषात् सर्वहुतात् सर्वपूज्यात् सर्वशक्तिमतः परब्रह्मणः (ऋचः) (ऋग्वेदः (यजु) यजुर्वेदः (सामानि) सामवेदः (छन्दांसि) अथर्ववेदश्च (जज्ञिरे) चत्वारो वेदास्तेनैव प्रकाशिता इति वेद्यम्।

यह 'सर्वहुत' और 'यज्ञ' विशेषण पूर्णपुरुष के हैं। (तस्मात्) अर्थात् जो सब का पूज्य, सर्वोपास्य, सर्वशक्तिमान् पुरुष परमात्मा है, उससे चारों वेद प्रकाशित हुये हैं। इत्यादि से यहाँ वेदों ही के प्रमाण से चार वेदों को स्वतःप्रमाण से सिद्ध किया है। यद्यपि यहां यज्ञ शब्द भी पूर्ण परमात्माका विशेषण है, तथापि जैसा मैंने अर्थ किया है, वैसा ब्राह्मण में भी है। इस साक्षी के लिये 'यज्ञो वै विष्णुः' यह वचन लिखा है। और ब्राह्मण में मूल से विरुद्ध अर्थ होता, तो मैं उसकी साक्षी के अर्थ कभी न लिखता।

जो इस प्रकार से पद, वाक्य, प्रकरण और ग्रन्थ की साक्षी, आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्यार्थ को पक्षी राजाजी और स्वामी विशुद्धानन्दजी जानते, वा किसी विद्वान् की सेवा करके, वाक्य और प्रकरण के शब्दार्थ सम्बन्धों के जानने में तन, मन, धन लगाके अत्यन्त पुरुषार्थ से पढ़ते, तो यथावत् क्यों न जान लेते *।

रा० पृष्ठों को कुछ उलट-पलट किया तो विचित्र लीला दिखाई देती है। आप पृष्ठ ८१ पंक्ति ६ में लिखते हैं—कात्यायन ऋषि ने कहा है कि मन्त्र और ब्राह्मण ग्रंथों का नाम वेद है। पृष्ठ ५२ में लिखते हैं—प्रमाण ८ हैं। और फिर पृष्ठ ५३ में लिखते हैं—चौथा शब्दप्रमाण आप्तों के उपदेश, पांचवां ऐतिह्य सत्यवादी विद्वानों के कहे वा लिखे उपदेश। तो आप के निकट कात्यायन ऋषि आप्त और सत्यवादी विद्वान् नहीं थे ×॥

स्वा०—इसका प्रत्युत्तर मेरी बनाई ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पृष्ठ ८० पंक्ति २४ से लेके पृष्ठ ८८ अठ्ठासी तक में लिख रहा है, जो चाहे सो देख लेवे। और जो वहां 'एवंतेनानक्तत्वात्' इस वचन का यही अभिप्राय है कि 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह वचन कात्यायन ऋषि का नहीं है, किन्तु किसी धूर्तराट् ने कात्यायन ऋषि के नाम से बनाकर प्रसिद्ध कर दिया है। जो कात्यायन ऋषि का कहा होता, तो सब ऋषियों की प्रतिज्ञा से विरुद्ध न होता ? क्या आप जैसा कात्यायन को आप्त मानते हैं, वैसा पाणिनि आदि ऋषियों को आप्त नहीं मानते ? जो

---

* प्रसिद्ध है कि जो कोदों देके पढ़ते हैं, वे पदार्थों को यथावत् कभी नहीं जान सकते॥

× वे तो आप्त विद्वान् थे, परन्तु जिसने उनके नाम से वचन रचकर प्रसिद्ध किया, वह तो अनाप्त अविद्वान् ही था॥

कभी आप्त मानते हो, तो पाणिन आदि आप्तों की प्रतिज्ञा से विरुद्ध कात्यायन ऋषि क्यों लिखते ?

और जो कहो कि हम इस वचन को कात्यायन का ही मानेंगे, तो ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि आप पाणिनि आदि अनेक ऋषियों के लेख का तिरस्कार कर, एक को आप्त कैसे मान सकते हो ? और जो उनको भी आप्त मानते हो, तो मन्त्रसंहिता ही वेद हैं, उनके इस वचन को मानकर तद्विरुद्ध ब्राह्मण को वेद संज्ञा के प्रतिपादक वचन को क्यों नहीं छोड़ देते ? क्योंकि एक विषय में परस्पर विरोधी दो वचन सत्य कभी नहीं हो सकते। और जो सैकड़ों आप्त ऋषियों को छोड़कर एक ही को आप्त मानकर सन्तुष्ट रहता है, वह कभी विद्वान् नहीं कहा जा सकता।

रा० —आप लिखते हैंकि—ब्राह्मण में जमदग्नि, कश्यप इत्यादि जो लिखे हैं, सो देहधारी हैं, अतएव वह वेद नहीं। और संहिता में शतपथब्राह्मण के अनुसार जमदग्नि का अर्थ चक्षु और कश्यप का अर्थ प्राण है, अतएव वह वेद है।

स्वा०—ब्राह्मणों में जमदग्नि आदि देहधारियों का नाम यों है, कि जहां-जहां ब्राह्मण मन्थों में उनकी कथा लिखी है, वहां-वहां जैसे देहधारी मनुष्यों का परस्पर व्यवहार होता है, वैसा उनका भी लिखा है। इसलिये वहां देहधारी का ग्रहण करना योग्य है। और जहां मनुष्यों के इतिहास लिखने की योग्यता नहीं हो सकती, वहां इतिहास लिखने का भी सम्भव नहीं हो सकता। जो वेदों में इतिहास होते, तो वेदादि, और सब से प्राचीन नहीं हो सकते ? क्योंकि जिसका इतिहास जिस ग्रन्थ में लिखा होता है, वह ग्रन्थ उस मनुष्य के पश्चात् होता है।

जब कि वेदोंमें 'त्र्यायुषं जमदग्ने०' इत्यादि मन्त्रों की व्याख्या पदार्थ विद्यायुक्त होनी ही उचित है, इससे उनमें इतिहास का होना सर्वथा असम्भव है। जिस लिये जैसा मूलार्थ प्रतीत होने के कारण जमदग्नि आदि शब्दों से चक्षु आदि ही अर्थों का ग्रहण करना योग्य है, वैसा ही ब्राह्मणग्रन्थों और निरुक्त आदि में लिखा है। इसलिये यह मैंने अपने किये अर्थों के सत्य होने के लिये साहय्यर्थमात्र लिखा है। राजाजी जो इस बात को जानते और इन ग्रन्थों को पढ़े होते, तो भ्रमजाल में फँसकर दुःखित न होते।

रा०—उनमें भी क्या उपनिषद् संज्ञी और इतिहासपुराणादि संज्ञा है ? अथवा ऋग्वेदादि क्रमानुसार उनका संज्ञी वा संज्ञा है ?

स्वा०—इसका उत्तर यह है कि एक 'ईशावास्य' उपनिषद् तो यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय होने से वेद है, और 'केन' से लेके 'बृहदारण्यक' पर्यन्त ९ नव उपनिषद् ब्राह्मणान्तर्गत होने से, उनकी भी इतिहासादि संज्ञा 'ब्राह्मणानीतिहासान्०' इस पूर्वोक्त वचन से है। इससे 'एवं वा अरे०' इस वचन में निमित्तकारण कार्यसम्बन्ध होने से संज्ञासंज्ञीसम्बन्ध नहीं घट सकता। परन्तु राजासाहब के सदृश अविद्वान् तो 'मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी' ऐसा लिखने वा कहने में कुछ भी भययुक्त वा लज्जावान् नहीं होते *।

रा०—आप लिखते हैं कि ब्राह्मण वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण के योग्य तो हैं। यदि आप इतना और मानलें कि सम्पूर्ण ब्राह्मणों का प्रमाण संहिता के प्रमाण के तुल्य है।

स्वा०—अविद्वान् को कभी विद्यारहस्य के समझने की योग्यता नहीं हो सकती। क्या ऐसा कोई विद्वान भी सिद्ध कर सकता है कि व्याख्या के अनुकल होने से मूल का प्रमाण और प्रतिकूल होने से अप्रमाण, और व्याख्या के मूल से प्रतिकूल होने से प्रमाण और अनुकूल होने से अप्रमाण होवे।

इसलिये मन्त्रभाग मूल होने से ब्राह्मणग्रंथों से अनुकूल वा प्रतिकूल हो, तथापि सर्वथा माननीय होने के कारण स्वतः प्रमाण, और ब्राह्मणग्रन्थ व्याख्या होने से मूलार्थ से विरुद्ध हो, तो अप्रमाण और अनुकूल हो, तो, प्रमाण होकर माननीय होने के कारण परतः प्रमाण हैं। क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थों में सर्वत्र संहिताओं के मन्त्रों की प्रतीक धर-धर के पद, वाक्य और

× हजार ग्रामों का एक अविरुद्ध मत होता है, मूर्ख दो का भी एक म होना कठिन है॥

* विद्यावृद्धों ही को अन्यथा कहने और लिखने में शर्म वा भ्रम होता है, अविद्यायुक्त बालकों को नहीं॥

प्रकरणानुसार व्याख्या की है। इसलिये मन्त्र भाग मूल व्याख्येय और ब्राह्मणग्रंथ व्याख्या है।

रा०—आप लिखते हैं—

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।

इसका अर्थ सीधा-सीधा यह मान लेवें कि आपके चारों वेद और उनके छओं अंग अपरा हैं, जो परा उससे अक्षर में अधिगमन होता है। अपना फिरावट का वा अर्थाभास छोड़ दें। किमधिकमित्यलम्।

स्वा०—यहां तक आप का जो ऊटपटांग लेख है, उसको कौन शुद्ध कर सकता है। क्योंकि इसी भूमिका के पृष्ठ ४२ पंक्ति ३ में 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इस उपनिषद् के वचन ने आप के सीधे-सीधे अर्थ को टेढ़ा-टेढ़ा कर दिया। देखो यमराज कहते हैं कि हे नचिकेता! जिसका अभ्यास सब वेद करते हैं, उस ब्रह्म का उपदेश मैं तुझ से करता हूँ। तू सुन कर धारण कर। जब ऐसा है, तो वेदों अर्थात् मन्त्र भाग में परा विद्या क्यों नहीं?

देखो—'तमीशानं' इत्यादि मन्त्र, ऋग्वेद। 'परीत्य भूतानि' इत्यादि और 'ईशावास्य' इत्यारभ्य 'ओं खं ब्रह्म' पर्यन्त मन्त्रयुक्त चालीसवां अध्यायस्थ मन्त्र, यजुर्वेद। 'दधन्वेवायदीमनुवाचद्ब्रह्मेति वेरुत्तत्।' इत्यादि मन्त्र सामवेद। 'महद्यक्षं' इत्यादि मन्त्र अथर्ववेद में हैं। जब वेदों में हजारों मन्त्र ब्रह्म के प्रतिपादक हैं, जिनमें से थोड़े से मन्त्रों का अर्थ भी मैंने भूमिका पृष्ठ ४३ पंक्ति २२ से लेके २६ पंक्ति की समाप्ति तक लिख रक्खा है। जिसको देखना हो, देख लेवे।

भला इतना भी राजाजी को बोध नहीं है कि वेदों में परा विद्या न होती, तो 'केन' आदि उपनिषदों में कहाँ से आती?

मूलं कुतः नास्ति शाखाः?

क्या जो परमेश्वर अपने कहे वेदों में अपनी स्वरूपविद्या का प्रकाश न करता, तो किसी ऋषि मुनि का सामर्थ्य ब्रह्मविद्या के कहने में कभी हो सकता था? क्योंकि कारण के बिना कार्य होना सर्वथा असम्भव है।

जो 'केन' आदि नव उपनिषदों को पराविद्या में मानेंगे, तो उनसे भिन्न आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, अर्थवेद और मीमांसादि छः शास्त्र आदि परा विद्या में क्यों नहीं? जब न इस वचन में उपनिषद् और न किसी अन्य ग्रन्थ का नाम लिखा है, तो कोई उनका ग्रहण कैसे कर सकता है? भला कोई राजाजी से पूछेगा कि आपने—

यया तदक्षरमधिगम्यते सा पराविद्यास्ति

इस वाक्य से कौन से ग्रन्थों का नाम निश्चित किया है? क्या 'यया' इस पद से कोई विशेष ग्रन्थ भी आ सकता है? और जो मैंने वेदों में परा और अपरा विद्या लिखी है, उसको कोई विपरीत भी कर सकता है? कभी नहीं।

इसलिये सब मनुष्यों को योग्य है कि जैसे राजाजी संस्कृत विद्या के वेदादि ग्रन्थों को न पढ़ कर, उन्हीं में प्रश्नोत्तर किया चाहते और जैसी स्वामी विशुद्धानन्दजी ने बिना सोचे समझे सम्मति करदी है, वैसे साहस न करना चाहिये। किन्तु उस-उस विद्या में योग्य हो के, किसी से विचारार्थ प्रवृत्त होना चाहिये।

प्रश्न—आप ने अपने दूसरे पत्र में राजाजी को लिख कर प्रश्न करने और उत्तर समझने में अयोग्य जान कर लिख के उत्तर देना चाहा न था, फिर अब क्यों लिखके उत्तर देते हो?

उत्तर—जो राजाजी स्वामी विशुद्धानन्दजी की सम्मति न लिखाते, तो मैं इस पत्र के उत्तर में एक अक्षर भी न लिखता। क्योंकि उनको तो जैसा अपने पत्र में लिख चुका हूँ, वैसा ही निश्चित जानता हूँ।

प्रश्न—इस संवाद में आप प्रतिपक्षी राजाजी को समझते हो या स्वामी विशुद्धानन्दजी को?

उत्तर—स्वामी विशुद्धानन्दजी को। क्योंकि राजाजी तो विचारे संस्कृतविद्या पढे ही नहीं। उनके

सामने मेरा लेख ऐसा होवे कि जैसा बधिर के सामने अत्यन्त निपुण गानेवाले की वीणा आदि बजाना, और षड्जादि स्वरों का यथायोग्य आलाप करना होता है।

प्र०—जो तुम पक्षी राजाजी को छोड़कर स्वामी विशुद्धानन्दजी को आगे धरते हो, सो यह न्याय की बात नहीं है ?

उ०—यह मुझ वा किसी को योग्य नहीं है कि संस्कृत में कुछ योग्य विद्वान् को छोड़ कर अयोग्य के साथ संवाद चलाये। न राजाजी को योग्य है कि अपने साक्षी को छोड़े। और स्वामी विशुद्धानन्दजी को भी योग्य है कि अपने शरणागत आये राजाजी की रक्षा से विमुख न हो बैठें ×।

प्र०—स्वामी विशुद्धानन्दजी वा बालशास्त्रीजी आदि काशी के सब विद्वान् और बुद्धिमान् मिलकर राजाजी का पक्ष लेकर, आप से शास्त्रार्थ वा लेख करेंगे, तो आपको बड़ा कठिन पड़ेगा ?

उ०—मैं परमेश्वर की साक्षी से सत्य कहता हूँ कि जो ऐसा वे करें, तो मैं अत्यन्त प्रसन्नता के साथ, सबको विदित करता हूँ कि यह बात कल होती हो तो आज ही होवे। जो ऐसी इच्छा मेरी न होती, तो मैं काशी में विज्ञापनपत्र क्यों लगवाता और स्वामी विशुद्धानन्दजी तथा बालशास्त्रीजी को प्रतिपक्षी स्वीकार क्यों करता ?

प्र०—वे हैं बहुत और आप अकेले हो, कैसे संवाद कर सकोगे ?

उ०—इसके होने में कुछ असम्भव नहीं, क्योंकि जब सब काशी और अन्यत्र के विद्वान् और बुद्धिमान् लोग अपना अभिप्राय पत्रस्थ कर या सन्मुख जाके स्वामी विशुद्धानन्दजी वा बालशास्त्रीजी को विदित कराते जायेंगे, और वे उन लेख वा वचनों को देख-सुन, उनमें से इष्ट को ले मुझसे सन्मुख वा पत्र द्वारा इन दो बातों में से जिस में उनकी प्रसन्नता हो, ग्रहण करके, शास्त्रार्थ करने में उद्यत हूँ। परन्तु जैसे मैं इस पुस्तक पर अपना हस्ताक्षर प्रसिद्ध करता हूँ, वैसे वे भी करें, तो ठीक है, अन्यथा नहीं।

प्र०—सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करने में अच्छा होगा वा पत्र द्वारा ?

उ०—सर्वोत्तम तो यह है कि जो मैं और वे सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करें, तो शीघ्र सत्य वा झूठ का सिद्धान्त हो सकता है। अर्थात् एक महीने तक सब बातों का निर्णय हो सकता है। और दूर-दूर रह कर पत्र द्वारा शास्त्रार्थ करने में ३६ छत्तीस वर्षों में भी पूरा होना कठिन है। परन्तु जिस पक्ष में वे प्रसन्न हों, उसी में मैं भी प्रसन्न हूँ।

प्र०—इस शास्त्रार्थ के होने और न होने का क्या फल होगा ?

उ०—जो अविरोध होने से एक मत होकर धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष से सब को परमानन्द होना, और न होने पर, जो परस्पर विरुद्ध मिथ्या-मत में वर्तमान मनुष्यों के अधर्म, अनर्थ, कुकाम, और बन्ध के न छूटने से, उनके दुःखों का न छूटना फल है।

प्र०—शास्त्रार्थ हुए पर भी हठ से आप वा वे विरुद्ध मत न छोड़ें, तो छुड़ाने का क्या उपाय है ?

उ०—शास्त्रार्थ से पूर्व मैं और वे जिसका पक्ष झूठा हो, उसके छोड़ने और जिसका सत्य हो, उस के स्वीकार करने के लिये प्रतिज्ञा का पक्के कागज पर लेख होकर रजिस्टरी कराकर एक दूसरे को अपने अपने पत्र को देने से सम्भव है कि आप अपना अपना हठ छोड़ देवें। क्योंकि जो न छोड़ेगा, तो राजा अपनी व्यवस्था से हठ को छुड़ा सकता है।

प्र०—जब आप काशी में सब दिन निवास नहीं करते और स्वामी विशुद्धानन्दजी तथा बालशास्त्रीजी वहीं बसते हैं, तो सन्मुख में शास्त्रार्थ कैसे हो सकता है ?

उ०—मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि जब वे सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करना स्वीकार करेंगे और इसको सत्य समझ लूंगा। तब जहाँ हूँगा, वहाँ से चलके काशी में उचित समय पर पहुँचूंगा कि जिसमें उनको परदेश-यात्रा का क्लेश और धनव्यय भी न करना पड़ेगा॥ पुनः वहाँ यथावत् शास्त्रार्थ होकर सत्यासत्य निर्णय

× यह धार्मिक विद्वानों का काम नहीं है कि जिसको शरणागत लेवें, उसे छोड़ कर विश्वासघात कर बैठें ॥

के पश्चात् सब का उपकार भी सिद्ध होगा, क्या यह छोटा लाभ है ?

प्र०—जब आप उनसे शास्त्रार्थ करके अपना मत सिद्ध किया चाहते और वे नहीं किया चाहते हैं, इसका क्या कारण है ?

उ०—विदित होता है कि वे अपने मन में जानते हैं कि शास्त्रार्थ करने से हम अपने मत को सिद्ध न कर सकेंगे, वा सं० १६२६ के शास्त्रार्थ को देख घबराहट होगी कि दूर ही दूर से ढोल बजाना अच्छा है। जो उनका यह निश्चय होता कि हमारा वेदानुसार और स्वामीजी का मत वेदविरुद्ध है, तो शास्त्रार्थ किये बिना कभी नहीं रहते। अथवा जो और कुछ कारण हो, तो शास्त्रार्थ करने में क्यों विलम्ब करते हैं ?

आज से पीछे जो कोई पुराण वा तन्त्र आदि मत वाले मुझ से विरुद्ध पक्ष को लेकर शास्त्रार्थ किया चाहें वा लिख के प्रश्नोत्तर की इच्छा करें, वे स्वामी विशुद्धानन्दजी के और बालशास्त्रीजी के द्वारा ही करें। इसमें अन्यथा जो करेंगे, तो मैं उनका मान्य कभी न करूँगा। हाँ, सन्मुख आके तो वे स्वयं भी पूछ सकते हैं।

इससे स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्रीजी ऐसा न समझें कि हम वेदों में विद्वान् वा सर्वोत्तम पण्डित हैं। और कोई अन्य मनुष्य भी ऐसा निश्चय न कर लेवे कि इनसे अधिक पण्डित आर्यावर्त्त में दूसरा कोई भी नहीं है। हां, ऐसा निश्चय करना ठीक है कि काशी में इस समय आधुनिक ग्रन्थाभ्यास कर्त्ता सन्यासियों में स्वामी विशुद्धानन्दजी और गृहस्थों में बालशास्त्रीजी कुछ विशिष्ट विद्वान् हैं। मैंने तो संवाद में केवल अनवस्था दोष परिहारार्थ इन दोनों को सन्मुख आर्यावर्तीय पण्डितों में माने हैं। अनुमान है कि उनको अन्य भी मनुष्य ऐसे मानते होंगे। इससे अन्य प्रयोजन भी कुछ नहीं।

सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी परमेश्वर कृपा करके स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्रीजी को निर्भय निःशङ्क करे कि जिससे वे मुझ से सन्मुख वा पत्रद्वारा पाषाणादि मूर्त्तिपूजादिखण्डन विषयों में शास्त्रार्थ करने में दृढोत्साहित हों, जैसे कि मैं उनके खण्डन में दृढोत्साहित हूँ।

मुनिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे शुक्रे मासेऽसिते दले।
द्वितीयायाङ् गुरौवारे भ्रमोच्छेदो ह्यलङ् कृतः ॥+

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीनिर्मित आर्यभाषाविभूषितो भ्रमोच्छेदनोऽयं ग्रन्थः पूर्त्तिमगमत् ॥

+ संवत् १६३७ वि० ज्येष्ठ कृष्णा २ गुरुवार के दिन भ्रमोच्छेदन ग्रन्थ समाप्त हुआ।

यहाँ ज्येष्ठ मास का उल्लेख किया है, परन्तु अन्य साक्षियों से ज्ञात होता है कि ज्येष्ठ के स्थान पर आषाढ़ होना चाहिये। इस विषय का उल्लेख इस पुस्तक के आरम्भ में सम्पादकीय में निवेदन में हमने किया है।

— सम्पादक

सुप्रसिद्ध समालोचक श्री पण्डित राजेन्द्र जी आर्य

की नई दो पुस्तकें

भारत में मूर्त्ति पूजा

मूर्त्ति पूजा कब से चली, किसने चलाई, इससे क्या-क्या हानियां हुई और हो रही हैं, इत्यादि मूर्त्तिपूजा से सम्बन्धित प्रत्येक प्रश्न पर इसमें विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है। अपने विषय की यह एकमात्र सर्वाङ्गपूर्ण पुस्तक है। प्रत्येक घर में इसकी एक प्रति अवश्य ही रहनी चाहिये। सजिल्द मू० २) रु०

वैदिक-संस्कृति

वैदिक संस्कृति के तीन प्रतीक हैं—ओ३म्, आर्य और नमस्ते ! इन तीनों प्रतीकों के शास्त्रीय तथा व्यावहारिक अर्थों पर इस पुस्तक में बहुत खोजपूर्ण एवं गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसके मनोयोग पूर्वक अध्ययन करने से भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल रूप पाठक के सामने आ जाता है और उसे विचार विमर्श का एक नया दृष्टिकोण प्राप्त होता है। मू० ॥)

मिलने का पता—गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, देहली।

* ओ३म् *

गोकरुणानिधि

सम्पादक का निवेदन

—:×:—

महर्षि दयानन्द ने जिस प्रकार समाज-सुधार और वेद-प्रचार आदि कार्यों की पूर्ति के लिये आर्य-समाज की स्थापना की थी, उसी प्रकार उन्होंने भारत के आर्थिक विकास, स्वावलम्बन और दृढ़ संगठन के लिये, आर्य समाज से पृथक् 'गोरक्षिणी सभा' की स्थापना की थी। सर्व प्रथम गो रक्षिणी सभा की स्थापना आगरे में की गई थी। महर्षि चाहते थे कि भारत के प्रत्येक ग्राम और नगर में इस प्रकार की सभाओं की स्थापना की जावे। बाद में, महर्षि ने जब 'गोकरुणानिधि पुस्तक की रचना की थी, तब महर्षि ने 'गो रक्षिणी सभा' का नाम बदल कर 'गोकृषि आदि रक्षिणी सभा' कर दिया था। कहना न होगा कि महर्षि ने इस सभा के कार्यक्षेत्र को अधिक व्यापक और प्रभावपूर्ण बनाने के लिये ही ऐसा किया था। कृषि और गौ का जो अभिन्न सम्बन्ध है, महर्षि भला उसकी उपेक्षा कैसे कर सकते थे ?

आगरे से श्री लाला मूलराज जी एम० ए० के नाम अपने १२ जनवरी सन १८८१ ई० के पत्र में महर्षि ने लिखा था :—

"यहाँ एक गो रक्षिणी सभा स्थापन की गई है और इसके नियमोपनियम भी बना दिये गये हैं, जब छपेंगे, तो आप को सूचना के लिये भेज देंगे। आज इसी विषय पर एक और सभा की जायेगी।"

[ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन पृ० २७०]

अपने भाषणों और लेखों में महर्षि गोरक्षा के विषय पर विशेष बल दिया करते थे। वे जब भी उच्चपदस्थ राज्याधिकारियोंसे भेंट करते थे अथवा जब-जब भी उच्चपदस्थ राज्याधिकारी तथा विदेशी सज्जन उनके प्रचार-प्रसंगों में उपस्थित होते थे, तब-तब गोरक्षा के विषय में भी महर्षि अपना कथन अवश्य ही किया करते थे। अभी-अभी कुछ समय पूर्व राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के तत्वावधान में भारतीय जनता के दो करोड़ हस्ताक्षरों से युक्त एक प्रार्थना-पत्र भारत के राष्ट्रपति महामाननीय श्री बाबू राजेन्द्रप्रसादजी की सेवा में गो रक्षण के लिये अर्पित किया गया था। इस प्रकार से करोड़ों हस्ताक्षरों से संयुक्त प्रार्थना पत्र भेजने का शिव-संकल्प सर्व प्रथम महर्षि दयानन्द के मस्तिष्क में ही प्रस्फुरित हुआ था। महर्षि ने गो, भैंस आदि मूक प्राणियों के संरक्षण और संवर्धन के लिये, तब बहुत बड़ा भारी आन्दोलन चलाया था और वायसराय तथा भारत सरकार के पास भारत के तीन करोड़ नागरिकों के हस्ताक्षर करवा के एक प्रार्थना-पत्र भिजवाने के लिये बहुत अधिक पुरुषार्थ किया था। आज तो भारत में यातायात और रेल, डाक, तार आदि की बहुत उत्तम व्यवस्था है; परन्तु महर्षि दयानन्द के समय में यह व्यवस्था ऐसी उत्तम न थी—तब महर्षिने जो-जो कार्य किये थे, उनके महत्व को सहज में ही आंका जा सकता है।

श्री पं० देवेन्द्रनाथ जी मुखोपाध्याय लिखते हैं:—

"महाराज गो रक्षा के परम पक्षपाती थे। उनकी इच्छा थी कि भारत के राजाओं, महाराजाओं, रईसों और प्रजावर्ग के तीन करोड़ हस्ताक्षर कराकर गोवध बंद करने के लिये एक मेमोरियल महाराणी विक्टोरियाकी सेवा में भेजा जाये। महाराणा सज्जन-सिंह तथा महाराजा जोधपुर और महाराजा बूँदीने भी हस्ताक्षर कर दिये थे। कहते हैं कि महाराजा जयपुर

के हस्ताक्षर कराने के लिये महाराणा स्वयं जयपुर गये थे।''

[महर्षि दयानन्द का जीवन-चरित्र पृ० ६७५]

महर्षि दयानन्द का वह प्रार्थना-पत्र, जिस पर उन्होंने करोड़ों भारतवासियों के हस्ताक्षर करवाये थे, इस प्रकार था:—

सही करने का पत्र

ओ३म्

ऐसा कौन मनुष्य जगत् में है, जो सुख के लाभ होने में प्रसन्न और दुःख की प्राप्ति में अप्रसन्न न होता हो। जैसे दूसरे के लिये अपने उपकार में स्वयं आनन्दित होता है, वैसे ही परोपकार करने में सुखी अवश्य होना चाहिये। क्या ऐसा कोई भी विद्वान् भूगोल में था, है, और होगा, जो परोपकार रूप धर्म और परहानि स्वरूप अधर्म्म के सवाय धर्म वा अधर्म की सिद्धि कर सके। धन्य वे महाशय जन हैं, जो अपने तन, मन और धन से संसार का अधिक उपकार सिद्ध करते हैं।

निन्दनीय मनुष्य वे हैं, जो अपनी अज्ञानता से स्वार्थ-वश होकर अपने तन, मन और धन से जगत में परहानि करके बड़े लाभ का नाश करते हैं। सृष्टिक्रम से ठीक-ठीक इसी का निश्चय होता है कि परमेश्वर ने जो-जो वस्तु बनाया है। वह-वह पूर्ण उपकार लेने के लिये है। अल्प लाभ से महाहानि करने के अर्थ नहीं। विश्व में दो ही जीवन के मूल हैं, एक अन्न और दूसरा पान। इसी अभिप्रायः से आर्य्यवर शिरोमणी राजे महाराजे और प्रजाजन महोपकारक गाय आदि पशुओं को न आप मारते थे, और न किसी को मारने देते थे। अब भी इन गाय, बैल और भैंस को मारने और मरवाने देना नहीं चाहते हैं। क्योंकि अन्न और पान की बहुताई इन्हीं से होती है। इससे सब का जीवन सुख से हो सकता है। जितना राजा और प्रजा का बड़ा नुकसान इनके मारने और मरवाने से होता है, उतना अन्य कसी कर्म से नहीं। इसका निर्णय गोकरुणानिधि पुस्तक में अच्छे प्रकार प्रकट कर दिया है। अर्थात् एक गाय के मारने और मरवाने से चार लाख बीस हजार मनुष्यों के सुख की हानि होती है।

इसलिये हम सब लोग स्वप्रजा की हितैषिणी श्रीमती राजराजेश्वरी क्विन् विक्टोरिया की न्याय प्रणाली में, जो यह अन्याय रूप बड़े-उपकारक गाय आदि पशुओं की हत्या होती है, इसको इनके राज्य में से प्रार्थना से छुड़वाके अति प्रसन्न होना चाहते हैं। यह हमको पूरा निश्चय है कि विद्या, धर्म, प्रजा-हित-प्रिय श्रीमती राज राजेश्वरी क्विन् महाराणी विक्टोरिया, पार्लीयामेण्ट सभा, और सर्वोपरि प्रधान आर्य्यवर्त्तस्थ श्रीमान् गवर्नर जनरल साहिब बहादुर सम्प्रति इस बड़ी हानिकारक गाय, बैल तथा भैंस की हत्या को उत्साह और प्रसन्नता पूर्वक शीघ्र बन्द करके, हम सब को परम आनन्दित करें। देखिये कि उक्त गाय आदि पशुओं के मारने और मरवाने से दूध, घी और किसानों की कितनी हानि होकर राजा और प्रजा की बड़ी हानि हो गई और नित्य प्रति अधिक-अधिक होती जाती है। पक्षपात छोड़ के जो कोई देखता है, तो वह परोपकार ही को धर्म्म और परहानि ही को अधर्म्म जानता है। क्या विद्या का यह फल और सिद्धान्त नहीं है कि जिस-जिस से अधिक उपकार हो, उस-उस का पालन, वर्धन करना और नाश कभी न करना। परम दयालु न्यायकारी, सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान् परमात्मा इस समस्त जगदुपकारक काम करने में एक मत करे।''

—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ ३१६ व ३२० से उद्धृत।

अपने, भक्तों, प्रेमियों कार्यकर्ताओं तथा आर्य समाजो के अधिकारियों एवं भारत के अनेकानेक राजाओं व रईशों आदि-आदि के पास महर्षि ने उपरि-उद्धृत पत्र की मुद्रित प्रतियां बहुत अधिक संख्या में भिजवाई थीं। और, इस विषय में अधिक व्यापक रूप में पत्र-व्यवहार भी किया था। महर्षि के पत्रों में गोरक्षा के विषय में स्थान-स्थान पर बहुत महत्त्वपूर्ण और मर्मस्पर्शी उद्गार पाये जाते हैं। बहुत चाहते हुए भी विस्तर-भिया, उन सब उद्गारों को यहां उद्धृत करने में हम असमर्थ हैं।

यहां यह बात भी तुलनात्मक रूप में ध्यान देने और विचार करने की है कि जिस समय महात्मा

कार्लमार्क्स जर्मनी, हालेण्ड, फ्रांस और इंगलेण्ड में रह कर, कृषकों और श्रम जीवियों के अभ्युत्थान के लिये भारी कष्ट सहन और पुरुषार्थ कर रहे थे, ठीक उसी समय भारत में महर्षि दयानन्द भी अपना क्रान्तिकारी सन्देश सुना रहे थे। प्रजातन्त्रवाद की स्थापना कर रहे थे। और, एक तन्त्र राज्य प्रणाली के विरुद्ध जनमत को तैयार कर रहे थे। महर्षि ने 'आर्य शमाज' और 'गो कृष्यादि रक्षिणी सभा' के विधान प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली के अधार पर ही रचे हैं। और, 'सत्यार्थ प्रकाश' में अपने राजनीतिक सिद्धान्तों और मन्तव्य का प्रतिपादन करते हुए, उन्होंने प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्त का ही विधान किया है। वे लिखते हैं:—

"राजा जो सभापति, तदाधीन सभा, सभाधीन राजा-राजा और सभा प्रजा के आधीन, और प्रजा राज सभा के आधीन रहे।"

[सत्यार्थ प्रकाश समुल्लाश—६]

कृषिकों और श्रमजीवियों के वे कैसे शुभचिन्तक और प्रसशंक थे, देखिये:—

"यह बात ठीक है कि राजाओं के राजा किसान आदि परिश्रम करने वाले हैं और राजा उनका रक्षक है।

[सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास—६]

महर्षि की गोकरुणानिधि पुस्तक स्थूल रूप में तीन भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में गो आदि पशुओं के आर्थिक महत्व, कृषि आदि कार्यों में उन की उपयोगिता का वर्णन तथा उनके संरक्षण पर बल दिया गया है। दूसरे भाग में हिंसक और अहिंसक का संवाद है और संवाद के रूप में सब प्रकार के मांसाहार का निषेध किया गया है। तीसरे भाग में गोकृष्यादि रक्षिणी सभा का सम्पूर्ण विधान है।

महर्षि दयानन्द मांस-भक्षण के प्रबल विरोधी थे। वे किसी भी प्रकार के मांस-भक्षण को सहन नहीं करते थे। अपने उपदेशों में मांस भक्षण का वे अत्यन्त जोरदार खण्डन किया करते थे। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' में से मांस-भक्षण-निषेधक कुछ सन्दर्भ यहाँ उद्धृत किये जाते हैं:—

"जितनी क्षुधा हो, उससे कुछ न्यून भोजन करें। मद्य मांसादि के सेवन से अलग रहें।"

[सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास—२]

"ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी मद्य, मांस, गन्ध, माला रस, स्त्री और पुरुष का संग सब खटाई प्राणियों की हिंसा (आदि कर्मों को छोड़ दें।)

[सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास—३]

"मद्य, मांस, मादक द्रव्यों का पीना, दुष्ट पुरुषों का संग प्रतिवियोग, अकेली जहाँ तहाँ व्यर्थ पाखण्डी आदि के दर्शन के मिस से फिरती रहना और पराये घर में जाके शयन करना वा वास, ये छः स्त्री को दूषित करने वाले दुर्गुण हैं।"

[सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास—४]

"अपने आत्मा और परमात्मा में स्थिर, अपेक्षा रहित, मद्य मांसादि वर्जित होकर, आत्मा की सहायता से सुखार्थी होकर इस संसार में धर्म और विद्या के बढ़ाने में उपदेश के लिये विचरता रहे।"

[सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास—५]

"जो लोग मांस भक्षण और मद्यपान करते हैं, उनके शरीर और वीर्य-आदि धातु भी दुर्गन्धादि से दूषित होते हैं।"

[सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास—१०]

"हां इतना अवश्य चाहिये कि मद्य मांसादि का ग्रहण कभी भूल कर भी न करें।"

[सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास—१०]

"हां, मुसलमान, ईसाई आदि मद्य मांसाहारियों के हाथ के खाने में आर्यों को भी मद्यमांसादि खाना पीना अपराध पीछे लग पड़ता है।"

[सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास—१०]

"और मद्य मांसाहारी म्लेच्छ कि जिनका शरीर मद्यमांस के परमाणुओं से ही पूरित है, उनके हाथ का न खावें। जिस में उपकारी प्राणियों की हिंसा अर्थात् जैसे एक गाय के शरीर से दूध, घी, बैल, गाय उत्पन्न होने से एक पीढ़ी में चार लाख पचहत्तर सहस्र छः सौ मनुष्यों को सुख पहुँचता है, वैसे पशुओं को न मारें, न मारने दें।"

[सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास—१०]

प्रश्न—जो सभी अहिंसक हो जायें, तो व्याघ्रादि पशु इतने बढ़ जायें कि सब गाय आदि पशुओं को

मार खायें, तुम्हारा पुरुषार्थ ही व्यर्थ हो जाये।

उत्तर—यह राज पुरुषों का काम है कि जो हानिकारक पशु वा मनुष्य हों, उनको दण्ड देवें और प्राण से भी वियुक्त कर दें।

प्रश्न—फिर क्या उनका मांस फेंक दें ?

उत्तर—चाहे फेंक दें, चाहे कुत्ते आदि मांसाहारियों को खिला देवें, वा जला देवें, अथवा कोई मांसाहारी खावे, तो भी संसार की कुछ हानि नहीं; किन्तु उस मनुष्य का स्वभाव मांसाहारी होकर हिंसक हो सकता है। जितना हिंसा और चोरी विश्वासघात, छल, कपट आदि पदार्थों को प्राप्त होकर भोग करना है, वह अभक्ष्य और अहिंसा धर्मादि कर्मोंसे होकर भोजनादि करना भक्ष्य है।"

[सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास—१०]

"यज्ञ में मांस खाने में दोष नहीं, ऐसी पामरपन की बतें वाममार्गियों ने चलाई हैं। उनसे पूछना चाहिये कि जो वैदिकी हिंसा-हिंसा न हो, तो तुझे और तेरे कुटुम्ब को मार के होम कर डालें, तो क्या चिन्ता है ? मांस भक्षण करने मद्य पीने, परस्त्रीगमन करने आदिमें दोष नहीं है, यह करना छोकड़ापन है। क्योंकि विना प्राणियों के पीड़ा दिये मांस प्राप्त नहीं होता, और विना अपराध के पीड़ा देना, धर्म का काम नहीं।"

[सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास—११

"और जो मांस खाना है, यह भी उन्हीं वाममार्गी टीकाकारों की लीला है। इसलिये उन को राक्षस कहना उचित है। परन्तु वेदों में कहीं मांस का खाना नहीं।"

[सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास—१२]

महर्षि दयानन्द ने गो-कृषि-आदि दक्षिणी सभा के सात नियम निश्चय किये हैं। ध्यान देकर उनका विचार कीजिये। चौथे नियम के अनुसार संसार के किसी भी भाग का निवासी इस सभाका सदस्य बन सकता है। सदस्यता के मार्ग में देश अथवा मत, पन्थ, सम्प्रदाय रंग आदिका कोई भी प्रतिबन्ध नहीं है।

नियम संख्या ६ के अनुसार यह सभा समान उद्देश्यवाली, सब सभाओं, संस्थाओं आदि से पूर्ण, सहयोग लेना और देना स्वीकार करती है।

नियम संख्या सात के अनुसार यह सभा अपनी ध्येयनिष्ठा को सुरक्षित रखने एवं सब प्रकार के अनीतिवर्धक सम्पर्कों से बचकर चलने की सुनीति अपनाती है।

सभा के नियमों और उपनियमों की रचना बहुत सोच विचार पूर्वक की गई है। कोरी भावुकता के वश में होकर व्यवहारिकता की कुछ भी उपेक्षा इसमें नहीं की गई है। प्रश्न होता है, जब ये नियम, उपनियम तथा यह सम्पूर्ण योजना, ऐसी उत्तम है, तो फिर यह 'गोकृष्यादिरक्षिणी सभा' का आन्दोलन फूला फला क्यों नहीं ? मर क्यों गया ? प्रश्न ठीक है। पूर्ण सन्तोष जनक उत्तर मेरे पास नहीं है। तथापि मेरे उत्तर इस प्रकार हैं:—

क—इस आन्दोलन को आरम्भ करने के थोड़े काल पश्चात् ही महर्षि का देहावसान हो गया।

ख—भारत के विदेशी शासक विघ्न डालते रहे।

ग—यह कष्ट साध्य कार्य है, विदेशी शिक्षा दीक्षा ने भारतवासियों को कामचोर तथा कष्टसाध्य कार्यों से परांगमुख कर दिया है।

घ—आर्य समाज के अधिकारियों ने इस उत्तम कार्य की उपेक्षा की है। यह उपेक्षा इस समय भी की जा रही है। कुछ दिन हुए आर्य समाजों, में गोकृष्यादि सभाओं की, स्थापना की चर्चा फिर चली तो है, परन्तु कुछ भी प्रगति हो नहीं रही है। कुछ करने-धरने का कोई उत्साह ही नहीं है। कुछ चन्दा-चटोर लोग गो-माता के नाम पर भीख माँगने वाले, नये पैदा हो गये हैं। पुराने भीखमंगों और नये भीखमंगों में हमें तो कुछ भी भेद दिखाई नहीं देता। भारतीय जनता में गो-माता के प्रति जो अगाध श्रद्धा भक्ति है, चालाक लोग उससे पहले, भी अनुचित लाभ उठाते रहे हैं और अब भी उठा रहे हैं। आवश्यकता है लोग ढोंग को सर्वथा छोड़ दें और ढंग के साथ सब काम करें। गोमाता की रक्षा काम करने से होगी, बातें बनाने तथा लेख लिखने और प्रस्ताव पास करने से नहीं। जो लोग गोरक्षा का

आन्दोलन चलाते हैं, वे यदि मोटरें रख सकते हैं, तो गौवें वे क्यों नहीं रख सकते ?

'गोकरुणानिधि' के अन्त में जो तिथि सूचक श्लोक प्रकाशित होता है, उसका अर्थ इस प्रकार है:—

"संवत् १९३७ वि० फाल्गुन बदी १० गुरुवार के दिन यह ग्रन्थ बनकर सम्पूर्ण हुआ।"

'गोकरुणानिधि के विषय में महर्षि के जीवन चरित्र के यशस्वी लेखक श्री पं० देवेन्द्रनाथ मुख्योपाध्याय लिखते हैं:—

"स्वामी जी ने आगरे में 'गोकरुणानिधि' नामक पुस्तक रची थी। और, वह छपकर आगरेमें ही स्वामी जी के पास आ गई थी। रामरतन नामक पुजारी ने उद्योग करके उसकी ६७) रु० की प्रतियाँ बेची थीं।"

[ऋषि दयानन्द जी का जीवन चरित्र पृ० ६३०]

ता० २८ मई सन् १८८१ तदानुसार मिति ज्येष्ठ सुदी १ संवत् १९३८ वि० को राये बहादुर श्री मूलराज एम० ए० के नाम जयपुर से महर्षि ने अपने एक पत्र में लिखा था:—

"अर्सा तीन महीने के लगभग व्यतीत हुआ कि हमने आगरे के मुकाम से प्रथम ही 'गोकरुणानिधि' की प्रति आप के पास इस अभिप्राय से भेज दी है कि इस का बहुत अच्छा तर्जुमा अंग्रेजी भाषा में कर दीजिये। कि वह जल्दी छप कर अंग्रेज राज पुरुषों वा सामान्यों के अवलोकनार्थ विलायत तक भी भेजा जावे। जिससे इस बड़े धर्म कार्य में फल प्राप्ति होवे। परन्तु मालूम नहीं अब तक उसके तर्जुमे में क्यों विलम्ब हुआ। शायद भूल गये वा कार्य की बहुतायत से यह ढील हुई। ऐसे कार्य में आलस्य वा सुस्ती होना अच्छा नहीं। सो अब शीघ्र उक्त काम को पूर्ण करके भेज दीजिये।"

[ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृ० २९६, २९७]

इसके बाद भी महर्षि ने श्री मूलराज जी के पास पत्र भेजे। बार-बार शीघ्र ही अंग्रेजी अनुवाद करके भेजने को लिखा। अन्त में महर्षि ने बम्बई से अपने वैसाख सुदी ११ शनिवार सम्वत् १९३९ वि० के पत्र में लिखा:—

"बड़े भारी शोक की बात है कि आपने अब तक 'गोकरुणानिधि' की अंग्रेजी नहीं की। हमने यहाँ बम्बई में और लोगों से अंग्रेजी बनवानी पड़ी। अब आप उसमें कुछ मत बनाना।"

[ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृ० ३३४]

पाठक सोचते होंगे कि श्री मूलराज जी ने महर्षि के बारम्बार आदेश देने पर भी अनुवाद कार्य क्यों नहीं किया ? इसका समाधान यह है कि श्री मूलराज जी प्रगट में तो महर्षि दयानन्द के भक्त और अनुयायी थे; परन्तु वे गुप्त रूप में मांस भक्षण किया करते थे। महर्षि के निधन के पश्चात् तो वे प्रकट रूप में मांस खाते थे और मांस भक्षण का प्रचार भी करने लगे थे।

महर्षि दयानन्द ने बम्बई में 'गोकरुणानिधि' का जो अंग्रेजी अनुवाद तैयार कराया था, वह कभी मुद्रित हुआ था वा नहीं, इसका कुछ भी पता नहीं चलता। गोकरुणानिधि का प्रथम संस्करण महर्षि के वैदिक यन्त्रालय में ही, जो कि उस समय प्रयाग में था, मुद्रित हुआ था। और, वह शीघ्र ही समाप्त हो गया था। फिर अप्रैल सन् १८८२ ई० में वैदिक यन्त्रालय प्रयाग से ही, इसका दूसरा संस्करण भी प्रकाशित हुआ था।

'गोकरुणानिधि' एक असाधारण पुस्तक है। नहीं-नहीं, पुस्तक नहीं, भारत के नवनिर्माण और आर्थिक अभ्युत्थान की एक अत्यन्त महत्व पूर्ण योजना है। इस योजना के अनुसार कार्य करने में विदेशी-शासन काल में जो बाधायें थीं, वे अब हट चुकी हैं। स्वतन्त्र-भारत में इस योजना के अनुसार कार्य किया जाये, और, इस कार्यके लिये विशेष उत्साह भारतीय जनता में उत्पन्न किया जाये, यह इस समय की सब से बड़ी माँग है।

'गोकरुणानिधि' के अनेक संस्करण अनेकों स्थानों से प्रकाशित हो चुके हैं। और भारत की सभी मुख्य भाषाओं में इसके अनुवाद भी हो चुके हैं। वैदिक यन्त्रालय अजमेर द्वारा प्रकाशित 'गोकरुणा निधि' पुस्तक हमारे सामने है और वही पुनरपि प्रकाशन-पथ पर अग्रसर हो रही है।

—सम्पादक

ओ३म् नमो नमः सर्वशक्तिमते जगदीश्वराय ॥

भूमिका

इन्द्रो विश्वस्य राजति । शन्नो
अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥

य० अ० ३६ । मं० ८ ॥

तनोतु सर्वेश्वर उत्तमं बलं
गवादिरत्नं विविधं दयेरितः ।
अशेषविघ्नानि निहत्य नः प्रभुः
सहायकारी विदधातु गोहितम् ॥१॥

ये गोसुखं सम्यगुशन्ति धीरा-
स्ते धर्म्मजं सौख्यमथाददन्ते ।
क्रूरा नराः पापरता नयन्ति
प्रज्ञाविहीनाः पशुहिंसकास्तत् ॥२॥

वे धर्मात्मा विद्वान् लोग धन्य हैं, जो ईश्वर के गुण, कर्म्म, स्वभाव, अभिप्राय, सृष्टि-क्रम, प्रत्यक्षादि प्रमाण और आप्तों के आचार से अविरुद्ध चलके सब संसार को सुख पहुँचाते हैं । और शोक है उन पर, जो कि इनसे विरुद्ध स्वार्थी दयाहीन होकर जगत् में हानि करने के लिये वर्तमान हैं । पूजनीय जन वे हैं कि जो अपनी हानि होती हो, तो भी सब के हित के करने में अपना तन, मन, धन लगाते हैं । और तिरस्करणीय वे हैं, जो अपने ही लाभ में सन्तुष्ट रहकर सबके सुखों का नाश करते हैं ।

ऐसा सृष्टि में कौन मनुष्य होगा, जो सुख और दुःखों को स्वयं न मानता हो ? क्या ऐसा कोई भी मनुष्य है कि जिसके गले को काटे, वा रक्षा करे, वह दुःख और सुख का अनुभव न करे ? जब सब को लाभ और सुख ही में प्रसन्नता है, तो विना अपराध किसी प्राणि का प्राणवियोग करके, अपना पोषण करना, यह सत्पुरुषों के सामने निन्दित कर्म क्यों न होवे ? सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर इस सृष्टि में मनुष्यों के आत्माओं में अपनी दया और न्याय को प्रकाशित करे कि जिससे ये सब दया और न्याययुक्त होकर सर्वदा सर्वोपकारक काम करें और स्वार्थपन से पक्षपातयुक्त होकर, कृपापात्र गाय आदि पशुओं का विनाश न करें कि जिससे दुग्ध आदि पदार्थों और खेती आदि क्रियाओं की सिद्धि से युक्त होकर, सब मनुष्य आनन्द में रहें ।

इस ग्रन्थ में जो कुछ अधिक, न्यून वा अयुक्त लेख हुआ हो, उसको बुद्धिमान् लोग इस ग्रन्थ के अनुकूल कर लेवें । धार्मिक विद्वानों की यही योग्यता है कि वक्ता के वचन और ग्रन्थकर्त्ता के अभिप्राय के अनुसार ही समझ लेते हैं । यह ग्रन्थ इसी अभिप्राय से रचा गया है, जिससे गौ आदि पशु, जहां तक सामर्थ्य हो बचाये जावें और उनके बचाने से दूध घी और खेती के बढ़ने से सब को सुख बढ़ता रहे । परमात्मा कृपा करे कि यह अभीष्ट शीघ्र सिद्ध हो ।

इस ग्रन्थ में तीन प्रकरण हैं—एक समीक्षा, दूसरा नियम और तीसरा उपनियम । इन को ध्यान दे, पक्षपात छोड़, विचार के, राजा तथा प्रजा यथावत् उपयोग में लावें, कि जिससे दोनों के लिये सुख बढ़ता ही रहे ।

इति भूमिका ॥

॥ ओ३म् ॥

अथ गोकरुणानिधिः

१—अथ समीक्षा-प्रकरणम्

—-०—-

गोकृष्यादिरक्षिणी सभा

इस सभा का नाम 'गोकृष्यादिरक्षिणी' इसलिये रक्खा है, जिससे गवादि पशु और कृष्यादि कर्म्मों की रक्षा और वृद्धि होकर, सब प्रकार के उत्तम सुख मनुष्यादि प्राणियों को प्राप्त होते हैं। और, इस के विना निम्नलिखित सुख कभी नहीं प्राप्त हो सकते ।

सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर ने इस सृष्टि में जो-जो पदार्थ बनाये हैं, वे निष्प्रयोजन नहीं, किन्तु एक-एक वस्तु अनेक-अनेक प्रयोजन के लिये रची है। इस-लिये उन से वे ही प्रयोजन लेना न्याय अन्यथा अन्याय है। देखिये जिसलिये यह नेत्र बनाया है, इससे वही कार्य्य लेना सब को उचित होता है, न कि इससे पूर्ण प्रयोजन न लेकर बीच ही में यह नष्ट कर दिया जावे। क्या जिन-जिन प्रयोजनों के लिये परमात्मा ने जो-जो पदार्थ बनाये हैं, उन-उन से वे वे प्रयोजन न लेकर, उनको प्रथम ही विनष्ट कर देना, सत्पुरुषों के विचार में बुरा कर्म नहीं है ? पक्षपात छोड़ कर देखिये, गाय आदि पशु और कृषि आदि कर्मों से सब संसार को असंख्य सुख होते हैं या नहीं ? जैसे दो और दो चार, वैसे ही सत्यविद्या से जो-जो विषय जाने जाते हैं, वे अन्यथा कभी नहीं हो सकते ।

जो एक गाय न्यून से न्यून दो सेर दूध देती हो, और दूसरी बीस सेर, तो प्रत्येक गाय के ग्यारह सेर दूध होने में कोई शंका नहीं। इस हिसाब से एक मास में ८।ऽ सवा आठ मन दूध होता है। एक गाय कम से कम ६ महीने, और दूसरी अधिक से अधिक १८ महीने तक दूध देती है, तो दोनों का मध्यभाग प्रत्येक गाय के दूध देने में बारह महीने होते हैं। इस हिसाब से बारह महीनों का दूध ९९ऽ निन्नानवे मन होता है। इतने दूध को औटा कर प्रति सेर में छटांक चावल और ड़ेढ़ छटांक चीनी डालकर खीर बना खावें, तो प्रत्येक पुरुष के लिये दो सेर दूध की खीर पुष्कल होती है। क्योंकि यह भी एक मध्यभाग की गिनती है। अर्थात् कोई २ सेर दूध की खीर से अधिक खागया और कोई न्यून। इस हिसाब से एक प्रसूता गाय के दूध से १९८० एक हजार नवसौ अस्सी मनुष्य एक वार तृप्त होते हैं। गाय न्यून से न्यून ८ और अधिक से अधिक १८ वार व्याती है। इसका मध्य-भाग तेरह वार आया, तो २५७४० पच्चीस हजार सातसौ चालीस मनुष्य एक गाय के जन्म भर के दूधमात्र से एक वार तृप्त हो सकते हैं।

इस गाय के एक पीढ़ी में छः बछियां और सात बछड़े हुए। इनमें से एक की मृत्यु रोगादि से होना सम्भव है। तो भी बारह रहे। उन छः बछियाओं के दूधमात्र से उक्त प्रकार १५४४४० एक लाख चौवन हजार चारसौ चालीस मनुष्यों का पालन हो सकता है।

अब रहे छः बैल, उन में एक जोड़ी से दोनों साख में २००ऽ दो सौ मन अन्न उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार तीन जोड़ी ६००ऽ छः सौ मन अन्न उत्पन्न कर सकती हैं। और, उनके कार्य का मध्यभाग आठ वर्ष है। इस हिसाब से ४८००ऽ चार हजार आठसौ मन अन्न उत्पन्न करने की शक्ति एक जन्म में तीनों जोड़ी की। ४८००ऽ इतने अन्न से प्रत्येक मनुष्य का तीन पाव अन्न भोजन में गिनें, तो २५६०००, दो लाख छप्पन हजार मनुष्यों का एक

वार भोजन होता है। दूध और अन्न को मिलाकर देखने से निश्चय है कि ४१०४४० चार लाख दस हजार चारसौ चालीस मनुष्यों का पालन एक वार के भोजन से होता है।

अब छः गाय की पीढ़ी परपीढ़ियों का हिसाब लगाकर देखा जावे, तो असंख्य मनुष्यों का पालन हो सकता है। और, इसके मांस से अनुमान है कि केवल अस्सी मांसहारी मनुष्य एक वार तृप्त हो सकते हैं। देखो, तुच्छ लाभ के लिये लाखों प्राणियों को मार असंख्य मनुष्यों की हानि करना महापाप क्यों नहीं?

यद्यपि गाय के दूध से भैंस का दूध कुछ अधिक और बैलों से भैंसा कुछ न्यून लाभ पहुँचाता है, तथापि जितना गाय के दूध और बैलों के उपयोग से मनुष्यों को सुखों का लाभ होता है, उतना भैंसियों के दूध और भैंसों से नहीं। क्योंकि जितने आरोग्यकारक और बुद्धिवर्द्धक आदि गुण गाय के दूध और बैलों में होते हैं, उतने भैंस के दूध और भैंसे आदि में नहीं हो सकते। इसलिये आर्यों ने गाय सर्वोत्तम मानी है।

और ऊंटनी का दूध गाय और भैंस के दूध से भी अधिक होता है, तो भी इन का दूध गाय के सदृश नहीं। ऊंट और ऊंटनी के गुण भार उठाकर शीघ्र पहुँचाने के लिये प्रशंसनीय हैं।

अब एक बकरी कम से कम एक और अधिक से अधिक ऽ५ सेर दूध देती है। इसका मध्यभाग प्रत्येक बकरी से तीन सेर दूध होता है और न्यून से न्यून तीन महीने और अधिक से अधिक पांच महीने तक दूध देती है, तो प्रत्येक बकरी के दूध देने में मध्यभाग चार महीने हुए। वह एक मास में २।ऽ सवा दो मन और चार मास में ६ऽ नव मन होता है। पूर्वोक्त प्रकारानुसार इस दूध से १८० एक सौ अस्सी मनुष्यों की तृप्ति होती है। और एक बकरी एक वर्ष में दो वार व्याती है। इस हिसाब से एक वर्ष में एक बकरी के दूध के एक वार भोजन से ३६० तीनसौ साठ मनुष्यों की तृप्ति होती है। कोई बकरी न्यून से न्यून चार वर्ष और कोई अधिक से अधिक ८ आठ वर्ष तक व्याती है। इसका मध्यभाग छः वर्ष हुआ, तो जन्म भर के दूध से २१६० दो हजार एक सौ साठ मनुष्यों का एक वार के भोजन से पालन होता है।

अब उसके बच्चा बच्ची मध्यभाग से २४ चौबीस हुए। क्योंकि कोई न्यून से न्यून और कोई अधिक से अधिक तीन बच्चों से व्याती है। उनमें से दो का अल्पमृत्यु समझो, रहे २२ बाईस, इनमें से १२ बकरियों के दूध से २५६२० पच्चीस हजार नवसौ बीस मनुष्यों का एक दिन पालन होता है। उसकी पीढ़ी परपीढ़ी के हिसाब लगाने से असंख्य मनुष्यों का पालन हो सकता है। और बकरे भी बोझ उठाने आदि प्रयोजनों में आते हैं। और, बकरी और भेड़ भेडी के ऊन वस्त्रों से मनुष्यों को बड़े-बड़े सुख लाभ होते हैं। यद्यपि भेड़ी का दूध बकरी के दूध से कुछ कम होता है, तथापि बकरी के दूध से उसके दूध में बल और घृत अधिक होता है। इसी प्रकार अन्य दूध देने वाले पशुओं के दूध से भी अनेक प्रकार के सुख लाभ होते हैं।

जैसे ऊंट ऊंटनी से लाभ होते हैं, वैसे ही घोड़े घोड़ी और हाथी आदि से अधिक कार्य सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार सुअर, कुत्ता, मुर्गा, मुर्गी और मोर आदि पक्षियों से भी अनेक उपकार होते हैं। जो पुरुष हरिण और सिंह आदि पशु और मोर आदि पक्षियों से भी उपकार लेना चाहें, तो ले सकते हैं। परन्तु सब का पालन उत्तरोत्तर समयानुकूल होवेगा। वर्तमान में परमोपकारक गो की रक्षा में मुख्य तात्पर्य है। दो ही प्रकार से मनुष्य आदि की प्राणरक्षा, जीवन, सुख, विद्या, बल और पुरुषार्थ आदि की वृद्धि होती है—एक अन्न, दूसरा आच्छादन। इनमें से प्रथम में विना मनुष्यादि का सर्वथा प्रलय और दूसरे के विना अनेक प्रकार की पीड़ा होती है।

देखिये, जो पशु निःसार घास तृण पत्ते फल फूल आदि खावें और सार दूध आदि अमृतरूपी रत्न देवें, हल गाड़ी में चल के अनेकविध अन्न आदि उत्पन्न कर, सबके बुद्धि बल पराक्रम को बढ़ा के नीरोगता करें, पुत्र पुत्री और मित्र आदि के समान पुरुषों के साथ विश्वास और प्रेम करें, जहां बांधें वहां बंधे रहें, जिधर चलावें उधर चलें, जहाँ से हटावें

वहां से हट जावें, देखने और बुलाने पर समीप चले आवें, जब कभी व्याघ्रादि पशु वा मारने वाले को देखें, अपनी रक्षा के लिये पालन करने वाले के समीप दौड़ कर आवें कि यह हमारी रक्षा करेगा। जिनके मरे पर चमड़ा भी कंटक आदि से रक्षा करे, जंगल में चर के अपने बच्चे और स्वामी के लिये दूध देने को नियत स्थान पर नियत समय चले आवें, अपने स्वामी की रक्षा कर, तन मन लगावें, जिनका सर्वस्व राजा और प्रजा आदि मनुष्यों के सुख के लिये है, इत्यादि शुभगुणयुक्त सुखकारक पशुओं के गले छुरों से काट कर जो अपना पेट भर सब संसार की हानि करते हैं, क्या संसार में उनसे भी अधिक कोई विश्वासघाती, अनुपकारी, दुःख देने वाले और पापीजन होंगे?

इसीलिये यजुर्वेद के प्रथम ही मन्त्र में परमात्मा की आज्ञा है कि—

अघ्न्याः यजमानस्य पशून् पाहि।

हे पुरुष! तू इन पशुओं को कभी मत मार, और यजमान अर्थात् सब के सुख देने वाले जनों के सम्बन्धी पशुओं की रक्षा कर, जिनसे तेरी भी पूरी रक्षा होवे। और इसीलिये ब्रह्मा से लेके आज पर्यन्त आर्य लोग पशुओं की हिंसा में पाप और अधर्म समझते थे, और अब भी समझते हैं। और, इन की रक्षा में अन्न भी महंगा नहीं होता। क्योंकि दूध आदि के अधिक होने से दरिद्री को भी खान पान में मिलने पर न्यून ही अन्न खाया जाता है, और अन्न के कम खाने से मल भी कम होता है। मल के न्यून होने से दुर्गन्ध भी न्यून होता है। दुर्गन्ध के स्वल्प होने से वायु और वृष्टिजल की शुद्धि भी विशेष होती है। उससे रोगों की न्यूनता होने से सबको सुख बढ़ता है।

इनसे यह ठीक है कि गो आदि पशुओं के नाश होने से राजा और प्रजा का भी नाश हो जाता है। क्योंकि जब पशु न्यून होते हैं, तब दूध आदि पदार्थ और खेती आदि कार्यों की भी घटती होती है। देखो, इसी से जितने मूल्य से जितना दूध और घी आदि पदार्थ तथा बैल आदि पशु ७०० सातसौ वर्ष के पूर्व मिलते थे, उतना दूध घी और बैल आदि पशु इस समय दशगुणे मूल्य से भी नहीं मिल सकते। क्योंकि ७०० सातसौ वर्ष के पीछे इस देश में गवादि पशुओं को मारने वाले मांसाहारी विदेशी मनुष्य बहुत आ बसे हैं। वे उन सर्वोपकारी पशुओं के हाड़ मांस तक भी नहीं छोड़ते,

नष्टे मूले नैव पत्रं न पुष्पम्।

जब कारण का नाश करदे, तो कार्य नष्ट क्यों न हो जावे? हे मांसाहारियो! तुम लोग जब कुछ काल के पश्चात् पशु न मिलेंगे, तब मनुष्यों का मांस भी छोडोगे वा नहीं? हे परमेश्वर! तू क्यों इन पशुओं पर, जो कि बिना अपराध मारे जाते हैं, दया नहीं करता? क्या उन पर तेरी प्रीति नहीं है? क्या इनके लिये तेरी न्याय-सभा बन्द होगई है? क्यों उनकी पीड़ा छुड़ाने पर ध्यान नहीं देता, और उनकी पुकार नहीं सुनता। क्यों इन मांसाहारियों के आत्माओं में दया प्रकाश कर निष्ठुरता, कठोरता, स्वार्थपन और मूर्खता आदि दोषों को दूर नहीं करता? जिससे ये इन बुरे कामों से बचें।

अथ समीक्षायां हिंसक-रक्षक-संवादः

हिंसक—ईश्वर ने सब पशु आदि सृष्टि मनुष्य के लिये रची है, और मनुष्य अपनी भक्ति के लिये। इसलिये मांस खाने में दोष नहीं हो सकता।

रक्षक—भाई! सुनो, तुम्हारे शरीर को जिस ईश्वर ने बनाया है, क्या उसी ने पशु आदि के शरीर नहीं बनाये हैं? जो तुम कहो कि पशु आदि हमारे खाने को बनाये हैं, तो हम कह सकते हैं कि हिंसक पशुओं के लिये तुमको उसने रचा है। क्योंकि जैसे तुम्हारा चित्त उनके मांस पर चलता है, वैसे ही सिंह, गृध्र आदि का चित्त भी तुम्हारे मांस खाने पर चलता है, तो उन के लिये तुम क्यों नहीं?

हिं०—देखो, ईश्वर ने पुरुषों के दांत कैसे पैने मांसाहारी पशुओं के समान बनाये हैं। इससे हम जानते हैं कि मनुष्यों को मांस खाना उचित है।

र०—जिन व्याघ्रादि पशुओं के दांत के दृष्टान्त से अपना पक्ष सिद्ध किया चाहते हो, क्या तुम भी उनके तुल्य ही हो? देखो, तुम्हारी मनुष्य जाति

उनकी पशु जाति, तुम्हारे दो पग और उनके चार, तुम विद्या पढ़ कर सत्यासत्य का विवेक कर सकते हो, वे नहीं। और यह तुम्हारा दृष्टान्त भी युक्त नहीं, क्योंकि जो दांत का दृष्टान्त लेते हो, तो बन्दर के दांतों का दृष्टान्त क्यों नहीं लेते ? देखो बन्दरों के दांत सिंह और बिल्ली आदि के समान हैं और वे मांस नहीं खाते। मनुष्य और बन्दर की आकृति भी बहुतसी मिलती है। जैसे मनुष्यों के हाथ पग और नख आदि होते हैं, वैसे ही बन्दरों के भी हैं। इसलिये परमेश्वर ने मनुष्यों को दृष्टान्त से उपदेश किया है कि जैसे बन्दर मांस कभी नहीं खाते और फलादि खाकर निर्वाह करते हैं, वैसे तुम भी किया करो। जैसा बन्दरों का दृष्टान्त सांगोपांग मनुष्यों के साथ घटता है, वैसा अन्य किसी का नहीं। इसलिये मनुष्यों को अति उचित है कि मांस खाना सर्वथा छोड़ देवें।

हिं०—देखो, जो मांसहारी पशु और मनुष्य हैं, वे बलवान् और जो मांस नहीं खाते हैं, वे निर्बल होते हैं, इससे मांस खाना चाहिये।

र०—क्यों अल्प समझ की बातें मानकर कुछ भी विचार नहीं करते। देखो, सिंह मांस खाता और सुअर वा अरणा भैंसा मांस कभी नहीं खाता। परन्तु जो सिंह बहुत मनुष्यों के समुदाय में गिरे, तो एक या दो को मारता और एक दो गोली या तलवार के प्रहार से मर भी जाता है। और, जब जङ्गली सुअर वा अरणा भैंसा, जिस प्राणिसमुदाय में गिरता है, तब उन अनेक सवारों और मनुष्यों को मारता और अनेक गोली बरछी तथा तलवार आदि के प्रहार से भी शीघ्र नहीं गिरता। और, सिंह उससे डरके अलग सटक जाता है। और, यह सिंह से नहीं डरता।

और, जो प्रत्यक्ष दृष्टान्त देखना चाहो, तो एक मांसाहारी का एक दूध घी और अन्नाहारी मथुरा के मल्ल चौबे से बाहुयुद्ध हो, तो अनुमान है कि चौबा मांसाहारी को पटक उसकी छाती पर चढ़ ही बैठेगा। पुनः परीक्षा होगी कि किस-किस के खाने से बल न्यून और अधिक होता है। भला, तनिक विचार करो कि छिलकों के खाने से अधिक बल होता है अथवा रस और जो सार है, उसके खाने से ? मांस छिलके के समान और दूध घी सार रस के तुल्य है। इसको जो युक्तिपूर्वक खावे, तो मांस से अधिक गुण और बलकारी होता है। फिर मांस का खाना व्यर्थ और हानिकारक, अन्याय, अधर्म और दुष्ट कर्म क्यों नहीं ?

हिं०—जिस देश में सिवाय मांस के अन्य कुछ नहीं मिलता, वहां वा आपत्काल में अथवा रोग-निवृत्ति के लिये, मांस खाने में दोष नहीं होता।

र०—यह आपका कहना व्यर्थ है। क्योंकि जहां मनुष्य रहते हैं, वहां पृथिवी अवश्य होती है। जहां पृथिवी है, वहां खेती वा फल फूल आदि होते हैं। और, जहां कुछ भी नहीं होता, वहां मनुष्य भी नहीं रह सकते। और जहां ऊसर भूमि है, मिष्ट जल और फलाहारादि के न होने से मनुष्यों का रहना भी दुर्घट है। आपत्काल में भी अन्य उपायों से निर्वाह कर सकते हैं। जैसे मांस के न खानेवाले करते हैं। और, बिना मांस के रोगों का निवारण भी औषधियों से यथावत् होता है। इसलिये मांस खाना अच्छा नहीं।

हिं०—जो कोई भी मांस न खावे, तो पशु इतने बढ़ जायें कि पृथिवी पर भी न समावें। और, इसी लिये ईश्वर ने उनकी उत्पत्ति भी अधिक की है, तो मांस क्यों न खाना चाहिये ?

र०—वाह ! वाह ! यह बुद्धि का विपर्यास आपको मांसाहार से ही हुआ होगा। देखो, मनुष्य का मांस कोई नहीं खाता, पुनः क्यों न बढ़ गये। और, इनकी अधिक उत्पत्ति इसलिये है कि एक मनुष्य के पालन व्यवहार में अनेक पशुओं की अपेक्षा है। इसलिये ईश्वर ने उनको अधिक उत्पन्न किया है।

हिं०—ये जितने उत्तर किये, वे सब व्यवहार-सम्बन्धी हैं, परन्तु पशुओं को मार के मांस खाने में अधर्म तो नहीं होता, और जो होता है, तो तुम को होता होगा, क्योंकि तुम्हारे मत में निषेध है। इस-लिये तुम मत खाओ। और, हम खावें, क्योंकि हमारे मत में मांस खाना अधर्म नहीं है।

र०—हम तुम से पूछते हैं कि धर्म और अधर्म व्यवहार ही में होते हैं, वा अन्यत्र ? तुम कभी सिद्ध न कर सकोगे कि व्यवहार से भिन्न धर्माधर्म होते

हैं। जिस-जिस व्यवहार से दूसरों की हानि हो, वह वह 'अधर्म', और जिस-जिस व्यवहार से उपकार हो, वह-वह 'धर्म' कहाता है। तो लाखों के सुख लाभकारक पशुओंका नाश करना, अधर्म और उनकी रक्षा से लाखों को सुख पहुँचाना, धर्म क्यों नहीं मानते? देखो, चोरी, जारी आदि कर्म इसलिये अधर्म हैं कि इनसे दूसरे की हानि होती है। नहीं तो जो-जो प्रयोजन धनादि से उनके स्वामी सिद्ध करते हैं, वे ही प्रयोजन उन चोरादि के भी सिद्ध होते हैं। इसलिये यह निश्चित है कि जो-जो जगत् में हानिकारक हैं, वे वे 'अधर्म' और जो-जो परोपकारक हैं, वे-वे 'धर्म' कहाते हैं।

जब एक आदमी की हानि करने से चोरी आदि कर्म पाप में गिनते हो, तो गवादि पशुओं को मार के बहुतों की हानि करना महापाप क्यों नहीं? देखो, मांसाहारी मनुष्यों में दया आदि उत्तम गुण होते ही नहीं। किन्तु वे स्वार्थवश होकर दूसरे की हानि करके, अपना प्रयोजन सिद्ध करने ही में सदा रहते हैं। जब मांसाहारी किसी पुष्ट पशु को देखता है, तभी उसकी इच्छा होती है कि इसमें मांस अधिक है, मारकर खाऊं, तो अच्छा हो। और जब मांस का न खानेवाला उसको देखता है, तो प्रसन्न होता है कि यह पशु आनन्द में है। जैसे सिंह आदि मांसाहारी पशु किसी का उपकार तो नहीं करते, किन्तु अपने स्वार्थ के लिये दूसरे के प्राण भी ले मांस खाकर अति प्रसन्न होते हैं, वैसे ही मांसाहारी मनुष्य भी होते हैं। इस लिये मांस का खाना किसी मनुष्य को उचित नहीं।

हिं०—अच्छा, जो यही बात है, तो जब तक पशु काम में आवें, तब तक उनका मांस खाना चाहिये, बूढ़े हो जावें वा मर जावें, तब खाने में कुछ भी दोष नहीं।

र०—जैसे दोष उपकार करनेवाले माता पिता आदि के वृद्धावस्था में मारने और उनके मांस खाने में हैं, वैसे उन पशुओं की सेवा न कर, मार के मांस खाने में है। और जो मरे पश्चात् उनका मांस खावे, तो उसका स्वभाव मांसाहारी होने से अवश्य हिंसक होके हिंसारूपी पापसे कभी न बच सकेगा। इसलिये किसी अवस्था में मांस न खाना चाहिये।

हिं०—जिन पशुओं और पक्षियों अर्थात् जङ्गल में रहनेवालों से उपकार किसी का नहीं होता और हानि होती है, उनका मांस खाना वा नहीं?

र०—न खाना चाहिये। क्योंकि वे भी उपकार में आ सकते हैं। देखो, १०० सौ भङ्गी जितनी शुद्धि करते हैं, उनसे अधिक एक सुअर वा मुर्गा अथवा मोर आदि पक्षी सर्प आदि की निवृत्ति करने से पवित्रता और अनेक उपकार करते हैं। और, जैसे मनुष्यों का खान पान, दूसरे के खाने पीने से उनका जितना अनुपकार होता है, वैसे जङ्गली मांसाहारी का अन्न जङ्गली पशु और पक्षी हैं। और जो विद्या वा विचार से सिंह आदि वनस्थ पशु और, पक्षियों से उपकार लेवें, तो अनेक प्रकार का लाभ उनसे भी हो सकता है। इस कारण मांसाहार का सर्वथा निषेध होना चाहिये।

भला, जिनके दूध आदि खाने पीने में आते हैं, वे माता पिता के समान माननीय क्यों न होने चाहियें? ईश्वर की सृष्टि से भी विदित होता है कि मनुष्यों से पशु और पक्षी आदि अधिक रहने से कल्याण है। क्योंकि ईश्वर ने पशुओं के खाने पीने के पदार्थ घास, वृक्ष, फूल, फलादि अधिक रचे हैं। और, वे विना जोते बोये सींचे पृथिवी पर स्वयं उत्पन्न होते हैं। और, वहाँ वृष्टि भी करता है। इसलिये समझ लीजिये कि ईश्वर का अभिप्राय उनके मारने में नहीं, किन्तु रक्षा करने में है।

हिं०—जो मनुष्य पशु को मारके माँस खावें, उन को पाप होता है, और जो बिकता माँस मूल्य से ले वा भैरव, चामुण्डा, दुर्गा, जखैया, वाममार्ग अथवा यज्ञ आदि की रीति से चढ़ा समर्पण कर खावें, तो उनको पाप नहीं होना चाहिये, क्योंकि वे विधि करके खाते हैं।

र०—जो कोई माँस न खावे, न उपदेश और न अनुमति आदि देवे, तो पशु आदि कभी न मारे जावें। क्योंकि इस व्यवहार में बहकावट लाभ और बिक्री न हो, तो प्राणियों का मारना बन्द हो जावे। इसमें प्रमाण भी है:—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥
मनु० अ० ५ ।

अर्थ—अनुमति=मारने की सलाह देने, माँस के काटने, पशु आदि के मारने, उनको मारने के लिये लेने और बेचने, माँस के पकाने, परसने और खाने वाले ८ मनुष्य घातक, हिंसक अर्थात् ये सब पापकारी हैं।

और भैरव आदि के निमित्त से भी माँस खाना, मारना वा मरवाना, महापाप कर्म है। इसलिये दयालु परमेश्वर ने वेदों में माँस खाने वा पशु आदि के मारने की विधि नहीं लिखी।

(मद्यपान निषेध)

मद्य भी माँस खाने का ही कारण है, इसीलिये यहाँ संक्षेप से लिखते हैं :—

प्रमत्त—कहो जी ! माँस तो छूटा सो छूटा, परन्तु मद्य पीने में तो कोई दोष नहीं ?

शान्त—मद्य पीने में भी वैसे ही दोष हैं, जैसे कि माँस खाने में। मनुष्य मद्य पीने से नशे के कारण नष्टबुद्धि हो कर अकर्तव्य कर लेता और कर्तव्य को छोड़ देता है। न्याय का अन्याय और अन्याय का न्याय आदि विपरीत कर्म करता है। और, मद्य की उत्पत्ति विकृत पदार्थों से होती है। और, वह माँसाहारी अवश्य हो जाता है। इसलिये इसके पीने से आत्मा में विकार उत्पन्न होते हैं। और, जो मद्य पीता है, वह विद्यादि शुभ गुणों से रहित होकर, उन दोषों में फंस कर, अपने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष फलों को छोड़ पशुवत् आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि कर्मों में प्रवृत्त होकर, अपने मनुष्य जन्म को व्यर्थ कर देता है। इसलिये नशा अर्थात् मदकारक द्रव्यों का सेवन भी न करना चाहिये।

जैसा मद्य है वैसे भाँग आदि पदार्थ भी मादक हैं। इसलिये इनका भी सेवन कभी न करे। क्योंकि ये भी बुद्धि का नाश करके प्रमाद, आलस्य और हिंसा आदि में मनुष्य को लगा देते हैं। इसीलिये मद्यपान के समान इनका भी सर्वथा निषेध ही है।

इससे हे धार्मिक सज्जन लोगो ! आप इन पशुओं की रक्षा तन, मन और धन से क्यों नहीं करते ? हाय !! बड़े शोक की बात है कि जब हिंसक लोग गाय, बकरे आदि पशु और मोर आदि पक्षियों को मारने के लिये ले जाते हैं, तब वे अनाथ तुम हमको देखके राजा और प्रजा पर बड़े शोक प्रकाशित करते हैं—कि देखो ! हमको बिना अपराध बुरे हाल से मारते हैं। और, हम रक्षा करने तथा मारने वालों को भी दूध आदि अमृत पदार्थ देने के लिये उपस्थित रहना चाहते हैं, और मारे जाना नहीं चाहते। देखो, हम लोगों का सर्वस्व परोपकार के लिये है। और हम इसीलिये पुकारते हैं कि हमको आप लोग बचावें। हम तुम्हारी भाषा में अपना दुःख नहीं समझा सकते। और, आप लोग हमारी भाषा नहीं जानते। नहीं तो क्या हममें से किसी को कोई मारता, तो हम भी आप लोगों के सदृश अपने मारने वालों को न्याय व्यवस्था से फाँसी पर न चढ़वा देते ? हम इस समय अतीव कष्ट में हैं, क्योंकि कोई भी हमको बचाने में उद्यत नहीं होता। और, जो कोई होता है तो उससे मांसाहारी द्वेष करते हैं।

अस्तु, स्वार्थ के लिये द्वेष करो तो करो, क्योंकि 'स्वार्थी दोषं न पश्यति' जो स्वार्थ साधने में तत्पर है, वह अपने दोषों पर ध्यान नहीं देता, किन्तु दूसरों को हानि हो तो हो, मुझको सुख होना चाहिये, परन्तु जो उपकारी हैं, वे इनके बचाने में अत्यन्त पुरुषार्थ करें, जैसा कि आर्य लोग सृष्टि के आरम्भ से आज तक वेदोक्त रीति से प्रशंसनीय कर्म करते आये हैं। वैसे ही सब भूगोलस्थ सज्जन मनुष्यों को करना उचित है।

धन्य है आर्यावर्त देशवासी आर्य लोगों को कि जिन्होंने ईश्वर के सृष्टिक्रम के अनुसार परोपकार ही में अपना तन, मन, धन लगाया और लगाते हैं। इसीलिये आर्यावर्तीय राजा, महाराजा प्रधान और धनाढ्य लोग आधी पृथिवी में जङ्गल रखते थे कि जिससे पशु और पक्षियों की रक्षा होकर, औषधियों के सार दूध आदि पवित्र पदार्थ उत्पन्न हों। जिनके खाने पीने से आरोग्य, बुद्धि-बल, पराक्रम आदि सद्गुण बढ़ें।

२—इस सभा के नियम

१—सब विश्व को विविध सुख पहुँचाना, इस सभा का मुख्य उद्देश्य है। किसी की हानि करना प्रयोजन नहीं।

२—जो-जो पदार्थ सृष्टिक्रमानुकूल जिस जिस प्रकार से अधिक उपकार में आवे, उस-उस से आप्ताभिप्रायानुसार, यथायोग्य, सर्वहित सिद्ध करना इस सभा का परम पुरुषार्थ है।

३—जिस कर्म से बहुत हानि और थोड़ा लाभ हो, उस-उस को सभा कर्त्तव्य नहीं समझती।

४—जो मनुष्य इस परम हितकारी कार्य में, तन, मन, धन से प्रयत्न और सहायता करे, वह-वह इस सभा में प्रतिष्ठा के योग्य होवे।

५—जो कि यह कार्य सर्वहितकारी है, इसलिये यह सभा भूगोलस्थ मनुष्य जाति से सहायता की पूरी आशा रखती है।

६—जो-जो सभा देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में परोपकार ही करना अभीष्ट रखती है, वह-वह इस सभा की सहायकारिणी समझी जाती है।

७—जो-जो जन राजनीति वा प्रजा के अभीष्ट से विरुद्ध, स्वार्थी, क्रोधी और अविद्यादि दोषों से प्रमत्त होकर, राजा और प्रजा के लिये अनिष्ट कर्म करे, वह-वह इस सभा का संम्बन्धी न समझा जावे।

३—उपनियम

नाम

१—इस सभा का नाम "गोकृष्यादिरक्षिणी" है।

उद्देश्य

२—इस सभा के उद्देश्य वही हैं, जो कि इसके नियमों में वर्णन किये गये हैं।

३—जो लोग इस सभा में नाम लिखाना चाहें

और इसके उद्देश्यानुकूल आचरण करना चाहें,* वे इस सभा में प्रविष्ट हो सकते हैं, परन्तु उनकी आयु १८ वर्ष से न्यून न हो। जो लोग इस सभा में प्रविष्ट हों, वे 'गोरक्षक सभासद्' कहलावेंगे।

४—जिन का नाम इस सभा में सदाचार से एक वर्ष रहा हो, और वे अपने आय का शतांश वा अधिक मासिक वा वार्षिक इस सभा को दें, वे 'गोरक्षकसभासद' हो सकते हैं। और सम्मति देने का अधिकार केवल गोरक्षकसभासदों ही को होगा।

(अ) गोरक्षकसभासद् बनने के लिये गोकृष्यादिरक्षिणी सभा में वर्ष भर नाम रहने का नियम किसी व्यक्ति के लिये अन्तरङ्गसभा शिथिल भी कर सकती है। इस सभा में वर्ष भर रह कर गोरक्षकसभासद् बनने का नियम गोकृष्यादिरक्षिणी सभा के दूसरे वर्ष से काम आवेगा।

(ब) राजा, सरदार, बड़े-बड़े साहूकार आदि को इस सभा के सभासद् बनने के लिये शतांश ही देना आवश्यक नहीं, वे एक बार वा मासिक वा वार्षिक अपने उत्साह वा सामर्थ्यानुसार दे सकते हैं।

(ज) अन्तरङ्गसभा किसी विशेष हेतु से चन्दा न देने वाले पुरुष को भी, गोरक्षकसभासद् बना सकती है।

(द) नीचे लिखी हुई विशेष दशाओं में उन सभासदों की भी, जो गोरक्षकसभासद् नहीं बने सम्मति ली जा सकती है—

---

* इस सभा में नाम लिखाने के लिये मन्त्री के पास इस प्रकार का पत्र भेजना चाहिये कि—'मैं प्रसन्नतापूर्वक इस सभा के उद्देशानुकूल, जो कि नियमों में वर्णन किये हैं, आचरण स्वीकार करता हूँ। मेरा नाम इस सभा में लिख लीजिये।' परन्तु अन्ततरङ्ग सभा को अधिकार रहेगा कि किसी विशेष हेतु से उनका नाम इस सभा में लिखना स्वीकार न करे।

(१) जब नियमों में न्यूनाधिक शोधन करने हों।

(२) जब विशेष अवस्था में अन्तरङ्गसभा उनकी सम्मति लेनी योग्य और आवश्यक समझे।

(३) जो इस सभा के उद्देश्य के विरुद्ध कर्म्म करेगा, वह न तो गोरक्षक और न गोरक्षकसभासद् गिना जावेगा।

(४) गोरक्षकसभासद् दो प्रकार के होंगे–एक साधारण और दूसरे माननीय। माननीय गोरक्षकसभासद् वे होंगे, जो शतांश वा १०) मासिक वा इससे अधिक देवें, अथवा एक बार २५०) रुपया दें, वा जिनको अन्तरङ्गसभा विद्या आदि श्रेष्ठ गुणों से माननीय समझे।

५—यह सभा दो प्रकार की होगी—एक साधारण, दूसरी अन्तरङ्ग।

६—साधारणसभा तीन प्रकार की होगी—१ मासिक, २ पाण्मासिक और ३ नैमित्तिक।

७—मासिकसभा—प्रतिमास एक बार हुआ करेगी, उसमें महीने भर का आयव्यय और सभा के कार्यकर्त्ताओं की क्रियाओं का वर्णन किया जावे, जो कि कथन योग्य हो।

८—पाण्मासिक सभा—कार्तिक और वैशाख के अन्त में हुआ करे, उस में आप्तोक्त विचार, मासिक सभा का कार्य, प्रत्येक प्रकार का आयव्यय समझना और समझाना होवे।

९—नैमित्तिक सभा—जब कभी मंत्री, प्रधान और अन्तरङ्गसभा आवश्यक कार्य जाने, उसी समय यह सभा हो और उस में विशेष कार्यों का प्रबन्ध होवे।

१०-अन्तरंगसभा—सभा के समस्त कार्यप्रबन्ध के लिये एक अन्तरङ्गसभा नियत की जावे, और इसमें तीन प्रकार के सभासद् हों—एक प्रतिनिधि, दूसरे प्रतिष्ठित और तीसरे अधिकारी।

११-प्रतिनिधि सभासद् अपने-अपने समुदायों के प्रतिनिधि होंगे और उन्हें उनके समुदाय नियत करेंगे। कोई समुदाय जब चाहे अपने प्रतिनिधि को बदल सक्ता है। प्रतिनिधि सभासदों के विशेष कार्य ये होंगे:—

(अ) अपने-अपने समुदायों की सम्मति से अपने को विज्ञ रखना।

(ब) अपने-अपने समुदायों को अन्तरङ्गसभा के कार्य, जो कि प्रकट करने योग्य हों, बतलाना।

(ज) अपने-अपने समुदायों से चन्दा इकट्ठा करके कोषाध्यक्ष को देना।

१२-प्रतिष्ठित सभासद् विशेष गुणों के कारण प्रायः वार्षिक नैमित्तिक और साधारण सभा में नियत किये जावें। प्रतिष्ठित सभासद् अन्तरङ्गसभा में एक तिहाई से अधिक न हों।

१३-प्रति वैशाख की सभा में अन्तरङ्गसभा के प्रतिष्ठित अधिकारी वार्षिक साधारण सभा में फिर से नियत किये जावें, और कोई पुराना प्रतिष्ठित और अधिकारी पुनर्वार नियुक्त हो सकता है।

१४-जब वर्ष के पहिले किसी प्रतिष्ठित सभासद् और अधिकारी का स्थान रिक्त हो, तो अन्तरङ्गसभा आप ही उसके स्थान पर किसी और योग्य पुरुष को नियत कर सकती है।

१५-अन्तरङ्गसभा कार्य के प्रबन्ध निमित्त उचित व्यवस्था बना सकती है, परन्तु वह नियमों और उपनियमों से विरुद्ध न हो।

१६-अन्तरङ्गसभा किसी विशेष कार्यों के कराने और सोचने के लिये अपने में से सभासदों और विशेष गुण रखने वाले सभासदों को मिलाकर उपसभा नियत कर सकती है।

१७-अन्तरङ्गसभा का कोई सभासद् मन्त्री को एक सप्ताह के पहिले विज्ञापन दे सकता है कि कोई विषय सभा में निवेदन किया जावे, और वह विषय प्रधान की आज्ञानुसार निवेदन किया

जावे। परन्तु जिस विषय के निवेदन करने में अन्तरङ्गसभा के पाँच सभासद् सम्मति दें, वह अवश्य निवेदन करना ही पड़ेगा।

१८–दो सप्ताह के पीछे अन्तरङ्गसभा अवश्य हुआ करे। और, मंत्री और प्रधान की आज्ञा से वा जब अन्तरङ्गसभा के पांच सभासद् मन्त्री को पत्र लिखें, तो भी हो सकती है।

१९–अधिकारी छः प्रकार के होंगे—१ प्रधान, २ उपप्रधान, ३ मन्त्री, ४ उपमंत्री, ५ कोषाध्यक्ष, ६ पुस्तकाध्यक्ष।

मन्त्री, कोषाध्यक्ष, पुस्तकाध्यक्ष इनके अधिकारों पर आवश्यकता होने से एक से अधिक भी नियत हो सकते हैं। और जब किसी अधिकार पर एक से अधिक भी नियत हों, तो अन्तरङ्गसभा उन्हें कार्य बांट देवे।

२०–प्रधान—प्रधान के निम्नलिखित अधिकार और काम होवें:—

१–प्रधान अन्तरंगसभा आदि सब सभाओं का सभापति समझा जावे।

२–सदा सभा के सब कार्यों के यथावत् प्रबन्ध और सर्वथा उन्नति और रक्षा में तत्पर रहे। सभा के प्रत्येक कार्य्य को देखे कि वे नियमानुसार किये जाते हैं वा नहीं, और स्वयं नियमानुसार चले।

३–यदि कोई विषय कठिन और आवश्यक प्रतीत हो, तो उसका यथोचित प्रबन्ध तत्काल करे, और उसकी हानि में वही उत्तर देवे।

४–प्रधान अपने प्रधानत्व के कारण सब उपसभाओं का, जिन्हें अन्तरंगसभा संस्थापन करे, सभासद् हो सकता है।

२१–उपप्रधान—इस के ये कार्य्य कर्त्तव्य हैं:—

प्रधान की अनुपस्थिति में उसका प्रतिनिधि होवे। यदि दो वा अधिक उपप्रधान हों, तो सभा की सम्मति के अनुसार उनमें से कोई एक प्रतिनिधि किया जावे, परन्तु सभा के सब कार्य्यों में प्रधान को सहायता देनी उसका मुख्य कार्य है।

२२–मन्त्री—मन्त्री के निम्नलिखित अधिकार और कार्य हैं:—

१–अन्तरंगसभा की आज्ञानुसार सभा की ओर से सब के साथ पत्र-व्यवहार रखना।

२–सभाओं का वृत्तान्त लिखना और दूसरी सभा होने से पहले ही पूर्व वृत्तान्त पुस्तक में लिखना वा लिखवाना।

३–मासिक अन्तरंगसभाओं में उन गोरक्षकों वा गोरक्षक-सभासदों के नाम सुनाना, जो कि पिछली मासिकसभा के पीछे सभा में प्रविष्ट वा उससे पृथक् हुए हों।

४–सामान्य प्रकार से भृत्यों के कार्य पर दृष्टि रखना, और सभा के नियम, उपनियम और व्यवस्थाओं के पालन पर ध्यान रखना।

५–इस बात का भी ध्यान रखना कि प्रत्येक गोरक्षक-सभासद् किसी न किसी समुदाय में हों, और इसका भी प्रत्येक समुदाय ने अपनी ओर से अन्तरङ्गसभा में प्रतिनिधि किया होवे।

६–पहिले विज्ञापन दिये पर मान्यपुरुषों को सत्कारपूर्वक बिठाना।

७–प्रत्येक सभा में नियत काल पर आना और बराबर ठहरना।

२३–कोषाध्यक्ष—कोषाध्यक्ष के नीचे लिखे अधिकार और कार्य हैं:—

१–सभा के सब आय धन का लेना, उसकी रसीद देना और उसको यथोचित रखना।

२–किसी को अन्तरङ्गसभा की आज्ञा के बिना रुपया न देना, किन्तु मन्त्री और प्रधान को भी उस प्रमाण से देवे, जितना अन्तरङ्ग-

सभा ने उनके लिये नियत किया हो, अधिक न देना। और, उस धन के उचित व्यय के लिये वही अधिकारी, जिसके द्वारा वह व्यय हुआ हो, उत्तरदाता होवे।

३—सब धन के व्यय का रीतिपूर्वक बहीखाता रखना, और प्रतिमास अन्तरङ्गसभा में हिसाब को बहीखाते समेत परताल और स्वीकार के लिये निवेदन करना।

२४—पुस्तकाध्यक्ष—पुस्तकाध्यक्ष के अधिकार और कार्य ये होवें:—

१—जो पुस्तकालय में सभा की स्थिर और विक्रय की पुस्तक हों, उन सबों की रक्षा करे, पुस्तकालय सम्बन्धी हिसाब भी रक्खे और पुस्तकों के लेने देने का कार्य भी करे।

मिश्रित नियम

२५ सब गोरक्षक-सभासदों की सम्मति निम्नलिखित दशाओं में ली जावे:—

१—अन्तरङ्गसभा का यह निश्चय हो कि किसी साधारणसभा के सिद्धान्त पर निश्चय न करना चाहिये, किन्तु गोरक्षक-सभासदों की सम्मति जाननी चाहिये।

२—सब गोरक्षक सभासदों का पांचवां वा अधिक अंश इस निमित्त मन्त्री के पास पत्र लिख भेजे।

३—जब बहुत से व्ययसम्बन्धी वा प्रबन्धसंबन्धी नियम अथवा व्यवस्थासम्बन्धी कोई मुख्य विचार आदि करना हो। अथवा जब अन्तरङ्गसभा सब गोरक्षक सभासदों की सम्मति जाननी चाहे।

२६—जब किसी सभा में थोड़े से समय के लिये कोई अधिकारी उपस्थित न हो, तो उस समय के लिये किसी योग्यपुरुष को अन्तरङ्गसभा नियत कर सकती है।

२७—यदि किसी अधिकारी के स्थान पर वार्षिक साधारण सभा में कोई पुरुष नियत न किया जावे, तो जब तक उस के स्थान पर नियत न किया जाय, वही अधिकारी अपना काम करता रहे।

२८—सब सभा और उपसभाओं का वृत्तान्त लिखा जाया करे, और उसको सब गोरक्षकसभासद् देख सकते हैं।

२९—सब सभा और उपसभाओं का कार्य तब आरम्भ हो, जब न्यून से न्यून एक तिहाई सभासद् उपस्थित हों।

३०—सब सभाओं और उपसभाओं के सारे काम बहुपक्षानुसार निश्चित हों

३१—आय का दशांश समुदाय में रक्खा जावे

३२—सब गोरक्षक-सभासदों को इस सभा की उपयोगी वेदादि विद्या जाननी और जनानी चाहिये।

३३—सब गोरक्षक और गोरक्षक-सभासदों को उचित है कि लाभ और आनन्द-समय में सभा की उन्नति के लिये उदारता और पूर्ण प्रेमदृष्टि रक्खें।

३४—सब गोरक्षक और गोरक्षक सभासदों को उचित है कि शोक और दुःख के समय में परस्पर सहायता करें, और आनन्दोत्सव में निमंत्रण पर सहायक हों, छोटाई बड़ाई न गिनें।

३५—कोई गोरक्षक भाई किसी हेतु से अनाथ वा किसी की स्त्री विधवा अथवा सन्तान अनाथ हो जावे, अर्थात् उनका जीवन न हो सकता हो, और यदि गोकृष्यादिरक्षिणी सभा उनको निश्चित जान ले, तो यह सभा उनकी रक्षा में यथाशक्ति यथोचित प्रबन्ध करे।

३६—यदि गोरक्षक-सभासदों में किन्हीं का परस्पर झगड़ा हो, तो उनको उचित है कि वे आपस में समझ लेवें, वा गोरक्षक-सभासदों की न्याय उपसभा द्वारा उसका न्याय करालें। परन्तु अशक्यावस्था में राजनिति द्वारा भी न्याय करा लेवें।

३७—इस गोकृष्यादिरक्षिणी सभा के व्यवहार में जितना-जितना लाभ हो, वह-वह सर्वहितकारी

काम में लगाया जावे। और जो कोई इस गोकृष्यादि की रक्षा के लिये जो धन है, उसको चोरी से अपहरण करेगा, वह गोहत्या के पाप लगने से इस लोक और परलोक में महादुःखभागी अवश्य होगा।

३८—संप्रति इस सभा के धन का व्यय गवादि पशु लेने, उनका पालन करने, जङ्गल और घास के क्रय करने, उसकी रक्षा के लिये भृत्य वा अधिकारी रखने, तालाव, कूप, बावली अथवा बाड़ा के लिये व्यय किया जावे। पुनः अत्युन्नत होने पर सर्वहित कार्य में भी व्यय किया जावे।

३६—सब सज्जनों को उचित है कि इस गोरक्षक धन आदि समुदाय पर स्वार्थ दृष्टि से हानि करना कभी मन में भी न विचारें, किन्तु यथाशक्ति व्यवहार की उन्नति में तन मन, धन से सदा ही परम प्रयत्न किया करें।

४०—इस सभा के सब सभासदों को यह बात अवश्य जाननी चाहिये की जब गवादि पशु रक्षित होके बहुत बढ़ेंगे, तब कृषि आदि कर्म और दुग्ध घृत आदि की वृद्धि होकर, सब मनुष्यादि को विविध सुख लाभ अवश्य होगा। इसके विना सब का हित सिद्ध होना संभव नहीं।

४१—देखिये, पूर्वोक्त रीत्यनुसार एक गौ की रक्षा से लाखों मनुष्यादि को लाभ पहुँचता, और जिसके मारने से उतने ही की हानि होती है, ऐसे निकृष्ट कर्म के करने को आप्त विद्वान् कभी अच्छा न समझेगा।

४२—इस सभा के जो पशु प्रसूत होंगे, उन-उन का दूध एक मास तक उसके बछड़े को पिलाना और अधिक उसी पशु को अन्न के साथ खिला देना चाहिये। और, दूसरे मास में तीन स्थनों का दूध बछड़े को देना और एक भाग लेना चाहिये, तीसरे मास के आरम्भ से आधा दुह लेना और आधा बछड़े को तब तक दिया करें कि जब तक गौ दूध देवे।

४३—सब सभासदों को उचित है कि जब-जब किसी को स्वरक्षित पशु देवे, तब-तब न्याय-नियमपूर्वक व्यवस्थापत्र ले और देकर, जब पशु असमर्थ हो जाय, उसके काम का न रहे और उसके पालन करने में सामर्थ्य न हो, तो अन्य किसी को न दे सके, किन्तु पुनरपि सभा के आधीन करे।

४४—इस सभा की अंतरंग सभा को उचित है, किन्तु अत्यावश्यक है कि उक्त प्रकार से अप्राप्त पशुओं की प्राप्ति, प्राप्तों की रक्षा, रक्षितों की वृद्धि और बढ़े हुए पशुओं से नियमानुसार और सृष्टिक्रमानुसार उपकार लेना, अपने अधिकार में सदा रखना, अन्य किसी को इसमें स्वाधीनता कभी न देवे।

४५—जो कि यह बहुत उपकारी कार्य है, इसलिये इसका करने वाला इस लोक और परलोक में स्वर्ग अर्थात् पूर्ण सुखों को अवश्य प्राप्त होता है।

४६—कोई भी मनुष्य इस सभा के पूर्वोक्त उद्देश्यों के लिये विना सुखों की सिद्धि नहीं कर सकता।

४७—क्या ऐसा कोई भी मनुष्य सृष्टि में होगा कि जो अपने सुख दुःखवत् दूसरे प्राणियों का सुख दुःख अपने आत्मा में न समझता हो।

४८—यह नियम और उपनियम उचित समय पर वा प्रतिवर्ष में यथोचित विज्ञापन देने पर, शोधे वा घटाये बढ़ाये जा सकते हैं।

ओ३म् सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥ ओं शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः॥

धनुःपरा दयापूर्वा यस्यानन्दाद्विराजते।
आख्यायां निर्मितस्तेन ग्रंथो गोकरुणानिधिः॥१॥
मुनिरामांकचन्द्रेऽब्दे तपस्यासिते दले।
दशम्यां गुरुवारेऽलंकृतोऽयं कामधेनुपः॥२॥+

इति गोकरुणानिधिः

+ सम्वत् १६३७ वि० फाल्गुन बदि १० गुरुवार के दिन यह गोकरुणानिधि ग्रंथ पूर्ण हुआ। —सम्पादक

* ओ३म् *

आर्य समाज के नियम और उपनियम

सम्पादक का निवेदन

—:o:—

बहुत खोज और विचार करके हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि महर्षि दयानन्द ने सर्वप्रथम आर्य समाज की स्थापना बम्बई में नहीं, अपितु राजकोट में की थी। महर्षि के राजकोट में प्रचार आदि का विवरण लिखते हुए, श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय कृत "महर्षि दयानन्द का जीवन-चरित्र" पृष्ठ ३१८ व ३१९ में लिखा है:—

"स्वामी जी ने यह प्रस्ताव किया कि राजकोट में आर्य समाज स्थापित किया जाय और प्रार्थना समाज को ही आर्य समाज में परिणत कर दिया जाये। प्रार्थना समाज के सभी लोग इस प्रस्ताव से सहमत हो गये। वेद के निर्भ्रान्त होने पर किसी ने आपत्ति नहीं की। स्वामी जी के दीप्तिमय शरीर और तेजस्विनी वाणी का लोगों पर अयस्कान्त (चुम्बक) जैसा प्रभाव पड़ता था। वह सबको नतमस्तक कर देता था। आर्य समाज स्थापित हो गया। मणिशंकर जटाशंकर और उनकी अनुपस्थिति में उत्तमराम निर्भयराम प्रधान का कार्य करने के लिये और गोविन्ददास द्वारिकादास और नगीनदास ब्रजभूषणदास मन्त्री का कर्त्तव्य पालन करने के लिये नियत हुए।"

आगे पृष्ठ ३१९ पर ही लिखते हैं:—

"स्वामी जी ने आर्य समाज के नियम बनाये, जो मुद्रित कर लिये गये। इनकी तीन सौ प्रतियाँ तो स्वामी जी ने अहमदाबाद और बम्बई में वितरण करने के लिये स्वयं रखलीं और शेष प्रतियां राजकोट और अन्य स्थानों में बांटने के लिये रखली गईं, जो राजकोट में बांट दी गईं। उस समय स्वामी जी की यह सम्मति थी कि प्रधान आर्य समाज अहमदाबाद और बम्बई में रहें। आर्य समाज के साप्ताहिक अधिवेशन प्रति आदित्यवार को होने निश्चित हुए।"

पृष्ठ ३२० पर फिर लिखते हैं:—

"राजकोट का आर्य समाज ही वास्तव में भारत वर्ष का सब से पहला आर्य समाज था। आर्यसमाज राजकोट का काम ५—६ मास तक चलता रहा; परन्तु फिर एक अप्रत्याशित कारण से उस का कार्य बन्द हो गया। वह विश्रृंखला यह थी कि उस समय बड़ौदा के महाराजा मल्हाराव गायकवाड़ की राज्यच्युति पर घोर आन्दोलन हो रहा था। धनी, दरिद्र, पण्डित, मूर्ख सभी का चित्त उस समय आलोडित हो रहा था। और हर जगह उसीका चर्चा था।"

इसी ग्रंथ में आगे पृष्ठ ३२० तथा ३२१ पर अंग्रेजों के उस दमन-चक्र का विवरण प्रकाशित किया गया है, जिसका आर्य समाज राजकोट के पदाधिकारियों को सामना करना पड़ा था और जिसके कारण उस समय आर्य समाज राजकोट बन्द हो गया था।

पृष्ठ ३२१ पर ही लिखते हैं:—

"राजकोट में स्वामी जी का फोटो लिया गया था। और, आर्यसमाज के सदस्यों ने कड़े चाव से उसकी प्रतियां ली थीं"

धर्मवीर श्री पण्डित लेखराम जी आर्य मुसाफिर ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'जीवन-चरित्र महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती' में पृष्ठ २३२ से २३४ तक विस्तार पूर्वक राजकोट के प्रचारादि का वृत्तान्त लिखा है। और यह भी लिखा है कि स्वामी जी राजकोट में २५ दिन तक रहे थे। परन्तु आर्य समाज की स्थापना तथा नियम आदि बनाने का उसमें कुछ भी

उल्लेख नहीं है। इससे यही समझना चाहिये कि राजकोट में प्रथम आर्य समाज की स्थापना का वृत्तान्त श्री पंडित लेखराम जी को ज्ञात न हो सका था।

गुजरात और काठियावाड़ के राजकोट आदि नगरों में प्रचार आदि के लिये जाने से पहले बम्बई में महर्षि के प्रचारादि का वर्णन करते हुए श्री पंडित लेखराम जी अपने ग्रन्थ के पृष्ठ २३१ पर लिखते हैं:—

"स्वामी जी के चले जाने पर फिर इस उत्तम धर्म कार्य यानी सत्योपदेश को चलाना मुश्किल होगा, इस कारण एक आर्य समाज कायम हो जाना चाहिये। इस किस्म का ख्याल कई एक धर्म जिज्ञासु गृहस्थ लोगों को हुआ।"

"इस ख्याल को सुनकर स्वामी जी को यहां बुलाने के लिये, जिन्होंने ज्यादा हिस्सा लिया था, वह लोग नाराज़ हो गये। क्योंकि उन लोगों का हेतु यह था कि स्वामी जी के द्वारा किसी खास मत [वल्लभमत] का खण्डन करा के, उसके बहुत से अनुयाइयों को अपनी तरफ करके, स्वामी जी के बाद, उन लोगों को अपना शिष्य बना के, उन्हें कथा श्रवण करने के लिये आने का उपदेश करना। (ये पौराणिक पंडित लोग नवीन वेदान्ति थे।) दूसरे वैसे ही जो लोग वेद को नहीं मानते थे और स्वामी के सहायक थे, यानी ब्रह्म समाजी व प्रार्थना समाजी, वे लोग भी इस बात से खुश नहीं हुए। क्योंकि उन लोगों को यह निश्चय था कि स्वामी जी को चाहने वालों में से बहुत-सा हिस्सा हमारी समाज में शामिल होगा।"

आगे लिखते हैं:—

"इस तरह जब बाज़-बाज़ धर्म जिज्ञासुओं को इन दोनों का यह दिली मनशा मालूम हुआ कि ये लोग ऊपर से सत्यशोधक (तालिबाने हक) और अन्दर से सख्त खुदगर्ज हैं, तब उनको आर्य समाज स्थापन करने की ख़ाहिश बहुत बढ़ गई। और आखिरकार समाज कायम करने पर वह आमादा हो गये। जिसका नतीजा यह हुआ कि सम्वत् १९३१ वि० के मग्घर वदी एकम से सात, मुताबिक २४ से ३० नवम्बर सन् १८७४ ई० तक में कई एक पुरुषों ने उक्त महापण्डित [महर्षि दयानन्द] को समझा के उनके सामने साठ साहिबों ने दस्तख़त करके आर्य समाज चलाने का निश्चय किया और स्वामी जी ने हिन्दी भाषा में उसके नियम भी रच दिये और उसमें वकृतन फवकतन [समय-समय पर] धर्म उपदेश करना अपने ज़िम्मे लिया। मगर उनमें से कई एक साहिबान पर बरादरी की तरफ से ख़ारजी [बाह्य] तौर पर दबाव डाले गये और कई एक साहिबों ने अपनी अमीरी के कसरेशान समझा और चन्द साहिबों के दोस्तों और रिश्तेदारों में झगड़े होने लगे और अन्त को इस महापण्डित [महर्षि] पर लोग नाना प्रकार के कपोल कल्पित झूठे दोष भी लगाने लगे कि वह ईसाई हैं। अंग्रेजों का नौकर है। म्लेच्छ है। वगैरा कि जिस से महाराज जी से उनकी श्रद्धा उठ जाये।"

राजकोट आदि स्थानों की यात्रा से लौटकर २६ जनवरी सन् १९७५ ई० तदानुसार माघ बदी अष्टमी सम्वत् १९३१ वि० को महर्षि दूसरी बार बम्बई पधारे थे। महर्षि के बम्बई में पुनरागमन का वर्णन करते हुए श्री पण्डित लेखराम जी अपने उक्त ग्रन्थ में पृष्ठ २३४ पर लिखते हैं :—

"स्वामी जी के गुजरात की तरफ तशरीफ ले जाने से आर्य समाज की कायमी का ख्याल जो बम्बई वालों के दिल में पैदा हुआ था, वह फिर ढीला हो गया था। वह अब स्वामी जी के दोबारा आने से फिर बढ़ने लगा। और आखिरकार यहां तक बढ़ा कि चन्द साहिबों ने दृढ़ संकल्प कर लिया कि खाह कुछ ही हो बगैर [आर्य समाज] कायम किये हम न रहेंगे। स्वामी जी के वापिस आते ही बमाह फरवरी सन् १८७५ ई० में गिरगाम् महोल्ले में एक पब्लिक जलसा करके स्वर्गवासी राव बहादुर दादूबा पाण्डुरंग जी की प्रधानता में नियमों पर विचार करने के लिये एक सब कमेटी मुकर्रर की। लेकिन उस कमेटी में भी कई एक लोगों ने अपना यह ख्याल जाहिर किया कि अभी समाज स्थापन न होना चाहिये। ऐसा अन्तरंग

विचार होने से वह प्रयत्न भी वैसा ही रहा। और आखिर जब कई एक भद्रपुरुषों को ऐसा मालूम हुआ कि अब समाज स्थापन होता ही नहीं, तब चन्द धर्मात्माओं ने मिलकर राजमान्य राज्येश्वरी पानाचन्द आनन्द जी पारीख को नियम मुकर्रर करदा पर विचारने और दुरुस्त करने का काम सपुर्द कर दिया। जब नियम-दुरुस्तकरदा स्वामी जी ने मंजूर कर लिये बाद अजां चन्द भद्रपुरुष जो आर्य समाज कायम करना और नियमों को बहुत पसन्द करते थे, लोकभय (खौफ दुनियाँ) की परवा न करके धर्म के मैदान में आगे हुए और चैत्रशुदी पंचमी शनिवार सम्वत् १९३२ मुताबिक १० अप्रैल सन् १८७५ ई० व २ रबीउलावल सन् १२९२ हिजरी व सम्वत् १७९७ सालवाहन व सन् १२८३ फसली व माह खुरदाद सन् १२८४ फारसी व चैत २९ संक्रान्त सम्वत् १९३२ को शाम के वक्त महोल्ला गिरगाम में, डाक्टर मानिक चन्द जी के बागीचे में, मिस्टर गिरधर लाल दयालदास कोठारी बी० ए०, एल० एल० बी० की प्रधानता में एक पब्लिक जलसा किया गया। जिसमें ये नियम सुनाये गये और सर्व सम्मति से प्रमाण हुए। और, उसी रोज से आर्य समाज स्थापन हुई।"

श्री पंडित लेखराम जी के इस लेख के आधार पर ही लोक में यह विचार दृढ़ और बद्धमूल हुआ है कि सर्व प्रथम आर्य समाज की स्थापना बम्बई में ही हुई थी। बम्बई में आर्य समाज की स्थापना का दिन ही आर्य-पर्व-पद्धति के अनुसार प्रति वर्ष आर्य समाज स्थापना दिवस के रूप में मनाया जाता है। क्योंकि जिस समय आर्य-पर्व-पद्धति की रचना हुई थी, तब तक राज-कोट में प्रथम आर्य समाज की स्थापना का वृत्तान्त प्रकाश में ही नहीं आया था।

बम्बई में आर्य समाज की स्थापना के समय आर्य समाज के जो नियम निश्चित हुए थे, वे संख्या में अट्ठाईस थे। उन नियमों में नियम और उपनियम मिले जुले हैं। श्री पण्डित लेखराम जी के ग्रन्थ में वे नियम पृष्ठ २३५ से २३७ तक छपे हैं और श्री पं० देवेन्द्रनाथ जी के ग्रन्थ 'महर्षि दयानन्द का जीवन-चरित्र में पृष्ठ २३२ से २३४ तक में मुद्रित हुए हैं।

यद्यपि महर्षि ने लाहौर में पुनरपि विचार करके बम्बई वाले अट्ठाईस नियमों के स्थान पर नये नियम और उपनियम, आर्य पुरुषों के परामर्श से बनाकर प्रचलित कराये थे, तथापि पहिले नियम आज भी इस योग्य हैं कि आर्य-संसार उनको अपने सामने रखे। और, उनकी पूर्ति का पूर्ण प्रयास करे। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि इन नियमों की रचना तो महर्षि दयानन्द ने ही की थी; परन्तु इन की प्रवर्तना अनेक विज्ञ पुरुषों के विचार विमर्श और परिष्कार के पश्चात् ही सम्भव हो सकी थी। बम्बई के नियमों को हम महर्षि सम्मत ही कह सकते हैं, उन की स्वतन्त्र रचना नहीं। श्री पं० देवेन्द्रनाथ जी कृत ग्रन्थ से हम उन अट्ठाईस नियमों को यहां उद्धृत करते हैं:—

१—आर्य समाज का सब मनुष्यों के हितार्थ होना आवश्यक है।

२—इस समाज में मुख्य स्वतः प्रमाण वेदों का ही माना जायेगा। साक्षी के लिये वेदों के ज्ञान के लिये तथा आर्य इतिहास के लिये शत॰ पथादि चार ब्राह्मण छः वेदांग, चार उपवेद, छः दर्शन, ग्यारह सौ सत्ताईस वेदों की शाखा वेद व्याख्यान आर्ष सनातन संस्कृत ग्रन्थों का भी वेदानुकूल होने से गौण प्रमाण माना जायेगा।

३—इस समाज में प्रतिदेश के मध्य एक प्रधान समाज होगा और अन्य समाज शाखा प्रशाखा होंगे।

४—अन्य सब समाजों की व्यवस्था प्रधान समाज के अनुकूल रहेगी।

५—प्रधान समाज में वेदोक्तानुकूल संस्कृत और आर्य भाषा में नाना प्रकार के सदुपदेश के पुस्तक होंगे और आर्य-प्रकाश पत्र यथानुकूल आठ-आठ दिन में निकलेगा। यह सब समाजों में प्रवृत्त किये जायेंगे।

६—हर एक समाज में प्रधान पुरुष और दूसरा मन्त्री तथा अन्य पुरुष और स्त्री सभासद होंगे।

७—प्रधान पुरुष इस समाज की यथावत व्यवस्था पालन करेगा और मन्त्री सबके पत्रों का उत्तर तथा

सब के नाम व्यवस्था लेख करेगा।

८—इस समाज में सत्यपुरुष, सत्यनीति सत्याचरणी हितकारक समाजस्थ लिये जायेंगे।

९—जो गृहस्थ गृहकृत्य से अवकाश प्राप्त हो, सो जैसा घरके कामों में पुरुषार्थ करता है, उससे अधिक पुरुषार्थ इस समाज की उन्नति के लिये करे और विरक्त तो नित्य ही इस समाज की उन्नति करे, अन्यथा नहीं।

१०-हर आठवें दिन प्रधान मन्त्री और सभासद् समाज-स्थान में इकट्ठे हों और सब कामों में इस काम को मुख्य जानें।

११-इकट्ठे होकर सर्वथा स्थिर चित्त हों, परस्पर प्रीति से पक्षपात, छोड़कर प्रश्नोत्तर करें, फिर सामवेदादि गान, परमेश्वर, सत्य-धर्म, सत्य-नीति, तथा सत्योपदेश के सम्बन्ध में बाजा आदि के साथ हो। और इसी विषय पर मन्त्रों का अर्थ और व्याख्यान और फिर गान हो, इत्यादि।

१२-हर एक सभासद् न्यायपूर्वक पुरुषार्थ से जितना धन प्राप्त करे, उसमें से आर्य समाज, आर्य विद्यालय और आर्य-प्रकाश, पत्र के प्रचार और उन्नति के लिये, आर्य समाज के धन कोष में एक प्रतिशत प्रीति पूर्वक देये से अधिक धर्मफल। इस धन का इन ही विषयों में व्यय होवे, और जगह नहीं।

१३-जो मनुष्य इन कार्यों की उन्नति और प्रचार के लिये, जितना प्रयत्न करे, उसका उत्साह के लिये यथायोग्य सत्कार होना चाहिये।

१४-इस समाज में वेदोक्त प्रकार से हर एक स्तुति प्रार्थना और उपासना अद्वितीय परमेश्वर की ही करने में आयेगी। अर्थात् निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, दयालु, सर्वजगत्पिता, सर्वजगन्माता, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सच्चिदानन्द आदि लक्षण युक्त, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, अनन्तसुखप्रद, धर्मार्थकाममोक्षप्रद, इत्यादि विशेषणों से परमात्मा की ही स्तुति, उसका कीर्त्तन, प्रार्थना, उससे सर्वश्रेष्ठ कार्यों में सहाय चाहना, उपासना उसके आनन्द स्वरूप में मग्न हो जाना। सो पूर्वोक्त निराकारादि लक्षण वाले की ही भक्ति करनी, उसके सिवाय और की कभी नहीं करनी।

१५-इस समाज में निषेकादि अन्त्येष्टि पर्य्यन्त संस्कार वेदोक्त किये जायेंगे।

१६-आर्य विद्यालय में वेदादि सनातन आर्य-ग्रन्थों का पठन-पाठन कराया जायेगा और वेदोक्त रीति से ही सत्यशिक्षा सब पुरुष और स्त्री के सुधार की होगी।

१७-इस समाज में स्वदेश के हितार्थ दो प्रकार की शुद्धि के लिये प्रयत्न किया जायेगा। एक परमार्थ दूसरी लोक व्यवहार। इन दोनों का शोधन और शुद्धता की उन्नति तथा सब संसार के हित की उन्नति की जायेगी।

१८-इस समाज में न्याय वही माना जायेगा, जो पक्षपात रहित अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परीक्षित, सत्य-धर्म वेदोक्त होगा। इससे विपरीत को यथाशक्ति न माना जायेगा।

१९-इस समाज की ओर से श्रेष्ठ विद्वान् सर्वत्र सदुपदेश करने के लिये समयानुकूल भेजे जायेंगे।

२०-स्त्री और पुरुष दोनों के विद्याभ्यास के लिये स्थान हर एक स्थान में यथाशक्ति अलग-अलग बनाये जायेंगे। स्त्रियों के लिये अध्यापन और सेवा प्रबन्ध स्त्रियों द्वारा ही किया जायेगा और पुरुष पाठशालाओं का पुरुषों द्वारा, इसके विरुद्ध नहीं।

२१-उन पाठशालाओं की व्यवस्था प्रधान आर्य समाज के अनुकूल पालन की जायेगी।

२२-इस समाज में प्रधान आदि सभासद् परस्पर

प्रीति के लिये अभिमान, हठ, दुराग्रह और क्रोधादि सब दुर्गुण छोड़कर, उपकार, सुहृदयता से सब से सब को निर्वैर होकर स्वात्मवत् प्रीति करनी होगी।

२३–विचार समय सब व्यवहारों में न्याय युक्त सर्वहित की जो सत्य बात भले प्रकार विचार से ठहरे, वही सब सभासदों को प्रकट करके मानी जाये। इसके विरुद्ध न मानी जाये। इसी का नाम पक्षपात छोड़ना है।

२४–जो पुरुष इन नियमों में अनुकूल आचरण करने वाला धर्मात्मा सद्‌गुणी हो, उसको उत्तम समाज में प्रविष्ट करना, उसके विपरीत को साधारण समाज में रखना, और अत्यन्त प्रत्यक्ष दुष्ट को समाज से निकाल ही देना, परन्तु यह काम पक्षपात से नहीं करना, बल्कि यह दोनों बातें श्रेष्ठ सभासदों के ही विचार से की जायें। अन्य प्रकार नहीं।

२५–आर्य समाज, आर्य विद्यालय, 'आर्य-प्रकाश' पत्र और आर्य समाज का अर्थ, धन कोष इन चारों की रक्षा और उन्नति प्रधानादि सब सभासद् तन, मन और धन से सदा करें।

२६–जब तक नौकरी करने और कराने वाला आर्य समाजस्थ मिले, तब तक और की नौकरी न करे और न किसी और को नौकर रखें, वे दोनों स्वामी सेवक भाव से यथावत् वरतें।

२७–जब विवाह, पुत्र-जन्म, महालाभ, वा मरण वा कोई समय दान व धन व्यय करने का हो, तब आर्यसमाज के निमित्त धन आदि दान किया करें। ऐसा धर्म का काम और कोई नहीं है, इस निश्चय को जानकर इसको कभी न भूलें।

२८–इन नियमों में कोई नियम नया लिखा जायेगा वा कोई निकाला जायेगा वा न्यूनाधिक किया जायेगा, सो सब श्रेष्ठ सभासदों की विचार रीति से सब श्रेष्ठ सभासदों को विदित करके ही यथायोग्य करना होगा।

अपनी वैदिक-धर्म-प्रचार-यात्रा के सिलसले में महर्षि दयानन्द प्रथम बार १९ अप्रैल सन् १८७७ ई० को सायंकाल के समय लाहौर पहुँचे थे। लाहौर में महर्षि का स्वागत भी खूब हुआ और उन्हें अनेक असुविधाओं का सामना भी करना पड़ा। अन्त में सत्य की ही विजय हुई। महर्षि को बड़ी संख्या में सत्य प्रेमी अनुयायी मिलने लगे और बड़ी तेजी के साथ पंजाब में महर्षि के सिद्धान्त और मन्तव्य सर्वप्रियता प्राप्त करने लगे। और, अब तो यह संपूर्ण संसार भली प्रकार जानता है कि महर्षि दयानन्द का पंजाब-प्रचार संसार के लिये अत्यन्त मंगल-मूल सिद्ध हुआ है। पंजाब का बच्चा-बच्चा महर्षि दयानन्द को अपना महर्षि समझता है। और मनसा, वाचा, कर्मणा, महर्षि के सिद्धान्तों, मन्तव्यों, उपदेशों और प्रणालियों का प्रचार-प्रसार कर रहा है।

महर्षि की प्रेरणा से २४ जून सन् १८७७ ई० तदनुसार जेठ सुदी त्रयोदशी सम्वत् १९३४ वि० को लाहौर शहर में भी विधिपूर्वक आर्य समाज की स्थापना हो गई। आर्य समाज लाहौर की स्थापना का उल्लेख श्री पण्डित लेखराम जी ने इन शब्दों में किया है:—

"पहिली दफा उपासना डाक्टर रहीम खाँ साहेब की कोठी में हुई और हवन भी हुआ और वहाँ ही आर्य समाज की बुनियाद रखी गई। और इसके बाद बाबू सारदा प्रसाद भट्टाचार्य ने कुछ व्याख्यान दिया। जिस के बाद स्वामी जी ने यह कहा कि अब हम को आशा बन्ध गई है कि आप सद्‌धर्म को अच्छी तरह चला सकेंगे।"

[जीवन-चरित्र महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती]

लाहौर में आर्य पुरुषों के परामर्श को मान कर महर्षि दयानन्द ने आर्य समाज के नियमों पर पुनरपि विचार किया। और, बम्बई वाले २८ नियमों के स्थान पर आर्य समाज के इस समय प्रचलित दस नियमों तथा नियमों से पृथक् आर्य समाजों के प्रबन्ध सम्बन्धी उपनियमों को तैयार करके प्रचलित किया। उसी समय से आर्य समाज के वर्तमान दस नियमों का प्रचार और व्यवहार होता आ रहा है। ये दस नियम आर्य समाज के संगठन में वही स्थान रखते हैं, जो कि मनुष्य के शरीर में मेरुदण्ड अर्थात् रीढ़ की

हड्डी का स्थान है। इन दस नियमों में परिवर्तन करने का अधिकार किसी को नहीं है।

महर्षि ने लाहौर में जो उप-नियम तैयार किये थे, उन में उप-नियम संख्या–४० के अनुसार यथोचित विज्ञापन देने पर आवश्यकतानुसार घटाने वा बढ़ाने की व्यवस्था भी उन्होंने रखी थी। उस व्यवस्था के अनुसार आर्य सार्वदेशिक प्रतिनिधि सभा ने उपनियमों में कुछ परिवर्तन २६-१-३५ को स्वीकार करवाये थे और वे ही परिवर्तित उपनियम इस समय आर्यजगत् में प्रचलित हैं। किन्तु आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा पंजाब से सम्बन्धित आर्यसमाजों में इस समय भी वे ही पहिले अर्थात् लाहौर वाले उपनियम ही प्रचलित हैं।

यहां हम पाठकों से यह भी अनुरोध करना चाहते हैं कि वे इस समय प्रचलित उप-नियमों तथा मूल-उपनियमों का तुलनात्मक रूप में अध्ययन करें और दोनों में जो भेद है, उसको जानने का यत्न करें। तुलनात्मक रूप में नये और पुराने उपनियमों का अध्ययन एवं विचार मनोरंजक तथा लाभदायक सिद्ध होगा।

आर्य पुरुषो! महर्षि ने हमारे लिये जिन नियमों और उप-नियमों का निर्माण किया है, उन में कुछ तो हमारे कर्तव्य हैं, और कुछ अधिकार हैं। आओ, हम अपने कर्तव्यों का पालन करें और अपने अधिकारों को प्राप्त करें। कर्तव्य पालन में प्रमादी और अधिकार-प्राप्ति में उत्साही होने से तो हम निन्दा के पात्र बन जायेंगे और बन रहे हैं।

महर्षि दयानन्द द्वारा लाहौर में पुनरपि विचार करके प्रवर्त्तित आर्यसमाज के नियमों और उपनियमों का प्रकाशन हम आगे कर रहे हैं। यद्यपि लाहौर वाले उपनियम आजकल संशोधित रूप में प्रचलित हैं, तथापि मूल-नियमों का स्वतन्त्र और ऐतिहासिक महत्त्व बहुत अधिक है।

—सम्पादक

आर्यसमाज का इतिहास

[लेखक—श्री पण्डित हरिश्चन्द्र जी विद्यालंकार]

इतिहास एक मनोरंजक विषय है। इसके पढ़ने से बहुत सी शिक्षा प्राप्त होती है। प्रगतिशील संस्थाओं का इतिहास और भी अधिक मनोरंजक और शिक्षाप्रद होता है।

आर्यसमाज एक प्रगतिशील संस्था है। पिछली शताब्दी में अपने जन्मकाल से इसने आश्चर्यजनक उन्नति की है। इसके मित्र और शत्रु, दोनों ने इसकी उन्नति पर हर्ष प्रकट किया है। ऐसी प्रगतिशील संस्था के विकास के इतिहास का अध्ययन प्रत्येक व्यक्ति के लिये विशेष रूप से लाभप्रद होगा।

यह पुस्तक आर्यसमाज की प्रगति के इतिहास के प्रत्येक जिज्ञासु के काम की है। इसकी रचना ऐसी रोचक, शृङ्खलाबद्ध और साथ ही गम्भीर है, जिससे आर्य समाज की प्रगति का पूरा और सही चित्र अंकित हो जाता है। आर्यसमाज के कार्य क्षेत्र में प्रविष्ट होने वाले प्रत्येक व्यक्ति को इसका अध्ययन अवश्य करना चाहिये। संस्था की अब तक की प्रगति का इतिहास कार्यकर्ताओं का पथ प्रदर्शक होता है। इसके प्रकाश में ही वे अपना अगला पग उठाते हैं। जो संस्था के भावी इतिहास का निर्माता होता है। आशा है कि प्रत्येक व्यक्ति इस सुन्दर पुस्तक से पूरा लाभ उठावेगा। यह पुस्तक कई वर्षों से आर्यकुमार-परिषद् की परीक्षाओं में निर्धारित है तथा स्कूलों में लगाने एवं बच्चों को पारितोषिक में देने लायक है। मूल्य १।=)

मिलने का पता—गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, देहली

* ओ३म् *

आर्य्यसमाज के नियम

१—सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदिमूल परमेश्वर है।

२—ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्त्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।

३—वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना, सब आर्यों का परमधर्म है॥

४—सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

५—सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहियें।

६—संसार का उपकार करना, इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७—सब से प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार, यथायोग्य वर्त्तना चाहिये।

८—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिये।

९—प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिये किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

१०—सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालन में परतन्त्र रहना चाहिये और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

॥ ओ३म् ॥

आर्य्यसमाज के उपनियम

—:०:—

नाम

१—इस समाज का नाम आर्य्यसमाज होगा।

उद्देश्य

२—इस समाज के उद्देश्य वही हैं जो इसके नियमों में वर्णन किये गये हैं।

आर्य्य

३—जो लोग आर्य्यसमाज में नाम लिखाना चाहें और समाज के उद्देश्य के अनुकूल आचरण स्वीकार करें, वे आर्य्यसमाज में प्रविष्ट हो सकते + हैं। परन्तु उनकी अठारह वर्ष से न्यून आयु न हो।

आर्य्यसभासद्

४ क—जिनका नाम आर्य्यसमाज में सदाचार से एक वर्ष (१) रहा हो और वे अपने आय का शतांश (२) वा अधिक, मासिक, वा वार्षिक आर्य्य-समाज को दें (३) वे आर्य्यसभासद् हो सकते हैं।

ख—सम्मति देने का अधिकार केवल आर्य्य-सभासदों को होगा (४)

५—जो आर्य्यसमाज के उद्देश्य के विरुद्ध काम करेगा, वह न तो आर्य्य और न आर्य्यसभासद् गिना जावेगा।

६—आर्य्यसभासद् दो प्रकार के होंगे। एक साधारण आर्य्यसभासद् और दूसरे माननीय आर्य्य-सभासद्।

माननीय आर्य्यसभासद् वे होंगे, जो शतांश, दश रुपये मासिक, वा इससे अधिक दें, वा एक बार २५०) रुपये दें, वा जिन को अन्तरङ्गसभा विद्यादि श्रेष्ठ गुणों से माननीय समझे।

साधारण सभा

७—साधारण सभा तीन प्रकार की होगी:—

१—साप्ताहिक, २—वार्षिक, ३—नैमित्तिक।

+ आर्य्यसमाज में नाम लिखाने के लिये मंत्री के पास इस प्रकार का पत्र लिखना चाहिये कि—"मैं प्रसन्नता-पूर्वक आर्य्यसमाज के उद्देश्यों के (जैसा कि नियमों में वर्णन किये गये हैं) अनुकूल आचरण स्वीकार करता हूँ। मेरा नाम आर्य्यसमाज में लिख लें।"

परन्तु अंतरङ्गसभा को अधिकार रहेगा कि किसी विशेष हेतुसे उनका नाम आर्य्यसमाज में लिखना स्वीकार न करें॥

जो लोग आर्य्यसमाज में प्रविष्ट हों, वे आर्य्य कहलायेंगे।

(१) आर्य्यसभासद् बनने के लिये आर्य्यसमाजमें वर्ष भर नाम रहने का नियम किसी व्यक्ति के लिये अन्तरङ्गसभा शिथिल भी कर सकती है।

(आर्य्यसमाजमें एक वर्ष भर रहके आर्य्यसभासद् बनने का नियम आर्यसमाज के दूसरे वर्ष से काम में आवेगा)

(२) राजा सरदार वा बड़े साहूकार आदि को आर्य्य-सभासद् बनने के लिये शतांश ही देना आवश्यक नहीं, वे एकवारगी, वा मासिक वा वार्षिक अपने उत्साह के अनुसार दे सकते हैं।

(३) अंतरंगसभा किसी विशेष हेतु से चन्दा न देने वाले आर्य्य को भी आर्य्यसभासद् बना सकती है।

(४) नीचे लिखी गई विशेष दशाओं में उन आर्यों की भी जो आर्यसभासद् नहीं, सम्मति ली जावेगी।

(१) जब नियमों का न्यूनाधिक वा शोधन करना हो।

(२) जब किसी विशेष अवस्था में अंतरंग सभा उनकी सम्मति लेनी योग्य और आवश्यक समझे।

साप्ताहिक साधारण सभा

८ क—यह सभा प्रत्येक सप्ताह में एक बार हुआ करेगी ।

ख—उसमें वेदमन्त्रों का पाठ, उपासना, भजन, कीर्तन और व्याख्यान हुआ करेंगे ।

ग—जो कोई समाजसम्बन्धी मुख्य बात सभा के जानने योग्य हो, वह भी उस सभा में कही जायेगी ।

वार्षिक साधारण सभा

९ क—यह सभा प्रतिवर्ष एक बार नीचे लिखे प्रयोजनों के लिये हुआ करेगी:—

१—समाज के वार्षिक उत्सव करने के लिये ।

२—अन्तरङ्ग सभा के प्रतिष्ठित सभासद् और अधिकारियों के नियुक्त करने के लिये ।

३—समाज के पिछले वर्ष का वृत्तान्त सुनने के लिये ।

ख—इस सभा के होने के समय आदि का विज्ञापन एक महीना पहिले दिया जावेगा !

नैमित्तिक साधारण सभा

१० क—यह सभा जब कभी आवश्यकता हो, किसी विशेष काम के लिये नीचे लिखी हुई दशाओं में की जायेगी:—

१—जब प्रधान और मन्त्री चाहें ।

२—जब अन्तरङ्ग सभा चाहे ।

३—जब आर्य्यसभासदों का बीसवाँ अंश इस निमित्त मन्त्री के पास लिख कर पत्र भेजे ।

ख—इस सभा के होने के समय आदि का विज्ञापन समयानुकूल पहिले दिया जावेगा ।

अन्तरङ्ग सभा

११—समाज के सब कार्य्यों के प्रबन्ध के लिये एक अन्तरङ्गसभा नियुक्त की जायेगी । और इस में तीन प्रकार के सभासद् होंगे अर्थात् (१) प्रतिनिधि (२) प्रतिष्ठित (३) अधिकारी ।

१२—प्रतिनिधि सभासद् अपने-अपने समुदायों के प्रतिनिधि होंगे और उन्हें उनके समुदाय नियत करेंगे । कोई समुदाय जब चाहे, अपने प्रतिनिधि को बदल सकता है ।

१३—सभासदों के विशेष काम ये होंगे:—

क—अपने-अपने समुदायों की सम्मति से अपने को विज्ञ रखना ।

ख—अपने अपने समुदायों को अन्तरङ्ग सभा के काम, जो कि प्रकट करने योग्य हों बतलाना ।

ग—अपने अपने समुदायों से चन्दा इकट्ठा कर के कोशाध्यक्ष को देना ।

१४—प्रतिष्ठित सभासद् विशेष गुणों के कारण प्राय: वार्षिक वा नैमित्तिक साधारण सभा में नियत किये जावेंगे, प्रतिष्ठित सभासद् अन्तरङ्ग—सभा में एक तिहाई से अधिक न होंगे ।

१५—वर्ष के पीछे अंतरङ्ग सभा के प्रतिष्ठित सभासद् और अधिकारी वार्षिक साधारण सभा में फिर से नियत किये जायेंगे । और कोई पुराना प्रतिष्ठित सभासद् और अधिकारी पुनर्वार नियत हो सकेगा ।

१६—जब वर्ष के पहिले किसी प्रतिष्ठित सभासद् वा अधिकारी का स्थान रिक्त (खाली) हो, तो अन्तरङ्ग सभा आप ही उसके स्थान पर किसी और योग्य पुरुष को नियत कर सकेगी ।

१७—अन्तरङ्ग सभा कार्य के प्रबन्ध निमित्त उचित व्यवस्था बना सकती है, परन्तु वह आर्यसमाज के नियमों और उपनियमों से विरुद्ध न हो ।

१८—अन्तरङ्ग सभा किसी विशेष काम के करने और सोचने के लिये, अपने में से सभासदों और विशेष गुण रखने वाले और सभासदों को मिलाकर उपसभा नियत कर सकती है ।

१९—अन्तरङ्ग सभा का कोई सभासद् मन्त्री को एक सप्ताह पहले विज्ञापन दे सकता है कि कोई विषय सभा में निवेदन किया जावे और वह (विषय) प्रधान की आज्ञानुसार निवेदन किया जावेगा । परन्तु जिस विषय के निवेदन करने में अन्तरङ्ग सभा के पाँच सभासद् सम्मति दें, वह अवश्य निवेदन करना ही पड़ेगा ।

२०—दो सप्ताह के पीछे अन्तरङ्ग सभा एक

बार अवश्य हुआ करेगी, और मन्त्री और प्रधान की आज्ञा से, वा जब अन्तरंग सभा के पाँच सभासद् मन्त्री को पत्र लिखें, तो भी हो सकती है।

अधिकारी

२१—अधिकारी पाँच प्रकार के होंगे :—

(१) प्रधान, (२) उपप्रधान, (३) मन्त्री,
(४) कोषाध्यक्ष, (५) पुस्तकाध्यक्ष।

२२—मन्त्री, कोषाध्यक्ष और पुस्तकाध्यक्ष इनके अधिकारों पर आवश्यकता होने से एक से अधिक पुरुष भी नियत हो सकते हैं, और जब किसी अधिकार पर एक से अधिक पुरुष नियत हों, तो अन्तरंग सभा उन्हें काम बाँट देगी।

प्रधान

२३—प्रधान के नीचे लिखे अधिकार और काम होंगे :—

१—प्रधान अन्तरङ्ग सभा और समाज का और सब सभाओं का सभापति समझा जावेगा।

२—सदा समाज के सब कामों के यथावत् प्रबन्ध करने में और सर्वथा समाज की उन्नति और रक्षा में तत्पर रहेगा, समाज के प्रत्येक कामों को देखेगा कि वे नियमानुसार किये जाते हैं वा नहीं और स्वयं नियमानुसार चलेगा।

३—यदि कोई विषय कठिन और आवश्यक प्रतीत हो, तो उसका यथोचित प्रबन्ध उसी समय करेगा। और उसके बिगड़ने में उत्तरदाता वही होगा।

४—प्रधान अपने प्रधानत्व के कारण सब उपसभाओं का, जिन्हें कि अन्तरङ्ग सभा संस्थापन करे, सभासद् होगा।

उपप्रधान

२४—उपप्रधान, प्रधान के अनुपस्थित होने पर उसका प्रतिनिधि होगा। यदि दो वा अधिक उपप्रधान हों, तो सभा की सम्मति अनुसार उनमें से कोई एक प्रतिनिधि किया जावेगा।

परन्तु समाज के सब कामों में प्रधान को सहायता देनी, उसका मुख्य काम होगा।

मन्त्री

२५—मन्त्री के नीचे लिखे गये अधिकार और काम होंगे :—

१—अन्तरङ्ग सभा की आज्ञानुसार समाज की ओर से सबके साथ पत्र व्यवहार रखना, और समाज सम्बन्धी चिट्ठी और सब प्रकार के विशिष्ट पत्रों को सम्भाल कर रखना।

२—समाज की सभाओं का वृत्तान्त लिखना और दूसरी सभा होने से पहिले ही उसको वृत्तान्त पुस्तकमें लिखना वा लिखवा देना।

३—मासिक अन्तरङ्ग सभाओं में उन आर्यों वा आर्यसभासदों के नाम सुनाया करना, जो पिछली मासिक सभा के पीछे आर्य्यसमाज में प्रविष्ट हुए हों वा उससे पृथक् हुए हों।

४—सामान्य प्रकार से समाज के भृत्यों के काम पर दृष्टि रखना, और समाज के नियम उपनियम और व्यवस्थाओं के पालन पर ध्यान रखना।

५—पाठशाला की उपसभा के आज्ञानुसार पाठशाला का सामान्य प्रकार से प्रबन्ध करना।

६—इस बात का भी ध्यान रखना कि प्रत्येक आर्य सभासद् किसी न किसी समुदाय में हो, और इसका कि प्रत्येक समुदाय ने अपनी ओर से अन्तरङ्ग सभा में प्रतिनिधि दिया हो।

७—पहिले विज्ञापन दिये जाने पर माननीय पुरुषों को सभा में सत्कार पूर्वक बैठाना।

८—प्रत्येक सभा में नियत काल पर आना और बराबर ठहरना।

कोषाध्यक्ष

२६—कोषाध्यक्ष के नीचे लिखे अधिकार और काम होंगे :—

१—समाज के सब आय धन का लेना, उसकी रसीद देना और उसको यथोचित रखना।

२—किसी को अन्तरङ्ग सभा की आज्ञा विना रुपया न देना, वरन् मन्त्री और प्रधान को भी उस परिमाण से जितना कि अन्तरङ्ग सभा ने उनके लिये नियत किया हो, अधिक न देना। और उस धनके उचित व्यय के लिये वही अधिकारी जिसके द्वारा वह व्यय हुआ हो उत्तरदाता होगा।

३—सब धन के आय व्यय का रीति पूर्वक वहीखाता रखना, और प्रतिमास अन्तरङ्ग सभा में हिसाब को वहीखाते समेत परताल और स्वीकार के लिये निवेदन करना।

पुस्तकाध्यक्ष

२७—पुस्तकाध्यक्ष के अधिकार और काम ये होंगे पुस्तकालय में जो समाज की स्थिर पुस्तक और विक्रेय पुस्तक हों उन सबकी रक्षा करे, और पुस्तकालय सम्बन्धी हिसाब किताब रक्खे, और पुस्तकों के लेने, देने, मंगवाने और बेचने का काम भी करे।

मिश्रित

२८—सब आर्य्य सभासदों की सम्मति पत्रद्वारा निम्नलिखित दशाओं में ली जायगी:—

१—जब अन्तरंग सभा का यह निश्चय हो कि समाजकी भलाई के लिये किसी साधारण सभाके सिद्धान्त पर निर्भर न करना चाहिये, वरन सब आर्य्य सभासदों की सम्मति जाननी चाहिये।

२—जब सब आर्य्य सभासदोंका बीसवां वा अधिक अंश इस निमित्त मन्त्री के पास पत्र लिख कर भेजे।

३—जब बहुत से व्ययसम्बन्धी वा प्रबन्धसम्बन्धी, वा नियम वा व्यवस्थासम्बन्धी कोई मुख्य प्रस्ताव करना हो; अथवा जब अन्तरङ्गसभा सब आर्य सभासदोंकी सम्मति जाननी चाहे।

२६—जब किसी सभा में वा थोड़े से समय के लिये कोई अधिकारी उपस्थित न हो, तो उसके स्थान में उस समय के लिये किसी योग्य पुरुष को अन्तरंग सभा नियत कर सकती है।

३०—किसी अधिकारी के स्थान पर वार्षिक साधारण सभा में कोई पुरुष नियत न किया जावे, तो जब तक उसके स्थान पर कोई और नियत न किया जाय, वही अधिकारी अपना काम करता रहेगा।

३१—सब सभा और उपसभाओं का वृत्तान्त लिखा जाया करेगा और उसको सब आर्य्यसभासद् देख सकेंगे।

३२—सब सभाओं का काम तब आरम्भ होगा, जब एक तिहाई सभासद् उपस्थित हों।

३३—सब सभाओं और उपसभाओं के सारे काम बहुपक्षानुसार निश्चित होंगे।

३४—आय का दशांश समुदाय धन में रक्खा जावेगा।

३५—सब आर्य्य और आर्य्यसभासदोंको संस्कृत वा आर्य्य भाषा (हिन्दी) जाननी चाहिये।

३६—सब आर्य्य और आर्य्यसभासदों को उचित है कि लाभ और आनन्द के समय समाज पर भी दृष्टि रक्खें।

३७—सब आर्य्य और आर्य सभासदों को उचित है कि शोक और दुःख के समय में परस्पर सहायता करें और आनन्द उत्सव में निमंत्रण पर सहायक हों। और छोटाई बड़ाई न गिनें।

३८—कोई आर्य्य भाई किसी हेतु से अनाथ हो जावे वा किसी की स्त्री विधवा वा सन्तानअनाथ हो जावे अर्थात् उसका किसी प्रकार जीवन न हो सकता हो और यदि आर्यसमाज इसको निश्चित जान ले, तो आर्य समाज उसकी रक्षा में यथाशक्ति यथोचित प्रबन्ध करे।

३६—यदि आर्य्यसमाज में किसी का आपस में झगड़ा हो तो उनको योग्य होगा कि वे उसको आपस में समझ लें वा आर्य्य समाज की न्यायउपसभा द्वारा उसका न्याय करा लें।

४०—यह उपनियम वर्ष पीछे यथोचित विज्ञापन देने पर शोधे वा बढ़ाये घटाये जा सकते हैं। इति॥

* ओ३म् *

स्वीकारपत्र

सम्पादक का निवेदन

—*—

महर्षि दयानन्द सरस्वती का स्वीकार-पत्र [वसीयत नामा] एक छोटा क़ानूनी-लेख है। वैदिक यन्त्रालय अजमेर द्वारा स्वीकार-पत्र का पुस्तकवत् प्रकाशन कई बार किया जा चुका है। यह स्वीकार-पत्र इस योग्य है कि इसे थोड़े-थोड़े समय के बाद बारम्बार, बहुत बड़ी मात्रा में प्रकाशित और आर्य-संसार में प्रसारित किया जाया करे। प्रत्येक आर्य नर-नारी को उचित है कि वह मनोयोग पूर्वक इस स्वीकार-पत्र का पाठ एवं विचार करे। महर्षि दयानन्द अपने जीवन में तथा अपने शरीर-त्याग के पश्चात्, क्या-क्या चाहते थे, सो उनके भावों, संकल्पों, आदेशों एवं स्वप्नों का प्रतिबोधक यह स्वीकार-पत्र है।

सभी जानते हैं कि महर्षि एक विरक्त साधु महात्मा थे। युवावस्था में सुसम्पन्न घर-बार को छोड़ कर, उन्होंने मुक्ति-पथ का अनुगमन किया था। उनके जीवन में बहुत बार ऐसे अवसर आये, जब कि धन-सम्पत्ति के बड़े-बड़े प्रलोभन उन्हें दिये गये, परन्तु उधर कुछ भी ध्यान न देकर, वे निर्मोही मस्तानों की तरह, आगे ही आगे बढ़ते चले गये। "तिनके के समान तुच्छ लक्ष्मी, उन को कुछ भी आकर्षित न कर सकी।"

जब महर्षि ने अपने वेद भाष्य तथा अन्य ग्रन्थों के प्रकाशन का पुण्य-कार्य आरम्भ किया, तो देखते ही देखते, बहुत थोड़े समय में, बहुत-सा धन एकत्रित हो गया। यह धन कितना था? मेरे पास आंकड़े नहीं हैं; परन्तु वह अवश्य ही बहुत अधिक था। एक बहुत बड़ा छापाखाना था, पुस्तकों का बहुत बड़ा स्टाक था और नक़द रुपया भी था। इस सब का मूल्य इतना अधिक था कि महर्षि अपने निधन के पश्चात् उसके सदुपयोग तथा उस की सुरक्षा का विचार किया करते थे। और, इसी विचार के परिणामस्वरूप महर्षि ने 'परोपकारिणी सभा' की स्थापना की थी। एवं, इस स्वकार-पत्र को लिखा था।

महर्षि के पास इतना अधिक रुपया कहां से आता था? एक तो महर्षि के पुण्य-कार्यों से आनन्दित और उत्साहित होकर, जनता भेंट स्वरूप देती थी, दूसरे महर्षि के ग्रन्थों की मांग भी बहुत अधिक थी। अच्छा लाभ प्राप्त होता था। महर्षि की परोपकार-परायणता, कर्तव्य-निष्ठा, अलोभता आदि को जनता ने उत्तमतया जान लिया था। महर्षि का ध्येय उत्तम था। अतः, ऐश्वर्य स्वयमेव महर्षि की चरण-वन्दना करने के लिये उत्साही हो उठा था।

महर्षि दयानन्द ने अपने स्वीकार पत्र की रजिस्टरी दो बार कराई थी। प्रथम बार मेरठ में और दूसरी बार उदयपुर में। मेरठ में जिस स्वीकार-पत्र की रजिस्टरी हुई थी, वह ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन नामक ग्रन्थ में पृष्ठ ५२८ से ५३१ तक छपा है। उदयपुर में महर्षि ने अपने मेरठ के लेख में कुछ सुधार किये थे, अतः उसकी दूसरी बार रजिस्टरी होनी आवश्यक थी। वर्तमान स्वीकार-पत्र उदयपुर में ही लिखा गया था।

जब प्रथम बार मेरठ में स्वीकार-पत्र की रजिस्टरी हुई थी, तब महर्षि ने पंडित भीमसेन जी के नाम एक पत्र लिखा था, वह पूरा पत्र इस प्रकार है:—

पण्डित भीमसेन जी आनन्दित रहो।

अब तुमने आठ दिन पीछे चिट्ठी भेजना बन्द क्यों कर दिया। बराबर आठ दिन पीछे चिट्ठी भेजा

करो। और यह लिखा करो कि इस सप्ताह में इतनी पुस्तकें छपीं और यह-यह काम हुआ। और अब क्या होता है। आगे सप्ताह में क्या काम होने वाला है। और जब-जब चिट्ठी लिखा करो, मुन्शी जी से पूछ देखा करो कि इन आठ दिनों में कितनी पुस्तकें छपीं और जब-जब छप कर तैयार हुआ करें सब गिन कर संख्या लिखा करो। और मुन्शी जी तो माहवारी आमदनी बिक्री के रुपयों का हिसाब चिट्ठी लिखते ही हैं। तथापि तुम भी वखत-वखत सब पूछ लिया करो। और मुन्शी जी से कहना कि तुम को कुछ भी शंका न करनी चाहिये। आप इस्तीफा सरकारी नौकरी का दे दीजिये। जब तक तुम काम करने वाले हो, जब तक तुम्हारे शरीर में प्राण है, और सामर्थ्य है, तब तक आनन्द में काम किया करो। और पश्चात् भी तुम्हारी सलाह से काम हुआ करेंगे। और वसीयत नामे की सभा के सभासद् सब आर्य समाज के हैं। किसी प्रकार की हानि उन के लिये न करेंगे। और निश्चय है कि मुंशी जी भी ऐसे नहीं हैं कि कभी धर्मविरुद्ध काम करें। और वसीयत नामे में यह अवकास रखा है कि चाहे जिसको रजिस्टरी जितने अधिकार वा धन देने आदि के लिये मैं करा दूंगा। उसका पूरा करना सभा को अवश्य होगा। और अधिक न्यून अदल बदल वा दूसरा वसीयत नामा करने का अधिकार मैंने पूरा रखा है। चाहे किसी सभासद् को निकाल दूं, वा किसी अन्य सभासद् को भरती करदूं। इत्यादि नियम इसलिये रखे हैं कि जो चाहें सो हम कर सकते हैं। ये सभासद मुंशीजी के सुहृद ही हैं। और सब विद्वान् और धार्मिक हैं। किसी के लिये अन्याय की वृत्ति नहीं करते, तो क्या मुंशी जी के लिये अन्यथा प्रवृत्ति करने को उद्यत हो सकते हैं। कभी नहीं। क्योंकि धार्मिक लोग सदा धर्म प्रिय अधर्म द्वेषी ही होते हैं। क्या मैं वा वे सभासद मुंशी जी को परोपकार के लिये प्रवृत्त हुए नहीं जानते हैं। इससे यह पत्र मुंशी बखतावर सिंह जी को एकान्त में सुना देना। और इस पत्र को अपने पास रखा चाहें, तो दे देना। तुझ को यह पत्र इसलिये लिखा है कि तू भी इसका साक्षी रहे। और यह लेख मैंने अपने हाथ से इसलिये किया है कि यह बात गुप्त रहे और समय पर काम आवे।

ह० दयानन्द सरस्वती

यह पत्र 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' नामक ग्रन्थ में पृष्ठ २०६ व २१० पर प्रकाशित हुआ है। महर्षि के स्वीकार-पत्र लिखने की बात जान कर, उनके प्रेस के प्रवन्धक मुंशी बखतावर सिंह जी को कुछ चिन्ता वा आशंका हुई होगी, और उसका वृत्तान्त महर्षि को मिला होगा, तभी यह पत्र लिखा गया होगा। उन दिनों वैदिक यन्त्रालय काशी में था। इस पत्र के विषय में टिप्पणी के रूप में उक्त ग्रन्थ के सम्पादक श्री पं० भगवद्दत्त जी लिखते हैं :—

"यह पत्र आर्यदर्पण मई १८८६ पृ० ११७–११८ पर छपा है। हमने इसे वहीं से लेकर यहां धरा है। प्रकरण से जुलाई १८८० में लिखा गया प्रतीत होता है।"

मिति फाल्गुण वदी १० रविवार सं० १९३९ तदनुसार ता० ४ मार्च सन् १८८३ ई० को महर्षि ने चित्तौड़गढ़ से मुन्शी समर्थदान जी प्रवन्धक "वैदिक यन्त्रालय' प्रयाग के पास एक पत्र भेजा था। वह पत्र "ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन" नामक ग्रन्थ में पृ० ३९८ से ४०० तक छपा है। उसका एक अंश इस प्रकार है :—

"गत पंचमी मंगलवार के दिन सायंकाल ७ बजे बड़े-बड़े सरदार तथा कामदारों की सभा बुलाके स्वीकार-पत्र जो कि मेरठ में हमने रजिस्टर कराया था, उसमें से एच० अलकाट साहेब, तथा एच० पी० ब्लैवस्टकी, मुन्शी इन्द्रमणि को पृथक् कर दिये, और डाक्टर बिहारीलाल जी का शरीर छूट गया। इनके ठिकाने में अन्य चार तथा पाँच सभासद् और बढ़ा दिये अर्थात् प्रथम अठारह थे, अब तेईस हो गये। उनमें से सभापति आर्यकुल दिवाकर श्रीयुत महाराणा जी और उपसभापति लाला मूलराज एम० ए० मन्त्री श्यामलदास जी आदि नियत हुए हैं।

उसकी एक प्रति श्रीमानों के हस्ताक्षर और राजकीय मोहर लगा कर सबने माननीय प्रतिष्ठित माना है। यह बात महा लाभदायक और बड़ा काम देगी।

अब सरकारी राज में भी इसकी रजिस्टरी करालें, सो रजवाड़ों में और अंग्रेजी राज्य में भी बड़ा माननीय होगा। और राजकीय यन्त्रालय उदयपुर में छप कर सभासदों के पास एक-एक प्रति पहुँचेगी। और ज्यादा छपेगी, तो अन्य योग्य पुरुषों के पास भेज दी जायगी। यह तुम्हारे पास इसलिये भेजते हैं कि अपने परामर्श, अनुमति और महाराणा जी को धन्यवाद लेखपूर्वक-पत्र अन्त में, और आदि में यह स्वीकारपत्र अच्छे कागज पर और अच्छे टाइप में छपवा कर योग्य-योग्य वेद भाष्य के ग्राहक और भारतमित्रादि समाचार-पत्र और मुख्य-मुख्य पुस्तकालय में भेज दो। और जब छप चुकेगा, तब हम भी लिखेंगे कि फलाने-फलाने के पास भेज दो।"

यदि महर्षि चाहते, तो अन्य लोगों के समान चेला-चेली का व्यापार चला सकते थे। मठ आदि बना कर गुरु-शिष्य परम्परा की प्रवर्तना कर सकते थे। अपने आप को सिद्ध वा गुरु रूप में पुजवा सकते थे और अपनी मढ़ी अथवा समाधि आदि बनाने का आदेश दे सकते थे। परन्तु उन्होंने ऐसा कुछ भी न किया। न ही वे ऐसा कर सकते थे। अपने लिये, जो कामना उन्होंने की थी, वह इसी स्वीकार-पत्र के नियम पांच में अंकित है। आर्य पुरुषो ! महर्षि के शब्दों पर विचार करो, उस महिमामय महर्षि का पुण्य स्मरण करो। और, उस का जो ऋण हम पर है, उसे चुकाने के लिये दृढ़ संकल्प करो, सतत पुरुषार्थ करो। कुछ करो।

इस स्वीकार-पत्र के अनुसार संस्थापित परोपकारिणी सभा अजमेर में अपना काम कर रही है। हमें दुःख से लिखना पड़ता है कि उक्त सभा का कार्य सन्तोषजनक नहीं है। महर्षि ने परोपकारिणी सभा को अपनी उत्तराधिकारिणी ही नहीं बनाया था; अपितु अपनी स्थानापन्न बनाया था। एक दीर्घ काल व्यतीत हो गया, फिर भी महर्षि के कार्य अधूरे ही पड़े हैं। उनके आदेशानुसार उत्साहपूर्वक कार्य हो नहीं रहा है। परोपकारिणी सभा के सदस्यों और अधिकारियों को चाहिये कि वे इस 'स्वीकार-पत्र' को एक बार फिर ध्यान से पढ़कर अपने कर्तव्यों को पूर्ण करें। तथा आर्य जनता को भी उचित है कि वह महर्षि के आदेशों को पूर्ण करने और पूर्ण करवाने के लिये प्रबुद्ध होकर, यथोचित उपायों का अवलम्बन करे।

महर्षि वेद प्रचार की सम्पूर्ण प्रगतियों के संचालन तथा आयोजन की आशा अपनी इस परोपकारिणी सभा से ही करते थे। यदि परोपकारिणी सभा अपने गौरव की रक्षा के लिये जागरूक रहती, तो शायद यही इस समय आर्य समाज की सर्वोपरि, शिरोमणी सभा होती। तब तो और अनेकानेक जो सभायें इस समय कार्य कर रही हैं, वे इस परोपकारिणी सभा की शाखाओं का ही रूप धारण करतीं। आज तो परोपकारिणी सभा केवल पुस्तक प्रकाशक और विक्रेता बन कर ही रह गई है। और इस दिशा में भी उस का कार्य प्रशंसनीय नहीं है।

महर्षि दयानन्द द्वारा संस्थापित होने के कारण आर्य-जनता को परोकारिणी सभा अजमेर से बहुत अधिक प्रेम है। अपने प्रेम का परिचय भी आर्य जनता समय-समय पर देती रहती है। आर्य जनता सभा से नेतृत्व की आशा चिरकाल से करती आ रही है और सभा की 'न कुछ करनी' नीति से दुःख भी बहुत है। परोपकारिणी सभा के सदस्यों और अधिकारियों को इस वस्तुस्थिति पर शीघ्र ध्यान देना चाहिये। महर्षि के ग्रन्थों के सुसम्पादित रूप में पुनः मुद्रण, अलभ्य-ग्रन्थों के पुनः प्रकाशन तथा अप्रकाशित ग्रन्थों के प्रकाशन का कार्यक्रम शीघ्र बनाना चाहिये और उन कार्यों को भी आरम्भ करना चाहिये, जिनके करने का आदेश महर्षि ने अपने इस स्वीकार-पत्र में दिया है। और, जो कि इस समय तक भी आरम्भ नहीं किये गये। सभा के अधिकारी और सदस्यगण विश्वास रखें—आर्य जनता उनके कार्यों का उत्साह पूर्वक स्वागत करेगी। यदि महर्षि के आदेशानुसार कार्य न होगा, फिर तो जनता का विश्वास ही सभा पर से उठ जायेगा।

संवत् १९७४ वि० में पांचवीं बार वैदिक यन्त्रालय अजमेर द्वारा प्रकाशित पुस्तक के अनुसार 'स्वीकार-पत्र' का प्रकाशन आगे किया जा रहा है। — सम्पादक

* ओ३म् *

स्वीकारपत्र

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य्य श्री १०८ श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत श्रीमती परोपकारिणी सभा सम्बन्धी।

॥ श्रीरामजी ॥*

परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमद्दयानन्द सरस्वती स्वामिकृत स्वीकारपत्र की प्रति ॥

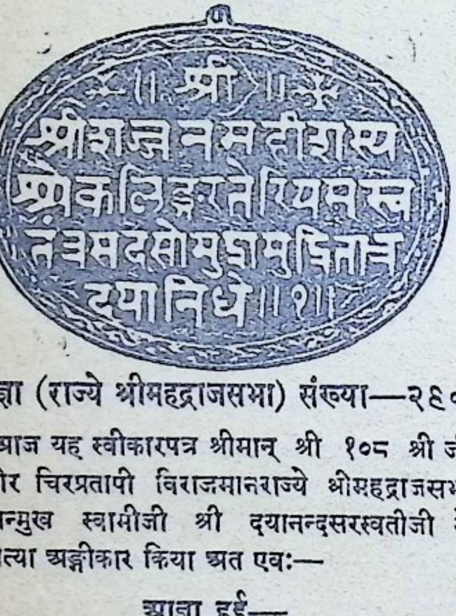

आज्ञा (राज्ये श्रीमहद्राजसभा) संख्या—२६०

आज यह स्वीकारपत्र श्रीमान् श्री १०८ श्री जी धीरवीर चिरप्रतापी विराजमानराज्ये श्रीमहद्राजसभा के सन्मुख स्वामीजी श्री दयानन्दसरस्वतीजी ने सर्वरीत्या अङ्गीकार किया अत एवः—

आज्ञा हुई—

कि प्रथम प्रति तो इस स्वीकारपत्र की स्वामी जी श्रीदयानन्दसरस्वतीजी को राज्ये श्री महद्राजसभा के हस्ताक्षरी और मुद्राङ्कित दी जावे और दूसरी प्रति उक्त सभा के पत्रालय में रहे और एक एक प्रति इस की राज यन्त्रालय में मुद्रित होकर इस स्वीकारपत्र में लिखे सब सभासदों के पास उन के ज्ञातार्थ और इसके नियमानुसार वर्तने के लिये भेजी जावे संवत् १९३९ फाल्गुन शुक्ला ५ मङ्गलवार तदनुसार ता० २७ फेब्रुएरी सन् १८८३ ई० ।

हस्ताक्षर महाराणा सज्जनसिंहस्य—

(श्रीमेदपाटेश्वर और राज्ये श्रीमहद्राजसभापति)

राज्ये श्रीमहद्राजसभा के सभासदों के हस्ताक्षर-

१–राव तख्तसिंह वेदले
२–राव रत्नसिंह पारसोली
३–द० महाराज गजसिंह का
४–द० महाराज रायसिंह का
५–हस्ताक्षर मामा बख्तावरसिंहस्य
६–द० राणावत उदयसिंह
७–हस्ताक्षर ठाकुर मनोहरसिंह
८–हस्ताक्षर कविराज श्यामलदासस्य
९–हस्ताक्षर सहीवाला अर्जुनसिंह का
१०–द० रा० पन्नालाल
११–ह० पुरोहित पद्मनाथस्य
१२–जा० मुकुन्दलाल
१३–मोहनलाल पण्ड्या

स्वीकारपत्र

मैं स्वामी दयानन्दसरस्वती निम्नलिखित नियमानुसार त्रयोविंशति सज्जन आर्य्यपुरुषों की सभा को वस्त्र, पुस्तक, धन और यन्त्रालय आदि अपने सर्वस्व का अधिकार देता हूँ और उस को परोपकार सुकार्य में लगाने के लिये अधिष्ठाता करके यह पत्र लिख देता हूँ कि समय पर कार्यकारी हो। जो यह एक सभा कि जिसका नाम परोपकारिणी सभा है उस के निम्नलिखित त्रयोविंशति सज्जन पुरुष सभासद् हैं उन में से इस सभा के सभापति;—

* मंगलाचारण स्वरूप—यह "श्री राम जी" लेख महर्षि दयानन्द जी के सिद्धान्त से विरुद्ध है। यह उदयपुर के किसी राजकीय कर्मचारी ने लिखा होगा। राजकीय मुद्रा का ब्लाक अजमेर की पुस्तक में नहीं है। हमने इस पुस्तक के लिये बनवाया है। —सम्पादक

१—श्रीमन्महाराजाधिराज महीमहेन्द्र यावदार्य्य-कुलदिवाकर महाराणा जी श्री १०८ श्रीसज्जनसिंहजी वर्म्मा धीरवीर जी० सी० एस० आई० उदयपुराधीश हैं, उदयपुर राज मेवाड़।

२—उपसभापति लाला मूलराज एम० ए० एकस्ट्रा एसिस्टेण्ट कमिश्नर प्रधान आर्य्यसमाज लाहौर जन्मस्थान लुधियाना।

३—मन्त्री श्रीयुत कविराज श्यामलदासजी उदयपुर राज मेवाड़।

४—मन्त्री लाला रामशरणदासजी रईस उपप्रधान आर्य्यसमाज मेरठ।

५—उपमन्त्री पण्ड्या मोहनलाल विष्णुलालजी निवास उदयपुर जन्मभूमि मथुरा।

सभासद्

नाम स्थान

१—श्रीमन्महाराजाधिराज श्री नाहरसिंहजी वर्मा शाहपुरा राज मेवाड़

२—श्रीमत् राव तख्तसिंहजी वर्म्मा बेदला राज मेवाड़

३—श्रीमत् राज्य राणा श्री फतहसिंहजी वर्म्मा देलवाड़ा राज मेवाड़

४—श्रीमत् रावत अर्जुनसिंहजी वर्मा आसींद राज मेवाड़

५—श्रीमत् महाराज श्री गजसिंहजी वर्म्मा उदयपुर मेवाड़

६—श्रीमत् राव श्री बहादुरसिंहजी वर्म्मा मसूदा ज़िले अजमेर

७—रायबहादुर पं० सुन्दरलाल सुपरेंटेंडेंट वर्कशोप और प्रेस अलीगढ़ आगरा

८—राजा जयकृष्णदास सी. एस. आई. डिपुटी-कलक्टर बिजनौर मुरादाबाद

९—बाबू दुर्गाप्रसाद कोशाध्यक्ष आर्य्यसमाज व रईस फर्रुखाबाद

१०—लाला जगन्नाथ प्रसाद रईस फर्रुखाबाद

११—सेठ निर्भयराम प्रधान आर्य्यसमाज फर्रुखाबाद विसाऊ राजपूताना

१२—लाला कालीचरण रामचरण मन्त्री आर्य्यसमाज फर्रुखाबाद

१३—बाबू छेदीलाल गुमाश्ते कमसर्यट छावनी मुरार कानपुर

१४—लाला साईंदास मन्त्री आर्य्यसमाज लाहौर

१५—बाबू माधवदास मन्त्री आर्य्यसमाज दानापुर

१६—रावबहादुर रा० रा० पंडित गोपालराव हरि देशमुख मेम्बर कौन्सिल गर्वनर बम्बई और प्रधान आर्य्यसमाज बम्बई पूना

१७—रायबहादुर रा० रा० महादेव गोविन्द रान्डे जज्ज पूना

*१८—पं० श्यामजीकृष्ण वर्म्मा प्रोफेसर संस्कृत यूनिवरसिटी आक्सफोर्ड लण्डन बम्बई

नियम

१—उक्त सभा जैसे कि वर्तमानकाल या आपत्काल में नियमानुसार मेरी और मेरे समस्त पदार्थों की रक्षा करके सर्वहितकारी कार्य में लगाती है वैसे मेरे पश्चात् अर्थात् मेरे मृत्यु के पीछे भी लगाया करे:—

प्रथम-वेद और वेदाङ्गादि शास्त्रों के प्रचार अर्थात् उनकी व्याख्या करने कराने पढ़ने पढ़ाने सुनने सुनाने छपवाने आदि में।

द्वितीय-वेदोक्त धर्म के उपदेश और शिक्षा अर्थात् उपदेशकमण्डली नियत करके देश देशान्तर और द्वीप द्वीपान्तर में भेजकर सत्य के ग्रहण और असत्य के त्याग कराने आदि में॥

तृतीय-आर्यावर्तीय अनाथ और दीन मनुष्यों

---

*हम परोपकारिणी सभा के सर्व प्रथम सब अधिकारियों और सदस्यों के विस्तृत जीवन-विवरण प्रकाशित करना चाहते हैं। विज्ञ सज्जन जिस-जिस के विषय में जानकारी रखते हों, लिख कर भेजने की कृपा करें।

—सम्पादक

के संरक्षण पोषण और सुशिक्षा में व्यय करे और करावे॥

२—जैसे मेरी विद्यमानता में यह सभा सब प्रबन्ध करती है वैसे मेरे पश्चात् भी तीसरे या छठे महीने किसी सभासद् को वैदिक यन्त्रालय का हिसाब किताब समझने और पड़तालने के लिये भेजा करे और वह सभासद् जाकर समस्त आय व्यय और संचय आदि की जांच पड़ताल करे और उनके तले अपने हस्ताक्षर लिखदे और उस विषय का एक-एक पत्र प्रति सभासद् के पास भेजे और उसके सम्बन्ध में कुछ हानि लाभ देखे उसकी सूचना अपने भी परामर्श सहित प्रत्येक सभासद् के पास लिख भेजे पश्चात् प्रत्येक सभासद् को उचित है कि अपनी अपनी सम्मति सभापति के पास लिख कर भेजदे और सभापति सब की सम्मति से यथोचित प्रबन्ध करे और कोई सभासद् इस विषय में आलस्य अथवा अन्यथा व्यवहार न करे॥

३—इस सभा को उचित है किन्तु अत्यावश्यक है कि जैसा यह परमधर्म और परमार्थ का कार्य है उसको वैसे ही उत्साह, पुरुषार्थ, गम्भीरता और उदारता से करे॥

४—मेरे पीछे उक्त त्रयोविंशति आर्यजनों की सभा सर्वथा मेरे स्थानापन्न समझी जाय अर्थात् जो अधिकार मुझे अपने सर्वस्व का है वही अधिकार सभा को है और रहे यदि उक्त सभासदों में से कोई इन नियमों से विरुद्ध स्वार्थ के वश होकर वा कोई अन्य जन अपना अधिकार जतावे तो वह सर्वथा मिथ्या समझा जाय।

५—जैसे इस सभा को अपने सामर्थ्य के अनुसार वर्त्तमान समय में मेरी और मेरे समस्त पदार्थों की रक्षा और उन्नति करने का अधिकार है वैसे ही मेरे मृतक शरीर के संस्कार करने कराने का भी अधिकार है अर्थात् जब मेरा देह छूटे तो न उसको गाड़ने, न जल में बहाने न जङ्गल में फेंकने दे केवल चन्दन की चिता बनावे और जो यह सम्भव न हो तो दो मन चन्दन चार मन घी पांच सेर कपूर ढाई सेर अगर तगर और दस मन काष्ठ लेकर वेदानुकूल जैसे कि संस्कारविधि में लिखा है वेदी बनाकर तदुक्त वेदमन्त्रों से होम करके भस्म करे इससे भिन्न कुछ भी वेदविरुद्ध क्रिया न करे और जो सभाजन उपस्थित न हों तो जो कोई समय पर उपस्थित हो वही पूर्वोक्त क्रिया करदे और जितना धन उसमें लगे उतना सभा से ले ले और सभा उसको दे दे॥

६—अपनी विद्यमानता में और मेरे पश्चात् यह सभा चाहे जिस सभासद् को पृथक् करके उसका प्रतिनिधि किसी अन्य योग्य सामाजिक आर्यपुरुष को नियत कर सकती है परन्तु कोई सभासद् सभा से तब तक पृथक् न किया जाय जब तक उसके कार्य में अन्यथा व्यवहार न पाया जाय॥

७—मेरे जदृश यह सभा सदैव स्वीकारपत्र की व्याख्या वा उस के नियम और प्रतिज्ञाओं के पालन वा किसी सभासद् के पृथक् और उसके स्थान में अन्य सभासद् के नियत करने वा मेरे विपत् और आपत्काल के निवारण करने के उपाय और यत्न में उद्योग करे और जो समस्त सभासदों की सम्मति से निश्चय और निर्णय पाया वा पावे और जो सम्मति में परस्पर विरोध हो तो बहुपक्षानुसार प्रबन्ध करे और सभापति की सम्मति को सदैव द्विगुण जाने॥

८—किसी समय भी यह सभा तीन से अधिक सभासदों को अपराध की परीक्षा कर पृथक् न कर सके जब तक पहिले तीन के प्रतिनिधि नियत न करले॥

९—यदि सभा में से कोई पुरुष मर जाय वा पूर्वोक्त नियमों और वेदोक्त धर्मों को त्याग कर विरुद्ध चलने लगे तो इस सभा के सभापति को उचित है कि सभासदों की संमति से पृथक् करके उसके स्थान में किसी अन्य योग्य वेदोक्त धर्मयुक्त आर्य पुरुष को नियत करदे परन्तु जब तक नित्यकार्य के अनन्तर नवीनकार्य का आरम्भ न हो।

१०—इस सभा को सर्वथा प्रबन्ध करने और नवीनयुक्ति निकालने का अधिकार है परन्तु जो सभा को अपने परामार्श और विचार पर पूरा पूरा निश्चय और विश्वास न हो पत्रद्वारा समय नियत करके

* ओ३म् *

काशी–शास्त्रार्थ

संपादक का निवेदन

महर्षि दयानन्द के काशी-वास और प्रचार आदि का विवरण हमने अपनी, "काशी–विजय" नामक पुस्तक में लिखा है। जो सज्जन विशेष जानना चाहें, वे उस पुस्तक को अवश्य देखें।

जब महर्षि दयानन्द ने सर्वप्रथम काशी के पण्डित-समाज को ललकारा, तो वह अत्यन्त भयभीत हो गया। किसी ने भी महर्षि के सामने जाने का साहस न किया। इस पर पौराणिकों के पृष्ठपोषक काशी-नरेश को बहुत आत्मक्लेश सहन करना पड़ा। अन्त में एक योजना बना कर, उस के अनुसार काशी नरेश ने शास्त्रार्थ के नाम से एक नाटक, अथवा षडयन्त्र ही उसे कहना चाहिये, का आयोजन किया। स्वयं काशी नरेश ही उस शास्त्रार्थ के अध्यक्ष बने।

कार्तिक सुदि द्वादशी संवत् १९२६ विक्रमी को मंगलवार के दिन [१६ नवम्बर सन् १८६९ ई०] को वह शास्त्रार्थ-काण्ड आनन्द बाग काशी में सम्पन्न हुआ था। उसका आरम्भ वितण्डावाद के रूप में किया गया। एक ओर काशी के सभी पौराणिक पण्डित थे, उनके पृष्ठ पोषक काशी के पण्डे-पुजारी थे, और उनके हिमायती स्वयं काशी नरेश थे। दूसरी ओर सत्यानुरागी, शास्त्रार्थकेसरी, बालब्रह्मचारी परमतार्किक महर्षि दयानन्द थे। महर्षि के समर्थकों, शुभचिन्तकों, सहायकों और रक्षकों, को काशी नरेश ने निर्लज्जतापूर्ण चतुराई से दूर कर दिया था। अन्त में पौराणिक दल अपनी विजय घोषित करके कोलाहल मचाता हुआ वहां से चला गया था।

काशी के पण्डितों को वह प्रवंचना तब बहुत महंगी पड़ी थी। क्योंकि प्रत्यक्षदर्शी निष्पक्ष विद्वानों ने उसी समय काशी के पण्डित-समाज की बड़ी कटु आलोचना तथा भर्त्सना की थी। आज तक भी महर्षि दयानन्द के साथ छलपूर्ण व्यवहार करने के कारण काशी का पौराणिक पण्डित समाज कलंकित चला आता है। उस कलंक से मुक्त होने के लिये काशी की पण्डित-मण्डली ने अभी तक भी आवश्यक प्रायश्चित का अनुष्ठान किया नहीं है।

काशी शास्त्रार्थ के नाम से जो पुस्तक इन दिनों छपी हुई मिलती है, वह शास्त्रार्थ का पूर्ण विवरण नहीं है। वह तो बहुत ही संक्षिप्त-सा एवं अनेक त्रुटियों से पूर्ण संवाद-मात्र है। जो कि किसी ने देखकर, वा सुनकर अथवा किसी से पूछकर लिखा होगा। हो सकता है कि महर्षि दयानन्द के किसी वक्तव्य के आधार पर इसकी रचना की गई हो; परन्तु महर्षि दयानन्द की कृति, पुस्तक या लेख वह नहीं है। न ही उसे महर्षि की रचना मानना उचित है।

श्री पण्डित युधिष्ठिर जी मीमांसक ने अनुमान के आधार पर इस पुस्तक को भी महर्षि कृत बताने का साहस किया है। सो कोरा साहस ही है। श्री मीमांसक जी का वह भ्रमपूर्ण लेख इस प्रकार है:—

"यद्यपि इस ग्रन्थ के मुखपृष्ठ पर या आद्यान्त में कहीं पर भी महर्षि के नाम का उल्लेख नहीं है, तथापि इस ग्रन्थ के संस्कृत भाग की महर्षि के अन्य ग्रन्थों की संस्कृत से तुलना करने पर स्पष्ट विदित होता है कि इस ग्रन्थ का संस्कृत भाग अवश्य ही स्वामी जी महाराज का लिखा हुआ है। निस्सार्य, निस्सृतम्। कोलाहल, आदि अनेक अन्यत्र प्रयुक्त

असाधारण पद इसके सुदृढ़ प्रमाण हैं।"

—ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास
पृष्ठ—१७७ व १७८

श्री मीमांसक जी ने अपने—"ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास" नामक ग्रन्थ में कई पुस्तकों को महर्षि दयानन्द कृत न होने पर भी, महर्षि की रचना माना और लिखा है। यहां ऐसा समझना चाहिये कि महर्षि दयानन्द के प्रति विशेष अनुराग होने से अर्थात् मोहवश ही, श्री मीमांसक जी की ऐसी धारणा बन गई है। हम यथाप्रसंग उनसे अपना मतभेद प्रकट करेंगे। और, किसी स्वतन्त्र प्रसंग में इस विषय पर विस्तार पूर्वक लिखेंगे।

पिछले दिनों आर्य जगत् के प्रसिद्ध विद्वान् वदशास्त्रज्ञ पूज्यपाद् श्री स्वामी वेदानन्द जी महाराज का एक पत्र हमें मिला था, वह इस प्रकार है:—

॥ ओ३म् ॥

'वेद प्रकाश' के विशेषांक में जिन ग्रन्थों को आप प्रकाशित करना चाहते हैं, उनमें निम्नलिखित पुस्तकों का समावेश नहीं होना चाहिये—

१—अनुभ्रमोच्छेदन। इस पर लेखक के स्थान में पं० भीमसेन जी का नाम अङ्कित है।
२—काशी शास्त्रार्थ ३—सत्यधर्म विचार
४—हुगली शास्त्रार्थ ५—बरेली शास्त्रार्थ। आदि

संख्या २ से ५ तक ये शास्त्रार्थ आदि ऋषि के शास्त्रार्थ नामक पुस्तक के रूप में पृथक् छापे जा सकते हैं। किन्तु ऋषिकृत ग्रन्थों में नहीं। क्योंकि ये प्रायः किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा संकलित हैं।

शुभचिन्तक—वेदानन्द
२–१–२०१०

पूज्य स्वामी जी महाराज के स्पष्ट निषेध करने पर भी हम आगे काशी-शास्त्रार्थ आदि पांच पुस्तकों का प्रकाशन केवल इसीलिये कर रहे हैं कि महर्षि के जीवन और कार्यों से इनका सम्बन्ध है और इन से भी महर्षि के मन्तव्यों की जानकारी प्राप्त होती है। तथा, महर्षि के वाग्बल का भी कुछ प्रभाव पूर्ण परिचय मिलता है।

काशी-शास्त्रार्थ का प्रथम संस्करण श्री मुंशी हरवंश लाल जी के स्टार प्रेस काशी में मुद्रित हुआ था। श्री मुन्शी हरवंशलाल जी महर्षि के दृढ़ अनुयायी थे वा नहीं? यह प्रश्न सामने आने पर हम कुछ निश्चित उत्तर नहीं दे सकते। हाँ, अनुमान से कह सकते हैं–अनुयायी थे। महर्षि की "शिक्षापत्री—ध्वान्त-निवारण" नामक पुस्तक भी श्री हरवंशलाल जी के स्टार प्रेस में ही छपी थी।

अनुमान है कि काशी शास्त्रार्थ का प्रथम संस्करण केवल संस्कृत में ही था। काशी-शास्त्रार्थ पुस्तक में संस्कृत लेख का जो भाषानुवाद प्रकाशित होता है, वह जनवरी सन् १८८० ई० में "आर्य-दर्पण" नामक पत्र में प्रथमवार प्रकाशित हुआ था। 'काशी-शास्त्रार्थ' के आरम्भ में वैदिक यन्त्रालय के प्रबन्धक की जो भूमिका है। यह भी प्रायः ज्यों की त्यों, सर्वप्रथम 'आर्य-दर्पण' में ही छपी थी। आर्य-दर्पण के इस अंक में काशीशास्त्रार्थ के हिन्दी और उर्दू दोनों अनुवाद एक ही साथ प्रसिद्ध हुए थे।

अपने प्रथम आक्रमण में ही महर्षि दयानन्द ने काशी के पौराणिक मण्डल पर जो विजय प्राप्त की थी, वह अपूर्व थी। भारत के सभी नगरों में उसका प्रभाव हुआ था और महर्षि दयानन्द की उससे विशेष प्रसिद्धि भी हुई थी। महर्षि के बृहद् जीवन-चरित्र का पारायण करने से ज्ञात होता है कि जब महर्षि ने अन्य नगरों में जा-जाकर पौराणिकों को तथा इतर अवैदिक मतवादियों को ललकारा, तो किसी ने भी उनका सामना करने का साहस न किया। सभी जानते और समझते थे कि काशी का पौराणिक पण्डित मण्डल, जिसके विद्याबल के सामने पराजित हो चुका है, वहां हम किस गिनती में हैं?

वैदिक यन्त्रालय अजमेर द्वारा संवत् २००२ वि० में ग्यारहवींवार प्रकाशित 'काशी-शास्त्रार्थ' पुस्तक हम आगे प्रकाशित करवा रहे हैं। पाठकों के लाभ के लिये बड़े परिच्छेदों को छोटे परिच्छेदों में तथा संवाद को नई पंक्तियों में मुद्रित कराया गया है।

—सम्पादक

भूमिका

मैं पाठकों को इस काशी के शास्त्रार्थ का (जो कि संवत् १६२६ मि० कार्तिक सुदि १२ मंगलवार के दिन "स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी" का काशीस्थ 'स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती' तथा 'बालशास्त्री' आदि पण्डितों के साथ हुआ था) तात्पर्य सहज में प्रकाशित होने के लिये विदित करता हूँ। इस संवाद में स्वामीजी का पक्ष पाषाणमूर्तिपूजनादिखण्डनविषय और काशीवासी पण्डितजनों का मण्डन विषय था।

उनको वेदप्रमाण से मण्डन उचित था, सो कुछ भी न कर सके। क्योंकि जो कोई भी पाषाणादिमूर्तिपूजनादि में वैदिक प्रमाण होता, तो क्यों न कहते और स्वपक्ष को वैदिक प्रमाणों से सिद्ध किये विना वेदों को छोड़ कर अन्य मनुस्मृति आदि ग्रन्थ वेदों के अनुकूल हैं, वा नहीं, इस प्रकरणान्तर में क्यों जा गिरते ? क्योंकि जो पूर्व प्रतिज्ञा को छोड़ के प्रकरणान्तर में जाना है, वही पराजय का स्थान है। ऐसे हुए पश्चात् भी जिस-जिस ग्रन्थान्तर में से, जो-जो पुराण आदि शब्दों से ब्रह्मवैवर्त्तादि ग्रन्थों को सिद्ध करने लगे थे, सो भी सिद्ध न कर सके।

पश्चात् प्रतिमा शब्द से मूर्तिपूजा को सिद्ध करना चाहा था, वह भी न हो सका। पुनः पुराण शब्द विशेष्य वा विशेषण वाची है, इस में स्वामीजी का पक्ष विशेषण वाची और काशीस्थ पण्डितों का पक्ष विशेष्यवाची सिद्ध करना था, इसमें बहुत इधर उधर के वचन बोले, परन्तु सर्वत्र स्वामीजी ने विशेषणवाची, पुराण शब्द को सिद्ध कर दिया। और, काशीस्थ पण्डित लोग विशेष्यवाची सिद्ध नहीं कर सके। सो आप लोग देखिये कि शास्त्रार्थ की इन बातों से क्या ठीक-ठीक विदित होता है ?

और भी देखने की बात है कि जब माधवाचार्य्य दो पत्रे निकाल के, सब के सामने पटक के, बोले थे कि यहां पुराण शब्द किस का विशेषण है ? उस पर स्वामीजी ने उस को विशेषणवाची सिद्ध कर दिया। परन्तु काशीनिवासी पण्डितों से कुछ भी न बन पड़ा।

एक बड़ी शोचनीय यह बात उन्होंने की, जो किसी सभ्य मनुष्य के करने योग्य न थी कि ये लोग सभा में काशीराज महाराज और काशीस्थ विद्वानों के सन्मुख असभ्यता का वचन बोले। क्या स्वामीजी के कहने पर भी काशीराज आदि चुप होके बैठे रहें, और बुरे वचन बोलने वालों को न रोकें ? क्या स्वामीजी का पांच मिनिट दो पत्रों के देखने में लगा के प्रत्युत्तर देना विद्वानों की बात नहीं थी ? और क्या सब से बुरी बात यह नहीं थी कि सब सभा के बीच ताली शब्द लड़कों के सदृश किया और ऐसे महा असभ्यता के व्यवहार करने में कोई भी उन को रोकने वाला न हुआ ? और क्या एक दम उठ के चुप हो के बगीचे से बहार निकल जाना और क्या सभा में वा अन्यत्र झूठा हल्लाकरना धार्मिक और विद्वानों के आचरण से विरुद्ध नहीं था ?

यह तो हुआ सो हुआ परन्तु एक महा खोटा काम उन्होंने और किया, जो सभा के व्यवहार से अत्यन्त विरुद्ध है कि एक पुस्तक स्वामीजी की झूठी निन्दा के लिये काशीराज के छापेखाने में छपाकर प्रसिद्ध किया। और, चाहा कि उनकी बदनामी करें और करावें। परन्तु इतनी झूठी चेष्टा किये पर भी स्वामीजी उनके कर्मों पर ध्यान न देकर वा उपेक्षा करके पुनरपि उनको वेदोक्त उपदेश प्रीति से आज तक बराबर करते ही जाते हैं।

और, उक्त २६ के संवत् से लेके अब संवत् १६३७ तक, छठी वार काशीजी में आके सदा विज्ञापन लगाते जाते हैं कि पुनरपि जो कुछ आप लोगों ने वैदिक प्रमाण वा कोई युक्ति पाषाणादि मूर्तिपूजा आदि के सिद्ध करने के लिये पाई हो, तो सभ्यतापूर्वक सभा करके, फिर भी कुछ कहो वा सुनो। इस पर भी कुछ नहीं करते, यह भी कितने निश्चय करने की बात है।

॥ ओ३म् ॥

अथ काशी-शास्त्रार्थः

धर्माधर्मयोर्मध्ये शास्त्रार्थविचारो विदितो भवतु। एको दिगम्बरस्सत्यशास्त्रार्थविद्दयानन्दसरस्वती स्वामी गङ्गातटे विहरति। स ऋग्वेदादिसत्यशास्त्रेभ्यो निश्चयं कृत्वैवं वदति—

वेदेषु पाषाणादिमूर्तिपूजनविधानं शैवशाक्तगाणपतवैष्णवादिसंप्रदाया रुद्राक्षत्रिपुंड्रादिधारणं च नास्त्येव तस्मादेतत् सर्वं मिथ्यैवास्ति, नाचरणीयं कदाचित्। कुतः? एतद् वेदविरुद्धाप्रसिद्धाचरणे महत्पापं भवतीतीयं वेदादिषु मर्यादा लिखितास्ति।

एवं हरद्वारमारभ्य गंगातटे अन्यत्रापि यत्र कुत्रचिद् दयानन्दसरस्वती स्वामी खण्डनं कुर्वन् सन् काशीमागत्य दुर्गाकुण्डसमीप आनन्दारामे यत्र स्थितिं कृतवान् तदा काशीनगरे महान् कोलाहलो जातः। बहुभिः पण्डितैर्वेदादिपुस्तकानां मध्ये विचारः कृतः, परन्तु क्वापि पाषाणादिमूर्त्तिपूजनादिविधानं न लब्धम्।

प्रायेण बहूनां पाषाणपूजनादिष्वाग्रहो महानस्ति, अतः काशीराजमहाराजेन बहून् पण्डितानाहूय पृष्टं किं कर्त्तव्यमिति? तदा सर्वजनैर्निश्चयः कृतो येन केन प्रकारेण दयानन्दस्वामिना सह शास्त्रार्थं कृत्वा बहुकालात् प्रवृत्तस्याचारस्य स्थापनं यथा भवेत् तथा कर्त्तव्यमेवेति।

पुनः कार्त्तिकशुक्लद्वादश्यामेकोनविंशतिशतषड्विंशतितमे संवत्सरे (१९२६) मंगलवासरे महाराजः काशीनरेशो बहुभिः पण्डितैः सह शास्त्रार्थकरणार्थमानन्दारामं यत्र दयानन्दस्वामिना निवासः कृतः तत्रागतः।

तदा दयानन्दस्वामिना महाराजं प्रत्युक्तम्—वेदानां पुस्तकान्यानीतानि न वा?

तदा महाराजेनोक्तम्—वेदाः पण्डितानां कण्ठस्थाः सन्ति किं प्रयोजनं पुस्तकानामिति?

तदा दयानन्दस्वामिनोक्तम्—पुस्तकैर्विना पूर्वापरप्रकरणस्य यथावद्विचारस्तु न भवति।

अस्तु तावत् पुस्तकानि नानीतानि।

तदा पण्डितरघुनाथप्रसादकोटपालेन नियमः कृतो दयानन्दस्वामिना सहैकैकः पण्डितो वदतु न तु युगपदिति।

तदादौ ताराचरणनैयायिको विचारार्थमुद्यतः, तं प्रति स्वामिदयानन्देनोक्तम्—

युष्माकं वेदानां प्रामाण्यं स्वीकृतमस्ति न वेति?

तदा ताराचरणेनोक्तम्—

सर्वेषां वर्णाश्रमस्थानां वेदेषु प्रामाण्यस्वीकारोस्तीति।

तदा दयानन्दस्वामिनोक्तम्—

वेदे पाषाणादिमूर्त्तिपूजनस्य यत्र प्रमाणं भवेत्तद्दर्शनीयम्, नास्ति चेद्वद नास्तीति।

तदा ताराचरणभट्टाचार्य्येणोक्तम्—वेदेषु प्रमाणमस्ति वा नास्ति परन्तु वेदानामेव प्रामाण्यं नान्येषामिति यो ब्रूयात्तं प्रति किं वदेत्?

तदा स्वामिनोक्तम्—

अन्यो विचारस्तु पश्चाद् भविष्यति वेदविचार एव मुख्योस्ति तस्मात् स एवादौ कर्त्तव्यः, कुतो वेदोक्तकर्मैव मुख्यमस्त्यतः। मनुस्मृत्यादीन्यपि वेदमूलानि सन्ति तस्मात्तेषामपि प्रामाण्यमस्ति न तु वेदविरुद्धानां वेदाप्रसिद्धानां चेति।

तदा ताराचरणभट्टाचार्य्येणोक्तम्—मनुस्मृतेः क्वास्ति वेदमूलमिति?

स्वामिनोक्तम्—'यद्वै किंचन मनुरवदत्तद् भेषजं भेषजतायाः' इति सामवेदे +।

+ इदं पंडितानामेव मतमंगीकृत्योक्तमतो नेदं स्वामिनो मतमिति बोध्यम्।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानमित्यस्य व्याससूत्रस्य किं मूलमस्तीति ?,

तदा स्वामिनोक्तम्—अस्य प्रकरणान्तरस्योपरि विचारो न कर्त्तव्य इति।

पुनर्विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—

वदैव त्वं यदि जानासीति।

तदा दयानन्दस्वामिना प्रकरणान्तरे गमनम्भविष्यतीति मत्वा नेदमुक्तम्। कदाचित् कण्ठस्थं यस्य न भवेत् स पुस्तकं दृष्ट्वा वदेदिति।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—कण्ठस्थं नास्ति चेच्छास्त्रार्थं कर्तुं कथमुद्यतः काशीनगरे चेति।

तदा स्वामिनोक्तम्-भवतः सर्वं कण्ठस्थं वर्त्तत इति ?,

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—मम सर्वं कण्ठस्थं वर्त्तत इति।

तदा स्वामिनोक्तम्—धर्मस्य किं स्वरूपमिति ?,

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—

वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्म इति।

स्वामिनोक्तम्—इदन्तु तव संस्कृतं नास्त्यस्य प्रामाण्यं कण्ठस्थां श्रुतिं स्मृतिं वा वदेति।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—चोदनालक्षणार्थो धर्म इति जैमिनिसूत्रमिति ×।

तदा स्वामिनोक्तम्—चोदना का, चोदना नाम प्रेरणा तत्र हि श्रुतिर्वा स्मृतिर्वक्तव्या यत्र प्रेरणा भवेत्।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिना किमपि नोक्तम्।

तदास्वामिनोक्तम्—अस्तु तावद्धर्मस्वरूपप्रतिपादिका श्रुतिर्वा स्मृतिस्तु नोक्ता किं च धर्मस्य कति लक्षणानि भवन्ति वदतु भवानिति।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—एकमेव लक्षणं धर्मस्येति।

तदा स्वामिनोक्तम्—किं च तदिति ?,

तदा विशुद्धानन्दस्वामिना किमपि नोक्तम्।

तदा दयानन्दस्वामिनोक्तम्—धर्मस्य तु दश लक्षणानि सन्ति भवता कथमुक्तमेकमेवेति ?,

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—कानि तानि लक्षणानीति ?,

तदा स्वामिनोक्तम्—धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणमिति मनुस्मृतेः श्लोकोस्ति।+

तदा बालशास्त्रिणोक्तम्—अहं सर्वं धर्मशास्त्रं पठितवानिति।

तदा दयानन्दस्वामिनोक्तम्-त्वमधर्मस्य लक्षणानि वदेति।

तदा बालशास्त्रिणा किमपि नोक्तम्।

तदा बहुभिर्युगपत् पृष्टं प्रतिमा शब्दो वेदे नास्ति किमिति ?,

तदा स्वामिनोक्तम्—प्रतिमाशब्दस्त्वस्तीति।

तदा तैरुक्तं क्वास्तीति ?,

तदा स्वामिनोक्तम्—सामवेदस्य ब्राह्मणे चेति।

तदा तैरुक्तं किं च तद्वचनमिति ?, तदा स्वामिनोक्तम्-देवतायतनानि कंपन्ते दैवतप्रतिमा हसन्तीत्यादीनि।

तदा तैरुक्तम्-प्रतिमाशब्दस्तु वेदे× वर्तते भवान् कथं खण्डनं करोति ?,

तदा स्वामिनोक्तम्-प्रतिमा-शब्देनैव पाषाणपूजनादेः प्रामाण्यं न भवति, प्रतिमा शब्दस्यार्थः कर्त्तव्य इति ?,

तदा तैरुक्तम्—यस्मिन् प्रकरणेऽयं मन्त्रोऽस्ति तस्य कोऽर्थ इति ?,

तदा स्वामिनोक्तम्—अथातोद्भुतशान्तिं व्याख्यास्याम इत्युपक्रम्य त्रातारमिन्द्रमित्याद्यस्तत्रैव सर्वे मूलमन्त्रा लिखिता, एतेषां मध्यात् प्रतिमंत्रेण त्रित्रिसहस्राण्याहुतयः कार्यास्ततो व्याहृतिभिः पञ्चपञ्चाहुतयश्चेति लिखित्वा सामगानं च लिखितम्। अनेनैव

इदन्तु सूत्रमस्ति नेयं श्रुतिर्वा स्मृतिः सर्वं मम कण्ठस्थमस्तीति प्रतिज्ञावेदानीं कण्ठस्थं नोच्यत इति प्रतिज्ञाहानेस्तस्य कुतो न पराजय इति बोध्यम्।

+अत्रापि तस्य प्रतिज्ञाहानेर्निग्रहस्थानं बोध्यम्।

× अत्रापि तेषामवेदे ब्राह्मणग्रंथे वेदबुद्धित्वाद् भ्रांतिरेवास्तीति बोध्यम्।

कर्म्मणाद्भुतशान्तिर्विहिता । यस्मिन्मन्त्रे प्रतिमाशब्दोऽस्ति स मन्त्रो न मर्त्यलोकविषयोऽपितु ब्रह्मलोकविषय एव तद्यथा–"स प्राचीं दिशमन्वावर्त्ततेऽथेति" प्राच्य दिशोद्भुतदर्शनशान्तिमुक्त्वा ततो दक्षिणस्याः पश्चिमाया दिशः शान्ति कथयित्वा उत्तरस्या दिशः शान्तिरुक्ता, ततो भूमेश्चेति मर्त्यलोकस्य प्रकरणं समाप्यान्तरिक्षस्य शान्तिरुक्ता, ततो दिवश्च शान्तिविधानमुक्तम्, ततः परस्य स्वर्गस्य च नाम ब्रह्मलोकस्यैवेति ।

तदा बालशास्त्रिणोक्तम्–यस्यां यस्यां दिशि या या देवता तस्यास्तस्या देवतायाः शान्तिकरणेन दृष्टविघ्नोपशान्तिर्भवतीति ।

तदा स्वामिनो क्तमिदं तु सत्यं परन्तु विघ्नदर्शयिता कोऽस्तीति ?,

तदा बालशास्त्रिणोक्तम्-इन्द्रियाणि दर्शयितॄणीति ।

तदा स्वामिनोक्तम्-इन्द्रियाणि तु द्रष्टॄणि भवन्ति न तु दर्शयितॄणि, परन्तु स प्राचीं दिशमन्वावर्त्ततेऽथेत्यत्र स शब्दवाच्यः कोऽस्तीति ?,

तदा बालशास्त्रिणा किमपि नोक्तम् ।

तदा शिवसहायेन प्रयागस्थेनोक्तम्–अन्तरिक्षादिगमनं शान्तिकरणस्य फलमनेनोच्यते चेति ।

तदा स्वामिनोक्तम्–भवता तत्प्रकरणं दृष्टं किं ? दृष्टं चेत्तर्हि कस्यापि मंत्रस्यार्थं वदेति ।

तदा शिवसहायेन मौनं कृतम् ।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्-वेदाः कस्माज्जाता इति ?,

तदा स्वामिनोक्तम्-वेदा ईश्वराज्जाता इति ।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम् कस्मादीश्वराज्जाता ? किं न्यायशास्त्रोक्ताद्वा योगशास्त्रोक्ताद्वा वेदान्तशास्त्रोक्ताद्वेति ?,

तदा स्वामिनोक्तम्-ईश्वरा बह्वो भवन्ति किमिति ?,

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्––ईश्वरस्त्वेक एव परन्तु वेदः कीदृग्लक्षणादीश्वराज्जाता इति ।

तदा स्वामिनोक्तम्––सच्चिदानन्दलक्षणादीश्वराद्वेदा जाता इति ।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्–कोऽस्ति सम्बन्धः ? किं प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावो वा जन्यजनकभावो वा समवायसम्बन्धो वा स्वस्वामिभाव इति तादात्म्यभावो वेति ।

तदा स्वामिनोक्तम्—कार्यकारणभावः सम्बन्धश्चेति ।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्–मनो ब्रह्मेत्युपासीत, आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीतेति तथा प्रतीकोपासनमुक्तं तथा शालिग्रामपूजनमपि ग्राह्यमिति ।

तदा स्वामिनोक्तम्–यथा मनो ब्रह्मेत्युपासीत आदित्यं ब्रह्मेत्युपासीतेत्यादिवचनं वेदेषु × दृश्यते तथा पाषाणादि ब्रह्मेत्युपासीतेति वचनं क्वापि वेदेषु न दृश्यते, पुनः कथं ग्राह्यम्भवेदिति ?,

तदा माधवाचार्येणोक्तम्–'उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते सꣳसृजेथामयं च' इति मन्त्रस्थेन पूर्त्तशब्देन कस्य ग्रहणमिति ?,

तदा स्वामिनोक्तम्–वापीकूपतडागारामाणामेव नान्यस्येति ।

तदा माधवाचार्य्येणोक्तम्–पाषाणादिमूर्तिपूजनमत्र कथं न गृह्यते चेति ?,

तदा स्वामिनोक्तम्–पूर्त्तशब्दस्तु पूर्त्तिवाची वर्त्तते तस्मान्न कदाचित्पाषाणादिमूर्तिपूजन–ग्रहणं सम्भवति । यदि शङ्कास्ति तर्हि निरुक्तमस्य मन्त्रस्य पश्य ब्राह्मणं चेति ।

ततो माधवाचार्य्येणोक्तम्–पुराणशब्दो वेदेष्वस्ति न वेति ?,

तदा स्वामिनोक्तम्–पुराणशब्दस्तु बहुषु स्थलेषु वेदेषु दृश्यते परन्तु पुराणशब्देन कदाचिद् ब्रह्मवैवर्त्तादिग्रन्थानां ग्रहणं न भवति, कुतः पुराणशब्दस्तु भूतकालवाच्यस्ति सर्वत्र द्रव्यविशेषणं चेति ।

तदा विशुद्धानन्द स्वामिनोक्तम्–"एतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्व्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं श्लोका व्याख्यानान्यनु–

× इदमपि पण्डितमतानुसरेणोक्तम् नेदं स्वामिनो मतमति वेद्यम् ।

व्याख्यानानि" इत्यत्र बृहदारण्यकोपनिषदि पठितस्य सर्वस्य प्रामाण्यं वर्त्तते न वेति ?,

तदा स्वामिनोक्तम्—अस्त्येव प्रामाण्यमिति।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—श्लोकस्यापि प्रामाण्यं चेत्तदा सर्वेषां प्रामाण्यमागतमिति।

तदा स्वामिनोक्तम्-सत्यानामेव श्लोकानां प्रामाण्यं नान्येषामिति।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्-अत्र पुराणशब्दः कस्य विशेषणमिति।

तदा स्वामिनोक्तम्—पुस्तकमानय पश्चाद्विचारः कर्त्तव्य इति।

तदा माधवाचार्य्येण वेदस्य द्वे पत्रे+ निस्सारिते, अत्र पुराणशब्दः कस्य विशेषणमित्युक्तवेति।

तदा स्वामिनोक्तम्—कीदृशमस्ति वचनं पठ्यतामिति।

तदा माधवाचर्य्येण पाठः कृतस्तत्रेदं वचनमस्ति—"ब्राह्मणानीतिहासः पुराणानीति"।

तदा स्वामिनोक्तम्—पुराणानि ब्राह्मणानि नाम सनातनानीति विशेषणमिति।

तदा बालशास्त्र्यादिभिरुक्तम्-ब्राह्मणानि नवीनानि भवन्ति किमिति ?,

तदा स्वामिनोक्तम्—नवीनानि ब्राह्मणानीति कस्यचिच्छङ्कापि माभूदिति विशेषणार्थः।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—इतिहासशब्दव्यवधानेन कथं विशेषणं भवेदिति ?,

तदा स्वामिनोक्तम्—अयं नियमोऽस्ति किं व्यवधानाद्विशेषणयोगो न भवेत्सन्निधानादेव भवेदिति ? 'अजो नित्यश्शाश्वतोऽयम्पुराणो न' इति दूरस्थस्य देहिनो विशेषणानि गीतायां कथम्भवन्ति ? व्याकरणेपि नियमो नास्ति समीपस्थमेव विशेषणं भवेन्न दूरस्थमिति।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिनोक्तम्—इतिहासस्यात्र पुराणशब्दो विशेषणं नास्ति तस्मादितिहासो नवीनो

+इदमपि पण्डितानां मतं नैव स्वामिन इति वेद्यम्।

तदा स्वामिनोक्तम्—अन्यत्रास्तीतिहासस्य पुराणशब्दो विशेषणं तद्यथा—'इतिहासः पुराणः पंचमो वेदानां वेद' इत्युक्तम्।

तदा वामनाचार्यादिभिरयं पाठ एव वेदे नास्तीत्युक्तम्। तदा दयानन्दस्वामिनोक्तम्×—यदि वेदेष्वयम्पाठो न भवेन्मम पराजयो यद्ययम्पाठो वेदे यथावद्भवेत्तदा भवताम्पराजयश्चेयम्प्रतिज्ञा लेख्येत्युक्तन्तदा सर्वैर्मौनं कृतमिति।

तदा स्वामिनोक्तम्—इदानीं व्याकरणे कल्मसंज्ञा क्वापि लिखिता न वेति ?,

तदा बालशास्त्रिणोक्तम्—एकस्मिन् सूत्रे संज्ञा तु न कृता परन्तु महाभाष्यकारेणोपहासः कृत इति।

तदा स्वामिनोक्तम्-कस्य सूत्रस्य महाभाष्ये संज्ञा तु न कृतोपहासश्चेत्युदाहरणप्रत्युदाहरणपूर्वकं समाधानं वदेति ?,

बालशास्त्रिणा किमपि नोक्तमन्येनापि चेति।

तदा माधवाचार्येण द्वे पत्रे वेदस्य+ निस्सार्य्य सर्वेषां पंडितानाम्मध्ये प्रक्षिप्ते, अत्र यज्ञसमाप्तौ सत्यां दशमे दिवसे पुराणानां पाठं शृणुयादिति लिखितमत्र पुराणशब्दः कस्य विशेषणमित्युक्तम्।

तदा विशुद्धानन्दस्वामिना दयानन्दस्वामिनो हस्ते पत्रे दत्ते। तदा स्वामी पत्रे द्वे गृहीत्वा पञ्चक्षणमात्रं विचारं कृतवान्। तत्रेदं वचनं वर्त्तते—

"दशमे दिवसे यज्ञान्ते पुराणविद्यावेदः, इत्यस्य श्रवणं यजमानः कुर्य्यादिति"। अस्यायमर्थः, पुराणी चासौ विद्या च पुराणविद्या पुराणविद्येव वेदः पुराणविद्यावेद इति नाम ब्रह्मविद्यैव ग्राह्या' कुत एतदन्यत्रर्ग्वेदादीनां श्रवणमुक्तं न चोपनिषदाम्। तस्मादुपनिषदामेव ग्रहणं नान्येषाम्। पुराणविद्यावेदोपि ब्रह्मविद्यैव भवितुमर्हति नान्ये नवीना ब्रह्मवैवर्त्तादयो ग्रन्थाश्चेति। यदि ह्येवं पाठो भवेद् ब्रह्मवैवर्त्तादयो-

×इदमपि तन्मतमनुसृत्योक्तं नेदं स्वामिनो मतमिति वेदितव्यमेते पत्रे तु गृह्यसूत्रस्थे भवतामिति च।

+इदमपि तन्मतमेव नैव स्वामिन इति।

ऽष्टादश ग्रन्थाः पुराणानि चेति क्वाप्येवं वेदेषु+ पाठो नास्त्येव तस्मात्कदाचित्तेषां ग्रहणं न भवेदेवेत्यर्थ-कथनस्येच्छा कृता। तदा विशुद्धानन्दस्वामी मम विलम्बो भवतीदानीं गच्छामीत्युक्त्वा गमनायोऽत्थितोभूत्।

ततः सर्वे पण्डिता उत्थाय कोलाहलं कृत्वा गताः। एवं च तेषाम् कोलाहलमात्रेण सर्वेषां निश्चयो भविष्यति दयानन्दस्वामिनः पराजयो जात इति। अथात्र बुद्धिमद्भिर्विचारः कर्त्तव्यः कस्य जयो जातः कस्य पराजयश्चेति।

दयानन्दस्वामिनश्चत्वारः पूर्वोक्ता पूर्वपक्षास्सन्ति। तेषां चतुर्णां प्रामाण्यं नैव वेदेषु निःसृतं पुनस्तस्य पराजयः कथं भवेत्? पाषाणादिमूर्तिपूजनरचनादि-विधायकं वेदवाक्यं सभायामेतैः सर्वैर्नोक्तं येषां वेद-विरुद्धेषु वेदाप्रसिद्धेषु च पाषाणादिमूर्त्तिपूजनादिषु शैवशाक्तवैष्णवादिसंप्रदायादिषु रुद्राक्षतुलसीकाष्ठ-मालाधारणादिषु त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रादिरचनादिषु नवीनेषु ब्रह्मवैवर्त्तादिग्रन्थेषु महानाग्रहोस्ति तेषामेव पराजय जात इति तथ्यमेवेति॥

+इदमपि तन्मतमेवास्ति स्वामि न इति।

भाषार्थ

एक दयानन्द सरस्वती नामक संन्यासी दिगम्बर गङ्गा के तीर विचरते रहते हैं, जो सत्यपुरुष और सत्यशास्त्रों के वेत्ता हैं। उन्होंने सम्पूर्ण ऋग्वेदादि का विचार किया है, सो ऐसा सत्यशास्त्रों को देख निश्चय करके कहते हैं कि पाषाणादि मूर्त्तिपूजन, शैव, शाक्त, गाणपत और वैष्णव आदि संप्रदायों और रुद्राक्ष, तुलसीमाला, त्रिपुंड्रादि धारण का विधान कहीं भी वेदों में नहीं है, इससे ये सब मिथ्या ही हैं, कदापि इनका आचरण न करना चाहिये। क्योंकि वेदविरुद्ध और वेदों में अप्रसिद्ध के आचरण से बड़ा पाप होता है, ऐसी मर्यादा वेदों में लिखी है।

इस हेतु से उक्त स्वामीजी हरिद्वार से लेकर सर्वत्र इस का खण्डन करते हुए काशी में आ के, दुर्गाकुंड के समीप आनन्दबाग में स्थित हुए। उनके आने की धूम मची। बहुत से पण्डितों ने वेदों के पुस्तकों में विचार करना आरम्भ किया। परन्तु पाषाणादि मूर्तिपूजा का विधान कहीं भी किसी को न मिला।

बहुधा करके इसके पूजन में आग्रह बहुतों को है। इससे काशीराज महाराज ने बहुत से पण्डितों को बुलाकर पूछा कि इस विषय में क्या करना चाहिये? तब सब ने ऐसा निश्चय करके कहा कि किसी प्रकार से दयानन्द सरस्वती स्वामी के साथ शास्त्रार्थ करके, बहुकाल से प्रवृत्त आचार को जैसे स्थापन हो सके, करना चाहिये।

निदान कार्तिक सुदि १२ सं १९२६ मंगलवार को महाराज काशीनरेश बहुत से पण्डितों को साथ लेकर जब स्वामीजी से शास्त्रार्थ करने के हेतु आये, तब दयानन्द स्वामीजी ने महाराज से पूछा कि आप वेदों की पुस्तक ले आये हैं वा नहीं?

महाराज ने कहा कि वेद सम्पूर्ण पण्डितों को कण्ठस्थ हैं, पुस्तकों का क्या प्रयोजन है?, तब दयानन्द सरस्वतीजी ने कहा कि पुस्तकों के बिना पूर्वापर प्रकरण का विचार ठीक-ठीक नहीं हो सकता, भला पुस्तक नहीं लाये, तो नहीं सही परन्तु किस विषय पर विचार होगा?

पण्डितों ने कहा कि तुम मूर्तिपूजा का खंडन करते हो, हम लोग उसका मंडन करेंगे।

पुनः स्वामीजी ने कहा कि जो कोई आप लोगों में मुख्य हो, वही एक पण्डित मुझ से संवाद करे।

पण्डित रघुनाथप्रसाद कोतवाल ने यह नियम किया कि स्वामीजी से एक-एक पण्डित विचार करे।

पुनः सब से पहिले ताराचरण नैयायिक स्वामीजी से विचार के हेतु सम्मुख प्रवृत्त हुए। स्वामीजी ने उन से पूछा कि आप वेदों का प्रमाण मानते हैं वा नहीं?, उन्होंने उत्तर दिया कि जो वर्णाश्रम में स्थित

शास्त्र देखा है। इस पर स्वामी ने कहा कि आप अधर्म का लक्षण कहिये? तब बालशास्त्री जी ने कुछ भी उत्तर न दिया।

फिर बहुत से पण्डितों ने इकट्ठे हल्ला करके पूछा कि वेद में प्रतिमा शब्द है वा नहीं?, इस पर स्वामीजी ने कहा कि प्रतिमा शब्द तो है। फिर उन लोगों ने कहा कि कहां पर है?, इस पर स्वामी जी ने कहा कि सामवेद के ब्राह्मण में है। फिर उन लोगों ने कहा कि वह कौन सा बचन है?, इस पर स्वामी जी ने कहा कि यह है—देवता के स्थान कंपायमान और प्रतिमा हँसती है इत्यादि ×। फिर उन लोगों ने कहा कि प्रतिमा शब्द तो वेदों में भी है फिर आप कैसे खण्डन करते हैं?, इस पर स्वामी जी ने कहा कि प्रतिमा शब्द से पाषाणादि मूर्त्तिपूजनादि का प्रमाण नहीं हो सकता है।

इसलिये प्रतिमा शब्द का अर्थ करना चाहिये इस का क्या अर्थ है?

तब उन लोगों ने कहा कि जिस प्रकरण में यह मन्त्र है, उस प्रकरण का क्या अर्थ है?, इस पर स्वामी जी ने कहा कि यह अर्थ है—अब अद्भुत शांति की व्याख्या करते हैं, ऐसा प्रारम्भ करके फिर रक्षा करने के लिये इन्द्र इत्यादि सब मूलमन्त्र वहीं सामवेद के ब्राह्मण में लिखे हैं। इनमें से प्रति-मन्त्र करके तीन हजार आहुति करनी चाहियें। इसके अनन्तर व्याहृति करके पांच-पांच आहुति करनी चाहियें। ऐसा लिख के सामगान भी करना लिखा है। इस क्रम करके अद्भुत शांति का विधान किया है। जिस मन्त्र में प्रतिमा शब्द है, सो मन्त्र मृत्युलोक विषयक नहीं, किन्तु ब्रह्मलोक विषयक है। सो ऐसा है कि 'जब विघ्नकर्त्ता देवता पूर्वदिशा में वर्त्तमान होवें' इत्यादि मन्त्रों से अद्भुतदर्शन की शांति कहकर फिर दक्षिणदिशा पश्चिमदिशा और उत्तर दिशा, इसके अनन्तर भूमि की शान्ति कहकर, मृत्युलोक का प्रकरण समाप्त कर, अन्तरिक्ष की शांति कहके, इसके अनन्तर स्वर्गलोक फिर परमस्वर्ग अर्थात् ब्रह्मलोक की शान्ति कही है। इस पर सब चुप रहे।

फिर बालशास्त्री ने कहा कि जिस-जिस दिशा में जो-जो देवता है, उस-उस की शांति करने से अद्भुत देखने वालों के विघ्न की शांति होती है। इस पर स्वामीजीने कहा कि यह तो सत्य है; परन्तु इस प्रकार से विघ्न दिखाने वाला कौन है?

तब बालशास्त्री ने कहा कि इन्द्रियां दिखाने वाली हैं। इस पर स्वामीजी ने कहा कि इन्द्रियां तो देखने-वाली हैं दिखाने वाली नहीं, परन्तु "स प्राचीं दिश-मन्वावर्त्ततेऽथैतयत्र" इत्यादि मन्त्रों में 'स' शब्द का वाच्यार्थ क्या है?, तब बालशास्त्रीजी ने कुछ न कहा।

फिर पंडित शिवसहायजी ने कहा कि अन्तरिक्ष आदि गमन शांति करने से फल इस मन्त्र करके कहा जाता है।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि आपने वह प्रकरण देखा है, तो किसी मन्त्र का अर्थ कहिये। तब शिव-सहायजी चुप हो रहे।

फिर विशुद्धानन्दस्वामीजी ने कहा कि वेद किससे उत्पन्न हुए हैं?, इस पर स्वामीजी ने कहा कि वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं। फिर विशुद्धानन्द स्वामी ने कहा कि किस ईश्वर से? क्या न्यायशास्त्र प्रसिद्ध ईश्वर से, वा योगशास्त्र प्रसिद्ध ईश्वर से, अथवा वेदांत-शास्त्र प्रसिद्ध ईश्वर से? इत्यादि। इस पर स्वामीजी ने कहा कि क्या ईश्वर बहुत से हैं?, तब विशुद्धानन्द स्वामीजी ने कहा कि ईश्वर तो एक ही है परन्तु वेद कौन से लक्षणवाले ईश्वर से प्रकाशित भये हैं?, इस पर स्वामीजी ने कहा कि सच्चिदानन्द लक्षणवाले ईश्वर से प्रकाशित भये हैं।

फिर विशुद्धानन्द स्वामीजी ने कहा कि ईश्वर और वेदों से क्या सम्बन्ध है? क्या प्रतिपाद्यप्रति-पादकभाव वा जन्यजनकभाव अथवा समवायसम्बन्ध वा स्वस्वामिभाव अथवा तादात्म्य सम्बन्ध है? इत्यादि। इस पर स्वामीजी ने कहा कि कार्य्यकारण

× यह वेदवचन नहीं किंतु सामवेद के षड्विंश ब्राह्मण का है परन्तु यहाँ भी वह प्रक्षिप्त है, क्योंकि वेदों से विरुद्ध है।

हास का तो पुराण शब्द विशेषण नहीं है, इससे क्या इतिहास नवीन ग्रहण करना चाहिये ?

इस पर स्वामीजी ने कहा कि और जगह पर इतिहास का विशेषण पुराण शब्द है। सुनिये—"इतिहासः पुराणं पंचमो वेदानां वेदः" इत्यादि में कहा है।

तब वामनाचार्य आदिकों ने कहा कि वेदों में यह पाठ ही कहीं भी नहीं है। इस पर स्वामीजी ने कहा कि यदि वेद * में यह पाठ न होवे, तो हमारा पराजय हो, और जो हो, तो तुम्हारा पराजय हो, यह प्रतिज्ञा लिखो, तब सब चुप रहे।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि व्याकरण जानने वाले इस पर कहें कि व्याकरण में कहीं कल्म संज्ञा करी है, वा नहीं ?

तब बालशास्त्रीजी ने कहा कि संज्ञा तो नहीं की है, परन्तु एक सूत्र में भाष्यकार ने उपहास किया है।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि किस सूत्र के महाभाष्य में संज्ञा तो नहीं की और उपहास किया है ? यदि जानते हो, तो इसके उदाहरणपूर्वक समाधान कहो।

तब बालशास्त्री और औरों ने कुछ भी न कहा। माधवाचार्य ने दो पत्रे वेदों × के निकाल कर सब पण्डितों के बीच में रख दिये और कहा कि यहाँ यज्ञ के समाप्त होने पर यजमान दशवें दिन पुराणों का पाठ सुने, ऐसा लिखा है। यहां पुराण शब्द किसका विशेषण है ?

स्वामीजी ने कहा कि पढ़ो इसमें किस प्रकार का पाठ है ?, जब किसी ने पाठ न किया, तब विशुद्धानन्दजी ने पत्रे उठा के स्वामीजी के ओर करके कहा कि तुम ही पढ़ो।

स्वामीजी ने कहा कि आप ही इसका पाठ कीजिये। तब विशुद्धानन्द स्वमीजी ने कहा कि मैं ऐनक के विना पाठ नहीं कर सकता, ऐसा कहके वे पत्रे उठाकर विशुद्धानन्द स्वामी ने दयानन्द स्वामीजी के हाथ में दिये।

* यह उन्हीं पंडितों के मतानुसार कहा है, किंतु स्वामीजी तो छांदोग्य उपनिषद् को वेद नहीं मानते।

× ये पत्रे गृह्यसूत्र के पाठ के थे, वेदों के नहीं।

इस पर स्वामीजी दोनों पत्रे लेकर विचार करने लगे। इसमें अनुमान है कि ५ पल व्यतीत हुए होंगे कि ज्यों ही स्वामीजी यह उत्तर कहा चाहते थे कि "पुरानी जो विद्या है, उसे पुराण विद्या कहते हैं और जो पुराणविद्या वेद है, वही पुराणविद्या वेद कहाता है, इत्यादि से यहां ब्रह्मविद्या ही का ग्रहण है। क्योंकि पूर्व प्रकरण में ऋग्वेदादि चारों वेद आदि का तो श्रवण कहा है, परन्तु उपनिषदों का नहीं कहा, इसलिये यहां उपनिषदों का ही ग्रहण है औरों का नहीं। पुरानी विद्या वेदों ही की ब्रह्मविद्या है। इससे ब्रह्मवैवर्त्तादि नवीन ग्रन्थों का ग्रहण कभी नहीं कर सकते। क्योंकि जो यहां ऐसा पाठ होता कि ब्रह्मवैवर्त्तादि १८ (अठारह) ग्रन्थ पुराण हैं, सो तो वेद में + कहीं ऐसा पाठ नहीं है इसलिये कदाचित् अठारहों का ग्रहण नहीं हो सकता" कि ज्योंहि यह उत्तर कहना चाहते थे कि विशुद्धानन्द स्वामी उठ खड़े हुए और कहा कि हमको विलम्ब होता है, हम जाते हैं।

तब सब के सब उठ खड़े हुए और कोलाहल करते हुए चले गये, इस अभिप्राय से कि लोगों पर विदित हो कि दयानन्द स्वामी का पराजय × हुआ। परन्तु जो दयानन्द स्वामीजी के ४ पूर्वोक्त प्रश्न हैं, उनका वेद में तो प्रमाण ही न निकला फिर क्योंकर उनका पराजय हुआ ?

॥ इति ॥

+ यह पंडितों के मतानुसार कहा है यह स्वामीजी का मत नहीं है।

× क्या किसी का भी इस शास्त्रार्थ से ऐसा निश्चय हो सकता है कि स्वामीजी का पराजय और काशीस्थ पंडितों का विजय हुआ। किंतु इस शास्त्रार्थ से यह तो ठीक निश्चय होता है कि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी का विजय हुआ और काशीस्थों का नहीं, क्योंकि स्वामीजी का तो वेदोक्त सत्यमत है, उसका विजय क्योंकर न होवे ? काशीस्थ पंडितों का पुराण और तंत्रोक्त मत जो पाषाणादि मूर्त्तिपूजादि है। उनका पराजय होना कौन रोक सकता है ? यह निश्चित है कि असत्य पक्ष वालों का पराजय और सत्य वालों का सर्वदा विजय होता है ॥

* ओ३म् *

हुगली-शास्त्रार्थ

और

प्रतिमा-पूजन-विचार

सम्पादक का निवेदन

चैत्र शुक्ला एकादशी संवत् १९३० वि० तदानुसार ८ अप्रैल, सन् १८७३ ई० को, बंग-प्रदेशान्तर्गत हुगली नगर में काशीराज महाराज के पण्डित श्री ताराचरण जी तर्करत्न से महर्षि दयानन्द का जो प्रसिद्ध शास्त्रार्थ मूर्त्ति-पूजन के विषय में हुआ था, उसी का कुछ विवरण आगे 'हुगली-शास्त्रार्थ' शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित हो रहा है।

श्री पण्डित ताराचरण जी महर्षि दयानन्द के विद्याबल एवं वाग्वैभव से सुपरिचित थे। संवत् १९२६ वि० में काशी के पण्डित-समाज से महर्षि का, जो प्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुआ था, श्री तर्करत्न महोदय भी उसमें उपस्थित थे। उपस्थित क्या ? काशी-पण्डित समाज की ओर से प्रथमवक्ता के रूप में उस शास्त्रार्थ का आरम्भ भी श्री ताराचरण जी ने ही किया था। परन्तु बेचारे दो चार बार के प्रश्नोत्तर में ही चुप और हतप्रभ होकर, महर्षि का मुंह ताकने लगे थे। तब श्री स्वामी विशुद्धानन्द जी महाराज, तर्करत्न महोदय की लाज रक्षा के लिये आगे बढ़ आये थे।

हुगली में जब शास्त्रार्थ-चर्चा चली थी, तो पहिले तो श्री ताराचरण जी ने उस से दूर ही रहने का यत्न किया था। परन्तु ऐसा करके भी, लोगों के आग्रह पर अन्त में उन्हें महर्षि के सामने आना ही पड़ा था। और पराजय ? उसके लिये तो वे तैयार होकर ही आये थे। शास्त्रार्थ के अन्त में महर्षि से अपने व्यक्तिगत वार्तालाप में, उन्होंने मूर्तिपूजा की व्यर्थता और अवैदिकता भी स्पष्ट मान ली थी।

धर्मवीर श्री पण्डित लेखराम जी महर्षि के जीवन-चरित्र में पृ० ७६१ पर लिखते हैं:—

"संवत् १९३० में यह शास्त्रार्थ संस्कृत भाषा में हुआ। उसी समय इसका अनुवाद बंगला भाषा में मुद्रित किया गया। और बहुत शीघ्र ही सं० १९३० वि० [सन् १८७३ ई०] में 'लाइट प्रेस बनारस' में २८ पृष्ठ का बाबू हरिश्चन्द्र (एक मूर्तिपूजक) ने जो कि गोकुलिया गोस्वामी मत में था, उसे शब्दशः आर्य भाषा में छपवाकर मुद्रित किया। आज तक पांच बार छप चुका है। परन्तु पृथक् पुस्तक विक्रयार्थ नहीं मिलता।"

प्रश्न होता है कि मूर्तिपूजक बाबू हरिश्चन्द्र ने इसे क्यों छपवाया था ? उत्तर यह है कि बाबू हरिश्चन्द्र जी वैष्णव थे। अतः उनके लिये श्री पण्डित ताराचरण तर्करत्न, जो कि शैव थे, की पराजय अत्यन्त आनन्ददायक थी। ये बाबू हरिश्चन्द्र और कोई नहीं—हिन्दी के स्वनाम धन्य युगविधायक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ही थे।

श्री युधिष्ठिर जी मीमांसक लिखते हैं:-

"यहां यह ध्यान रहे कि मूल-ग्रंथ संस्कृत में ही लिखा गया था। क्योंकि ऋषि दयानन्द उस

समय तक संस्कृत में ही भाषण किया करते थे।"

—ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास पृ० १८१

महर्षि दयानन्द विरचित संस्कृत पुस्तक, कब, कहां से छपी थी? छपी थी, या नहीं? इन प्रश्नों का कहीं से कुछ भी उत्तर प्राप्त नहीं होता। किसी ने इस विषय में कुछ भी नहीं लिखा। जिस रूप में 'हुगली-शास्त्रार्थ' और 'प्रतिमा-पूजन' विचार इस समय प्राप्त होते हैं, उसमें, इनको महर्षि दयानन्द कृत नहीं माना जा सकता।

श्री पण्डित भगवद्दत्त जी ने अपनी 'ऋषि दयानंद के पत्र और विज्ञापन' नामक प्रसिद्ध पुस्तक में पृ० ५ से पृ० २० तक में 'विज्ञापनपत्रमिदम्' शीर्षक के नीचे इस पुस्तक को प्रकाशित किया है। पृष्ठ ५ पर ही टिप्पणी में श्री पं० भगवद्दत्त जी लिखते हैं:—

"यह विज्ञापन पत्र प्रतिमा पूजन विचार के नाम से १८×२२ के आठ पृष्ठवाले आकार के २८ पृष्ठों पर श्री स्वामी जी ने स्वयं छपवा दिया था। इसके आरम्भ में १३ पृष्ठों पर हुगली शास्त्रार्थ छपा है और उससे आगे प्रतिमा पूजन पर विचार किया है।"

फिर लिखते हैं:—

"इस विज्ञापन का पूर्वांश हुगली शास्त्रार्थ पं० लेखराम कृत जीवन-चरित्र के पृष्ठ २०१—२०८ पर तथा देवेन्द्र बाबू और पं० घासीराम रचित जीवन चरित्र के पृ० २३६—२३८ पर छपा है। दोनों स्थानों में यह विज्ञापन अपने शुद्ध रूप में नहीं है। दोनों ने इसका संक्षेप दिया है। पं० लेखराम ने देवेन्द्र बाबू की अपेक्षा मूल का अधिक रक्षण किया है। इसकी मूल मुद्रित प्रति म० मामराज फरुखाबाद से सम्वत् १९८३ में लाये थे। वह मूल प्रति अब हमारे संग्रह में सुरक्षित है।"

खेद है कि जिस मूलप्रति का ऊपर उल्लेख किया गया है, वह सन् १९४७ के भारत-विभाजन दुष्काण्ड के समय बहुत-कुछ के साथ, लाहौर में भस्म हो चुकी है।

इस पुस्तक का हिन्दी अनुवादक कौन है? कुछ ज्ञात नहीं होता। श्री पं० भगवद्दत्त जी के पास जो प्रति थी, उसमें महर्षि दयानन्द का संस्कृत लेख था कि नहीं? इस विषय में पण्डित जी ने कुछ नहीं लिखा। हम समझते है कि उसमें संस्कृत लेख नहीं था। होता, तो प्रकाशित किया जाता। समझ में नहीं आता कि श्री पं० भगवद्दत्त जी ने मूल-पाठ किसको कहा है? और मूल-पाठ के संरक्षण पर क्यों विशेष बल दिया है? और हिन्दी भाषा के अत्यन्त भ्रष्ट एवं विकृत अनुवाद को ही मूलवत् मान कर, उसके स्वरूप को सुरक्षित रखने का विशेष यत्न पण्डित जी ने क्यों किया है?

हुगली शास्त्रार्थ के प्रसंग को लेकर महर्षि दयानन्द के विरुद्ध संस्कृत वा बंगला में कोई लेख वा पुस्तक छपा था वा नहीं? इस विषय में भी निश्चित रूप में कुछ ज्ञात नहीं होता। हमारा अनुमान है कि श्री ताराचरण जी ने महर्षि के विरुद्ध कोई लेख अवश्य ही लिखा था और उसी के उत्तर में महर्षि दयानन्द ने इस पुस्तक की रचना की थी।

श्री पण्डित भगवद्दत्त जी ने इस पुस्तक का जो स्वरूप प्रकाशित किया है। उसी के आधार पर हमने इस पुस्तक का सम्पादन किया है। हुगली शास्त्रार्थ का लेख अनेक स्थानों में खंडित है। जिससे वह प्रमाण योग्य नहीं है। उससे तो पक्ष विपक्ष का विचार करना भी कठिन है।

"प्रतिमा-पूजन-विचार" प्रकरण को हमने स्पष्ट पृथक् रूप दे दिया है। भाषा के कुछ शब्दों को आवश्यक समझ कर आजकल के समान कर दिया है।

—सम्पादक

"वेदप्रकाश" के ग्राहक बनें व अन्यों को बनावें।

अपने प्रत्येक पत्र में पूरा पता और ग्राहक संख्या अवश्य लिखा करें। —संचालक

ये सब लोग आ के सभा के स्थान में इकट्ठे भये। तब मैं भी उस स्थान में आया। फिर सब यथा योग्य बैठे। तब ताराचरण जी ने प्रतिज्ञा की कि हम प्रतिमा का स्थापन पक्ष लेते हैं फिर मैंने कहा कि जो आपकी इच्छा हो सो लीजिये। मैं तो इस बात का खण्डन ही करूंगा।

तब उन ने मुझसे कहा कि इस सम्वाद में वाद होना ठीक है, वा जल्प अथवा वितण्डा। उन से मैंने कहा कि वाद ही होना उचित है। क्योंकि जल्प और वितण्डा सज्जनों को करना कभी उचित नहीं। वाद गोतमोक्त लेना। तब उन्होंने भी स्वीकार किया।

फिर दूसरी यह प्रतिज्ञा उस समय में की गई कि चार वेद तथा चार उपवेद, छः वेदों के अंग और छः दर्शन मुनियों के किये तथा मुनि और ऋषियों के किये छः शास्त्रों के व्याख्यान, उन्हीं के वचन प्रमाण से ही कहना। अन्य कोई का प्रमाण नहीं। तब उनने भी स्वीकार किया। मैंने भी।

× तर्करत्न—पातञ्जल सूत्रम्—

चित्तस्य आलम्बने स्थूल आभोगो वितर्कः। इति व्यासवचनम्।

तर्करत्न के हाथ में पुस्तक भी थी। उसको देखा। तब भी मिथ्या ही उनने लिखा। क्योंकि योग शास्त्र पढ़ा होय, तब उस शास्त्र को जान सकता है। तर्करत्न ने पढ़ा तो था नहीं। इससे उनने अशुद्ध लिखा। जो पढ़ा भया होता है, सो ऐसा भ्रष्ट कभी नहीं लिखता। देखना चाहिये कि ऐसा पातंजल-शास्त्र में सूत्र ही नहीं है। किन्तु ऐसा सूत्र तो है:—

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति निबन्धनी, इति।

सो इस सूत्र के व्याख्यान में "नासिकाग्रे धारयत" इत्यादिक वहां लिखा है। यह तो उनने जाना भी नहीं। इससे उनका लिखना भ्रष्ट है। फिर लिखते हैं कि—

इति व्यास वचनम्।

इस प्रकार का वचन व्यास जी ने कहीं योग शास्त्र की व्याख्या में नहीं लिखा। इससे यह भी उनका वचन भ्रष्ट ही है। फिर यह लिखा कि—

स्वरूपे साक्षाद्वती प्रज्ञा आभोगः स च स्थूलविषयत्वात् स्थूल इत्यादि।

यह भी उनका लिखना अशुद्ध ही है। क्योंकि प्रतिज्ञा तो ऐसी पूर्व की गई थी कि वेदादिक शास्त्र वचनों से ही प्रतिमा पूजन का स्थापन हम करेंगे। और वचन फिर लिखा वाचस्पति का। इससे तर्करत्न की प्रतिज्ञा हानि हो गई। प्रतिज्ञा की हानि होने से उनका पराजय हो गया। क्योंकि—प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरमित्यादिक निग्रह स्थान होते हैं। यद्यपि हमको जय तथा पराजय की इच्छा कभी नहीं है, तथापि गोतम मुनि जी ने छब्बीस निग्रह स्थान लिखे हैं।

निग्रह स्थान सब पराजय के स्थान ही होते हैं। और, पहिले प्रतिज्ञा की थी कि जल्प और वितण्डा न करेंगे। फिर जाति-साधन से प्रतिमा का स्थापन करने लगे। क्योंकि प्रतिमा भी स्थूल साधर्म्य से आती है।

स्वामी—

यावान् जागरितावस्थाविषयः तावान् सर्वः स्थूलः कुत, इत्यादि।

मैंने उनको ज्ञापक से जना दिया कि ये गृहस्थ हैं। इनकी अप्रतिष्ठा न हो जाय। तदपि उनने कुछ भी नहीं जाना। जानें तो तब, जब कुछ शास्त्र पढ़ा हो। अथवा बुद्धि शुद्ध हो।

साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षेत्यादिक चौबीस प्रकार का शास्त्रार्थ जाति के विषय में गोतम मुनि जी ने लिखा है। इसके नहीं जानने से जल्प और वितण्डा तर्करत्न ने किये। क्योंकि—

यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः ॥१॥

जैसा कि इन सूत्रों का अभिप्राय है, वैसा ही तर्करत्न जी ने प्रतिमा-पूजन का स्थापन करने में जल्प और वितण्डा ही किया।

× जहां-जहां तर्करत्न शब्द आवे, वहां-वहां ताराचरण पण्डित जी को जान लेना। और जहां-जहां स्वामी शब्द आवे, वहां-वहां दयानन्द सरस्वती स्वामी जी को जान लेना।

इससे दूसरे बेर प्रतिज्ञा हानि उनने की। द्वितीय पराजय उनका हुआ।

यदुक्तं भवता तेनैव प्रतिमा पूजनमेव सिद्ध्यत्येव तस्या स्थूलत्वात्।

इसमें तीन बेर 'एव' शब्द लिखने से यह जाना गया कि ताराचरण जी को संस्कृत का यथावत् बोध भी नहीं है। इससे तर्करत्न जी अभिमान में डूबे जाते हैं। क्योंकि हम बड़े पण्डित हैं। इस प्रकार का जो स्वमुख से कहना है, सोई विद्याहीनता को जनाता है। फिर लोकान्तरस्थ शब्द से मैंने उनको जनाया कि जो चतुर्भुज को आप लेते हो, सो तो वैकुण्ठ में सुने जाते हैं। "उप" अर्थात् समीप "आसना" अर्थात् स्थिति सो मनुष्य लोक में रहने वाला कैसे कर सकेगा? कभी नहीं। और, जो पाषाणादिक की मूर्त्ति शिल्पी की रची भई; सो तो विष्णु है नहीं। तब भी पण्डित जी कुछ नहीं समझे। क्योंकि जो कुछ विद्या पढ़ी होती, अथवा सत्पुरुषों का संग किया होता, तो समझ जाते। सो तो कभी किया नहीं। इससे ताराचरण जी उस बात को न समझ सके। फिर एक कहीं से सुनी सुनाई ब्राह्मण की श्रुति बिना प्रसंग से पढ़ी। सो यह है:—

अथ स यदा पितृनावाहयति पितृलोकेन तेन सम्पन्नो महीयते।

इस श्रुति से लोकान्तरस्थ की भी उपासना आती है। इस अभिप्राय से देखना चाहिये। इस श्रुति में उपासना लेशमात्र नहीं आती। क्योंकि यह श्रुति जिस योगी को अणिमादिक सिद्धि हो गई हैं, वह सिद्ध जिस-जिस लोक में जाने की इच्छा करता है, उस-उस लोक को उसी समय प्राप्त होता है। सो जब पितृलोक में जाने की इच्छा करता है, पितृलोक को प्राप्त होके आनन्द करता है। क्योंकि—

तेन पितृलोकेन महीयते।

इत्युक्तत्वात्। ऐसे इच्छा मात्र से ही ब्रह्मलोकादिक में विहार करता है। इससे इस श्रुति में मरकर उस लोक में जाता है, अथवा पितरों की उपासना इस लोक में करता है, इस अभिप्राय के नहीं होने से, ताराचरण जी का कहना मिथ्या ही है। इससे क्या आया कि अर्थान्तर का जो कहना है, सो निग्रह स्थान ही है। निग्रह स्थान के होने से पराजय हो गया।

स्वामी—

सर्वः स्थूल इत्यनेनेत्यादि देहान्तरगतस्य प्राप्तित्वादिति दिव्ययोग देह प्राप्तित्वाद्योगिनो न तु प्राकृतदेहस्य माहात्म्यमिदमित्यर्थस्य जागरूकत्वात् देहान्तर।

अर्थात् जो दिव्य योग सिद्धियों से प्राप्त होता है, उस देह से यह बात होती है। और जो अयोगी का देह नाम शरीर, उससे कभी यह बात नहीं होती।

तर्करत्नः—

प्रथमतः अस्माभिरित्यादि०

दूषण अथवा भूषण का ज्ञान तो, विद्या होने से होता है। अन्यथा नहीं। क्योंकि दूषण तो आपके वचनों में है, परन्तु आपने नहीं जाने। यह आपकी बुद्धि का दोष है? जो आपने प्रत्यक्ष दिखाये दूषणों को भी नहीं जाना। ऐसे दूषणों को तो बालक भी जान सकता है।

तन्मध्ये प्रतिमापि वर्तते इत्येवेत्यादि०

आप देख लीजिये कि हम वाद ही करेंगे, जल्प और वितण्डा कभी नहीं।

[स्वामीः—] फिर वार-वार स्थूलत्व साधर्म्य से ही प्रतिमा पूजन स्थापन किया चाहते हो। सो अपनी प्रतिज्ञा को आप ही नाश करते हैं। और फिर चाहते हो कि हमारा विजय होवे। सो कभी नहीं हो सकता है। क्योंकि विजय तो पूर्ण विद्या और सत्य भाषण करने से होता है। सो आप में एक भी नहीं। इससे आप विजय की इच्छा कभी मत करो। किन्तु आपको अपने पराजय की इच्छा करनी उचित है।

किंच जो आप लोगों की इच्छा होवे, तो वेदादिक सत्यशास्त्रों को अर्थ ज्ञान सहित पढ़ेंगे, तथा पढ़ावेंगे, तब फिर आप लोगों का पराजय कभी न होगा। किन्तु सर्वत्र विजय ही होगा। अन्यथा नहीं।

दृष्टान्तत्वेनेत्यादि०। छान्दोग्य दहर विद्यायामित्यादि० चेति।

उस श्रुति का एक अंश दार्ष्टान्त में नहीं मिलने से, वह आपका कहना मिथ्या ही है। सो मैंने कह दिया। पहिले उससे जान लेना।

यह किसने कहा कि जीवता पुरुष को उपासना का अधिकार नहीं है। सो यह आपका कहना मिथ्या ही है। क्योंकि ब्रह्मविद्या का और पाषाणादिक मूर्ति पूजन का क्या प्रसंग है? कुछ भी नहीं। इससे यह भी अर्थान्तर है। अर्थान्तर के होने से निग्रहस्थान अर्थात् पराजय स्थान आपका है। सो आप यथावत् विचार करके जान लेवें।

[तर्करत्नः—]

प्रथमतः अस्माभिः यत् भवत्पक्ष इत्यादि तत्र प्रतिमापि वर्त्तते इत्येवेति।

आप जान लेवें कि साधर्म्य हेतु प्रमाण से ही बोलते हैं। इससे आपके कहे जितने दूषण हैं, वे सब आपके ऊपर ही आ गये। क्योंकि आप अपनी प्रतिज्ञा अर्थात् वाद ही हम करेंगे, ऐसी प्रथमतः कह चुके हैं। फिर जल्प और वितण्डा ही बारम्बार करते हैं। इससे अपना पराजय आप ही कर चुके। क्योंकि आपको जो विद्या और बुद्धि होती, तो कभी ऐसी भ्रष्ट बात न करते। और, निग्रहस्थान में बारम्बार न आते। आपको संस्कृत भाषण करने का भी यथावत् ज्ञान नहीं है। क्योंकि—

प्रथमतः अस्माभि यत्

ऐसा भ्रष्ट असंबद्ध भाषण कभी न करते। किंच—

प्रथमतोस्माभिर्यत्

ऐसा श्रेष्ठ और संबद्ध संस्कृत ही कहते।

दृष्टान्ते सर्वविषयाणां साम्यप्रयोजनं नास्तीति।

यह भी आपका कहना भ्रष्ट ही है। क्योंकि मैंने कब ऐसा कहा था कि सब प्रकार से दृष्टान्त मिलता है। यह श्रुति एक अंश से आपके अभिप्राय से मिलती नहीं। इसमें मैंने कहा कि इस श्रुति का पढ़ना आपका मिथ्या ही है। ऐसा ही आपका कहना सब भ्रष्ट है।

स्वामी:—

तच्चेत्यादि तत्र प्रतिमापि वर्त्तते०।

यह आपका जो कहना है, सो प्रतिज्ञान्तर ही है। क्योंकि स्थूलत्व तुल्य जो प्रतिमा में और गर्दभादिकों में है। इस हेतु से ही प्रतिमा-पूजन का स्थापन करा चाहते हो। सो फिर भी जल्प और वितण्डा ही आती है, वाद नहीं। इससे बारम्बार आपका पराजय होता गया। फिर भी आपको बुद्धि वा लज्जा न आई। यह बड़ा आश्चर्य जानना चाहिये कि अभिमान तो पण्डितता का करें; और काम करें अपण्डित का।

तर्करत्नः—

प्रतिमापि वर्त्तते इत्यादि अयं तु प्रकृत विषयस्य साधकः न तु प्रतिज्ञान्तरं इत्यादि।

स्वामी:—प्रकृत विषय यही है कि प्रतिमा पूजन का स्थापन, सो स्थापना वाद से, और वेदादिक सत्यशास्त्रों के प्रमाण से ही करना। फिर उस प्रतिज्ञा को छोड़ के जल्प, तथा वितण्डा और मिथ्या कल्पित वचन ये वाचस्पत्यादिकों के उनसे स्थापन करने में लग गये। अहो इत्याश्चर्य कि ताराचरण जी की बुद्धि विद्या के विना बहुत छोटी है। जो प्रतिज्ञा करके शीघ्र ही भूल जाती है। यह आपका दोष नहीं; किन्तु आपकी बुद्धि का दोष है। तर्करत्न जी! यह आप देख लीजिये कि कितने बड़े-बड़े दोष आप में हैं?

प्रथम तो प्रतिमा-पूजन का स्थापन पक्ष लेके फिर जब कुछ भी स्थापना न हो सका।

उपासनामात्रमेव भ्रममूलम्।

अपने आप ही खण्डन प्रतिमा-पूजन का करने लगे। कि भ्रममूल अर्थात् प्रतिमा-पूजन मिथ्या ही है। इससे आपके पक्ष का आपने ही खण्डन कर दिया। फिर मिथ्या ग्रन्थ, जो पंचदशी, उसके प्रमाण देने लग गये। और जो प्रथम वेदादिक जो बीस सनातन ऋषि मुनियों के किये मूल और व्याख्यान तथा परमेश्वर के किये चार वेद इनके प्रमाण से बोलेंगे, सो आपकी प्रतिज्ञा मिथ्या हो गई। प्रतिज्ञा के मिथ्या होने से आपका पराजय भी हो गया। फिर-

भ्रान्तिरस्माकं न दूषणीया।

वह भी पहिले आपका कहना है। सो कोई भी पण्डित न कहेगा कि भ्रान्ति भूषण होता है। यह तो आपकी भ्रान्त बुद्धि का ही वैभव है। और जो सज्जन लोग हैं, वे तो भ्रान्ति को दूषण ही जानते हैं। तथा—

भ्रमः खलु द्विविधः। इत्यादि०

यह पंचदशी का वचन है। यह भी प्रतिज्ञा से विरुद्ध ही है। क्योंकि वेदादि शास्त्रों में इसकी गणना नहीं है।

पाषाणादि की रचित मूर्त्ति में देव बुद्धि का जो कर्त्ता है, सो दीपप्रभा में मणिभ्रम की नाईं ही है। क्योंकि दीप तो कभी मणि न होगा। और, मणि तो सदा मणि ही रहेगा। सो आपने मुख से तो कहा, परन्तु हृदय में शून्यता के होने से कुछ भी नहीं जाना। ऐसा ही आपका सब कथन भ्रष्ट है। आपको जो कुछ भी ज्ञान होय, तब तो जान सकते, अन्यथा नहीं।

तर्करत्न जी ने आगे-आगे जो कुछ कहा है, सो-सो भ्रष्ट ही है। बुद्धिमान लोग विचार लेवें। ताराचरण जी इस प्रकार के मनुष्य हैं कि कोई बुद्धिमान के सामने जैसा बालक। और भाषण वा श्रवण करने के योग्य भी नहीं। क्योंकि जिसको बुद्धि और विद्या होती है, सोई कहने वा श्रवण में समर्थ होता है। सो तर्करत्न जी में न बुद्धि है, और न कुछ विद्या है। इससे न कहने, न सुनने में समर्थ हो सकते हैं। इनका नाम जो तर्करत्न कोई ने रखा है, सो अयोग्य ही रखा है। क्योंकि—

अविज्ञाते तत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः।

यह गोतम मुनि जी का सूत्र है। इसका यह अभिप्राय है कि जिस पदार्थ का तत्त्वज्ञान अर्थात् जिसका यथावत् स्वरूप ज्ञान न होवे, उसके ज्ञान के वास्ते कारण अर्थात् हेतु और प्रत्यक्षादि प्रमाणों की उपपत्ति अर्थात् यथावत् युक्ति से ऊह नाम वितर्क अर्थात् विविध विचार और युक्ति पूर्वक विविध वाक्य कहना, विनय पूर्वक श्रेष्ठों से, उसे तर्क कहते हैं। तर्क सो इसका लेशमात्र सम्बन्ध भी ताराचरण जी में नहीं होने से, तर्करत्न तो नाम अनर्थक है।

किन्तु इनके कथन में थोड़े से दोष मैंने दिखाये हैं। जैसा कि समुद्र के आगे एक विन्दु। किन्तु उनके भाषण में केवल दोष ही हैं, गुण एक भी नहीं। सो विद्वान् लोग विचार कर लेवें।

वेई ये ताराचरण जी हैं कि जब काशी नगर के पण्डितों से आनन्द बाग में सभा भई थी, उसमें बहुत विशुद्धानन्द स्वामी तथा बालशास्त्री इत्यादिक पण्डित आये थे। उनके सामने डेढ़ पहर तक एक बात में मौन करके बैठे रहे थे। दूसरी बात भी मुख से नहीं निकली थी। और जो उनका कुछ भी सामर्थ्य होता, तो अन्य पण्डित लोग क्यों शास्त्रार्थ करते। जब उनने—

उपासना मात्रमेव भ्रम मूलम्।

कहा, तब उसी वक्त श्री भूदेव मुखर्ज्या आदिक श्रेष्ठ लोग उठ गये कि पण्डित आये तो प्रतिमा पूजन का स्थापन करने को, किन्तु वह अपना आप खण्डन कर चुके। ये पण्डित कुछ भी नहीं जानते हैं। ऐसा कह के, उठ के चले गये। फिर अन्य पुरुषों से उनने कहा कि पण्डित हार गया।

स्वामीः—

श्रीमत्कथनेनैव प्रतिमापूजनविघातो जात एवेति शिष्टा विचारयन्तु।

ताराचरण जी से मैंने कहा कि आपके कहने से

ही प्रतिमा पूजन का विघात अर्थात् खण्डन हो गया और मैं तो खण्डन करता ही हूँ।

फिर पण्डित जी चुप होके ऊपर के स्थान में चले गये। उसके पीछे मैं भी ऊपर जाने को चला। तब पण्डित सीढ़ी में मिले। मैंने उनका हाथ पकड़ लिया। और, कहा कि ऊपर आओ। फिर ऊपर जाके सब वृन्दावन चन्द्रादिकों के सामने उन पण्डित ताराचरण से मैंने कहा कि आप ऐसा बखेड़ा क्यों करते फिरते हैं ?

तब वे बोले कि मैं तो काक-भाषा का खण्डन करता हूं। और सत्य-शास्त्र पढ़ने तथा पढ़ाने का उपदेश भी करता हूं। और, पाषाणादिक मूर्त्ति पूजन भी मिथ्या ही जानता हूं। परन्तु मैं जो सत्य-सत्य कहूं, तो मेरी आजीविका नष्ट हो जाये। तथा काशी-राज महाराज जो सुनें तो मुझको निकाल बाहर कर देवें। इससे मैं सत्य-सत्य नहीं कह सकता हूं। जैसे कि आप सत्य-सत्य कहते हैं।

देखना चाहिये कि इस प्रकार के मनुष्यों से जगत् का उपकार तो कुछ नहीं बनता; किन्तु अनुपकार ही सदा बनता है। विना सत्य उपदेश के उपकार कभी नहीं हो सकता। इतना मुझको अवकाश नहीं है कि मिथ्यावादी पुरुषों के साथ सम्भाषण किया करें। जो-जो मैंने लिखा है, इसमें इसी से सज्जन लोग जान लेवें।

—:x:—

* ओ३म् *

प्रतिमा पूजन विचार

—:o:—

इसके आगे जिन शब्दों के अर्थ के नहीं जानने से, टीकाकारों को भ्रम हो गया है, तथा नवीन ग्रन्थ बनाने वाले और कहने वाले तथा सुनने वाले को भी भ्रम होता है, इन शब्दों का शास्त्र रीति तथा प्रमाण और युक्ति से, जो ठीक-ठीक अर्थ है, उन्हीं का प्रकाश संक्षेप से लिखा जाता है। प्रथम तो एक प्रतिमा शब्द है।

प्रतिमीयते यया सा प्रतिमा ।

अर्थात् प्रतिमानम् जिससे प्रमाण अर्थात् परिमाण किया जाय, उसको कहना प्रतिमा, जैसे कि छटाँक, आधपाव, पावसेर, सेर, पंसेरी इत्यादिक और यज्ञ के चमसादिक पात्र। क्योंकि इन से पदार्थों के परिमाण किये जाते हैं। इससे इन्हीं का ही नाम है प्रतिमा। यही अर्थ मनु भगवान् ने मनुस्मृति में लिखा है:—

तुलामानं प्रतिमानं सर्वं च स्यात् सुलक्षितम् ।
षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षते ॥

पक्ष-पक्ष में, वा मास-मास में, अथवा छटवें-छटवें मास तुला की राजा परीक्षा करे। क्योंकि तराजू की दण्डी में भीतर छिद्र करके, पारा उसमें डाल देते हैं। जब कोई पदार्थ को तौल के लेने लगते हैं, तब दण्डी को पीछे नमा देते हैं। फिर पारा पीछे जाने से चीज अधिक आती है। और, जब देने के समय में दंडी आगे नमा देते हैं उससे चीज थोड़ी जाती है। इससे तुला की परीक्षा अवश्य करनी चाहिये। तथा प्रतिमान अर्थात् प्रतिमा की परीक्षा अवश्य करे। राजा जिससे, कि अधिक न्यून प्रतिमा अर्थात् दुकान के बाट जितने हैं, उन्हीं का ही नाम प्रतिमा। इसी वास्ते प्रतिमा के भेदक अर्थात् घाट बाढ़ तौलने वाले के ऊपर दण्ड लिखा है:—

संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदकः ।
प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पंच दद्याच्छतानि च ॥

यह मनु जी का श्लोक है। इसका अभिप्राय यह है कि संक्रम अर्थात् रथ, उस रथ के ध्वजा की यष्टि, जिसके ऊपर ध्वजा बांधी जाती है, और प्रतिमा छटांक आदिक बटखरे, इन तीनों को तोड़ डाले वा अधिक न्यून कर देवे, उनको उससे राजा बनवा लेवे। और, जैसा जिसका ऐश्वर्य, उसके योग्य दण्ड करे। जो दरिद्र होवे, तो उससे पांच सौ पैसा राजा

दण्ड लेवे। जो कुछ धनाढ्य होवे, तो पांच सौ रुपय उससे दण्ड लेवे। और, जो बहुत धनाढ्य होवे, उससे पांच सौ अशर्फी दण्ड लेवे। रथादिकों को उसी के हाथ से बनवा लेवे। इससे सज्जन लोग बटखरा तथा चमसादिक यज्ञ के पात्र उन्हों को ही प्रतिमा शब्द से निश्चित जानें।

दूसरा पुराण शब्द है:—

पुराभवं पुराभवा वा पुराभवश्च इति पुराणं पुराणी पुराणः।

जो पुराण पदार्थ होवे, उसको कहते हैं पुराण। सो सदा विशेषण वाची ही रहता है। तथा पुरातन, प्राचीन और प्राक्तन आदिक शब्द सब हैं। तथा उनों के विरोधी विशेषणवाची नूतन, नवीन, अद्यतन, अर्वाचीन आदिक शब्द हैं। जो विशेषण वाची शब्द होते हैं, वे सब परस्पर व्यावर्तक होते हैं। जैसे कि यह चीज पुरानी है। तथा, यह चीज नवीन है। पुराण शब्द जो है, सो नवीन शब्द की व्यावृत्ति कर देता है। यह पदार्थ पुराना है। अर्थात् नया नहीं। और, यह पदार्थ नया है। अर्थात् पुराना नहीं। जहां-जहां वेदादिकों में पुराणादिक शब्द आते हैं, वहां-वहां इन अर्थों के वाचक ही आते हैं, अन्यथा नहीं। ऐसा ही अर्थ गोतम मुनि जी के किये सूत्रों के ऊपर जो वात्स्यायन मुनि का किया भाष्य, उसमें लिखा है।

वहां ब्राह्मण पुस्तक जो शतपथादिक, उनों का ही नाम पुराण है। तथा, शंकराचार्य जी ने भी शारीरिक भाष्य में, और उपनिषद् भाष्य में, ब्राह्मण और ब्रह्मविद्या का ही पुराण शब्द से ग्रहण किया है। जो देखना चाहे, सो उन शास्त्रों में देख लेवे। वह इस प्रकार से कहा है कि जहां-जहां प्रश्न और उत्तर पूर्वक कथा होवे, उसका नाम इतिहास है। और, जहां-जहां वंश-कथा होवे ब्राह्मण पुस्तकों में, उसका नाम पुराण है। और ऐसे जो कहते हैं कि अठारह ग्रन्थों का नाम पुराण है, यह बात तो अत्यन्त अयुक्त है। क्योंकि उस बात का वेदादिक सत्यशास्त्रों में प्रमाण कहीं नहीं है। और, कथा भी इनों में अयुक्त ही है। इनों का नाम कोई पुराण रक्खें, तो इनों से पूछना चाहिये कि वेद क्या नवीन हो सकते हैं? सब ग्रन्थों से वेद ही पुराने हैं। और, यह बात कहते हैं कि अश्वमेध की जो पूर्ति हो जाय, उसके दसवें दिन पुराण की कथा यजमान सुने। सो तो ठीक-ठीक है कि ब्राह्मण पुस्तक की कथा सुने और, जो ऐसा कहे कि ब्रह्मवैवर्तादिकों की क्यों नहीं सुने? उससे पूछना चाहिये कि सत्ययुग, त्रेता और द्वापर में जब-जब अश्वमेध भये थे, तब-तब किस की कथा सुनी थी। क्योंकि उस वक्त व्यास जी का जन्म भी नहीं भया था। तब पुराण कहां थे। और जो ऐसा कहे कि व्यास जी युग-युग में थे, यह बात भी उनकी मिथ्या है। क्योंकि अब तक युधिष्ठिरादिकों का निशान दिल्ली आदिकों में देख पड़ता है। उसी वक्त व्यास जी और व्यास जी की माता आदिक वर्तमान थे। इससे यह भी उनका कहना मिथ्या ही है। पुराण जितने हैं, ब्रह्मवैवर्तादिक वे सब सम्प्रदायी लोगों ने अपने-अपने मतलब के वास्ते बना लिये हैं। व्यास जी का वा अन्य ऋषि-मुनियों का किया एक भी पुराण नहीं है। क्योंकि वे बड़े विद्वान् थे और धर्मात्मा। उनका वचन स[त्य] ही है। तथा छः दर्शनों में उनों के सत्य वचन देख[ने] में आते हैं। मिथ्या एक नहीं। और पुराणों में मिथ्या कथा तथा परस्पर विरोध ही है। और, जैसे वे सम्प्रदायी लोग हैं, वैसे ही उनके बनाये पुराण भी सब नष्ट हैं। सो सज्जनों को ऐसा ही जानना उचित है, अन्यथा नहीं।

तीसरा देवालय, और चौथा देवपूजा, शब्द है। देवालय, देवायतन देवागार तथा देवमन्दिर, इत्यादिक सब नाम यज्ञशालाओं के ही हैं। क्योंकि जिस स्थान में देवपूजा होवे, उसके नाम हैं, देवालयादिक। और देव संज्ञा है परमेश्वर की। तथा परमेश्वर की आज्ञा जो वेद उसके मन्त्रों की भी देव संज्ञा है। देव जो होता है, सोई देवता है। यह बात पूर्वमीमांसा शास्त्र में विस्तार से लिखी है। जिसको देखने की इच्छा हो, वह उस शास्त्र में देख ले। विस्तार से लिखी है। जो कि शास्त्र कर्मकांड के ऊपर है। वे जैमिन मुनि के किये सूत्र हैं। यहां तक उसमें लिखा है कि ब्रह्मा, विष्णु, महादेवादिक देव जो देवलोक में रहते हैं, उसका भी पूजन कभी न

करना चाहिये, एक परमेश्वर के बिना । सो वेद में इस प्रकार से निषेध किया है कि:—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन् ।

यह यजुर्वेद की श्रुति है । ब्रह्मादिक जो देव, वे जब यज्ञ करते हैं, तब उनों से अन्य कौन देव हैं, जो कि उनके यज्ञों में आके भाग लेवें । सो उनों से आगे कोई देव नहीं है । और, जो कोई मानेगा तो उसके मत में अनवस्था दोष आवेगा । इससे परमेश्वर और वेदों के मन्त्र उनों को ही देव और देवता मानना उचित है । अन्य कोई नहीं ।

अग्निर्देवतेत्यादिक जो यजुर्वेद में लिखा है, सो अग्नि आदिक सब नाम परमेश्वर ही के हैं । क्योंकि देवता शब्द के विशेषण देने से इसमें मनुस्मृति का प्रमाण है:—

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥१॥
प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥२॥
एतमग्निं वदन्त्येके, मनुमेके प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेकेऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥३॥

इन श्लोकों से आत्मा, जो परमेश्वर, उसी का देवता नाम है । और, अग्न्यादिक जितने नाम हैं, वे भी परमेश्वर के ही हैं । परन्तु जहाँ जहाँ ऐसा प्रकरण हो कि उपासना, स्तुति, प्रार्थना, तथा इस प्रकार के विशेषण, वहां-वहां परमेश्वर का ही ग्रहण होता है, अन्यत्र नहीं । किन्तु 'सर्वमात्मन्यवस्थितम्' सिवाय परमेश्वर के कोई में सब जगह नहीं ठहर सकता । और 'प्रशासितारं सर्वेषमित्यादिक' विशेषणों से परमेश्वर का ही ग्रहण होता है, अन्य का नहीं । क्योंकि सब का शासन करने वाला बिना परमेश्वर से कोई नहीं । तथा सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म और पर पुरुष परमेश्वर से भिन्न, ऐसा कोई नहीं हो सकता है । निरुक्त में भी यह लिखा है कि:—

यत्र देवतोच्यते तत्र तल्लिङ्गो मन्त्रः ।

जहां-जहां देवता शब्द आवे, तहां-तहां उस नाम वाले मन्त्र को ही लेना । जैसा कि 'अग्निर्देवता' इसमें अग्नि शब्द आया, सो जिस मन्त्र में अग्नि शब्द होवे, उस मन्त्र का ही ग्रहण करना । 'अग्निमीडे पुरोहितमिति' यह मन्त्र ही देवता है । अन्य कोई नहीं । इससे क्या आया कि परमेश्वर और वेदों के मन्त्र तो देव और देवता हैं । जिस स्थान में होम, परमेश्वर का विचार, ध्यान और समाधि करें, उसके नाम हैं देवालयादिक । इसमें मनुस्मृति का प्रमाण भी है:—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथि सेवनम् ॥१॥
स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन् होमैर्देवान्यथाविधि ।
पितॄन् श्राद्धैर्नृ नन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥२॥

इन श्लोकों से क्या आया कि होम जो है, सोई देवपूजा है, अन्य कोई नहीं । और होम स्थान जितने हैं, वे ही देवालयादिक शब्दों से लिये जाते हैं ।

पूजा नाम सत्कार । क्योंकि 'अतिथिपूजनम्' 'होमैर्देवानर्चयेत् ।' अतिथियों का पूजन, नाम सत्कार करना, तथा देव परमेश्वर और मन्त्र इन्हों का सत्कार इसका नाम है पूजा, अन्य का नहीं । और पाषाणादि मूर्ति स्थान देवालयादिक शब्दों से कभी नहीं लेना । तथा घण्टा नादादि पूजा शब्द से कभी नहीं लेना । देवल और देवलक शब्द का यह अर्थ है कि :—

यद्वित्तं यज्ञशीलानां, देवस्वं तद्विदुर्बुधाः ।
अयज्वनां तु यद्वित्तमासुरस्वं प्रचक्षते ॥१॥

यह मनु का श्लोक है । इसका यह अभिप्राय है कि जिन्हों का यज्ञ करने का शील अर्थात् स्वभाव होवे, उसका सब धन यज्ञ के वास्ते ही होता है । अर्थात् देवार्थ धन है ।

यद्दैवं तदेव देवस्वम् ।

अर्थात् होम के लिये जो धन होवे, उसका नाम देवस्व है । सो भिक्षा अथवा प्रतिग्रह करके यज्ञ के नाम से धन लेके, यज्ञ तो करें नहीं, और उस धन से अपना व्यवहार करे, इसका नाम है देवल । सो

इसकी शास्त्र में निन्दा लिखी है। देवपितृकार्य में उसको निमन्त्रण कभी न करना चाहिये। ऐसा उसका निषेध लिखा है। और जो यज्ञ के धन की चोरी करता है, वह होता है देवलक।

कुत्सितो देवलो देवलकः कुत्सिते इत्यनेन कन् प्रत्ययः।

देवलक तो अत्यन्त निन्दित है।

एक यह अन्धकार लोगों का देखना चाहिये कि:—

विद्वान् भोजनीयः सत्कर्तव्यश्चेति।

विद्वान् को भोजन कराना चाहिये और उसका सत्कार भी करना चाहिये। इससे कोई की ऐसी बुद्धि न होगी कि पाषाणादिक मूर्ति को भोजन कराना, वा उसका सत्कार करना चाहिये। वह भी बात ऐसी ही है।

एक बात वे लोग कहते हैं कि पाषाणादिक तो देव नहीं हैं, परन्तु भाव से वे देव हो जाते हैं। उनसे पूछना चहिये कि भाव सत्य होता है, वा मिथ्या? जो वे कहें कि भाव सत्य होता है, फिर उन से पूछना चाहिये कि कोई भी मनुष्य दुःख का भाव नहीं करता, फिर उसको क्यों दुःख होता है और सुख का भाव सब मनुष्य सदा चाहते हैं। फिर उनको सुख सदा क्यों नहीं होता? फिर वे कहते हैं कि यह बात तो कर्म से होती है। अच्छा तो आपका भाव कुछ भी नहीं ठहरा। अर्थात् मिथ्या ही हुआ है। सत्य नहीं हुआ। आप से मैं पूछता हूं कि अग्नि में जल का भाव करके हाथ डाले, तो क्या वह न जल जायेगा? किन्तु जल ही जायेगा। इससे क्या आया पाषाण को पाषाण ही मानना और देव को देव मानना चाहिये, अन्यथा नहीं। इससे जो जैसा पदार्थ है, वैसा ही उसको सज्जन लोग मानें।

काश्यादिक स्थान, गंगादिक तीर्थ, एकादशी आदिक व्रत, राम, शिव, कृष्णादिक नाम स्मरण, तथा तोबा शब्द वा यीसू के विश्वास से पापों का छूटना और मुक्ति का होना, तिलक, छाप, माला धारण तथा शैव, शाक्त, गणपत्य, वैष्णव, क्रिश्चन और मुहम्मदी और नानक, कबीर आदिक सम्प्रदाय, इन्हों से पाप सब छूट जाते हैं। और मुक्ति भी हो जाती है। यह अन्यथा बुद्धि ही है। क्योंकि इस प्रकार के सुनने और मिथ्या निश्चय के होने से सब लोग पापों में प्रवृत्त हो जाते हैं। कोई न भी होगा। कभी कोई मनुष्य पाप करने में भय नहीं करते हैं। जैसे:—

अन्यक्षेत्रे कृतं पापं, काशीक्षेत्रे विनश्यति।
काशीक्षेत्रे कृतं पापं पंचक्रोश्यां विनश्यति ॥१॥
पंचक्रोश्यां कृतं पापमन्तर्गृह्यां विनश्यति।
अन्तर्गृह्यां कृतं पापमविमुक्ते विनश्यति ॥२॥
अविमुक्ते कृतं पापं स्मरणादेव नश्यति।
काश्यां तु मरणान्मुक्तिर्नात्र कार्या विचारणा ॥३॥

इत्यादिक श्लोक काशीखण्डादिकों में लिखे हैं। काश्यां मरणान्मुक्तिः कोई पुरुष इसको श्रुति कहता है। सो यह वचन उसका मिथ्या ही है। क्योंकि चारों वेदों के बीच में कहीं नहीं है। कोई ने मिथ्या जाबालोपनिषद् रच लिया है। किन्तु अथर्ववेद के संहिता में तथा कोई वेद के ब्राह्मण में इस प्रकार की श्रुति है नहीं। इससे यह श्रुति तो कभी नहीं हो सकी। किन्तु कोई ने मिथ्या कल्पना करली है। जैसे कि 'अन्यक्षेत्र कृतं पापं' इत्यादि श्लोक मिथ्या बना लिये हैं। इस प्रकार के श्लोकों को सुनने से, मनुष्यों की बुद्धि भ्रष्ट होने से, सदा पाप में प्रवृत्त हो जाते हैं। इससे सब सज्जन लोगों को निश्चित जानना चाहिये कि जितने-जितने इस प्रकार के माहात्म्य लिखे हैं, वे सब मिथ्या ही हैं। इनों से मनुष्यों का बड़ा अनुपकार होता है। जो कोई धर्मात्मा बुद्धिमान् राजा होवे, तो इन पुस्तकों का पठन-पाठन, सुनना-सुनाना, बन्द कर दें और वेदादि सत्य शास्त्रों की यथावत् प्रवृत्ति करा देवे। तब इस उपद्रव की यथावत् शांति होने से सब मनुष्य शिष्ट हो जायें, अन्यथा नहीं।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी। यो० समा० ३५।

इस सूत्र के भाष्य में लिखा है कि:—

एतेन चन्द्रादित्य ग्रहमणिप्रदीपरत्नादिषु प्रवृत्तिरुत्पन्ना विषयवत्येव वेदितव्येति।

इससे प्रतिमा पूजन कभी नहीं आ सकता। क्योंकि इन्हों में देवबुद्धि करना नहीं लिखा। किन्तु जैसे वे जड़ हैं, वैसे ही योगी लोग उनको जानते हैं। और, बाह्यमुख जो वृत्ति, उसको भीतर मुख करने के वास्ते योगशास्त्र की प्रवृत्ति है। बाहर के पदार्थ का ध्यान करना, योगी लोग को नहीं लिखा। क्योंकि जितने सावयव पदार्थ हैं, उनमें कभी चित्त की स्थिरता नहीं होती। और, जो होवे, तो मूर्तिमान् धन, पुत्र दारादिक के ध्यान में सब संसार लगा ही है। परन्तु चित्त की स्थिरता कोई की भी नहीं होती। इस वास्ते यह सूत्र लिखाः--

विशोका वा ज्योतिष्मती

[यो० समा० ३६]

इसका यह भाष्य हैः—

प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनीत्यनुवर्त्तते। हृदयपुण्डरीके धारयतो बुद्धिसंवित् बुद्धिसत्त्वं हि भास्वरमाकाशकल्पन्तत्र स्थितिवैशारद्यात् प्रवृत्तिः सूर्येन्दुग्रहमणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते। तथास्मितायां समापन्नं चित्तं निस्तरङ्गमहोदधिकल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्रं भवति। यत्रेदमुक्तम्—तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीति एवं तावत् संप्रजानीत इति। एषा द्वयी विशोका विषयवती, अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मतीत्युच्यते यया योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति।

इसमें यह देखना चाहिये कि हृदय में धारण चित्त की लिखी। इससे निर्मल प्रकाशस्वरूप चित्त होता है। जैसा सूक्ष्म विभु आकाश है, वैसी ही योगी की बुद्धि होती है। तत्र नाम अपने हृदय में विशाल स्थिति के होने से, बुद्धि की जो शुद्ध प्रवृत्ति, सोई बुद्धि सूर्य, चन्द्र, ग्रह, मणि इन्हों की, जैसी प्रभा, वैसे ही योगी की बुद्धि समाधि में होती है।

तथा अस्मिता मात्रा अर्थात् यही मेरा स्वरूप है, ऐसा सक्षात्कार स्वरूप का ज्ञान बुद्धि को जब होता है, तब चित्त निस्तरंग, अर्थात् निष्कम्प समुद्र की नाईं एक रस व्यापक होता है। तथा शान्त, निरूपद्रव, अनन्त अर्थात् जिसकी सीमा न होवे, यही मेरा स्वरूप है, अर्थात् मेरा आत्मा है, सो विगत अर्थात् शोक रहित जो प्रवृत्ति वही विषयवती प्रवृत्ति कहाती है। उसको अस्मितामात्र प्रवृत्ति कहते हैं। तथा ज्योतिष्मती भी उसी को कहते हैं। योगी का जो चित्त है, सोई चन्द्रादित्य आदिक स्वरूप हो जाता है।

सू०—स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥

[यो० समा० ३८]

भाष्य०—स्वप्नज्ञानालम्बनं निद्राज्ञानालम्बनं वा तदाकारं योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति।

जैसे स्वप्नावस्था में चित्त ज्ञानस्वरूप होके पूर्वानुभूत संस्कारों को यथावत् देखता है, तथा निद्रा अर्थात् सुषुप्ति में आनन्दस्वरूप ज्ञानवान् चित्त होता है, ऐसा ही जागृतावस्था में, जब योगी ध्यान करता है, इस प्रकार आलम्ब से तब योगी का चित्त स्थिर हो जाता है।

सू०—यथाभिमतध्यानाद्वा ॥

[यो० समा० ३६]

भाष्य०—यद्वाभिमतं तदेव ध्यायेत् तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिपदं लभत इति। नासिकाग्रे धारयतो या गन्धसंवित्।

इससे लेके 'निद्राज्ञानालम्बनं वा' यहाँ तक शरीर में जितने चित्त के स्थिर करने के वास्ते स्थान लिखे है, इन्हों में से कोई स्थान में योगी चित्त को धारण करे।

जिस स्थान में अपनी अभिमति, उसमें चित्त को ठहराये।

सू०—देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

[योग० विभू० १]

भाष्य—नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके मूर्ध्नि ज्योतिषि नासिकाग्रे जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति। बन्धो धारणा नाभि हृदय मूर्द्धा ज्योति।

अर्थात् नेत्र, नासिकाग्र, जिह्वाग्र, इत्यादिक देशों के बीच में चित्त को योगी धारण करे। तथा बाह्य विषय जैसा कि ओङ्कार वा गायत्री मन्त्र, इनमें चित्त लगावे, हृदय से। क्योंकि:—

तज्जपस्तदर्थभावनम्। [यो० स० पाद २८]

यह सूत्र है योग का। इसका योगी जप, अर्थात् चित्त से पुनः पुनः आवृत्ति करे। और, इसका अर्थ जो ईश्वर, उसको हृदय में विचारे।

सू०—तस्य वाचकः प्रणवः। [यो० स० २७]

ओङ्कार का वाच्य ईश्वर है। और, उस का वाचक ओङ्कार है। बाह्य विषय से इनको ही लेना, और कोई को नहीं। क्योंकि अन्य का प्रमाण कहीं नहीं।

सू०—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।
[योग० विभू०२]

भाष्य०—तस्मिन्देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणा परामृष्टो ध्यानम्।

तीन देशों में, अर्थात् नाभि आदिकों में, ध्येय जो आत्मा, उस आलम्बन की, और चित्त की एकतानता, अर्थात् परस्पर दोनों की एकता, चित्त आत्मा से भिन्न न रहे, तथा आत्मा चित्त से पृथक न रहे, उसका नाम है, सदृशप्रवाह। जब चित्त से प्रत्येक चेतन से ही युक्त रहे, अन्य प्रत्यय कोई पदार्थान्तर का स्मरण न रहे, तब जानना कि ध्यान ठीक हुआ।

सू०—तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। [यो० विभू० ३]

जब ध्याता, ध्यान और ध्येय, इन तीनों का पृथक् भाव न रहे, तब जानना कि समाधि सिद्ध हो गई।

सू०—त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः। [यो० वि० ७]

यमादिक पाँच अंगों से धारण, ध्यान और समाधि ये तीन अन्तरङ्ग हैं। और यमादिक बहिरङ्ग हैं।

सू०—भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्॥ [विभू० २६

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्॥ २७॥
ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्॥ २८॥
नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्॥ २९॥
मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्॥ ३२॥
प्रातिभाद्वा सर्वम्॥ ३३॥

इत्यादिक सूत्रों से यह प्रसिद्ध जाना जाता है, कि धारणादिक तीन अङ्ग आभ्यान्तर के हैं। सो हृदय में ही योगी परमाणु पर्यन्त जितने पदार्थ हैं, उनको योग ज्ञान से ही योगी जानता है। बाहर के पदार्थों से किंचिन्मात्र भी ध्यान में सम्बन्ध योगी नहीं रखता किन्तु आत्मा से ही ध्यान का सम्बन्ध है, और से नहीं। इस विषय में जो कोई अन्यथा कहे, सो उसका कहना सब सज्जन लोग मिथ्या ही जानें। क्योंकि:—

सू०—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥
[समा० २]

तदा द्रष्टुस्वरूपेऽवस्थानम्॥ [समा० ३]

जब योगी चित्तवृत्तियों को निरोध करता है, बाहर और भीतर से उसी वक्त द्रष्टा, जो आत्मा उस चेतन स्वरूप में ही स्थित हो जाता है, अन्यत्र नहीं।

सू०—विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्।
[यो० समा० ८]

विपरीत ज्ञान जो होता है, उसी को मिथ्या ज्ञान कहते हैं। उसको तो योगी छोड़ के ही होता है, अन्यथा कभी नहीं। इससे क्या आया कि कोई योगशास्त्र से पाषाणादिक मूर्ति का पूजन कहे, सो मिथ्या ही कहता है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

श्लोक

दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः,
सरस्वत्यस्यान्ते निवसति मुदा सत्यवचना।
तदाख्यातिर्यस्य प्रकटितगुणा राष्ट्रिशरणा,
स को दान्तः शान्तो विदितविदितो वेद्यविदितः।

श्रीदयानन्दसरस्वती स्वामिना विरचितमिदमिति विज्ञेयम्॥

—:×:—

* ओ३म् *

सत्य-धर्म-विचार

—:०:—

मेला चान्दापुर

सम्पादक का निवेदन

'सत्य-धर्म-विचार' का प्रकाशन १२-४-१८७८ ई० से पूर्व ही उर्दू में हो गया था, ऐसी सूचना 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन नामक ग्रन्थ के पृष्ठ १०० पर मुद्रित महर्षि दयानन्द के एक पत्र से प्राप्त होती है। वह उर्दू लेख किसने लिखा था और फिर किसने प्रकाशित किया था? इसका अब कुछ भी सन्धान प्राप्त नहीं होता। और न ही अब कहीं वह उर्दू पुस्तक प्राप्त होता है।

श्री पण्डित युधिष्ठिर जी मीमांसक लिखते हैं:—

"इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण हिन्दी और उर्दू दोनों में सं० १९३७ में वैदिकयन्त्रालय से प्रकाशित हुआ था। इसके बायें कालम में आर्यभाषा और दहिने कालम में उर्दू भाषा में छपा है। इसके ऊपर महीने का उल्लेख नहीं है। तथापि ऋषि के भाद्र सुदि ६ शुक्रवार सं० १९३७ विक्रमी (१० सितम्बर १८८० ई०) के पत्र से ज्ञात होता है कि मेला चान्दापुर उक्त तिथि से पूर्व वैदिक यन्त्रालय काशी से छपकर प्रकाशित हो गया था। देखो पत्र व्यवहार पृष्ठ २३४"

—ऋषि दयानन्द के ग्रंथों का इतिहास पृष्ठ १८२

फिर लिखते हैं:—

"मेला चान्दापुर का आर्य भाषा सहित एक उर्दू अनुवाद सं० १९३७ वि० (सन् १८८०) के आर्य-दर्पण' में प्रकाशित हुआ था। यह उर्दू अनुवाद मुंशी बख्तावरसिंह प्रबन्धकर्ता वैदिक यन्त्रालय का किया हुआ है। सन् १८८० के आर्य-दर्पण से लेकर इसका आर्य भाषा और उर्दू दोनों में पृथक् संस्करण भी उसी समय प्रकाशित हुआ था।"

—ऋषि दयानन्द के ग्रंथों का इतिहास पृष्ठ-१८२

इस पुस्तक के अन्त में इसके लिखने का समय सम्वत् १९३७ वि० श्रावणशुक्ला द्वादशी, मङ्गलवार सूचित किया गया है। यह समय हिन्दी पुस्तक के लेख के विषय में है। क्योंकि उर्दू में तो यह पुस्तक इससे पहिले ही प्रकाशित भी हो चुकी थी। ऊपर जिस 'आर्य-दर्पण' का उल्लेख हुआ है, वह मासिक-पत्र था और शाहजहाँपुर से निकला करता था। यह वर्तमान हिंदी पुस्तक उस पूर्व प्रकाशित उर्दू पुस्तक से कितनी भिन्न है, वा समान है? इस विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

यह पुस्तक महर्षि दयानन्द की लिखी हुई नहीं है। यह तो महर्षिदयानन्द से भिन्न किसी व्यक्ति का लिखा हुआ उस धर्म-मेले का कार्य विवरण है जो कि ग्राम चान्दापुर, जिला शाहजहांपुर संयुक्तप्रांत में चान्दापुर के जमींदार श्री मुंशी प्यारेलाल जी के यत्न से ता० १९, २० मार्च सन् १८७७ ई० (चैत्र शुक्ला पंचमी व षष्ठी संवत् १९३४ वि०) को हुआ था। इसमें महर्षि दयानन्द के भाषणों का उल्लेख तो कुछ अधिक है और मौलवियों तथा पादरियों के भाषणों का बहुत ही कम उल्लेख है। अतः स्पष्ट है कि यह महर्षि दयानन्द के ही किसी भक्त की रचना है। इसका लेख भी कई स्थानों में त्रुटिपूर्ण है।

क्योंकि कई वर्षों से स्वतंत्र पुस्तक के रूप में इसका प्रकाशन होता आ रहा है, इसलिये हमने भी इसके प्रकाशन का निश्चय किया था। वैदिक यन्त्रालय अजमेर द्वारा ग्यारहवीं वार प्रकाशित पुस्तक के आधार पर, "सत्यधर्मविचार" का पुनःसंम्पादित संस्करण आप के सामने है।

—सम्पादक

॥ ओ३म् खम्ब्रह्म ॥

अथ सत्यधर्म्मविचार

--*--

मेला चांदापुर

धर्मचर्चा ब्रह्मविचार मेला चांदापुर *, कि जिसमें बड़े-बड़े विद्वान् + आर्य्यों, ईसाइयों और मुसलमानों की ओर से एक सत्य के निर्णय के लिये इकट्ठे हुए थे, सज्जन पाठकगणों के हितार्थ मुद्रित किया जाता है कि जिससे सब मतों का अभिप्राय सब पर प्रकाशित हो जावे। सब सज्जनों को, किसी मत के क्यों न हों, उचित है कि पक्षपात रहित होकर इस को सुहृद्भाव से देखें।

विदित हो कि यह मेला दो दिन रहा। मेले के आरम्भ से पूर्व कई लोगों ने स्वामीजी के समीप जाकर कहा कि आर्य्य और मुसलमान मिल के ईसाइयों का खण्डन करें, तो अच्छा है। इस पर स्वामीजी ने कहा कि यह मेला सत्य और असत्य के निर्णय के लिये किया गया है। इसलिये हम तीनों को उचित है कि पक्षपात छोड़कर प्रीतिपूर्वक सत्य का निश्चय करें। किसी से विरोध करना कदापि योग्य नहीं।

इसके पश्चात् विचार का समय नियत किया गया। पादरियों ने कहा कि हम दो दिन से अधिक नहीं ठहर सकते, और यही विज्ञापन में भी छापा गया था। इस पर स्वामी जी ने कहा कि हम इस प्रतिज्ञा पर आये थे कि मेला कम से कम पांच और अधिक से अधिक आठ दिन तक रहेगा। क्योंकि इतने दिनों में सब मतों का अभिप्राय अच्छे प्रकार ज्ञात हो सकता है।

जब इस पर वे लोग प्रसन्न न हुए, तब मुन्शी इन्द्रमणिजी ने कहा कि स्वामीजी ! आप निश्चिन्त रहें, सच्चा मत एक दिन में प्रकट हो जावेगा। फिर निम्नलिखित पांच प्रश्नों पर × विचार करना सब ने स्वीकार किया:—

पहिले दिन की सभा

[ता० १६ मार्च, सन् १८७७ ई०]

मुन्शी प्यारेलाल साहब ने खड़े होकर सब से पहिले कहा:—

"प्रथम ईश्वर को धन्यवाद देना चाहिये कि जो सर्वव्यापक और सर्वान्तर्य्यामी है। हम लोगों के बड़े भाग्य हैं कि उसने हम सब को ऐसे राजप्रबन्ध समय में उत्पन्न किया कि जिसमें सब लोग निश्चिन्तता से निर्भय होकर, मतमतान्तरों का विचार कर सकते हैं। धन्य है, इस आज के दिन को, और बड़े भाग्य हैं, इस भूमि के, कि ऐसे सज्जन पुरुष और ऐसे ऐसे विद्वान् मतमतान्तरों के जानने वाले यहां सुशोभित हुए हैं। आशा है कि सब विद्वान् अपने अपने मतों की वार्ताओं को कोमल वाणी से कहेंगे, कि जिससे सत्य और असत्य का निर्णय होकर मनुष्यों की सत्य मार्ग में प्रवृत्ति हो जावेगी।"

इसके पश्चात् जब मुसलमानों और ईसाइयों की ओर से पांच-पांच मनुष्य और आर्य्यों की ओर से स्वामीजी और मुन्शी इन्द्रमणिजी दो ही विचार के लिये नियत किये गये, तब मौलवियों और पादरियों

* यहां यह मेला मुन्शी प्यारेलाल साहब की ओर से प्रतिवर्ष हुआ करता है ॥

+ इस धर्मचर्चा में आर्य्यों की ओर से स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी और मुन्शी इन्द्रमणिजी, ईसाइयों की ओर से पादरी स्काट साहब, पादरी नोबिल साहब, पादरी पार्कर साहब, और पादरी जान्सन साहब, और मुसलमानों की ओर से मौलवी मोहम्मद कासम साहब, सयद अब्दुल मंसूर साहब विचार के लिये आये थे ॥

× पांच प्रश्नों का उल्लेख आगे है। —सम्पादक,

ने हठ किया कि आर्य्यों की ओर से भी पांच मनुष्य होने चाहियें।

इस पर स्वामीजी ने कहा कि आर्य्यों की ओर से हम दो ही बहुत हैं। तब मौलवियों ने पण्डित लक्ष्मण शास्त्रीजी का नाम अपने ही आप पादरियों से लिखवाना चाहा। तब स्वामीजी ने उनसे तो यह कहा कि आप लोगों को अपनी-अपनी ओर के मनुष्यों के लिखवाने का अधिकार है, हमारी ओर का कुछ नहीं। और पण्डितजी से यह कहा कि आप नहीं जानते, ये लोग हमारे और तुम्हारे बीच विरोध करा के, आप तमाशा देखना चाहते हैं।

इस बात के कहने पर भी एक मौलवी ने पण्डित जी का हाथ पकड़ के उनसे कहा कि तुम भी नाम लिखवा दो। इनके कहने से क्या होता है। तिस पर स्वामी जी ने कहा कि अच्छा जो सब आर्य्य लोगों की सम्मति हो, तो इनका भी नाम लिखवा दो। नहीं तो केवल आप लोगों के कहने से इनका (नाम) नहीं लिखा जावेगा।

फिर एक मौलवी साहब उठकर बोले कि सब हिन्दुओं से पूछा जावे कि इन दोनों के नाम लिखाने में सब की सम्मति है वा नहीं ? इस पर स्वामी जी कहा कि जैसे आपको सिवाय फिर्के सुन्नत जमात के अहलशिया आदि फिर्कों ने सम्मति करके नहीं बिठलाया, और जैसे ही पादरी साहब को रोमेन कैथोलिक फिर्कों ने नियत नहीं किया, ऐसे ही आर्य्य लोगों में भी बहुतों की हमारे बिठलाने में सम्मति और बहुतों की असम्मति होगी। परन्तु आप लोगों को हमारे बीच गड़बड़ मचाने का कुछ अधिकार नहीं है।

मुन्शी इन्द्रमणिजी ने कहा कि सब आर्य्य लोग वेदादि शास्त्रों को मानते हैं। और, पण्डित जी भी इन्हीं को मानते हैं। जो किसी का मत आर्य्य लोगों से वेदादि शास्त्रों के विरुद्ध हो, तो चौथा पन्थ नियत करके भले ही बिठला दीजियेगा।

इन बातों से मौलवियों का यह अभिप्राय था कि ये लोग आपस में झगड़ें, तो हम तमाशा देखें। पण्डितजी का नाम लिखना आर्य्य लोगों ने योग्य न समझा। फिर मौलवी लोग नमाज पढ़ने को चले गये। और जब लौट कर आये, तब उनमें से मौलवी मुहम्मद कासम साहब ने कहा कि प्रथम मैं एक घंटे तक उन प्रश्नों के सिवाय और कुछ अपने मन के अनुसार कहना चाहता हूँ। उसमें जो किसी की कुछ शंका होगी, तो उसका मैं समाधान करूंगा। इसको सब ने स्वीकार किया। मौलवी साहब के कथन का तात्पर्य यह है:—

मौलवी मुहम्मद कासम साहब—परमेश्वर की स्तुति के पश्चात् यह कहा कि जिस-जिस समय में जो-जो हाकिम हो, उसी की सेवा करनी उचित है। जैसे कि इस समय जो गवर्नर है, उसी की सेवा करते और उसी की आज्ञा मानते हैं। और, जिसकी कि आज्ञापालन का समय व्यतीत हो गया, न कोई उसकी सेवा करता है और न उसकी आज्ञा मानता है। और, जैसे जब कोई कानून व्यर्थ हो जाता है, तो उसके अनुसार कोई नहीं चलता। परन्तु जो कानून उसकी जगह नियत किया जाता है, उसी के अनुसार सबको चलना होता है। तो इन्हीं दृष्टांतों के समान जो-जो अवतार और पैगम्बर पूर्व समय में थे और जो-जो पुस्तकें तौरेत, जबूर, बाईबिल, उनके समय में उतरी थीं, अब उनके अनुसार न चलना चाहिये। इस समय के सब से पिछले पैगम्बर हजरत मुहम्मद साहब हैं, इसलिये उनको पैगम्बर मानना चाहिये। और, जो ईश्वरवाक्य अर्थात् कुरान, उनके समय में उतरा है, उस पर विश्वास करना चाहिये। और, हम श्री राम और श्रीकृष्ण आदि और ईसा-मसीह की निन्दा नहीं करते। क्योंकि वे अपने-अपने समय में अवतार और पैगम्बर थे। परन्तु इस समय में हजरत मुहम्मद साहब का ही हुक्म चलता है, दूसरे का नहीं। जो कोई हमारे मजहब वा कुरान-शरीफ वा हजरत मुहम्मद साहब को बुरा कहेगा, वह मारे जाने के योग्य है।

पादरी नोबिल साहब—मुहम्मद साहब के पैगम्बर और कुरान के ईश्वरीय वाक्य होने में सन्देह है। क्योंकि कुरान में जो-जो बातें लिखी हैं,

सो-सो बाइबिल की हैं। इसलिये कुरान अलग आसमानी पुस्तक नहीं हो सकता। और, हजरत ईसामसीह के अवतार होने में कुछ सन्देह नहीं। क्योंकि उसके व्याख्यान से स्पष्ट होता है कि वह सत्यमार्ग बतलाने वाला था। केवल उसके व्यख्यान से ही मनुष्य मुक्ति पा सकता है। और, उसने चमत्कार भी दिखलाये थे।

मौलवी मुहम्मद क़ासम साहब—हम हजरत ईसा को अवतार तो मानते हैं। और, बाइबिल को आसमानी पुस्तक भी मानते हैं। परन्तु ईसाइयों ने उसमें बहुत कुछ घटत बढ़त कर दी है। इसलिये यह वही मूल नहीं है। और, जो कि उसका कुरान ने खण्डन भी कर दिया है, इसलिये वह विश्वास के योग्य नहीं रही। और हमारे हजरत पैगम्बर साहब का अवतार सब से पिछला है, इसलिये हमारा मत सच्चा है।

फिर और मौलवियों ने बाइबिल में से एक आयत पादरी साहब को दिखलाई, और कहा कि देखिये आप ही लोगों ने लिखा है कि इस आयत का पता नहीं लगता।

पादरी नोबिल साहब—जिस मनुष्य ने यह लिखा है, वह सत्यवादी था। जो उसने लेखक-भूल को प्रसिद्ध कर दिया, तो कुछ बुरा नहीं किया। और, हम लोग सत्य को चाहते हैं, असत्य को नहीं। इसलिये हमारा मत सत्य है।

मौलवी मोहम्मद क़ासम साहब—यह तो ठीक है कि कुछ बुरा नहीं किया, परन्तु जब कि किसी पुस्तक में या दस्तावेज में एक भी बात झूठ लिखी हुई विदित हो जावे, तो वह पुस्तक कदाचित् माननीय नहीं रहता। और, न दस्तावेज ही अदालत में स्वीकार हो सकती है।

पादरी नोबिल साहब—क्या कुरान में लेखक-दोष नहीं हो सकता। इस बात पर हठ करना अच्छा नहीं। और जो हम सत्य ही को मानते हैं, और, सत्य ही की खोज करते हैं, इस कारण उस लेखक-भूल को हमने स्वीकार कर लिया। और, तुम्हारे कुरान में बहुत घटत बढ़त हुई, जिसके प्रमाण में एक मौलवी ईसाई ने अरबी भाषा में बहुत कुछ कहा और सूरतों के प्रमाण दिये।

मौलवी मुहम्मद क़ासम साहब—आप बड़े सत्य के खोजी हैं! (मुख बनाकर) जो आप सत्य ही को स्वीकार करते हैं, तो तीन ईश्वर क्यों मानते हो?

पादरी नोबिल साहब—हम तीन ईश्वर नहीं मानते। वे तीनों एक ही हैं। अर्थात् केवल एक ईश्वर से ही प्रयोजन है। ईसामसीह में मनुष्यता और ईश्वरता दोनों थीं। इस कारण वह दोनों व्यवहारों को करता है। अर्थात् मनुष्य के आत्मा से मनुष्यों का व्यवहार, और, ईश्वर के आत्मा से ईश्वर का व्यवहार, अर्थात् चमत्कार दिखलाना।

मौलवी मुहम्मद क़ासम साहब—वाह वाह! एक घर [म्यान] में दो तलवार क्योंकर रह सकती हैं? यह कहना पादरी साहब का अत्यन्त मिथ्या है। उसने तो कहीं नहीं कहा कि मैं ईश्वर हूँ। तुम हठ से उसको ईश्वर बनाते हो।

पादरी नोबिल साहब—एक आयत अंजील की पढ़ी, और कहा कि यह एक आयत है, जिसमें मसीह ने अपने आपको ईश्वर कहा है। और, कई एक चमत्कार भी दिखलाये हैं। इससे उसके ईश्वर होने में कोई संदेह नहीं हो सकता।

मौलवी मुहम्मद क़ासम साहब—जो वह ईश्वर था, तो अपने आपको फांसी से क्यों न बचा सका?

एक हिन्दुस्तानी पादरी साहब—कुरान में कोई एक आयतों का परस्पर विरोध दिखलाया। और कहा कि हुकुम का खण्डन हो सकता है, समाचार का नहीं हो सकता। सो आपके कुरान में समाचारों का खण्डन है। पहले बैतूलमुक़द्दस की ओर शिर नमाते थे। फिर काबे की ओर नमाने लगे। और कई आयतों का अर्थ भी सुनाया। और कहा कि ईसामसीह पर विश्वास लाये बिना किसी की मुक्ति

नहीं हो सकती । और तुम्हारे कुरान में बाइबिल का और ईसामसीह का मानना लिखा है, तुम लोग क्यों नहीं मानते हो ?

ऐसी ही बातों के होते-होते सन्ध्या हो गई ।

दूसरे दिन की सभा

(ता० २० मार्च, सन १८७७ ई०)

प्रातःकाल के साढ़े सात बजे सब लोग आये। और, वे पांच प्रश्न कि जो स्वीकार हो चुके थे, पढ़े गये। पांच प्रश्न ये हैं—

१—सृष्टि को परमेश्वर ने किस चीज से, किस समय, और किसलिये बनाया ?

२—ईश्वर सब में व्यापक है, वा नहीं ?

३—ईश्वर न्यायकारी, और दयालु किस प्रकार है ?

४—वेद, बाइबिल और कुरान के ईश्वरोक्त होने में क्या प्रमाण है ?

५—मुक्ति क्या है ? और किस प्रकार मिल सकती है ?

इसके पश्चात् कुछ देर तक यह बात आपस में होती रही कि एक दूसरे को कहता था कि पहिले वह वर्णन करे।

तदनन्तर पादरी स्काट साहब ने पहिले प्रश्न का उत्तर देना आरम्भ किया। और, यह भी कहा कि यद्यपि यह प्रश्न किसी काम का नहीं। मेरी समझ में ऐसे प्रश्न का उत्तर देना व्यर्थ है । परन्तु जब कि सब की सम्मति है, तो मैं इसका उत्तर देता हूँ:—

पादरी स्काट साहब—यद्यपि हम नहीं जानते कि ईश्वर ने यह संसार किस चीज से बनाया है। परन्तु इतना हम जान सकते हैं कि अभाव से भाव में लाया है। क्योंकि पहिले सिवाय ईश्वर के दूसरा पदार्थ कुछ न था। उसने अपने हुकुम से सृष्टि को रचा है। यद्यपि यह भी हम नहीं जान सकते कि उसने कब इस संसार को रचा, परन्तु उसका आदि तो है। वर्षों की गणना हमको नहीं जान पड़ती। और, न सिवाय ईश्वर के कोई जान सकता है। इसलिये इस बात पर अधिक कहना ठीक नहीं।

ईश्वर ने किसलिये इस जगत् को रचा ? यद्यपि इसका भी उत्तर हम लोग ठीक-ठीक नहीं जान सकते, परन्तु इतना हम जानते हैं कि संसार के सुख के लिये ईश्वर ने यह सृष्टि की है। कि जिसमें हम लोग सुख पावें, और सब प्रकार के आनन्द करें।

मौलवी मुहम्मद कासम साहब—उसने अपने शरीर से प्रकट अर्थात् उत्पन्न किया। उससे हम अलग नहीं। जो अलग होते, तो उसकी प्रभुता में न होते। कब से यह संसार बना, यह कहना व्यर्थ है। क्योंकि हम को रोटी खाने से काम है, न यह कि रोटी कब बनी है। यह जगत् सृष्टि के लिये रचा गया है। क्योंकि सब पदार्थ मनुष्य के लिये ईश्वर ने रचे हैं। और, हमको अपनी भक्ति के लिये ईश्वर ने रचा है। देखो पृथिवी हमारे लिये है। हम पृथिवी के लिये नहीं। क्योंकि जो हम न हों, तो पृथिवी की कुछ हानि नहीं। परन्तु पृथिवी के न होने से हमारी बड़ी हानि होती है। ऐसे ही जल, वायु, अग्नि आदि सब पदार्थ मनुष्य के लिये रचे गये हैं। मनुष्य सब सृष्टि में श्रेष्ठ है। उसकी बुद्धि भी इसी श्रेष्ठता की परीक्षा को दी है। अर्थात् मनुष्य को अपनी भक्ति के लिये, और, इस जगत् को मनुष्य के लिये, ईश्वर ने रचा है।

स्वामी दयानन्दसरस्वती—पहिले मेरी सब मुसलमानों और ईसाइयों और सुनने वालों से यह प्रार्थना है कि यह मेला केवल सत्य के निर्णय के लिये किया गया है। और यह ही मेला करने वालों का प्रयोजन है कि देखें सब मतों में कौन-सा मत सत्य है। जिसको सत्य समझें, उसी को अंगीकार करें। इसलिये यहां हार और जीत की अभिलाषा किसी को न करनी चाहिये। क्योंकि सज्जनों का मत होना चाहिये कि सत्य की सर्वदा जीत और असत्य की सर्वदा हार होती रहे।

परन्तु जैसे मौलवी लोग कहते हैं कि पादरी साहब ने यह बात झूठ कही, ऐसे ही ईसाई कहते हैं कि मौलवी साहब ने यह बात झूठ कही, ऐसी वार्ता करना उचित नहीं।

विद्वानों के बीच यह नियम होना चाहिये कि अपने-अपने ज्ञान और विद्या के अनुसार सत्य का खण्डन कोमल वाणी के साथ करें। कि जिससे सब लोग प्रीति से मिलकर सत्य का प्रकाश करें। एक दूसरे की निन्दा करना, बुरे-बुरे वचनों से बोलना, द्वेष से कहना कि वह हारा और मैं जीता, ऐसा नियम कदाचित् न होना चाहिये। सब प्रकार पक्षपात छोड़-कर सत्य भाषण करना सब को उचित है। और एक दूसरे से विरोधवाद करना, यह अविद्वानों का स्वभाव है, विद्वानों का नहीं। मेरे इस कहने का यह प्रयोजन है कि कोई इस मेले में अथवा और कहीं, कठोर वचन का भाषण न करें।

अब मैं इस पहिले प्रश्न का उत्तर कि "ईश्वर ने जगत् को किस वस्तु से, और किस समय, और किसलिये रचा है," अपनी छोटी-सी बुद्धि और विद्या के अनुसार देता हूँ:—

परमात्मा ने सब संसार को प्रकृति से, अर्थात् जिसको अव्यक्त, अव्याकृत और परमाणु नामों से कहते हैं, रचा है। सो वह ही जगत् का उपादान कारण है। जिसका वेदादि शास्त्रों में निरूप करके निर्णय किया है। और, वह सनातन है।

जैसे ईश्वर अनादि है, वैसे ही सब जगत् का कारण भी अनादि है। जैसे ईश्वर का आदि और अन्त नहीं, वैसे ही इस जगत् के कारण का भी आदि और अन्त नहीं है। जितने इस जगत् में पदार्थ दीखते हैं, उन के कारण से एक परमाणु भी अधिक वा न्यून कभी नहीं होता। जब ईश्वर इस जगत् को रचता है, तब कारण से कार्य रचता है। सो जैसा कि यह कार्यजगत् दीखता है, वैसा ही इसका कारण है। सूक्ष्म द्रव्यों को मिलाकर स्थूल द्रव्यों को रचता है। तब स्थूल द्रव्य होकर देखने और व्यवहार के योग्य होते हैं। और यह जो अनेक प्रकार का जगत् दीखता है, उसको इसी कारण से ईश्वर ने रचा है।

जब प्रलय करता है, तब इस स्थूल जगत् के पदार्थों के परमाणुओं को पृथक्-पृथक् कर देता है। क्योंकि जो-जो स्थूल से सूक्ष्म होता है, वह आँखों से देखने में नहीं आता। तब बालबुद्धि लोग ऐसा समझते हैं कि वह द्रव्य नहीं रहा। परन्तु सूक्ष्म होकर आकाश में ही रहता है। क्योंकि कारण का नाश कभी नहीं होता। और नाश अदर्शन को कहते हैं, अर्थात् वह देखने में न आवे। जब एक-एक परमाणु पृथक् पृथक् हो जाते हैं, तब उनका दर्शन* नहीं होता। फिर जब वे ही परमाणु मिलकर स्थूल द्रव्य होते हैं, तब दृष्टि में आते हैं। यह नाश और उत्पत्ति की व्यवस्था ईश्वर सदा से करता आया है। और, ऐसे ही सदा करता जायगा। इसकी संख्या नहीं कि कितनी बार ईश्वर ने सृष्टि उत्पन्न की और कितनी बार कर सकेगा। इस बात को कोई नहीं कह सकता।

अब इस विषय को जानना चाहिये कि जो लोग नास्ति, अर्थात् अभाव से अस्ति, अर्थात् भाव मानते हैं और शब्द से जगत् की उत्पत्ति जानते हैं, उनका कहना किसी प्रकार से ठीक नहीं हो सकता। क्योंकि अभाव से भाव का होना सर्वथा असम्भव है। जैसे कोई कहे कि वन्ध्या के पुत्र का विवाह मैंने आँखों से देखा है। तो जो उसके पुत्र होता, तो वन्ध्या क्यों

* जब कोई वस्तु अत्यंत छोटी हो जाती है, तो फिर उसे और छोटा करना असम्भव है। जो किसी वस्तु के टुकड़े करते-करते, उसको इतना छोटा कर दें कि फिर उसके टुकड़े होना असम्भव हो जावे, तो उसको परमाणु कहते हैं। जितनी वस्तु संसार में हैं, वे सब परमाणु से बनती हैं। जब किसी पत्थर को तोड़ डालते हैं और उसके अत्यंत छोटे-छोटे टुकड़ों को पृथक्-पृथक् कर देते हैं, तो वे परमाणु कि जिनके इकट्ठे होने से फिर पत्थर बनता है, सदा किसी न किसी स्वरूप से बने रहते हैं। एक परमाणु का भी इस संसार में से अभाव नहीं होता। केवल स्वरूप और गुणों में भेद हुआ करता है। जब मोम की बत्ती को जलाते हैं, तो देखने में यह जान पड़ता है कि थोड़ी देर में सब बत्ती नहीं रहती। न जाने कि क्या हो गई परंतु वे परमाणु जितने बत्ती में थे और ही रूप के वायु के सदृश हो जाते हैं। उन में के एक परमाणु का भी अभाव कदाचित् नहीं होता॥

कहलाती ?, फिर उसके पुत्र का अभाव होने से उसके पुत्र का विवाह कब हो सकता है ? और, जैसे कोई कहे कि मैं किसी स्थान में नहीं था और यहां आया हूँ, अथवा सर्प बिल में न था और निकल भी आया। तो ऐसी वार्ता विद्वानों की नहीं होती, इसमें कोई प्रमाण नहीं। क्योंकि जो वस्तु है ही नहीं, फिर वह क्योंकर हो सकती है ? जैसे कि हम लोग अपने अपने स्थानों में न होते, तो चाँदापुर में कभी न आ सकते। देखो शास्त्र में लिखा है कि:—

नासत आत्मलाभः।

न सत आत्महानम्।

अर्थात् जो है, सो आगे को होता है। और, जो नहीं है, वह कभी नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि विना भाव के भाव कभी नहीं हो सकता। क्योंकि इस जगत् में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है कि जिसका कारण कोई नहीं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि भाव से भाव अर्थात् अस्ति से अस्ति होती है। नास्ति से अस्ति किसी प्रकार नहीं हो सकती। यह "वदतो व्याघातः" अर्थात् अपनी बात को आप ही काटने के सदृश बात है। पहिले किसी वस्तु का अन्यथा भाव कहकर, फिर यह कहना कि उसका भाव हो गया, पूर्वापरविरोध है। इसको कोई विद्वान् नहीं मान सकता। और, न किसी प्रमाण से ही सिद्ध कर सकता है कि विना कारण के कोई कार्य हो सके। इसलिये अभाव से भाव अर्थात् नास्ति से वा हुकुम से जगत् की उत्पत्ति का होना, सर्वथा असम्भव है। इससे यह ही जानना चाहिये कि ईश्वर ने जगत् के अनादि उपादान कारण से ही सब संसार को रचा है, अन्यथा नहीं।

यहाँ दो प्रकार का विचार स्थित होता है।

एक—यह कि जो जगत् का कारण ईश्वर हो, तो ईश्वर ही सारे जगत् का रूप हुआ। तो ज्ञान, सुख, दुःख, जन्म, मरण, हानि, लाभ, नरक, स्वर्ग, क्षुधा, तृषा, ज्वर आदि रोग, बन्ध और मोक्ष, सब ईश्वर में ही घटते हैं। फिर कुत्ता, बिल्ली, चोर, दुष्ट आदि सब ईश्वर ही बन गया।

दूसरा—यह कि जो सामग्री मानें, तो ईश्वर कारीगर के समान होता है। तो उत्तर यह है कि कारण तीन प्रकार का होता है। एक उपादान, कि जिसको ग्रहण करके पदार्थ को बनावें। जैसे मिट्टी लेकर, घड़ा और सोना लेकर, गहना और रुई लेकर, कपड़ा बनाया जाय। दूसरा निमित्त, जैसे कुम्हार अपनी विद्या और सामर्थ्य के साथ घड़े को बनाता है। तीसरा साधारण, जैसे चाक आदि साधन और दिशा, काल इत्यादि।

अब जो ईश्वर को जगत् का उपादान कारण मानें, तो ईश्वर ही जगत्रूप बनाता है। क्योंकि मिट्टी से घड़ा अलग नहीं हो सकता। और, जो निमित्त मानें, तो जैसे कुम्हार मिट्टी के विना घड़ा नहीं बना सकता। और, जो साधारण मानें जैसे मिट्टी से अपने आप विना कुम्हार घड़ा नहीं बन सकता। इन दोनों व्यवस्थाओं में वह पराधीन वा जड़ ठहरता है। इस लिये जो यह कहते हैं कि ईश्वर जगत् रूप बन गया है, तो उनके कहने से चोर आदि होने का दोष ईश्वर में आता है। इससे ऐसी व्यवस्था माननी चाहिये कि जगत् का कारण अनादि है। और, नाना प्रकार के जगत् को बनाने वाला परमात्मा है। और, इसी प्रकार जीव भी अपने स्वरूप से अनादि है। और, स्थूल कार्य जगत् तथा जीवों के कर्म नित्यप्रवाह से अनादि हैं। ऐसे माने विना किसी प्रकार से निर्वाह नहीं हो सकता।

अब यह कि ईश्वर ने किस समय जगत् को बनाया है ? अर्थात् संसार को बने हुए कितने वर्ष हो गये ?, इसका उत्तर दिया जाता है:—

सुनो भाइयो ! इस प्रश्न का हम लोग तो उत्तर दे सकते हैं, आप लोग नहीं दे सकते। क्योंकि जब आप लोगों के मतों की कोई अठारहसौ वर्ष से, और कोई तेरहसौ वर्ष से, कोई पांचसौ वर्ष से, उत्पत्ति कहता है, तो फिर आप लोगों के मत में जगत् के इतिहास के वर्षों का लेख किसी प्रकार नहीं हो सकता। और हम आर्य लोग सदा से कि जब से यह सृष्टि हुई, बराबर विद्वान् होते चले आये हैं। देखो ! इस देश से और सब देशों में विद्या गई है। इस बात में सब देश वालों के इतिहासों का प्रमाण है कि

आर्यावर्त्त देश से मिस्र देश में, और वहां से यूनान, और यूनान से योरोप आदि में विद्या फैली है। इसलिये इस का इतिहास किसी दूसरे मत में नहीं हो सकता।

देखो! हम आर्य लोग संसार की उत्पत्ति और प्रलय के विषय में, वेद आदि शास्त्रों की रीति से, सदा से जानते हैं कि हजार चतुर्युगियों का एक ब्रह्म-दिन, और इतने ही युगों की एक ब्रह्म-रात्रि होती है। अर्थात् जगत् की उत्पत्ति होके, जब तक कि वर्तमान होता है, उसका नाम ब्रह्म-दिन है। और प्रलय होके जबतक हजार चतुर्युगीपर्य्यन्त उत्पत्ति नहीं होती, उसका नाम ब्रह्म-रात्रि है।

एक कल्प में चौदह मन्वन्तर होते और एक मन्वन्तर ७१ चतुर्युगियों का होता है। सो इस समय सातवां वैवस्वत मन्वन्तर वर्त्तमान हो रहा है, और इससे पहले ये छः मन्वन्तर बीत चुके हैं:—

स्वायम्भुव, स्वारोचिष, औत्तमि, तामस, रैवत और चाक्षुष। अर्थात् १९६०८५२९७६ वर्षों का भोग हो चुका है। और, अब २३३३२२७०२४ वर्ष इस सृष्टि को भोग करने के बाकी रहे हैं। सो हमारे देश के इतिहासों में यथार्थ क्रम से सब बातें लिखी हैं। और ज्योतिषशास्त्र में भी मिती वार, प्रति संवत् घटाते बढ़ाते रहे हैं। और ज्योतिष की रीति से, जो वर्षपत्र बनता है, उस में भी यथावत् सबको क्रम से लिखते चले आते हैं। अर्थात् एक-एक वर्ष घटाते और एक-एक वर्ष भोगने में आज तक बढ़ाते आये हैं। इस बात में सब आर्य्यवर्त्त देश के इतिहास एक हैं। किसी में कुछ विरोध नहीं।

फिर जब कि जैन मतवाले और मुसलमान, इस देश के इतिहासों को नष्ट करने लगे, तब आर्य्य लोगों ने सृष्टि के इतिहास को कण्ठ कर लिया। सो बालक से लेके वृद्ध तक नित्यप्रति उच्चारण करते हैं कि जिसको संकल्प कहते हैं। और, वह यह है:—

ओं तत्सत् श्रीब्रह्मणो द्वितीये परार्द्धे वैवस्वतमन्वन्तरेऽष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे आर्यावर्त्तान्तरैकदेशेऽमुकनगरेऽमुकसंवत्सरायनर्तु मासपक्षदिननक्षत्रलग्नमुहूर्तेऽत्रेदं कार्यं कृतं क्रियते वा॥

जो इसको ही विचार लें, तो इससे सृष्टि के वर्षों की गणना बराबर जान पड़ती है।

जो कोई यह कहे कि हम इस बात को नहीं मान सकते, तो उसका उत्तर यह है कि जो परम्परा से मिती वार दिन चढ़ाये चले आते हैं, और जब कि इतिहासों और ज्योतिष् शास्त्रों में भी इसी प्रकार लिखा है, तो फिर इसको मिथ्या कोई नहीं कह सकता। जैसे कि बहीखाते में प्रतिदिन मितीवार और जो यह लिखते हैं, और उसको कोई झूठ नहीं कह सकता। कहता है, उससे भी पूछना चाहिये कि तुम्हारे मत में सृष्टि की उत्पत्ति को कितने वर्ष हुए हैं? तब वह या तो छः हजार, या सात हजार, या आठ हजार वर्ष बतलावेगा। तो वह भी अपने पुस्तकों के अनुसार कहता है। तो इसी प्रकार उसको भी कोई नहीं मानेगा। क्योंकि यह पुस्तक की बात है।

और देखो, भूगर्भविद्या से जो देखा जाता है, तो उससे भी यह गणना ठीक-ठीक आती है। इसलिये हम लोगों के मत में तो जगत् के वर्षों की गिनती बन सकती है, और किसी के कदाचित् नहीं। इसलिये यह व्यवस्था सृष्टि की उत्पत्ति के वर्षों की सबको ठीक माननी उचित है।

अब यह कि ईश्वर ने किसलिये सृष्टि को उत्पन्न किया, इस का उत्तर दिया जाता है—

जीव और जगत् का कारण स्वरूप से अनादि, और जीव के कर्म तथा कार्यजगत् नित्यप्रवाह से अनादि हैं। [जब प्रलय होता है, तब जीवों के कर्म शेष रह जाते हैं, तो उनके भोग कराने के लिये, ईश्वर सृष्टि को रचता है। और, अपने पक्षपातरहित न्याय को प्रकाशित करता है। ईश्वर में जो ज्ञान, बल, दया आदि और रचने की अत्यन्त शक्ति है, उनके सफल करने के लिये, उसने सृष्टि रची है।

जैसे आंख देखने के लिये और कान सुनने के

लिये हैं, वैसे ही रचनाशक्ति रचने के लिये है। सो अपनी सामर्थ्य की सफलता करने के लिये ईश्वर ने इस जगत् को रचा है कि सब लोग सब पदार्थों से सुख पावें। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिये जीवों के नेत्र आदि साधन भी रचे हैं। इसी प्रकार सृष्टि के रचने में और भी अनेक प्रयोजन हैं कि जो समय कम रहने से अब नहीं कहे जा सकते, विद्वान् लोग आप जान लेवें।

पादरी स्काट साहब—जिसकी सीमा होती है वह अनादि नहीं हो सकता। जगत् की सीमा का निरूपण है, इसलिये वह अनादि नहीं हो सकता। कोई पदार्थ अपने आप को नहीं रच सकता, परन्तु ईश्वर ने जगत् को अपनी सामर्थ्य से रचा है। कोई नहीं जानता कि ईश्वर ने किस पदार्थ से रचा है ? और, पण्डितजी ने भी नहीं बताया कि किस पदार्थ से जगत् को रचा ?

मौलवी मुहम्मद कासम साहब—जब कि सब पदार्थ सदा से हैं, तो इश्वर को मानना व्यर्थ है। कोई उत्पत्ति का समय नहीं कह सकता।

स्वामी दयानंद सरस्वतीजी—(पादरी साहब के उत्तर में)—पादरी साहब मेरे कहने को नहीं समझे। मैं तो केवल जगत् के कारण को ही अनादि कहता हूँ, और जो कार्य है, सो अनादि नहीं होता। जैसे मेरा शरीर साढ़े तीन हाथ का है, सो उत्पन्न होने से पहले ऐसा न था। और, न नाश होने के पश्चात् ही ऐसा रहेगा। पर इस में जितने परमाणु हैं, वे नष्ट नहीं होते। इस शरीर के परमाणु पृथक् पृथक् हो कर आकाश में बने रहते हैं। और, उन परमाणुओं में जो संयोग और वियोग+की शक्ति है, वह तो सदा उनमें रहती है।

जैसा मट्टी से घड़ा बनाया जो कि बनाने के पहिले नहीं था, और नाश होने के पश्चात् भी नहीं रहेगा, परन्तु उसमें जो मट्टी है, वह नष्ट नहीं होती। और, जो गुण अर्थात् चिकनापन उसमें है कि जिससे वह पिण्डाकार होता है, वह भी मट्टी में सदा से है। वैसे ही संयोग और वियोग होने की योग्यता परमाणुओं में सदा से है। उससे यह समझना चाहिये कि जिन परमाणु द्रव्यों से यह जगत् बना है, वे द्रव्य अनादि हैं, कार्य्य द्रव्य नहीं। और, मैंने यह कब कहा था कि जगत् के पदार्थ स्वयं अपने को बना सकते हैं ? मेरा कहना तो यह था कि ईश्वर ने उस कारण से जगत् को रचा है।

और, जो पादरी साहब ने कहा कि शक्ति से जगत् को रचा है, तो मैं पूछता हूँ कि शक्ति कोई वस्तु है वा नहीं ?, जो कहो कि है, तो वह अनादि हुई और, जो कहो कि नहीं, तो उससे आगे को दूसरी कोई वस्तु भी नहीं बन सकती। और, जो पादरी

+ सब लोग देखते हैं कि अग्नि में बहुत से पदार्थ जल जाते हैं। अब विचार करना चाहिये कि जब कोई पदार्थ जल जाता है, तो क्या हो जाता है ?, देखने में आता है कि लकड़ी जल कर थोड़ी सी राख रहती है। तो अब यह विचारना चाहिये कि जलने से वह पदार्थ भी नष्ट हो जाता है, वा उस का स्वरूप ही बदल जाता है ?, जब मेमबत्ती जलाते हैं तो देखने में वह मोम नहीं रहता, यह नहीं जान पड़ता कि कहां गया, परन्तु उस मोम का स्वरूप बदल कर वायु के सदृश हो जाता है, और इसी कारण वायु में मिल जाने से दृष्टि में नहीं आता।

इसकी परीक्षा के लिये एक बोतल के भीतर मोमबत्ती जलाओ और उसका मुख बंद करदो, तो उस बत्ती का जितना भाग वायु के सदृश हो जावेगा, वह बोतल से बाहर नहीं जा सकेगा, पर थोड़ी देर के बाद यह दिखलाई देगा कि मोम बत्ती बुझ गई। अब यह सोचना चाहिये कि बत्ती क्यों बुझ गई, और बोतल के वायु में कुछ भेद हुआ वा नहीं ?, इस बात की परीक्षा इस प्रकार होगी कि थोड़ा सा चूने का पानी उस बोतल में और एक और बोतल में, कि जिसमें केवल वायु भरा हुआ हो और उसमें कोई बत्ती न जली हो, डालो, तो यह दिखलाई देगा कि जिस बोतल मे बत्ती जली है, उसमें चूने का रंग दूध सा हो जावेगा, और दूसरी बोतल का जैसे का तैसा रहेगा। इससे सिद्ध हुआ कि बत्ती के जलाने से कोई नई वस्तु बोतल के वायु में मिल गई है। वह एक वस्तु वायु के सदृश है कि जो दृष्टि में नहीं आती। अब देखना चाहिये कि मोमबत्ती का कोई परमाणु नष्ट नहीं होता, पर जिन पदार्थों से वह बत्ती बनी है, उनका स्वरूप भिन्न हो जाता है।

साहब ने यह कहा कि पण्डितजी ने यह नहीं बताया कि किससे जगत् बना है ? कदाचित् पादरी साहब ने नहीं सुना होगा। मैंने तो जिससे यह कार्य जगत् बना है, उस को प्रकृति आदि नामों से, कि जिसको परमाणु भी कहते हैं, कहा था।

(मौलवी साहब के उत्तर में)—सब पदार्थों का कारण अनादि है, तो भी ईश्वर को मानना अवश्य है; क्योंकि मट्टी में यह सामर्थ्य नहीं कि आप से आप घड़ा बन जाय। जो कारण होता है, वह आप कार्य्य रूप नहीं बन सकता क्योंकि उसमें बनने का ज्ञान नहीं होता। और कोई जीव भी उसको नहीं बना सकता। आजातक किसी ने कोई वस्तु ऐसी नहीं बनाई। जैसा कि यह मेरा रोम है, ऐसी वस्तु कोई नहीं बना सकता और आजतक ऐसा कोई मनुष्य नहीं हुआ और न है कि जो परमाणुओं को पकड़ के, किसी युक्ति से उन से ऐसा वस्तु बना सके। कोई दो त्रिसरेणुओं का भी संयोग नहीं कर सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि केवल उस परमेश्वर की ही यह सामर्थ्य है कि सब जगत् को रचे।

देखो, एक आंख की रचना में ही कितनी विद्या का दृष्टान्त है। आज तक बड़े बड़े वैद्य अपनी बुद्धि लगाते चले आते हैं, तो भी आंख की विद्या अधूरी ही है। कोई नहीं जानता कि किस किस प्रकार और क्या-क्या गुण ईश्वर ने उसमें रक्खे हैं। इस लिये सूर्य चांद आदि जगत् का रचना और धारण करना ईश्वर ही का काम है। तथा जीवों के कर्म्मों के फल का पहुँचाना, यह भी परमात्मा ही का काम है, किसी दूसरे का नहीं। इससे ईश्वर को मानना अवश्य है।

एक हिन्दुस्तानी पादरी साहब—जब दो वस्तु हैं, एक कार्य्य दूसरा कारण, तो दोनों अनादि नहीं हो सकते। इससे ईश्वर ने नास्ति से अस्ति अपनी सामर्थ्य से की है।

मौलवी मुहम्मद क़ासम साहब—गुण दो प्रकार के होते हैं—एक अन्तस्थ, दूसरे बाह्य। अन्तस्थ तो अपने में होते हैं, और बाह्य दूसरे से अपने में आते हैं। और, अंतस्थ गुण दूसरे में जाकर वैसे ही बन जाते हैं। परन्तु जिसके गुण होते हैं, वह उससे पृथक् होता है। जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब जिस वर्तन में पड़ता है, वैसा ही बन जाता है; परन्तु सूर्य नहीं हो जाता। वैसे ही ईश्वर ने हमको अपनी इच्छा से बनाया है।

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी—(ईसाई साहब के उत्तर में)—आप दोनों के अनादि होने में क्यों शंका करते हैं ? क्योंकि जितने पदार्थ इस जगत् में बने हैं, उन सब का कारण अर्थात् परमाणु आदि सब अनादि हैं। और जीव भी अनादि हैं कि जिनकी संख्या कोई नहीं बता सकता। और, नास्ति से अस्ति कभी नहीं हो सकती, सो मैं पहिले कह चुका हूँ। परन्तु आप जो कहते हैं कि शक्ति से बनाया, तो बतलाओ कि शक्ति क्या वस्तु है ?, जो कहो कि कोई वस्तु है, तो फिर वही कारण ठहराने से अनादि हुई। और, ईश्वर के नाम, गुण, कर्म सब अनादि हैं, कोई अब नहीं बने।

(मौलवी साहब के उत्तर में)—आप जो यह कहो कि भीतर के गुणों से जगत् बना है, तो भी नहीं हो सकता। क्योंकि गुण द्रव्य के विना अलग नहीं रह सकते। और गुण द्रव्य से बन भी नहीं सकता। जब भीतर के गुणों से जगत् बना है, तो जगत् भी ईश्वर हुआ। जो यह कहो कि बाहर के गुणों से जगत् बना, तो ईश्वर के सिवाय आप को भी वे गुण और द्रव्य अनादि मानने पड़ेंगे, और, जो यह कहो कि इच्छा से हम लोग बन गये, तो मेरा यह प्रश्न है कि इच्छा कोई वस्तु है, वा गुण है ?, जो वस्तु कहोगे, तो वह अनादि ठहर जायगी, और जो गुण मानोगे, तो जैसे केवल इच्छा से घड़ा नहीं बन सकता, परन्तु मट्टी से बनता है, तो वैसे ही इच्छा से हम लोग नहीं बन सकते।

पादरी स्काट साहब—हम लोग इतना जानते हैं कि नास्ति से अस्ति को ईश्वर ने बनाया। यह हम नहीं जानते कि कि किस पदार्थ से और किस प्रकार यह जगत् बनाया। इस को ईश्वर ही जानता है, मनुष्य कोई नहीं जान सकता।

मौलवी मुहम्मद कासम साहब—ईश्वर ने अपने प्रकाश से जगत् बनाया है ।

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी—(पादरी साहब के उत्तर में) कार्य को देख कर कारण को देखना चाहिये, कि जो वस्तु कार्य है, वैसा ही उसका कारण होता है । जैसे घड़े को देखकर उसका कारण मट्टी जान लिया जाता है, कि जो वस्तु घड़ा है, वही वस्तु मट्टी है । आप कहते हैं कि अपनी शक्ति से जगत् को रचा, सो मेरा यह प्रश्न कि वह शक्ति अनादि है, वा पीछे से बनी है ?, जो अनादि है, तो द्रव्यरूप उसको मान लो । तो उसी को जगत् का अनादि कारण मानना चाहिये ।

(मौलवी साहब के उत्तर में)—नूर कहते हैं—प्रकाश को उस प्रकाश से कोई दूसरा द्रव्य नहीं बन सकता । परन्तु वह नूर मूर्त्तिमान् द्रव्य को प्रसिद्ध दिखला सकता है । और, वह प्रकाश करने वाले पदार्थ के बिना अलग नहीं रह सकता । इससे जगत् का जो कारण प्रकृति आदि अनादि है, और उसको माने बिना किसी प्रकार से किसी का निर्वाह नहीं हो सकता । और, हम लोग भी कार्य को अनादि नहीं मानते, परन्तु जिससे कार्य बना है, उस कारण को अनादि मानते हैं ।

एक हिन्दुस्तानी ईसाई साहब—जो ईश्वर ने अपनी प्रकृति से संसार को रचा, तो उसकी प्रकृति में संसार सनातन था । और, वह उसकी प्रकृति में अनादि था, तो ईश्वर की सीमा हो गई ।

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी—जब कि ईश्वर की प्रकृति में सब जगत् था, तब ही तो वह अनादि हुआ । और, वही अनादि वस्तु रचने से सीमा में आई । अर्थात् लम्बा चौड़ा, बड़ा, छोटा सब प्रकार का ईश्वर ने उसमें से बनाया । इसलिये रचे जाने से केवल जगत् ही की सीमा हुई, ईश्वर की नहीं ।

अब देखिये, मैंने जो पहले कहा था कि नास्ति से अस्ति कभी नहीं हो सकती, किन्तु भाव से ही भाव होता है, सो आप लोगों के कहने से भी वह बात सिद्ध हो गई कि जगत् का कारण अनादि है ।

ईसाई साहब—सुनो भाई मौलवी साहबो ! कि पण्डित जी इसका उत्तर हजार प्रकार से दे सकते हैं । हम और तुम हजारों मिल कर भी इन से बात करें, तो भी पण्डितजी बराबर उत्तर दे सकते हैं । इसलिये इस विषय में अधिक कहना उचित नहीं ।

ग्यारह बजे तक यह वार्ता सिद्ध हुई । फिर सब लोग अपने अपने डेरों को चले गये । और सब जगह मेले में यही बातचीत होती थी कि जैसा पण्डितजी को सुनते थे, उससे सहस्रगुणा पाया ।

दोपहर के पश्चात् की सभा

फिर एक बजे सब लोग आये, और इस पर विचार किया कि अब समय बहुत थोड़ा और बातें बहुत बाकी हैं, इसलिये केवल मुक्ति विषय पर विचार करना उचित है । प्रथम थोड़ी देर तक ये बातें होती रहीं कि पहले कौन वर्णन करे । एक दूसरे पर टालता था । तब स्वामीजी ने कहा कि उसी क्रम से भाषण होना चाहिये । अर्थात् पहले पादरी साहब, फिर मौलवी साहब और फिर मैं । परन्तु जब पादरी साहब और मौलवी साहब दोनों ने कहा कि हम पहिले न बोलेंगे, तब स्वामी जी ने ही पहिले कहना स्वीकार किया ।

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी—मुक्ति कहते, हैं, छूट जाने को । अर्थात् जितने दुःख हैं, उनसे सब छूट कर, एक सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर को प्राप्त मरण होकर, सदा आनन्द में रहना । और, फिर जन्म आदि दुःख सागर में नहीं गिरना । इसी का नाम मुक्ति है । वह किस प्रकार से होती है ?, इसका पहिला साधन सत्य का आचरण है । और, वह सत्य आत्मा और परमात्मा की साक्षी का निश्चय करना चाहिये । अर्थात् जिसमें आत्मा और परमात्मा की साक्षी न हो, वह असत्य है ।

जैसे किसी ने चोरी की । जब वह पकड़ा गया, उससे राजपुरुष ने पूछा कि तूने चोरी कि या नहीं ? तब तक वह कहता है कि मैंने चोरी नहीं की । परन्तु उसका आत्मा भीतर से कह रहा है कि मैंने चोरी

की है। तथा जब कोई झूठ की इच्छा करता है, तब अन्तर्यामी परमेश्वर उसको जता देता है कि यह बुरी बात है! इसको तू मत कर। और, लज्जा शंका और भय आदि उसके आत्मा में उत्पन्न कर देता है। और जब सत्य की इच्छा करता है, तब उसके आत्मा में आनन्द कर देता है। और प्रेरणा करता है कि यह काम तू कर। अपना आत्मा जैसे सत्य काम करने से निर्भय और प्रसन्न होता है, वैसे झूठ में नहीं होता। जब परमात्मा की आज्ञा को तोड़कर बुरा काम कर लेता है, तब उसकी मुक्ति किसी प्रकार नहीं हो सकती। और, उसी को असुर दुष्ट, दैत्य और नीच कहते हैं। इसमें वेद का प्रमाण है कि—

असुर्या नाम ते लोका, अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति, ये के चात्महनो जनाः॥

यजुर्वेद, अध्याये ४०। मन्त्र ३।

आत्मा का हिहन करने वाला, अर्थात् जो परमेश्वर की आज्ञा को तोड़ता है, और अपने आत्मा के ज्ञान से विरुद्ध बोलता, करता और मानता है, उसी का नाम असुर, राक्षस, दुष्ट, पापी, नीच आदि होता है।

मुक्ति के मिलने के साधन ये हैं:—

१—सत्य का आचरण।

२—सत्यविद्या अर्थात् ईश्वरकृत वेदविद्या को यथावत् पढ़कर, ज्ञान की उन्नति और सत्य का पालन यथावत् करना।

३—सत्पुरुष ज्ञानियों का सङ्ग करना।

४—योगाभ्यास करके अपने मन, इन्द्रियों और आत्मा को असत्य से हटाकर सत्य में स्थिर करना और ज्ञान को बढ़ाना।

५—परमेश्वर की स्तुति करना, अर्थात् उसके गुणों की कथा सुनना और विचारना।

६—प्रार्थना, कि जो इस प्रकार होती है कि—

हे जगदीश्वर! हे कृपानिधे! हे अस्मत्पितः! असत्य से हम लोगों को छुड़ा के सत्य में स्थिर कर। और, हे भगवन्! हम को अन्धकार अर्थात् अज्ञान और अधर्म आदि दुष्ट कामों से अलग करके, विद्या और धर्म आदि श्रेष्ठ कामों में सदा के लिये स्थापन कर। और, हे ब्रह्म! हम को जन्ममरणरूप संसार के दुःखों से छुड़ाकर, अपनी कृपाकटाक्ष से अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर।

जब सत्य मन से अपने आत्मा, प्राण और सब सामर्थ्य से परमेश्वर को जीव भजता है, तब वह करुणामय परमेश्वर, उस को अपने आनन्द में स्थिर कर देता है। जैसे जब कोई छोटा बालक घर के ऊपर से अपने माता पिता के पास नीचे आना चाहता है, वा नीचे से ऊपर उनके पास जाना चाहता है, तब हजारों आवश्यकता के कामों को भी माता पिता छोड़ कर, और दौड़कर, अपने लड़के को उठाकर, गोद में लेते हैं कि हमारा लड़का कहीं गिर पड़ेगा, तो उसको चोट लगने से उसको दुःख होगा। और, जैसे माता पिता अपने बच्चों को सदा सुख में रखने की इच्छा और पुरुषार्थ सदा करते रहते हैं, वैसे ही परम कृपानिधि परमेश्वर की ओर जब कोई सच्चे आत्मा के भाव से चलता है, तब वह अनन्तशक्तिरूप हाथों से उस जीव को उठाकर, अपनी गोद में सदा के लिये रखता है। फिर उसको किसी प्रकार का दुःख नहीं होने देता है। और, वह सदा आनन्द में रहता है।

पक्षपात को छोड़कर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करके, अर्थ को सिद्ध करना चाहिये। देखो, सब अन्याय, अधर्म और पक्षपात से होता है। जैसे कि यह मौलवी साहब का वस्त्र बहुत अच्छा है। मुझ को मिले, तो मैं उसको ओढ़कर सुख पाऊं, इस में अपने सुख का पक्षपात किया। और, मौलवी साहब के सुख दुःख का कुछ विचार न किया। इसी प्रकार पक्षपात से ही नित्य अधर्म होता है। अधर्म से काम को सिद्ध करना, इसी को अनर्थ कहते हैं।

और धर्म और अर्थ से कामना अर्थात् अपने सुख की सिद्धि करना, इस को काम कहते हैं। और अधर्म अर्थात् अनर्थ से काम को सिद्ध करना इसको कुकाम कहते हैं। इसलिये इन तीनों अर्थात् धर्म, अर्थ और काम से मोक्ष को सिद्ध करना उचित है। इसमें यह

बात है कि ईश्वर की आज्ञा का पालन करना, इसको धर्म, और उसकी आज्ञा का तोड़ना, इस को अधर्म कहते हैं। जो धर्म आदि ही मुक्ति के साधन हैं, और कोई नहीं। और, मुक्ति सत्य पुरुषार्थ से सिद्ध होती है, अन्यथा नहीं।

पादरी स्काट साहब—पण्डितजी ने कहा कि सब दुःखों से छूटने का नाम मुक्ति है। परन्तु मैं कहता हूं कि सब पापों से बचने और स्वर्ग में पहुँचने का नाम मुक्ति है। कारण यह कि ईश्वर ने आदम को पवित्र रचा था, परन्तु शैतान ने उसको बहका के उस से पाप करा दिया। इससे उसकी सब सन्तान भी पापी है। जैसे घड़ी बनाने वाले ने उस की चाल स्वतन्त्र रक्खी है, और वह आप ही चलती है, ऐसे ही मनुष्य भी अपनी इच्छा से पाप करते हैं, तो फिर अपने ऐश्वर्य से मुक्ति नहीं पा सकते, और न पापों से बच सकते हैं। इसलिये प्रभु ईसामसीह पर विश्वास किये बिना, मुक्ति नहीं हो सकती। जैसे हिन्दू लोग कहते हैं कि कलियुग मनुष्यों को पाप कराके बिगड़ता है, इससे उन की मुक्ति नहीं हो सकती। परन्तु ईसामसीह पर विश्वास करने से वे भी बच सकते हैं।

प्रभु ईसामसीह जिस-जिस देश में गये, अर्थात् उनकी शिक्षा जहां-जहां गई है, वहां-वहां मनुष्य पापों से बचते जाते हैं। देखो, इस समय सिवाय ईसाइयों के और किसी के मत में भलाई और अच्छे गुणों की उन्नति है? मैं एक दृष्टान्त देता हूं कि जैसे पण्डित जी बलवान् हैं, ऐसे ही इङ्गलिस्तान में एक मनुष्य बलवान् था। परन्तु वह मद्यपान, चोरी-व्यभिचार आदि बुरे काम करता था। जब वह ईसामसीह पर विश्वास लाया, तब सब बुराइयों से छूट गया। और, मैंने भी जब मसीह पर विश्वास किया, तब मुक्ति को पाया, बुरे कामों से बच गया। सो ईसामसीह की आज्ञा के विरुद्ध आचरण से मुक्ति नहीं हो सकती। इस लिये सब को ईसामसीह पर विश्वास लाना चाहिये। उसी से मुक्ति हो सकती है, और किसी प्रकार नहीं।

मौलवी मुहम्मद क़ासम साहब—हम लोग यह नहीं कह सकते कि पण्डितजी ने जो मुक्ति के साधन कहे, केवल उनसे ही मुक्ति हो सकती है। क्योंकि ईश्वर की इच्छा है, जिसको चाहे, उसको मुक्ति दे। और, जिसको न चाहे, न दे। जैसा समय का हाकिम जिस अपराधी से प्रसन्न हो, उसको छोड़ दे। और, जिससे अप्रसन्न हो, उसको कैद में डाल दे। उसकी इच्छा है, जो चाहे सो करे। उस पर हमारा ऐश्वर्य नहीं है। न जाने ईश्वर क्या करेगा, पर समय के हाकिम पर विश्वास रखना चाहिये। इस समय का हाकिम हमारा पैग़म्बर है। उस पर विश्वास लाने से मुक्ति होती है। हां! यह बात अवश्य है कि विद्या से अच्छे काम हो सकते हैं; परन्तु मुक्ति तो केवल उसी के हाथ में है।

स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी—(पादरी साहब के उत्तर में)-आपने जो यह कहा कि दुःखों से छूटना मुक्ति नहीं, पापों से छूटने का नाम मुक्ति है। सो मेरे अभिप्राय को न समझ कर यह बात कही है। क्योंकि मैं तो पहले साधन में ही सब पापों, अर्थात् असत्य कर्मों से बचना कह चुका हूँ। और बुरे कामों का फल भी दुःख कहाता है। अर्थात् जब पाप करेगा, तो दुःख से नहीं बच सकता। इस के अनन्तर और साधनों में भी स्पष्ट कहा है कि अधर्म छोड़कर, धर्म का आचरण करना, मुक्ति का साधन है। जो पादरी साहब इन बातों को समझते, तो कदाचित् ऐसी बात न कहते।

दूसरा; जो आप यह कहते हैं कि ईश्वर ने आदम को पवित्र रचा था, परन्तु शैतान ने बहकाकर पाप करा दिया, तो उसकी सन्तान भी इसी कारण से पापी हो गई। सो यह बात ठीक नहीं है। क्योंकि आप लोग ईश्वर को सर्वशक्तिमान मानते ही हैं, सो जब कि ईश्वर के पवित्र बनाये आदम को शैतान ने बिगाड़ दिया, और ईश्वर के राज्य में विघ्न करके, ईश्वर की व्यवस्था को तोड़ डाला, तो इससे ईश्वर सर्वशक्तिमान् नहीं रह सकता। और, ईश्वर की बनाई हुई वस्तु को कोई नहीं बिगाड़ सकता।

और, एक आदम ने पाप किया, तो उसकी सारी सन्तान पापी हो गई, यह सर्वथा असम्भव और

मिथ्या है । जो पाप करता है, वही दुःख पाता है । दूसरा कोई नहीं पा सकता । और, ऐसी बात कोई विद्वान् नहीं मानेगा । और, देखो एक आदम और हव्वा से किसी प्रकार इस जगत् की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती । क्योंकि बहन और भाई का विवाह होना, बड़े दोष की बात है । इसलिये ऐसी व्यवस्था मानना चाहिये कि सृष्टि के आदि में बहुत से पुरुष और स्त्री, परमेश्वर ने रचे

और, जो यह कहा कि शैतान बहकाता है, तो मेरा यह प्रश्न है कि जब शैतान ने सब को बहकाया, तो फिर शैतान को किसने बहकाया ?, जो कहो कि शैतान आप से आप ही बहक गया, तो सब जीव भी आप से आप ही बहक गये होंगे। फिर शैतान को बहकानेवाला मानना व्यर्थ है । जो कहो कि शैतान को भी किसी ने बहकाया है, तो सिवाय ईश्वर के दूसरा कोई बहकानेवाला शैतान को नहीं है । तो फिर जब ईश्वर ने ही सब को बहकाया, तब मुक्ति देनेवाला कोई भी आप लोगों के मत में न रहा । और, न मुक्ति पाने वाला । क्योंकि जब परमात्मा ही बहकानेवाला ठहरा, तो बचानेवाला कोई भी नहीं हो सकता । और यह बात परमात्मा के स्वभाव से भी विरुद्ध है। क्योंकि वह न्यायकारी और सत्य कामों का ही कर्त्ता है । तथा, अच्छे कामों में ही प्रसन्न होता है । वह किसी को दुःख देनेवाला और बहकानेवाला नहीं है ।

और देखो, कैसे आश्चर्य की बात है कि यदि शैतान ईश्वर के राज्य में इतना गड़बड़ करता है, फिर भी ईश्वर उसको न दण्ड देता है, न मारता है, न कारागृह में डालता है, इससे स्पष्ट परमात्मा की निर्बलता पाई जाती है । और विदित होता है कि परमात्मा ही को बहकाने की इच्छा है । इस से यह बात ठीक नहीं । और, न शैतान कोई मनुष्य है । जब तक शैतान के माननेवाले शैतान का मानना न छोड़ेंगे, तबतक पाप करने से नहीं बच सकते । क्योंकि वे समझते हैं कि हम तो पापी ही नहीं, जैसा शैतान ने आदम को, और उसकी सन्तान को, बहका के पापी किया, वैसा ही परमात्मा ने आदम की सन्तान के पाप के बदले में अपने एकलौते बेटे को शूली पर चढ़ा दिया, फिर हमको क्या डर है ? और, जो हमसे कुछ पाप भी होता है, तो हमारा विश्वास ईसामसीह पर है । वह पाप क्षमा कर देगा । क्योंकि उसने हमारे बदले में जान दी है। इसलिये ऐसी व्यवस्था मानने वाले पापों से नहीं बच सकते ।

और, जो घड़ी का दृष्टान्त दिया था, सो ठीक है । क्योंकि सब अपने-अपने काम करने में स्वतन्त्र हैं । परन्तु ईश्वर की आज्ञा अच्छे कामों के करने के लिये है, बुरे के लिये नहीं । और जो आपने यह कहा कि स्वर्ग में पहुँचना मुक्ति है । शैतान के बहकाने के कारण मनुष्यों में शक्ति नहीं कि पापों से छूटकर मुक्ति पा सकें । यह बात भी ठीक नहीं । क्योंकि सब मनुष्य स्वतन्त्र हैं और शैतान कोई मनुष्य नहीं, और दोषों से बचकर परमात्मा की कृपा से मुक्ति को पा सकते हैं । और, स्वर्ग से आदम गेहूँ खाने के कारण निकाला गया, और यह ही आदम का पाप हुआ कि गेहूँ खाया । मैं आप से पूछता हूँ कि आदम ने गेहूँ खाया और पापी होगया, और स्वर्ग से निकाला गया, आप लोग जो उस स्वर्ग की इच्छा करते हैं, तो क्या आप लोग वहाँ सब पदार्थ खावेंगे ? तो क्या पाप नहीं होगा ? और, वहाँ से निकाले नहीं जाओगे ? इससे यह बात भी ठीक नहीं हो सकती ।

और, आप लोगों ने ईश्वर को मनुष्य के सदृश माना होगा । अर्थात् जैसे मनुष्य सर्वज्ञ नहीं, वैसे ही आपने परमात्मा को भी माना होगा कि जिससे आप वहाँ गवाही और वकील की आवश्यकता बतलाते हैं। परन्तु आपके ऐसे कहने से ईश्वर की ईश्वरता सब नष्ट हो जाती है। वह सब कुछ जानता है, उसको गवाही और वकील की कुछ आवश्यकता नहीं है । और, उसको किसी की सिफ़ारिश की भी आवश्यकता नहीं, क्योंकि सिफ़ारिश न जानने वाले से की जाती है ।

और देखिये, आपके कहने से परमात्मा पराधीन ठहरता है । क्योंकि बिना ईसामसीह की गवाही वा सिफ़ारिश के वह किसी को मुक्ति नहीं दे सकता । और, कुछ भी नहीं जानता । इससे परमात्मा में

अल्पज्ञता आती है, कि जिससे वह सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ किसी प्रकार नहीं हो सकता। और, देखो, जब कि वह न्यायकारी है, तो किसी की सिफ़ारिश और मिथ्या प्रशंसा से न्याय के विरुद्ध कदाचित् नहीं कर सकता, जो विरुद्ध करता है, तो न्यायकारी नहीं ठहर सकता।

इसी प्रकार जो आप मनुष्य हाकिम के सदृश ईश्वर के दरबार में भी फरिश्तों का होना मानोगे, तो और बहुत से दोष ईश्वर में आवेंगे। इससे ईश्वर सर्वव्यापक नहीं हो सकता। क्योंकि जो सर्वव्यापक है, तो शरीरवाला न होना चाहिये। और जो सर्वव्यापक नहीं है, तो अवश्य है कि शरीरवाला हो। और शरीरवाला न होने से उसकी शक्ति सब पर घेरने वाली न हुई। और शरीरवाला जितना दूर का ज्ञान रखता है, पर उसको पकड़ और मार नहीं सकता। और जो शरीरवाला होगा, उसका जन्म मरण भी अवश्य होगा। इसलिये ईश्वर को किसी एक जगह पर और फरिश्तों का उसके दरबार में होना, ऐसी बातें मानना, किसी प्रकार ठीक नहीं हो सकता। नहीं तो ईश्वर की सीमा हो जायगी।

देखो, हम आर्य लोगों के शास्त्रों को यथावत् पढ़े विना लोगों को उलटा निश्चय हो जाता है। अर्थात् कुछ का कुछ मान लिया जाता है। जो पादरी साहब ने कलियुग के विषय में कहा सो ठीक नहीं। क्योंकि आर्य लोग युगों की व्यवस्था इस प्रकार से नहीं मानते। इसमें ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण है कि—

कलिश्शयानो भवति, सञ्जिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति, कृतं सम्पद्यते चरन्॥

ऐतरेय पञ्जिका ७। कण्डिका १५।

अर्थात् जो पुरुष सर्वथा अधर्म करता है, और नाममात्र धर्म करता है, उसको कलि, और जो आधा अधर्म और आधा धर्म करता है, उसको द्वापर और एक हिस्सा अधर्म और तीन हिस्से धर्म करता है, उसको त्रेता, और जो सर्वथा धर्म करता है, उसको सतयुग कहते हैं।

इसके जाने विना कोई बात कह देनी ठीक नहीं हो सकती। इससे जो कोई बुरा काम करता है, वह दुःख पाने से कदाचित् नहीं बच सकता। और, जो कोई अच्छा काम करता है, वह दुख पाने से बच जाता है। किसी ही देश में चाहे क्यों न हो।

क्या ईसामसीह के विना अपने सामर्थ्य से अपने भक्तों को नहीं बचा सकता ?, वह अपने भक्तों को सब प्रकार से बचा सकता है। उसको किसी पैगम्बर की आवश्यकता नहीं। हां ! यह सच है कि जब जिस-जिस देश में शिक्षा करने वाले धर्मात्मा उत्तम पुरुष होते हैं, उस-उस देश के मनुष्य पापों से बच जाते हैं। और, उन्हीं देशों में सुख और गुणों की वृद्धि होती है। यह भी सब लोगों के लिये सुधार है। इसका कुछ मत से प्रयोजन नहीं। देखो, आर्य लोगों में पूर्ण उपदेश की व्यवस्था अच्छी थी, इससे उस समय में वे सुधरे हुए थे। इस समय में अनेक कारणों से सत्य उपदेश कम होने से जो किसी बात का बिगाड़ हो, तो इससे आर्य लोगों के सनातन मत में कोई दोष नहीं आ सकता। क्योंकि सृष्टि की उत्पत्ति के समय से लेके आज तक आर्यों ही का मत चला आता है। वह कुछ बहुत नहीं बिगड़ा।

देखो, जितने १८०० वा १३०० वर्षों के भीतर ईसाइयों और मुसलमानों के मतों में आपस के विरोध से फिरके हो गये हैं, उनके सामने जो १९६०८५२९७६ वर्षों के भीतर आर्यों के मत में बिगाड़ हुआ, तो वह बहुत कम है। और आर्य लोगों में जितना सुधार है, सो मत के कारण नहीं, किन्तु पार्लिमेण्ट आदि के उत्तम प्रबन्ध से है, जो ये न रहें, मत से कुछ भी सुधार न हो। और पादरी साहब ने जो इङ्गलिस्तान के दुष्ट मनुष्य का दृष्टान्त मेरे साथ मिला कर दिया, सो इस प्रकार कहना उनको योग्य न था। परन्तु न जाने किस प्रकार से यह बात भूल से उनके मुख से निकली।

(मौलवी साहब के उत्तर में)—ईश्वर चाहे सो करे, ऐसा ठीक नहीं। क्योंकि वह पूर्ण विद्या और ठीक-ठीक न्याय पर सदा रहता है, किसी का पक्षपात नहीं करता। इसके कहने से कि जो चाहे, सो करे यह भी आता है कि ईश्वर ही बुराई भी करता होगा। और, उसी की इच्छा से बुराई होती है। यह कहना

ईश्वर में नहीं बनता। ईश्वर जो कोई मुक्ति का काम करता है, उसी को मुक्ति देता है। मुक्ति के काम के विना किसी को मुक्ति नहीं देता। क्योंकि वह अन्याय कभी नहीं करता। जो विना पाप पुण्य के देखे, जिसको चाहे दुःख देवे और जिसको चाहे सुख, तो ईश्वर में अन्याय आदि प्रमाद लगता है। सो वह ऐसा कभी नहीं करता। जैसे अग्नि का स्वभाव प्रकाश और जलाने का है, इनके विरुद्ध नहीं कर सकता, वैसे ही परमात्मा भी अपने न्याय के स्वभाव से विरुद्ध पक्षपात से कोई व्यवस्था नहीं कर सकता।

सब समय का हाकिम मुक्ति के लिये परमेश्वर ही हैं, दूसरा कोई नहीं। और, जो कोई दूसरे को माने, उसका मानना व्यर्थ है। मुक्ति दूसरे पर विश्वास करने से कभी नहीं हो सकती। क्योंकि ईश्वर जो मुक्ति देने रें दूसरे के आधीन है, या दूसरे के कहने से दे सकता है, तो मुक्ति देने में ईश्वर पराधीन है, तो वह ईश्वर ही नहीं हो सकता। वह किसी का सहाय अपने काम में नहीं लेता। क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है। मैं जानता हूं कि सब विद्वान ऐसा ही मानते होंगे। जो पक्षपात से औरों के दिखाने को न मानते हों, तो दूसरी बात है।

इसमें मुझको बड़ा आश्चर्य है कि परमात्मा को "लाशरीक" भी मानते हैं, और फिर पैग़म्बरों को भी मुक्ति देने में उसके साथ मिला देते हैं। यह बात कोई विद्वान् नहीं मानेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि परमेश्वर धर्मात्मा मनुष्य को मुक्ति के काम करने से मुक्ति स्वतन्त्रता से दे सकता है, किसी की सहायता के आधीन नहीं। मनुष्य को ही आपस में सहायता की आवश्यकता है, ईश्वर को नहीं। न वह मिथ्या प्रसन्न होने वाला है, जो मिथ्या प्रसन्न होकर अन्याय करे। वह तो अपने सत्य धर्म और न्याय से सदा युक्त है, और अपने सत्य प्रेम के भरे हुए भक्तों को यथावत् मुक्ति देकर, और सब दुःखों से बचाकर, सदा के लिये आनन्द में रखता है, इसमें कुछ संदेह नहीं।

इतने में चार बज गये। स्वामी जी ने कहा कि हमारा व्याख्यान बाकी है। मौलवी साहब ने कहा कि हमारे नमाज़ का समय आगया। पादरी स्काट साहब ने स्वामी जी से कहा कि हम को आपसे एकान्त में कुछ कहना है। सो वे दोनों तो उधर गये, इधर एक ओर तो एक मौलवी मेज़ पर जूता पहने हुए खड़े होकर, और दूसरी ओर पादरी अपने मत का व्याख्यान देने लगे।

और, कितने ही लोगों ने यह उड़ा दिया कि मेला हो चुका। तब स्वामी जी ने पादरी और आर्य लोगों से पूछा कि यह क्या गड़बड़ हो रहा है? मौलवी लोग नमाज़ पढ़कर आये वा नहीं। उन्होंने उत्तर दिया कि मेला तो हो चुका। इस पर स्वामी जी बोले कि ऐसे झटपट मेला किसने समाप्त कर दिया? न किसी की सम्मति ली गई, न किसी से पूछा गया। अब आगे कुछ बातचीत होगी वा नहीं?

जब वहां बहुत गड़बड़ देखा और संवाद की कोई व्यवस्था न जान पड़ी, तो लोगों ने स्वामी जी से कहा कि आप भी चलिये, मेला तो पूरा हो ही गया।

इस पर स्वामी जी ने कहा कि हमारी इच्छा तो यह थी कि कम से कम पाँच दिन मेला रहता। इसके उत्तर में पादरी साहबों ने कहा कि हम दो दिन से अधिक नहीं रह सकते। फिर स्वामी जी आकर अपने डेरे पर धर्मसंवाद करने लगे। उस दिन रात को पादरी स्काट साहब, और दो पादरियों के साथ स्वामी जी के डेरे पर आये। स्वामी जी ने कुरसियां बिछवा कर आदर पूर्वक उनको बिठलाया, और आप भी बैठ गये। फिर आपस में बातचीत होने लगी:—

पादरी साहबों ने पूछा कि—आवागमन सत्य है, वा असत्य?, और इसका क्या प्रमाण है?

स्वामी जी ने कहा कि—आवागमन सत्य है। और, जो जैसे कर्म करता है, वैसा ही शरीर पाता है। जो अच्छे काम करता है, तो मनुष्य का, और जो बुरे करता है, तो पक्षी आदि का शरीर पाता है। और जो बहुत उत्तम काम करता है, वह देवता

अर्थात् विद्वान् और बुद्धिमान् होता है। देखो जब बालक उत्पन्न होता है, तब उसी समय अपनी माता का दूध पीने लगता है। कारण यही है कि उसको पहिले जन्म का अभ्यास बना रहता है। यह भी एक प्रमाण है। और, धनाढ्य, कङ्गाल, सुखी, दुःखी अनेक प्रकार के ऊंच नीच देखने से विदित होता है कि कर्मों का फल है। कर्म से देह और देह से आवागमन सिद्ध है। जीव अनादि हैं कि जिनका आदि और अन्त नहीं। जिस योनि से जीव जन्म लेता है, उसका कुछ स्वभाव भी बना रहता है, इसी कारण मनुष्य आदि विचित्र स्वभाव और प्रकृति आदि के होते हैं। इससे भी आवागमन सिद्ध होता है।

इसी प्रकार और बहुत से प्रमाण आवागमन के हैं। परन्तु जीव का एक बार उत्पन्न होना और फिर कभी न होना, इसका कुछ प्रमाण नहीं हो सकता। क्योंकि जो मैंने कहा उसके विरुद्ध होना चाहिये था, सो ऐसा होना असंभव है। और, फिर यह बात कि मरा और हवालात हुई, अर्थात् जब क़यामत होगी, तब उसका हिसाब किताब होगा, तब तक बेचारा हवालात में रहा, मानना अच्छा नहीं।

फिर पादरी साहब चले गये। मौलवियों ने शाहजहांपुर जाकर मुन्शी इन्द्रमणि जी को लिखा कि जो आप यहां आवें तो हम आपसे शास्त्रार्थ करना चाहते हैं, परन्तु जब स्वामी जी और मुन्शी जी वहां पहुँचे, तो किसी ने शास्त्रार्थ का नाम तक भी न लिया।

ऋषि (७) काला (३) ङ्क (९) ब्रह्मा (१) ब्दे नभश्शुक्ले दले तिथौ। द्वादश्यां मंगले वारे ग्रन्थोऽयं पूरितो मया॥ +

॥ इति ॥

+ १—संवत् १९३७ वि० श्रावण शुक्ला द्वादशी मंगलवार के दिन यह ग्रन्थ सम्पूर्ण लिखा गया।

२—संख्या एक में जो तिथि निर्देश है, यह इस हिन्दी लेख के सम्बन्ध में है। उर्दू में यह लेख इससे प्रथम ही प्रकाशित हो चुका था। इस विषय का उल्लेख हमने अपने आरम्भिक निवेदन में पहिले किया है।

—सम्पादक

श्री प्रो० नित्यानन्द जी वेदालंकर एम० ए०

द्वारा विरचित भक्तिवाद की पुस्तकें:

१—सन्ध्या-सुमन—वैदिक-सन्ध्या की विस्तृत और प्रमाणिक व्याख्या इस पुस्तक में प्रस्तुत की गई है गुरुकुल कांगड़ी की ओर से इस पुस्तक का प्रकाशन दो बार हो चुका है। कागज बढ़िया और छपाई सुन्दर है। मूल्य—एक प्रति १॥) रुपये।

२—संध्या-विनय—[दूसरा संस्करण] वैदिक-सन्ध्या के प्रत्येक मंत्र के आधार पर विद्वान् लेखक ने प्रभु-प्रेम-गर्भित विनय पाठों को इस पुस्तक में लिखा है। सन्ध्या के मूलमंत्र और सब मन्त्रों के शब्दार्थ भी इसमें में हैं। एक प्रति—आठ आने।

३—प्रार्थनाप्रदीप—[दूसरा-संस्करण] वेद मन्त्रों के आधार पर सुन्दर-सुन्दर प्रार्थनाओं और भक्तिरस के भजनों का इस पुस्तक में बहुत उत्तम संग्रह है। साथ ही प्रार्थना तत्व का विवेचन भी किया गया है। एक प्रति—आठ आने।

ये तीनों पुस्तकें पुरस्कार आदि में देने के लिये बहुत उत्तम हैं।

पता:—गोविन्दराम, हासानन्द, नई सड़क, देहली।

॥ ओ३म् ॥

सत्यासत्यविवेक

सम्पादक का निवेदन

महर्षि दयानन्द सरस्वती और पादरी टी० जी० स्काट साहेब के मध्य तीन दिन तक बरेली नगर में जो लिखित शास्त्रार्थ हुआ था, उसका विवरण धर्मवीर श्री पण्डित लेखराम जी आर्य मुसाफिर कृत महर्षि के बृहद् उर्दू जीवन-चरित्र में, पृष्ठ ४४१ से ४६३ तक मुद्रित हुआ है। महर्षि दयानन्द १४ अगस्त सन् १८७६ ई० तदनुसार भाद्रपद कृष्णा १२ संवत १९३६ वि० को बरेली पधारे थे और बेगम बाग में श्री लाला लक्ष्मी नारायण जी खजांची की कोठी में; उन्होंने निवास किया था।

प्रथम कई दिन तक महर्षि के उपदेश होते रहे, जिन में जनता बहुत अधिक संख्या में उपस्थित होती थी। नगर के बड़े राज्याधिकारी कलक्टर आदि तथा अंग्रेज एवं पादरी आदि और नगर के प्रतिष्ठित सज्जन भी बड़े प्रेम और उत्साह से उपस्थित होते थे। इस प्रकार कई दिन तक बड़ा आनन्द रहा और जनता उपदेशामृत पान करके लाभ उठाती रही।

भक्तजनों के विशेष आग्रह पर महर्षि ने अपने इस बरेली निवास के समय ही अपनी आत्म-कथा को लिखना आरम्भ किया था। श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी ने, जबकि वे मुंशी राम कहलाते थे और मिशन स्कूल बरेली के विद्यार्थी थे—बरेली में ही अपने पूज्य पिता श्री ला० नानकचन्द जी के साथ जाकर महर्षि के दर्शन किये और उपदेश सुने थे।

उन दिनों महर्षि के पूर्व परिचित और भक्त सुप्रसिद्ध पादरी टी० जी० स्काट साहेब का निवास भी बरेली में ही था। महर्षि के व्याख्यानों में स्काट साहेब भी बड़े उत्साह से पधारा करते थे। महर्षि के जीवन-चरित्र के कई प्रसंगों में स्काट साहेब का उल्लेख पाया जाता है। मेला चान्दापुर में भी श्री स्काट महोदय ने ईसाई मत के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया था। ये पादरी साहेब अमेरिका के रहने वाले थे और ईसाई मत का प्रचार करने के लिये भारत में पधारे थे। ये ईसाईयों के प्रोटेस्टेंट सम्प्रदाय के अनुयायी, सुयोग्य विद्वान्, मधुर भाषी और व्यवहार कुशल विद्वान् थे। महर्षि के ये बहुत प्रेमी थे, और महर्षि ने तो इनका नाम ही भक्त स्काट रख लिया था।

बरेली निवास काल की एक घटना महर्षि और स्काट साहेब के पारस्परिक सम्बधों पर विशेष प्रकाश डालती है :—

व्याख्यान की समाप्ति पर एक दिन महर्षि दयानन्द ने देखा—स्काट साहेब उपस्थित नहीं हैं। पूछा—प्रति दिन तो आते थे, भक्त स्काट आज क्यों नहीं आये। किसी ने उत्तर दिया—आज रविवार है। उनके गिर्जा घर में प्रार्थना और उपदेश आदि का कार्य-क्रम रहता है। इसी से वे आज नहीं आये।

महर्षि के हृदय में भक्त के प्रतिप्रेम भाव उमड़ पड़ा। उपस्थितजनों को उत्साहित करते हुए बोले—"चलो आज उनका गिरजा देख आवें।"

चार पाँच सौ श्रोताओं की भीड़ को साथ लेकर महर्षि गिरजाघर में जा पहुँचे। भक्त स्काट ने जब महाराज को आते हुए देखा, तो तुरन्त ही आगे बढ़ कर उनका स्वागत किया। सम्मान पूर्वक बेदी पर बैठाया और उपदेश के लिये आग्रह करने लगे।

उनके आग्रह पर महर्षि ने गिरजाघर में आधा घण्टा तक उपदेश देकर, सब उपस्थित सज्जनों को आनन्दित किया।

हस्ताक्षर थे, वहाँ हस्ताक्षर का शब्द लिखकर उसी का नाम लिख दिया है। पाठक दोनों विद्वानों के लेखों अथवा वक्तव्यों को सत्यासत्य-विवेचक-दृष्टि से देखें और किसी प्रकार के पक्षपात को पास न आने दें, जिससे कि सत्य और असत्य का प्रकाश भली प्रकार हो जावे। कुछ सज्जनों का कथन है कि इन शास्त्रार्थों के अन्त में निर्णय भी निकाल देना चाहिये। परन्तु हमने अपनी सम्मति प्रकाशित करना उचित नहीं समझा। निर्णय करने का काम पाठकों की सत्यता प्रेमी बुद्धि पर ही छोड़ा जाता है।"

इस भूमिका और प्रार्थना आदि की शब्द रचना से ज्ञात होता है कि यह लेख श्री लाला लक्ष्मी नारायण जी, जो कि अध्यक्ष थे, की ओर से ही है, और उन्होंने ही इस विवरण को सर्वप्रथम प्रकाशित किया था।

इस पुस्तक के विषय में धर्मवीर श्री पं० लेखराम जी आर्य मुसाफिर कृत महर्षि के बृहद् जीवन-चरित्र में पृष्ठ ७६८ पर लिखा हैं;—

"बड़ी सावधानी के साथ प्रथमवार मास सितम्बर सन् १८७६ ई० में आर्य भूषण यन्त्रालय शाहजहां पुर में मुद्रित हुआ। और दोबारा आर्य दर्पण प्रेस शाहजहां पुर में और चौथी और पांचवीं बार उर्दू व हिन्दी में लाहौर में मुद्रित हुआ।"

श्री पण्डित वजीरचन्द जी शर्मा वैदिक पुस्तकालय मोहनलाल रोड लाहौर ने भी "सत्यासत्यविवेक" अथवा शास्त्रार्थ बरेली के नाम से यह विवरण उर्दू पुस्तक के रूप में प्रकाशित कराया था। देर हुई वह पुस्तक हमने देखी थी; परन्तु इस समय वह हमारे पास नहीं है। हम नहीं कह सकते कि वह श्री पण्डित लेखराम जी के ग्रन्थ के आधार पर तैयार की गई थी, अथवा प्रथम वार स्वतन्त्र रूप में प्रकाशित पुस्तक के आधार पर।

इस शास्त्रार्थ के विषय में श्री युधिष्ठिर जी मीमांसक अपने ग्रन्थ—"ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास" में पृष्ठ १८७ पर लिखते हैं:—

"यह शास्त्रार्थ असली लिखित कापी के अनुसार "सत्यासत्यविवेक" नाम से उर्दू में प्रकाशित हुआ है। इसका प्रथम संस्करण 'आर्यदर्पण-यन्त्रालय शाहजहांपुर में छपा था। इसका मूल्य चार आना था। यह संस्करण हमारे देखने में नहीं आया। इसका विज्ञापन ऋग्वेद और यजुर्वेद भाष्य के आश्विन सं० १९३६ के ११ वें अंक अन्त के में छपा था। अतः इसका प्रकाशन शास्त्रार्थ के कुछ दिन बाद ही हो गया था।"

इस लेख से यह प्रतिध्वनित होता है कि 'सत्यासत्यविवेक' का प्रकाशन केवल उर्दू में ही हुआ है और हिन्दी में नहीं। श्री पण्डित लेख राम जी के ग्रन्थ से पूर्व-उद्धृत लेख में इस पुस्तक के हिन्दी में प्रकाशित होने की सूचना स्पष्ठ रूप में आ चुकी है।

ऊपर जिस विज्ञापन का उल्लेख है, वह इस प्रकार है:—

सत्यासत्यविवेक

इस पुस्तक में सविस्तार वृत्तान्त तीनों दिनों के शास्त्रार्थ कि जो स्वामी दयानन्द सरस्वती जी और पादरी टी० जी० स्काट साहेब का राजकीय पुस्कालय बरेली में, इस प्रकार कि प्रथम दिन अनेक जन्म के विषय में, दूसरे दिन अवतार अर्थात् ईश्वर देह धारण कर सकता है, इस विषय में, और तीसरे दिन इस विषय में कि ईश्वर पाप क्षमा भी कर सकता है, हुआ था। बहुत उत्तम फारसी लिपि और उर्दू भाषा में मुद्रित हुआ है। इस शास्त्रार्थ में प्रत्येक विषय पर उत्तम प्रकार से खण्डन-मण्डन हुआ है कि जिसके देखने से सत्य प्रेमी जनों को सत्य और असत्य प्रकट होता है। जो विद्यार्थी मिशन स्कूलों में पढ़ते हैं और बहुत गुमराह होते हैं। उनको यह पुस्तक गुमराही से बचाती हैं। डाक महसूल सहित ।)॥ मूल्य भेजकर मंगवा लें।

प्रस्तुत पुस्तक के रूप में हम "सत्यासत्यविवेक" का हिन्दी अनुवाद जनता की सेवा में प्रस्तुत कर रहे हैं। हमने इसे धर्मवीर पण्डित लेखराम जी के ग्रन्थ के आधार पर ही तैयार किया है। और, अनुवाद-कार्य में इस बात का पूर्ण ध्यान रखा है कि दोनों पक्ष के विद्वानों के भाव पूर्णतया यथावत् रूप में प्रकाशित हों। —सम्पादक,

❀ ओ३म् ❀

सत्यासत्यविवेक

[शास्त्रार्थ-बरेली]

ता० २५ अगस्त, सन् १८७९ ई०

विषयः—पुनर्जन्म

स्वामी दयानन्द सरस्वती जीः—

जीव, जीव के स्वाभाविक गुण कर्म और स्वभाव अनादि हैं। और, परमेश्वर के न्याय करना आदि गुण भी अनादि हैं। जो कोई ऐसा नहीं मानता कि जीव की, और उसके गुण आदि की उत्पत्ति होती है, उसको उस का नाश मानना भी अवश्य होगा। और तिस के कारण आदि का भी निश्चय करना और कराना होगा। क्योंकि कारण के विना कार्य की उत्पत्ति सर्वथा असम्भव है। जो-जो जीव के पाप और पुण्य आदि कर्म प्रवाह से अनादि चले आते हैं, उनका ठीक-ठीक फल पहुँचाना ईश्वर का काम है। और जीवों का विना स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीर के सुख दुःख का भोग करना असम्भव है। जब यह बात हुई, तब बारम्बार शरीर का धारण करना भी जीव को अवश्य है। क्योंकि क्रियमाण कर्म नये-नये करता जाता है। उनका संचित और प्रारब्ध भी नया नया होता चला जाता है। जब इस सृष्टि में विद्या की आँख से मनुष्य देखे, तो सृष्टिक्रम और प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ठीक-ठीक सिद्ध होता है, कि देखो जो आज सोमवार है, वही फिर भी आता है। महीना, रात, दिन आदि भी पुनः पुनः आते हैं। और गेहूँ का बीज बोने से फिर वही गेहूँ आता है।

हस्ताक्षर दयानन्द सरस्वती जी

— × —

पादरी टी० जी० स्काट साहेबः—

इस आवागमन के विषय में केवल सत्य के लिये ही प्रयत्न करना चाहिये। हार-जीत की इसमें कोई बात नहीं है। यह सिद्धान्त पुराना तो है, परन्तु संसार में से मिटा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि जितने जीवात्मा हैं, वे सदैव जन्म लेते रहते हैं। कभी मनुष्य की योनी में, कभी बैल की योनी में कभी बन्दर की और कभी कीड़े मकौड़े की योनी में उत्पन्न होते हैं। परन्तु यह ऐसा सिद्धान्त है कि सुशिक्षित और उन्नत जातियां इसको छोड़ती जाती हैं। प्राचीन मिस्री लोगों ने पहिले इसे माना हुआ था, फिर छोड़ दिया। इसी प्रकार यूनानियों ने और रूमियों ने और अंग्रेजों ने भी छोड़ दिया। हमारे पुराने द्रविड़ लोग भी, जो कि हमारे गुरु थे, यही सिखलाते थे। और हम लोग सब के सब मानते थे। परन्तु रोशनी के फैलने से और विद्या प्राप्त करने से, इस पुराने और निराधार सिद्धान्त को छोड़ दिया। सो हमारा सवाल पण्डित जी से यह है कि इस सिद्धान्त को मानने के लिये कौनसी युक्तियाँ हैं ? जब कोई विशेष प्रमाण दिया जायेगा, तो हम उस का खण्डन करने के लिये आक्षेप करेंगे। फिर भी दो चार प्रश्न यहां पर हैं:—

ईश्वर की आत्मा के अतिरिक्त और आत्मायें भी अनादि काल से अर्थात् अजल से हैं कि नहीं ?

इस जन्म लेने से कभी छुटकारा मिलेगा, या नहीं ?

आपका यह कथन है कि सब दुःख जो संसार में होते हैं, दण्ड देने के लिये ही हैं, सो पुनर्जन्म केवल दण्ड के लिये है, या इस का कोई और कारण है ?

यह भी एक प्रश्न है कि परमेश्वर हर समय सगुण है, या कभी निर्गुण भी होता है ?

यह जन्म लेना उसी की ख़ास कुद्रत से हर समय होता रहता है, या किसी क़ुद्रती कानून से होता है, जैसे कि बीज का उगना, फल का पकना, पानी का बरसना। इत्यादि।

हस्ताक्षर टी० जी० स्काट साहेब

—×—

स्वामी दयानन्द सरस्वती जीः—

तीन पदार्थ अनादि हैं। एक ईश्वर, एक कारण और सब जीव। जीव जन्म से कभी छुटकारा न पायेंगे। पुनर्जन्म दण्ड और पुरस्कार दोनों के लिये है। परमेश्वर सगुण भी है और निर्गुण भी और वह सदैव रहता है। कुद्रती नियम उस का यही है कि जैसा, जिसने पाप या पुण्य किया है, उसको वैसा ही अपने सत्य न्याय से फल देता है। अब पादरी साहेब ने जो कहा था कि पुनर्जन्म का प्राचीन सिद्धान्त हमारे बीच में भी था। इससे सिद्ध हुआ कि सब देशों में पुनर्जन्म का सिद्धान्त प्रचलित था। और जो यह कहा कि जो जातियां सुधरती जाती हैं, वे पुनर्जन्म के सिद्धान्त को छोड़ती जाती हैं—अब, इस पर एक सवाल है कि प्राचीन सभी बातें झूठी हैं, या उनमें से कुछ सत्य भी हैं और नये सिद्धान्त सभी सत्य हैं, अथवा उनमें कुछ मिथ्या भी हैं। यदि पादरी साहेब कहें कि प्राचीन बातें और सिद्धान्त अब मानने के योग्य नहीं हैं। तब तो तोरेत और जबूर इत्यादि ग्रन्थ और बाइबिल व इंजील की शिक्षायें आजकल की अपेक्षा से बहुत पुरानी हैं। वे भी अब न माननी चाहियें। यह कोई मानने योग्य प्रमाण की बात नहीं है कि पहिले मानते थे और अब नहीं मानते, इसलिये सच्ची या झूठी हैं। या, पहिले नहीं मानते थे, अब मानते हैं, इसलिये झूठी या सच्ची हैं।

अब, पादरी साहेब ने कहा कि कुछ प्रमाण दें, तो हम उस पर आक्षेप करें। प्रमाण के लिये मैंने पहिले ही लिख दिया है, कि इस जीव के कर्म इत्यादि अनादि हैं। और, ईश्वर का न्याय करना इत्यादि भी अनादि हैं। [जो कर्म का सिद्धान्त न माना जाये, तो सृष्टि में बुद्धिमान निर्बुद्धि और दरिद्र, राजा और कंगाल की अवस्था ईश्वर किस प्रकार कर सके। क्योंकि इसमें तरफ़दारी आती है। और, पक्षपात से उसका न्याय ही नष्ट हो जाता है।] जब कर्म के फल हैं, तो परमेश्वर पूर्ण न्यायकारी बनता है, अन्यथा नहीं। और ईश्वर अन्याय कभी नहीं करता।

हस्ताक्षर दयानन्द सरस्वती जी

—×—

पादरी स्काट साहेबः—

पण्डित जी के कहने से तमाम जीव अनादि हैं। अर्थात् अजल से हैं। तो इस हिसाब से हमारी और ईश्वर की अनादिता में कोई भेद नहीं। अर्थात् दो वस्तुएं अनादि काल से हैं। एक प्रकार से दो ईश्वर हुए। मेरा प्रश्न यह है कि ऐसा मानना--तोरेत, जबूर और इंजील के सर्वथा विरुद्ध है। मैं पूछता हूं कि कौनसा सिद्धान्त अधिक सन्तोष जनक है। अर्थात् एक यह कि हमारे जीवात्मा सदैव आवागमन के चक्कर में भ्रमते फिरते रहेंगे और कभी बैल के शरीर में जायेंगे और कभी बन्दर के। कभी अत्यन्त कीड़े मकौड़े के और कभी किसी अच्छे शरीर में। इस अनादिकाल से चल रहे चक्कर में अधिक सन्तोष है कि तोरेत, जबूर और इंजील के सिद्धान्त में कि अन्ततोगत्वा जो लोग नेकी करते और नेक बनते हैं, वे एक ऐसे सुखपूर्ण स्थान में पहुँचेंगे कि उन्हें फिर कभी भी जन्म न लेना होगा। न ही उन्हें किसी प्रकार का कष्ट होगा। विचार कीजिये कि किस ग्रन्थ की शिक्षा अधिक सन्तोष जनक है। इसके अतिरिक्त ईश्वर निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार का कैसे हो सकता है? अर्थात् वह विशेषणों वाला भी है और विशेषणों से रहित भी है। वह कौनसी वस्तु है कि जो विशेषणों से रहित है? बताइये—यदि उसमें न्याय करने का गुण न हो, तो न्याय क्योंकर करे, और पुनर्जन्म के रूप में लोगों को दण्ड किस प्रकार देवे? ऐसे ही निराधार विचारों पर आधारित होने के कारण सुशिक्षित

जातियां इस सिद्धान्त को छोड़ती जाती हैं। इसके अतिरिक्त यदि यह पुनर्जन्म दण्डस्वरूप है, तो इसमें दण्ड क्या हुआ ? उदाहरण के लिये जब बन्दर यह जानता ही नहीं कि मैंने क्या अपराध किया है ? या कोई पादरी साहेब, या पण्डित साहेब अत्यन्त तुच्छ कीड़े के शरीर में उत्पन्न हुआ; तो उनको दण्ड कैसा हुआ। वे तो जानते ही नहीं कि हमने क्या-क्या अपराध किये हैं ? क्या कभी किसी को याद आया है, या आता है कि मैं अमुक काल में बन्दर था, अथवा मैं किसी समय गीदड़ था। और, जब कुल दुनियां में किसी को भी याद नहीं है, तो फिर ऐसे पुनर्जन्म में किसी के लिये क्या दण्ड की बात रह जाती है। हम तो यह मानते हैं कि दुःख कभी-कभी दण्ड स्वरूप होता है, और कभी नहीं भी।

हस्ताक्षर टी. जी. स्काट साहेब

—×—

स्वामी दयानन्द सरस्वती—

[दोनों अनादि होने से बराबर नहीं होते, जब तक कि उनके सब गुण बराबर न हों। परमेश्वर अनन्त है और जीव सान्त। परमेश्वर सर्वज्ञ है, जीव अल्पज्ञ। परमेश्वर सदा पवित्र और मुक्त तथा जीव कभी पवित्र कभी, बन्ध और कभी मुक्त। इसलिये दोनों बराबर नहीं हो सकते।]

तोरेत जबूर और इंजील के विरुद्ध होने से ही कोई बात सच्ची और झूठी नहीं हो सकती। क्योंकि तोरेत आदि में भ्रम से सच को झूठ और झूठ को सच बहुत जगह लिखा है। सच्ची तो उस किताब की बात हो सकती है कि जिस में आरम्भ से अन्त तक एक भी बात झूठ न हो। ऐसी किताब वेदों के अतिरिक्त भूगोल में ईश्वरकृत और कोई नहीं। [क्योंकि ईश्वर के गुण, कर्म और स्वभाव से अनुकूल वेद ही पुस्तक है, दूसरी नहीं। सिवाये वेद के उपदेश के किसी भी किताब में ठीक-ठीक सब बातों का निश्चय नहीं नजर आता है। इस लिये सबसे उत्तम वेद की ही शिक्षा है, दूसरे की नहीं।]

परमेश्वर अपने गुणों से सगुण है अर्थात् सर्वज्ञ आदि गुणों से, और निर्गुण— कारण के जड़ आदि गुण तथा जीवन के अज्ञान, जन्म-मरण, भ्रम आदि गुणों से, रहित होने से परमात्मा निर्गुण है। इस लिये यह निश्चय जानना चाहिये कि कोई पदार्थ भी इस रीति से सगुणता और निर्गुणता से रहित नहीं है।

जब जीव का पाप अधिक और पुण्य कम होता है, तब उसे बन्दर आदि का शरीर धारण करना पड़ता है। और, जब पाप-पुण्य बराबर होते हैं, तब मनुष्य का। और, जब पाप कम और पुण्य अधिक होता है, तब विद्वान् इत्यादि का।

हस्ताक्षर दयानन्द सरस्वती जी—

—×—

पादरी स्काट साहेबः—

सब पुराने सिद्धान्त मिथ्या नहीं हैं। और, न ही सब नये सिद्धान्त सत्य हैं। परन्तु जब सुशिक्षित जातियां भली प्रकार विचार विमर्श करके किसी सिद्धांत को मिथ्या उद्घोषित करती हैं, तो यह दृढ़ प्रमाण है कि वह सिद्धान्त मिथ्या है। और एक ही बार के जन्म लेने के विषय में सोच लीजिये।

तोरेत नई नहीं है। यह भी बहुत पुरानी है। तोरेत किसी प्रकार भी वेद से नई नहीं है। उसमें पुनर्जन्म का कुछ भी उल्लेख नहीं है। तोरेत और इंजील सत्य हैं वा मिथ्या यह आज का विषय नहीं है। इस विषय को व्यर्थ ही खण्डित करना कि ये मिथ्या नहीं, अथवा वेद के विषय में, कुछ नहीं कहना है। क्योंकि यह भी आज का विषय नहीं। परन्तु इस बात पर ध्यान दीजिये कि सुशिक्षित और उन्नत जातियां तोरेत और इंजील की शिक्षाओं पर दृढ़ रहती हैं। इसके प्रतिकूल हिन्दू लोग ज्यों-ज्यों उन्नत और सुशिक्षित होते जाते हैं वेद को छोड़ते जाते हैं। आवश्यकता हो, तो मैं सैकड़ों प्रमाण दे सकता हूं। और यह कहना कि कर्म अनादि काल से है, इसलिये पुनर्जन्म होता है। तब तो परमेश्वर को भी जन्म लेना चाहिये। और यदि कोई कहे कि उसके सब कर्म अच्छे हैं, तो क्या कठिन है कि उस की दया और

कृपा से हम लोग भी ऐसे दृढ़ और उत्तम हो जावें कि हमें बन्दर या गीदड़ बनना न पड़े। जैसा कि हमारे पवित्र धर्मग्रन्थ में लिखा है—"एक बार मनुष्य के लिये मरना है। बाद इसके न्याय।"

निर्गुण और सगुण के विषय में स्वामीजी के अर्थ को मैं नहीं मानता। निर्गुण का यह अर्थ नहीं है कि कोई गुण न हो। जब उसमें गुण नहीं है, तब तो वह सगुण भी नहीं हो सकता। फिर इस समय जन्म-मरण का प्रबन्ध कौन करता है? अब फिर मैं पूछता हूं कि यदि दण्ड-भोग के लिये जन्म लेता है, तो यह चाहिये कि दण्ड भोगने वाला यह जाने कि मुझे दण्ड क्यों भोगना पड़ा है। अन्यथा दण्ड भोग की सब बात ही व्यर्थ हो जाती है। मैं फिर पूछता हूं कि किसी को याद क्यों नहीं रहता? कि तुम बन्दर या गीदड़ पिछले जन्म में थे।

हस्ताक्षर टी० जी० स्काट साहेब

—+—

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी:—

पहले प्रश्न के विषय में उत्तर:—जीव अल्पज्ञ है, इसलिये पूर्व जन्म की बात को याद नहीं रख सकता। पादरी साहेब को विचार करना चाहिये कि ऐसी बात क्यों पूछते हैं। क्योंकि इसी जन्म में जन्म के पांच वर्ष तक की बातें भी क्यों नहीं याद रहतीं? और सुषुप्ति अर्थात् गहरी नींद में जब सो जाता है, तब जागृत अवस्था की बात एक भी याद नहीं रहती। और कार्य-कारण के अनुमान से अर्थात् कार्य का निश्चय कर लिया। सब विद्वान् लोग मानते हैं कि जब पाप-पुण्य का फल सुख दुःख, नीच-ऊंच जगत् में दीखता है, तो कारण जो पूर्वजन्म का कर्म हैं, सो क्यों नहीं? पुरानी और नई शिक्षा वा सिद्धान्त की बात दृष्टान्त के लिये पर्याप्त नहीं है। क्योंकि वह सर्वथा सत्य नहीं। और जिनको आप सुशिक्षित कहते हैं, उन जातियों में से कोई मनुष्य अर्थात् दार्शनिक वा विचारक बन्दर से मनुष्य का होना मानता है। यह सर्वथा मिथ्या है।

ये वेद की ही बातें हैं कि वेदी का बनाना। इब्राहीम को ईश्वर ने कहा कि इससे मैं प्रसन्न होता हूँ। तुम यज्ञ किया करो। इत्यादि वेदों की बातें बाईबिल में मौजूद हैं। और ईसा ने साक्षी दी है कि इसका एक विन्दु भी झूठ नहीं है।

इसलिये और भी एक प्रमाण देता हूँ कि आज कल मोक्षमूलर [व्याख्याता] अपने ग्रन्थों में लिखते हैं कि ऋग्वेद से पहिले की कोई भी पुस्तक संसार में नहीं है। अब मैं सैकड़ों साक्षियाँ दे सकता हूँ कि बाइबिल इन-इण्डिया के बनाने वाले इत्यादि और आजकल के सैकड़ों विचारकों की वाणी से मैंने सुना है कि बाइबिल वा इंजील को नहीं मानते। और कर्नेल अल्काट इत्यादि ने भी बाइबिल की शिक्षा को सर्वथा त्याग दिया है। और हमारे आर्य लोग—एफ. ए., बी. ए., एम. ए., एल. डी., लाखों लोग बाइबिल को सर्वथा नहीं मानते और वे सभी सुशिक्षित हैं। अस्तु; पादरी साहेब का यह कथन पर्याप्त नहीं है। परमेश्वर का पुनर्जन्म नहीं होता। क्योंकि वह अनन्त और सर्वव्यापक है। वह शरीर में नहीं आ सकता। वह तो नित्य मुक्त है। बन्धन का काम कभी नहीं करता।

हस्ताक्षर स्वामी दयानन्द सरस्वती जी,

—+—

पादरी स्काट साहेब:—

पण्डित जी का पक्ष, बालक के उदाहरण से कि वह किसी बात को याद नहीं रखता, जो कि बचपन में हुई हो, मिथ्या सिद्ध होता है। इसलिये कि बच्चे कुछ न कुछ तो याद रख ही लेते हैं। और फिर यह भी प्रश्न होता है कि जब हमारे आत्मा अनादि काल से हैं, तब तो हम भी बच्चे की अपेक्षा से कुछ बढ़ गये हैं। हमें कुछ न कुछ तो वृत्तान्त ज्ञात होने ही चाहियें। परन्तु ऐसा नहीं होता। इस युक्ति पर विचार कीजिये।

यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि हम अनादिकाल से चले आरहे हैं। और, जन्म ग्रहण करके यदि सब बातें भूल गये हैं, तब तो जन्म धारण करने का दण्ड-ग्रहण करने का भी कुछ अर्थ न निकला। और नींद का जो वर्णन किया गया, सो इस उत्तर से सिद्ध होता है कि नींद की बात भी याद रहती है। कतिपय

तो नींद के समय बड़े उत्तमोत्तम विचार प्रकट करते हैं। यहाँ पर मैं एक पुष्ट प्रश्न और करना चाहता हूँ। वह यह कि इस शिक्षा से संसार में पाप को प्रोत्साहन प्राप्त होता है। क्योंकि लोग कहते हैं कि जो चाहें सो करें, भोगेंगे तो फिर कभी किसी अन्य योनी में ही। अच्छा जन्म भी कभी होगा। यह भी कहते हैं कि यह परम्परा सदैव चलती रहेगी। क्या करें, हम मानते हैं कि संसार में जो दुःख हैं, उनका कोई न कोई कारण अवश्य है। कभी बुरों को दण्ड के लिये और कभी अच्छों को कि उनको अनेक प्रकार की शिक्षा मिली है।

कहानी है कि बादशाह का लड़का था। पण्डित के पास पढ़ने के लिये भेजा गया। पण्डित ने उसको सब प्रकार से सुशिक्षित करके योग्य बनाया। फिर बादशाह के पास लाया। और, उस से कहा कि केवल एक ही काम बाकी है। उसने पूछा कि इस ने कोई अपराध किया। कहा कि नहीं। तब कहा कि मुझे चाबुक देना। और खुद सवार होकर लड़के से कहा कि दौड़ो। और उसको खूब मारता गया। फिर बादशाह के पास ले आया। बादशाह ने कहा कि ऐसा क्यों किया। पण्डित ने कहा इसलिये कि दूसरों पर दया करना सीखे और दयालु व कृपालु बन जाये। सो यह सम्भावना है कि अच्छे मनुष्यों को भी कष्ट भोगना पड़े, किसी अच्छे उद्देश्य के लिये। यह कुछ आवश्यक नहीं है कि पुराने जन्म के कारण से। डारविन साहेब पुनर्जन्म को नहीं मानते। वे केवल यही कहते हैं कि संसार में विकास क्रम से नीची योनियों के प्राणी ऊँची योनियों को प्राप्त हो गये हैं। उनका यह अभिप्राय नहीं है कि कोई प्राणी जो अब है, वह पहिले भी था। कर्नल अल्काट साहेब की जो चर्चा चली है, सो उसका जो पक्ष है, वह सुन लीजिये। तब मालूम होगा कि वे कैसे आदमी हैं?

हस्ताक्षर टी० जी० स्काट साहेब

—×—

स्वामी दयानन्द सरस्वती जीः—

लड़के के उदाहरण से मेरा यह अभिप्राय है कि वह जो कुछ सुख दुःख भोगता है, उसकी स्मृति उसे स्वयमेव नहीं होती, कहीं किसी के कहने से होती है। और जीव का स्वाभाविक गुण एक-सा रहता है। परन्तु; नैमित्तिक गुण घटते बढ़ते रहते हैं। इसलिये जीव एक से हैं। परन्तु उसके ज्ञान की सामग्री पाँच वर्ष के पश्चात् बढ़ जाती है। अब यदि पादरी साहेब को या मुझको कोई पूछे कि दस वर्ष के पहिले किसी से एक दिन भर बात-चीत क्या की। क्या वह सम्पूर्ण पदों और अक्षरों सहित याद है? तो यही कहना पड़ेगा कि ठीक-ठीक याद नहीं है। जब सदा से जीव नहीं आते, तो फिर कहाँ से हुए? जेलखाने के कैदियों को यद्यपि सब लोग ठीक-ठीक नहीं जानते, तथापि अनुमान करते हैं कि किसी अपराध के करने से जेलखाने में पड़े हैं। इससे हम कभी भी अपराध न करें। अन्यथा हमारा भी यही हाल होगा। पादरी साहेब मेरे अभिप्राय को नहीं समझे। वह स्वप्न की बात नहीं, सुषुप्ति की बात है कि जिस नींद में कुछ भी स्मरण नहीं रहता। बस नींद में कोई एक भी विचार कोई भी स्मरण नहीं रख सकता। जो पुनर्जन्म को नहीं मानते, उनकी शिक्षा से संसार में पापों की वृद्धि होती है। क्योंकि फिर आगे जन्म लेने की बात तो वे मानते ही नहीं हैं। जो मन में आवे, वही करते हैं और मरने पर व्यर्थ ही हवालाती के समान पड़े रहते हैं। आज मरे! क़ियामत तक हवालात में रहे। कचहरी के द्वार बन्द हैं, और खुदा बेकार बैठा है। जो दोजख में गया, वह वहाँ का हो गया। जो जन्नत में गया, वह वहाँ का हो गया। और, कर्म तो ससीम किये जाते हैं, परन्तु उसका फल असीम प्राप्त होता है। इस प्रकार ईश्वर बड़ा अन्यायी ठहरता है। और आशावादिता के बिना मनुष्य सुधर नहीं सकते। केवल रंज में दुःख का कारण क्या है? और यदि शिक्षण के लिये उसको कष्ट दिया जाता है, वह सुधार के लिये है। परन्तु उसका फल तो विद्या आदि हैं। और पादरी साहेब ने कहा था कि एक स्थान में सदैव सुख दुःख भोगेंगे, वह स्थान कौन-सा है।

हस्ताक्षर स्वामी दयानन्द सरस्वती जी

—×—

पादरी टी. जी. स्काट साहेबः-

कर्नल अल्काट साहेब का एक कागज मेरे पास है कि जिसमें ईसाइयों की, और पादरियों की ईसाई दीन की व्यर्थ ही कठोर भाषा में बहुत बुराई लिखी है। वह इतनी अधिक कठोर है कि मैं किसी बाजारी व बदमाश के लिये भी न बकता। कहते हैं कि ये कठोर और निर्दयी हैं। यह ईसाई दीन संसार में सारी बुराई और खराबी की जड़ हैं। इसके अतिरिक्त और भी कई प्रकार से कठोर भाषा का प्रयोग किया गया है। जरा विचार कीजिये कि इस व्यक्ति का हृदय और उसकी बुद्धि किस प्रकार की होगी।

यह बात सिद्ध नहीं होती कि वेद तौरेत की अपेक्षा अधिक पुराना है। इस वास्ते कि तौरेत में यज्ञ का वर्णन है और हम दावे से कह सकते हैं कि सर्वप्रथम तौरेत में ही यज्ञ का वर्णन हुआ और वेद वालों ने वहाँ से ले लिया। दोनों बातों का दोनों में ही वर्णन है। निश्चय से कोई नहीं कह सकता कि किस ने किस से ले लिया। और यह कहना कि कुछ गुण स्थायी हैं और कुछ अस्थायी, इसलिये इस जन्म की बातें हमें याद नहीं रहतीं। कुछ गुण तो स्थायी हैं ही। अतः यह अवश्य ही होना चाहिये कि पिछले जन्म की कोई बात तो याद हो। यदि हमारी और पण्डित जी की बातचीत इस वर्ष कहीं हुई हो, तो कुछ बातें तो अवश्य ही याद रहती हैं।

निद्रा का उदाहरण ठीक नहीं है। क्योंकि कभी कभी नींद में बात याद नहीं रहती और कभी-कभी याद रहती भी है। जेलखाने का उदाहरण भी पूरा ठीक नहीं है। क्योंकि इसमें दण्ड का केवल एक ही अभिप्राय प्रकट होता है। दण्ड के दो अभिप्राय हैं। एक तो दण्डित व्यक्ति का सुधार और दूसरे देखने वालों को शिक्षा। परन्तु इस पुनर्जन्म में तो केवल देखने वालों की शिक्षा की ही कुछ व्यवस्था मानी जा सकती है। यह नहीं कि उसे यह दण्ड क्यों मिला है?

रहा यह प्रश्न कि आत्मायें [रूहें] कहां से आईं? शिक्षित जातियों में आज कल यह सिद्धान्त है कि जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज उत्पन्न होते हैं, और कोई भी यह नहीं कहता कि पहिले वृक्ष हुआ, अथवा पहिले बीज हुआ है। इसी प्रकार रूह से शरीर और शरीर से रूह उत्पन्न होते हैं। तथापि यह बात हमारे लिये बुद्धिगम्य नहीं है कि ऐसा किस प्रकार होता है? परन्तु ऐसा नहीं है कि जो रूह अब मौजूद है, वह पहिले किसी अन्य शरीर में थी। वह अभी पैदा हुई है और जब यहां से जावेगी, तो उसका यथोचित न्याय होगा, कर्मानुसार। इससे परमेश्वर अन्यायी नहीं है। अपितु इससे भी परमेश्वर का न्याय सिद्ध होता है। यह कहना कि रूह सदा कहां रहती है? हम यह नहीं कहते कि हम परोक्ष की बातें जानने वाले हैं कि सुख वा दुःख के स्थान बतावें। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। वह रूह को सभी स्थानों पर सुख अथवा दुःख दे सकता है। हमारा जानना या न जानना क्या हुआ।

हस्ताक्षर टी. जी. स्काट साहेब

—×—

स्वामी दयानन्द सरस्वती जीः—

जो कर्नल अल्काट साहेब के विषय में पादरी साहेब ने कहा कि वह अच्छा मनुष्य नहीं है, सो मैं ठीक नहीं मान सकता। क्योंकि जिनका जिनसे विरोध होता है, वे उनके विषय में उलटा सूधा कहा ही करते हैं। वेद तौरेत की अपेक्षा बहुत पुराना है। और जिसकी बात पूरी से अधूरी दूसरी में लिखी हो, तो दूसरी ही पुस्तक बाद की होती है। बालकपन में नैमित्तिक गुण कम थे और स्वाभाविक गुण एक से हर समय रहते हैं। इस बात को पादरी साहेब ठीक-ठीक नहीं समझे। जो कि आग के संयोग से जल में उष्णता आती है, वह नैमित्तिक और जो आग में उष्णता आती वा दाहकता है, वह स्वाभाविक है। जो-जो जीव के स्वाभाविक गुण हैं, वे न्यूनाधिक कभी नहीं होते।

और, पादरी साहेब ने कहा कि जेलखाने के कैदियों को देखकर देखने वालों को भय होता है कि मैं ऐसा कर्म न करूँ। परन्तु जिसका दण्ड पूर्व जन्म के कर्मों का मिलता है, उसको याद ही नहीं। जैसे और लोग कार्य-कारण को जानते हैं, क्या वे न जानेंगे कि दण्ड अवश्य ही कर्मों का होता है।

एक वैद्य को ज्वर आया और एक मूढ़-गंवार को भी। वैद्य ने अपनी विद्या के प्रभाव से ज्वर के कारण को जान लिया कि अमुक कारण है। परन्तु उस गंवार ने न जाना। फिर भी ज्वर का कष्ट तो दोनों ही अनुभव करते हैं। फिर भी गंवार इतना अवश्य ही जानता है कि कोई न कोई बदपरहेजी हुई है और इसीलिये यह ज्वर आया है। इससे उसे दण्ड द्वारा सुधारने का फल प्राप्त होता है कि जो मैं बुरा काम करूँगा, तो बुरा फल जैसा कि उसको है, मुझे भी प्राप्त होगा।

जब जीव से शरीर और शरीर से जीव पैदा होते हैं, तो आपका बनाने वाला परमेश्वर नहीं। इससे आपका कथन ठीक नहीं रहा। और आपके कथनानुसार जो जीव प्रथम-प्रथम उत्पन्न हुए, वे किन शरीरों से हुए? जो कहें परमेश्वर भी आदमी, घोड़े और वृक्ष तथा पत्थर के समान हुआ। क्योंकि जिसका कार्य जैसा होता है, उसका कारण भी वैसा ही होता है। और जीवों को मध्य में हवालातियों के समान दौरासपुर्द करना—बहुत दिन तक कि जो दण्ड से भी भारी है, फिर उसको स्वर्ग मान के किन कर्मों से मिल सकता है? कोई भी नहीं। जब आप सर्वज्ञ नहीं हैं, तो फिर ऐसा क्यों कहते हैं कि पुनर्जन्म नहीं होता। इससे आपका एक जन्म सिद्ध नहीं हुआ और पुनर्जन्म सिद्ध हो गया।

हस्ताक्षर दयानन्द सरस्वती जी

—:×:—

ता० २६ अगस्त, सन् १८७९

विषय:—ईश्वर देह धारण करता है।

पादरी टी. जी. स्काट साहेब:—

—:○:—

आज का सवाल यह है कि परमेश्वर देह धारण करता है, अर्थात् साकार हो सकता है। या नहीं! उचित यह है कि इस विषय में अत्यन्त सावधानी से और गम्भीरता पूर्वक विचार विमर्श और प्रश्नोत्तर किया जावे। जब उस सर्वेश्वर के विषय में वार्तालाप हो, तो मनुष्य को चाहिये कि बहुत सोच समझ कर और गम्भीरता के साथ बोले। इस विषय में अहंकार और अभिमान की कुछ भी गुञ्जाईश नहीं है। किसी को भी ऐसा घमण्ड नहीं करना चाहिये कि हम ईश्वर के विषय में सब कुछ जानते हैं। कवि का कथन है:—

अर्श से ले फर्श तक,
जिसका कि यह सामान है।
हिम्द उस की गर लिखा,
चाहूँ तो क्या अमकान है॥*
जब पेगम्बर ने कहा
हो, मैंने पहिचाना नहीं।
फिर कोई दावा करे,
उसका बड़ा नादान है॥

विचार कीजिये कि ईश्वर की अनादिता के विषय में हम क्या जानते हैं? सो, इसी प्रकार हम सर्वशक्तिमान के विषय में क्या जानते हैं? वह सर्वव्यापक अर्थात् प्रत्येक स्थान पर मौजूद है, उसके विषय में हम क्या जानते हैं? हाँ, इन शब्दों के कुछ-कुछ अर्थ हम जानते हैं। परन्तु, यह कथन तो मूर्खों का ही है कि ईश्वर के विषय में हम सब कुछ जानते हैं। आज के वार्तालाप में दो प्रश्न ये हैं—कि क्या ईश्वर देह धारण कर सकता है? दूसरे यह कि ऐसा कभी हुआ है, कि नहीं। विशेष रूप से पहली बात का ही विचार इस समय है। पहले प्रश्न का भाव यह है कि क्या यह सम्भव है कि ईश्वर अपने आपको कभी सदेह रूप में प्रकट करे? ध्यान दीजिये। यह भाव कदापि नहीं है कि ईश्वर सदेह बन जाये। प्रथम पक्ष यह है कि देह धारण करने की सम्भावना है। आत्मा और परमात्मा [इन्सानी रूप और इलाही रूप] बहुत-सी बातों में समान हैं। अपितु यह कहना चाहिये कि दोनों की एक ही जाति है।

*आकाश से लेकर पृथ्वी पर्यन्त यह नाना प्रकार का जड़-जंगम-स्वरूप संसार, जिसका है, मैं यदि उसकी महिमा का गान करना भी चाहूं तो कैसे करूं। उसके गुण कर्म स्वभाव और पदार्थ तो अनन्त हैं। और मेरी सामर्थ्य बहुत ही अल्प है। —अनुवादक

क्योंकि ईश्वर की वाणी में लिखा है कि–'खुदा ने इन्सान को अपनी सूरत पर बनाया।' यह नहीं कि शारीरिक रूप में अपने जैसा बनाया, अपितु भाव यह है कि आध्यात्मिक रूप में। अर्थात् बहुत-से गुण कर्म और स्वभाव, जो ईश्वर में हैं, वे ही मनुष्य में भी हैं। अर्थात् दया, न्याय तथा और भी अनेक प्रकार की धार्मिक विशेषतायें। इस कारण ईश्वर के साथ मनुष्य मेल कर सकता है। ऐसी अवस्था में हम लोग जो कि स्वयं सशरीर हैं, क्यों अहंकार करें कि ईश्वर साकार न हो। यदि उसकी इच्छा हो कि वह सदेह रूप में प्रकट हो, तो क्या बाधा है।

हस्ताक्षर पादरी टी. जी. स्काट साहेब

—×—

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी :--

जो पादरी साहेब ने कहा, उसकी परीक्षा हम नहीं कर सकते। इस पर सवाल यह है कि सर्वथा नहीं कर सकते, या कुछ-कुछ कर सकते हैं। वैसे सर्वव्यापक के विषय में कुछ जानते हैं, या नहीं? और जो कुछ जानते हैं, तो कितना? जो किसी का कहना हो कि मैं ईश्वर को जानता हूँ। तो वह मूर्ख है और जो यह पादरी साहेब का कहना है, तो कुछ उसके जानने में वश नहीं रहा। और पादरी साहेब अपने पहले कथन के विरुद्ध बोले हैं। वह यह है कि ईश्वर देह धारण करता है। कर सकता है, या नहीं ऐसा नहीं। लेकिन देह धारण करता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि उसको क्या आवश्यकता देह धारण करने की है? दूसरे उसकी इच्छा में कोई बन्धन है, या नहीं? तीसरे, वह निराकार है या साकार? चौथे, वह सर्वव्यापक है, या एकदेशी?

जीव और ईश्वर के गुण दया आदि क्या ठीक-ठीक मिलते हैं, या नहीं? बहुत से जीवों में भी दया देखने में आती है।

प्रश्न—वे दोनों एक हैं, तो दोनों ही खुदा हैं। इसका क्या उत्तर है?

आध्यात्मिक पक्ष में जो परमेश्वर देहधारी होता है, तब वह सम्पूर्ण ही देह में आ जाता है, या टुकड़े-टुकड़े होकर आता है? यदि टुकड़े-टुकड़े होकर आता है, तो नाश वाला हुआ। और जो वह सम्पूर्ण आ जाता है, तो शरीर से छोटा हुआ। फिर तो ईश्वर ही नहीं हो सकता।

जीव तथा ईश्वर में कुछ भी भेद नहीं आ सकता है। और यदि वह एकदेशी है, तो एक स्थान पर रहता है या घूमता फिरता है। यदि कहो कि एक स्थान पर रहता है, तो उसको सब स्थानों की खबर रहना असम्भव है। और जो घूमता फिरता है, तो कहीं अटक भी जाता होगा। और धक्का और शस्त्र भी लगता होगा। जब परमेश्वर सृष्टि करता है, तब निराकार स्वरूप से या साकार से? जो कहो निराकार स्वरूप से, तो ठीक है। और जो कहो कि देहधारी होकर, तो उसका सृष्टि रचना सर्वथा असम्भव है। क्यों कि त्रसरेणु आदि पदार्थ सृष्टि का कारण रूप, उसके वश में कभी नहीं आ सकते हैं -

हस्ताक्षर स्वामी दयानंद सरस्वती

—:×:—

पादरी टी० जी० स्काट साहेब:—

हम नहीं कहते हैं कि ईश्वर को सर्वथा जान ही नहीं सकते। लेकिन तो भी बहुत बातें हैं, जो हम सर्वथा नहीं जान सकते। सर्वव्यापक के विषय में यह सिद्धान्त है कि वह ऐसा है, परन्तु यह कोई नहीं कह सकता कि इसका पूर्ण अभिप्राय हम को मालूम है। यह तो कह सकते हैं कि ईश्वर ने देह धारण किया। परन्तु उसका अपने आप का देह में धारण करना एक रहस्य है। अपितु हमारे आत्मा का विषय भी शरीर के साथ रहस्यमय है। रहा यह प्रश्न कि ईश्वर की इच्छा में बन्धन है, या नहीं। पण्डित जी इस बात को कुछ और स्पष्ट करने की कृपा करें। मैं कहता हूं कि परमात्मा अर्थात् खुदा की रूह और इन्सान की रूह सर्वथा एक जैसी ही नहीं हैं। एक ससीम है और दूसरी असीम। इसलिये दो खुदा नहीं हैं। इनमें एक रचने वाला है और दूसरा रचा गया है। परन्तु ईश्वर की इच्छा हुई और उसने इन्सान को अपने जैसा ही बनाया है।

रहा यह प्रश्न कि ईश्वर सम्पूर्ण देह में आ जाता है, हां आ जाता है। मगर तो भी बाहिर भी रहा। वह सर्वव्यापक है, तो उस देह के अन्दर क्यों

नहीं है ? हम यह नहीं कहते कि केवल शरीर में ही है, और कहीं नहीं है । विचार कीजिये कि इस कमरे के अन्दर वह सर्वशक्तिमान् इस समय मौजूद है। वह अनादि परमेश्वर इस समय मौजूद है। अर्थात् ईश्वर अपने सब गुणों सहित इस समय इस कमरे में मौजूद है। इस बात से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। तो इसमें क्या कठिनाई है ? यदि उस की इच्छा यूं ही हुई कि अपने आप को एक शरीर में प्रकट करे। यह असम्भव नहीं है। उसकी इच्छा है। जब भी आवश्यकता हो। अपनी लाचारी से नहीं करता; अपितु हम लोगों के लिये। क्योंकि हमारी बुद्धि यदि बहकाना जानती है, तो आगे चल कर हम देख लेंगे कि कोई उचित कारण है अथवा नहीं कि परमेश्वर देह धारण करे। यदि कोई कहे कि देह धारण करना, उसकी महिमा के विरुद्ध है, तो यह भ्रान्तिपूर्ण है। यह किस बात में उसकी महिमा के प्रतिकूल है ?देह में कुछ त्रुटि है, या कुछ अपवित्र है ? अथवा कोई अशुद्ध वस्तु है कि ईश्वर उससे घृणा करे। देह को किसने बनाया है ? क्या वह अब सर्वव्यापक नहीं है ? अर्थात् क्या वह अब भी प्रत्येक देह में वर्तमान नहीं है ?

हस्ताक्षर पादरी टी० जी० स्काट साहेब

—(०)—

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी:—

पादरी साहेब ने मेरे प्रश्नों के ठीक-ठीक उत्तर नहीं दिये। जब वह सर्वव्यापक है, तो एक देह में आना या एक देह से निकलना सर्वथा असम्भव है। ईश्वर ने देह धारण किया, इस की क्या आवश्यकता है, यह मैंने पूछा था। इसका कुछ उत्तर नहीं दिया। और इस का भी कुछ जवाब नहीं दिया कि ईश्वर और जीव आध्यात्मिक रूप में सर्वथा समान हैं अथवा उनमें भिन्नता है। पादरी साहेब पहिले कह चुके हैं कि इन्सान की देह अपने शरीर में बनाई। इसके विरुद्ध पीछे कहा कि वे पृथक्-पृथक् हैं, एक नहीं। मुझसे पूछा कि पण्डित जी इसका स्पष्टिकरण करें। मैं पादरी साहेब के अभिप्राय का स्पष्टिकरण क्या करूं ? यह तो वे ही स्वयं बतावें। यह मैं भी जानता हूँ कि ईश्वर सर्वव्यापक है। इस कारण से वह अवतार धारण नहीं कर सकता। क्योंकि क्या पहिले वह उसमें न था ? या उसमें एक था ? अब दूसरा, तीसरा इस से उसमें हजारों घुस गये ? जब वह असीम है, तो ससीम शरीर में देह धारण करना सर्वथा झूठ। और जो पादरी साहेब ने कहा कि उसने मनुष्य की रूह अपने स्वरूप में बनाई, तो मैं पूछता हूँ कि बन्दर किसके स्वरूप में बनाये ? क्या बन्दरों का खुदा कोई दूसरा है ? इस प्रकार से तो हाथी, घोड़े, आदि सब के ही खुदा जुदा-जुदा हो जायेंगे।

जब सर्व व्यापक है, तो उसने देह धारण नहीं किया। अपितु उसने तो संसार का अणु-अणु धारण कर रखा है। पादरी साहेब का यह कहना कि वह देह धारण करता है सर्वथा मिथ्या प्रमाणित हो जाता है। क्या वह पहिले धारण नहीं करता था ? क्या सर्वशक्तिमान् परमात्मा अपनी इच्छा से देह धारण करता है ? यदि हां, तो मैं पूछता हूँ कि वह अपनी इच्छा से देह छोड़ भी देता होगा। क्योंकि जो कोई पकड़ेगा, वह कभी न कभी अवश्य ही छोड़ेगा। और वह कभी अपने आपको मारने की भी शक्ति रखता है, वा नहीं ? तब तो वह आपके कथनानुसार सर्वशक्तिमान भी न रहेगा। जैसे अविद्या आदि और अन्याय करने आदि का उसका स्वभाव ही नहीं है, सो यह ही उसके जन्म और मरण में भी प्रतिबन्धक है। क्योंकि वह अपने स्वभाव के विरुद्ध कोई कार्य चरितार्थ नहीं कर सकता।

हस्ताक्षर स्वामी दयानन्द सरस्वती जी

—×—

पादरी टी० जी० स्काट साहेब:—

मेरा प्रश्न यह ही है कि क्या पंडित जी का यह अभिप्राय है कि अब परमेश्वर देहधारी है ? क्योंकि उनकी युक्ति से प्रतीत होता है। वह यह दावा करता है कि परमेश्वर अब देह में है। और अब जो ये सूरतें सब दृष्टिगोचर होती हैं, सब उसका देह ही हैं। यदि ऐसा है, तब तो मेरा दावा सिद्ध ही हो गया। अब उसमें बाकी ही क्या रहा ? देह धारण करने का क्या अर्थ है ? इस वार्तालाप में,

मैंने, जो देह पशु, पत्थर इत्यादि हैं, अनादि काल से हैं। परमेश्वर सर्वव्यापक तो है; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इस प्रकार से देहधारी है। जैसे जब कोई कहे कि अमुक व्यक्ति परमेश्वर का अवतार है, तो पण्डित जी इसमें झगड़ा क्यों करते हैं? देह धारण करने का अर्थ कौन नहीं जानता? और यह कहना कि इस विशेष अर्थ में ईश्वर के देहधारी होकर आने जाने का कुछ कथन नहीं है। अपितु केवल यही अर्थ है वह हमारे लिये शरीर में प्रकट हुआ। जब वह शरीर लुप्त हो जाता है, तब भी ईश्वर वहाँ वर्तमान रहता है। परन्तु वह ईश्वर की आत्मा उस समय भी उस शरीर में हैवानी आत्मा नहीं है। अभी रूह इस शरीर में प्रगट हुई। यह कोई आने या जाने का मामला ही नहीं है। मैंने साफ-साफ कहा है कि जो मनुष्य का आत्मा ईश्वर के आत्मा के समान है। परन्तु है सर्वथा भिन्न। बन्दर की स्थिति और है। उसका चर्चा करने की यहां क्या आवश्यता है? रहा यह प्रश्न कि ईश्वर ने बन्दर को किसके स्वरूप पर बनाया। सो जैसी उसकी इच्छा हुई, वैसा उसने बनाया। अर्थात् बन्दर की सूरत, और गीदड़ की सूरत और बैल की सूरत और इन्सान को अपनी सूरत में। तब इसमें आक्षेप की क्या बात है?

अब रहा यह प्रश्न कि ईश्वर ने क्यों देह धारण की? इसका उत्तर देता हूँ। उसकी सम्भावना का होना तो कुछ असम्भव नहीं है। मकान के उदाहरण को स्मरण कीजिये। और यह भी कि देह धारण करने का अर्थ यह है कि अपने आप को एक देह में प्रकट करना। यदि इस घटना अथवा गति को आप समझ सकें, तो समझिये। हम डरते नहीं कि यह कहने लगें कि ईश्वर के गुण तो गति करते ही नहीं हैं। तो क्या वह जड़ पत्थर है? अथवा निर्गुण है? उसका आना जाना कुछ न हुआ। जीना मरना कुछ न हुआ। केवल मनुष्य की अल्प सामर्थ्य के कारण अवतार होना अर्थात् देह धारण करना। देह धारण करने में लाभ यह है कि मनुष्य के लिये किसी पूर्ण गुरु, पथ-प्रदर्शक और आदर्श की जरूरत है। जब गुरु पूर्ण और आदर्श भी सर्वथा दोष रहित हो, तभी मनुष्य उन्नति करता है। अन्यथा जैसी चाहिये, वैसी उन्नति नहीं करता। क्योंकि उन्नति का साधन वा माध्यम अच्छा नहीं होता।

हस्ताक्षर पादरी जी० टी० स्काट साहेब

—+—

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी :—

जो पादरी साहेब ने कहा कि पण्डित जी के दावे ने मेरे दावे को साबित किया, यह बात गलत है। क्योंकि देह धारण करता है, इसका अर्थ यह है कि पहले वह देह में नहीं था। इस कथन ने तो पादरी साहेब के दावे को ही खारिज किया है, न कि साबित।

जो कि सर्वव्यापक है, वह देह धारण करता है, या करे, या छोड़े, यह कहना सर्वथा असम्भव है। और जब वह सर्वव्यापक है, तब देह धारण करने को कहाँ से आया? क्या ऊपर या नीचे से, अथवा बाहिर या बगल से। जो कहें कि किसी तरफ से आया, तो फिर तो वह सर्वव्यापक न हुआ। और जो कहें कि सर्वव्यापक है तो कहीं से आना साबित नहीं हो सकता। जाहिर होने में मैं पादरी साहेब से पूछता हूँ कि क्या पहले गुम था कि आँख से नहीं दीखा। जाहिर होने में दीख पड़ा। क्या रूह आँख से देखने का विषय है? जो कहें नहीं, तो फिर जाहिर होने का क्या अर्थ है? जैसे साँप बिल में से निकलकर, जाहिर होकर, फिर गुम हो जावे?

वैसे ही मैंने पूछा था कि बन्दर को किस की सूरत में बनाया? उसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। क्या बन्दर और आदमी आदि का बनाने वाला एक ही खुदा है? अथवा दो जुदा-जुदा हैं।

जब उसके देह धारण करने में पादरी साहेब कुछ विशेष मामला नहीं दिखला सकते, तो बस, पादरी साहेब का तो मामला ही खारिज हो गया। जो पादरी साहेब ने कहा कि परमेश्वर के गुण गति करते हैं, यह सर्वथा झूठी बात है। क्योंकि वह गुण है, द्रव्य नहीं। गतिशील द्रव्य होता है, गुण नहीं।

जो पादरी साहेब कहें कि देह धारण करना जरूर है, तब तो उसकी जरूरत की बात भी ठीक-ठीक

अवश्य ही बतलावें। और जो यह कहा कि मनुष्य की उन्नति के लिये देह धारण करता है, तब तो पहले कहे हुए सभी दोष पादरी साहेब के कथन में आते हैं। और मैं पूछता हूँ कि वह सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक क्या अपनी सामर्थ्य से जीवों की उन्नति नहीं करा सकता ? जो कहें कि करा सकता है, तो देह धारण करना व्यर्थ हुआ। जो कहें कि नहीं करा सकता, तो सर्वशक्तिमान न रहा। और जो मैंने दोष दिये थे कि पादरी साहेब के कथनानुसार देह धारण करने पर तो परमाणु आदि को अपनी पकड़ में लाने का सामर्थ्य ही उसमें नहीं हो सकता। इतने दोष मौजूद रहे।

हस्ताक्षर स्वामी दयानन्द सरस्वती जी

—×—

पादरी टी० जी० स्काट साहेबः—

प्रत्येक बात में यह कहना कि यह झूठ है। सो शिष्टाचार के कुछ प्रतिकूल प्रतीत होता है। क्योंकि झूठ बेईमानी और फरेब है। और भी बहुत सी मिथ्या बातें हैं, जिनको कि झूठ कहना जरा शिष्टाचार विरुद्ध प्रतीत होता है। ईश्वर तो बन्दर की देह में सर्वव्यापक के रूप में है। परन्तु कोई उसको गीदड़ बतादे, वैसे ही कोई उसको गीदड़ बता दे। परन्तु हाँ, अद्वैतवादी ही कहेंगे। परन्तु, पण्डित जी तो द्वैतवादी हैं। यह मैं पूछता हूँ पण्डित जी से कि परमेश्वर के अतिरिक्त और भी कोई पदार्थ है वा नहीं ? संसार में नहीं, परन्तु जब ईश्वर का कोई खास अवतार हो, तो उस देह में वह सर्वव्यापक है। और परमेश्वर के सिवा और कोई जीव उसमें नहीं। उसको अवतार कहते हैं। कुछ आने जाने का यह मामला नहीं है। कोई स्याही ऐसी होती है कि जब उससे लिखते हैं, तो कुछ नजर नहीं आता। परन्तु वह लिखाई मौजूद होती है या नहीं। स्याही मौजूद है, अक्षर मौजूद हैं, उनको जरा आग के सामने दिखाओ, तो कुल लिखाई नजर आती है। पहले भी मौजूद तो थी, परन्तु नजर नहीं आती थी। इसी प्रकार परमेश्वर का नजर न आना, कुछ आने जाने का मामला नहीं है। उसने अपने आपको केवल हमारी कमजोरी के वास्ते इस शरीर में प्रकट किया है। वह कहीं गुप्त नहीं था। कहीं से आया नहीं। फिर इस विषय में मैं यह कथन करूंगा कि गुण का गति करना, यह है कि वह कार्य का रूप धारण करे, उपयोग में आवे। जैसे कि प्रेम और दया का रखना और न्याय करना।

और यह कहना कि देह धारण करने से परमेश्वर की लाचारी मालूम होती है, भ्रान्तिपूर्ण है। पण्डित जी का सिद्धान्त यह है कि जन्म लेने से मनुष्य सुधर जाता है। तो इसमें भी परमेश्वर लाचार है, या उसकी इच्छा है। यदि वह सर्वशक्तिमान् है, तब तो ऐसा नहीं कहना चाहिये कि लाचार है, पण्डित जी के कथनानुसार। और यदि उसकी इच्छा है, तो अपनी इच्छा से वह जानता है कि मनुष्य के विषय में कौनसा उपाय उत्तम है। परन्तु कुछ-कुछ बातों के विषय में हम मानते हैं कि परमेश्वर लाचार है।

ध्यान दीजिये—यदि वह सर्वशक्तिमान् है, तो वह एक दम ही रूह को पवित्र क्यों नहीं कर देता ? क्यों मनुष्यों को अनेक प्रकार के दुःख देता है। विचार करना चाहिये कि मनुष्य कर्म करने में पूर्ण स्वतन्त्र है। और खुदा उसके विषय में बलात्कार नहीं करता है। खुदा चाहता तो है कि वह सुधर जावे, परन्तु उसका सुधरना केवल खुदा के वश में नहीं है। खुदा ने इन्सान को ऐसा ही बनाया है और कर्म करने में स्वतन्त्र होना यह मनुष्य के महत्व का सूचक है। तो, इससे वह अपनी बहुत बड़ी हानि भी कर सकता है। ईश्वर ने उचित यही समझा कि मनुष्य को सुधारने के लिये पूर्ण आदर्श नमूने के तौर पर उसको दिखावे। खुदा के गुम होने से नहीं, अपितु इन्सान के गुम होने से। और बातों को छोड़कर, आगे चलकर अधिक निवेदन करूंगा।

हस्ताक्षर पादरी टी. जी. स्काट साहेब

—×—

स्वामी दयानन्द सरस्वती जीः—

जो पादरी साहेब ने शिष्टाचार के विषय में कहा, सो ठीक है। परन्तु सत्य के कहने में अशिष्टता कभी नहीं हो सकती। अशिष्टता तो झूठ के कहने में होती

है। और जो पादरी साहेब ने मुझे द्वैतवादी बताया, सो ठीक नहीं है। मैं अद्वैतवादी हूँ, क्योंकि मैं ईश्वर को एक मानता हूं। जो पादरी साहेब ने कहा कि बन्दर और गीदड़ आदि के शरीर में ईश्वर के सर्वव्यापक होने से बन्दर और गीदड़ नहीं कहा जा सकता, तो आदमी के शरीर में व्यापक होने से आदमी भी उसे नहीं कहना चाहिये। और कहा कि शरीर में ईश्वर ने अवतार लिया। उसमें दूसरा जीव नहीं था, तो मैं पूछता हूँ कि उसमें पहिले ईश्वर था कि नहीं? जो कहें कि था, तो उसका आना जाना असम्भव है। और, जो कहें कि नहीं था, तो उसका सर्वव्यापक होना नहीं हो सकता।

जो मैंने जाहिर होने के विषय में पूछा था, उसका ठीक-ठीक उत्तर पादरी साहेब ने नहीं दिया। गोलाकार कर गये। जो ईश्वर दृश्य नहीं, तो उसको जाहिर होना कहना व्यर्थ है। और जो कहें कि दृश्य है, तो सर्वव्यापक नहीं। और जो पादरी साहेब ने कहा कि हमारी कमजोरी के कारण वह अवतार लेता है, तो हमारी कमजोरी के कारण ही क्या वह सर्वव्यापक हमारा काम नहीं कर सकता? जो कहें कि नहीं कर सकता, तो इसमें क्या युक्ति है? और फिर वह सर्वशक्तिमान् भी नहीं रहता। और जो कहें कि कर सकता है, तो जन्म धारण करना ही व्यर्थ हो जाता है।

और जो कहा कि प्रीति का रखना, सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि यहां प्रीति गुण और प्रीति करने वाला चेतन द्रव्य है। इसलिये पादरी साहेब का कहना ठीक नहीं है। परमेश्वर अपने स्वाभाविक गुण के अनुकूल काम करने में लाचार कभी नहीं है। परन्तु अवतार के धारण करने में तो लाचार ही मानना होगा। जैसे कि पादरी साहेब ने कहा कि वह आदमी को नहीं सुधार सकता। अब मैं पूछता हूँ कि सर्वशक्तिमान् का क्या अर्थ है? पादरी साहेब क्या चाहते हैं? जैसे पादरी साहेब ने कहा कि कुछ बातों में लाचार है, वैसे ही अवतार लेने में भी लाचार है। क्योंकि सर्वव्यापक का आना जाना प्रकट करना सर्वथा असम्भव है। जब वह दुःख नाश नहीं करता, तो पादरी साहेब के कहने से ही पादरी साहेब की बात कट जाती है। जो कि कहते हैं कि अवतार लेकर मनुष्यों का दुःख काटता है। और जो कहा कि दुःख क्यों देता है? इसका उत्तर यह है कि वह न्यायाधीश है। जीवों के जैसे पाप-पुण्य होते हैं, वैसा ही उनका फल देना अवश्य है। क्योंकि वह सच्चा न्यायकारी है।

हस्ताक्षर स्वामी दयानन्द सरस्वती जी

—:+:—

पादरी टी. जी. स्काट साहेब :—

द्वैतवादी वे होते हैं, जो कि दो पदार्थ मानते हैं। एक तो ईश्वर और दूसरे ईश्वर से भिन्न यह कार्य जगत्। अद्वैतवादी वे होते हैं, जो कि एक ही पदार्थ ईश्वर को मानते हैं और कुछ नहीं। सो ज्ञात नहीं कि पण्डित जी एक ही पदार्थ मानते हैं, वा दो। ईश्वर अनदेखा तो है, परन्तु जब अपने आपको प्रकट करना चाहता है, तो प्रकट कर देता है। शारीरिक अर्थात् शरीर में तो आत्मा से हम आपके शरीर को देखते हैं, आत्मा को नहीं। परन्तु उस प्रकार से होने से ईश्वर का हाल बहुत अधिक जानते हैं। क्योंकि एक नमूना पवित्र और पूर्ण हमारी दृष्टि में होता है। इसलिये ईश्वर का अवतार होता है। ईश्वर ने देख लिया कि मनुष्य के लिये उचित यही है, इसलिये ऐसा ही हुआ और होता है।

ईश्वर सर्वशक्तिमान् तो है, परन्तु तब भी इसका अर्थ यह नहीं है कि कोई बात उसके वश से बाहर नहीं। वह अधर्माचरण नहीं कर सकता। झूठ नहीं बोल सकता। दो और दो को वह पांच नहीं मान सकता। इससे यह नहीं हो सकता कि एक वस्तु हो भी और न भी हो। अर्थात् एक अर्थ से उसकी शक्ति की भी सीमा है।

मैंने यह कहा कि यदि मनुष्य को रोग नहीं है, तो ईश्वर उसे सुधार नहीं सकता। सुधार का सर्वोत्तम उपाय यही है कि देह धारण करे और एक पूर्ण आदर्श मनुष्य के सामने प्रस्तुत करे। मनुष्य तो

आदर्श को चाहता ही है। संसार में सर्वश्रेष्ठ और पवित्र गुरु कोई नहीं है, कि जिसने कभी भी पापाचरण न किया हो। कोई गुरु ऐसा नहीं है, जो सब बातों में पूर्ण हो। केवल ईश्वर ही देह धारण करके मनुष्य के सामने ऐसा नमूना पेश कर सकता है। जिससे ठीक-ठीक धर्म का मार्ग प्रत्येक मनुष्य को प्राप्त हो सके और वह हर बात में नेकी और पुण्य को जान सके। यह बहुत रहस्य की बात है। कौन नहीं जानता कि मनुष्य अनुकरणप्रिय है। नमूने को देखकर उसके अनुसार कार्य करता है। पाठशालाओं और सेनाओं में देखो और घर में भी देखो, जब नमूना अच्छा है, गुरु पूर्ण है, तब उन्नति भी बहुत अच्छी होती है। क्या यह बात उत्तम और रहस्यमयी नहीं है? कि ईश्वर देह धारण करके इन्सान के लिये एक पूर्ण और पर्याप्त नमूना दिखावे कि जिससे मनुष्य अपनी मोक्ष प्राप्ति में समर्थ हो सके।

ईश्वर की इच्छा यूँ है और यही मेरा भी अभिप्राय है कि खुला करके कह देना कोई अच्छी बात नहीं है। उसमें सावधानता होनी ही चाहिये। यदि ईश्वर ने अपनी इच्छा से ऐसा किया, क्योंकि उसको यही उत्तम प्रतीत हुआ, तो फिर हम इसके विरुद्ध क्यों बोलें?

अब शब्द प्रमाण को लीजिये। इंजील में लिखा है:—"आरम्भ में शब्द था। और शब्द खुदा के साथ था। और शब्द खुदा था। और शब्द साकार हुआ।" अर्थात् वही खुदा शरीर धार करके प्रकट हुआ। यह लिखा है। और जिस किताब में यह लिखा है, ऐसी उत्तम किताब है। और वह अपना प्रमाण कि वह ईश्वर की ओर से है। और जो कुछ कि उसमें लिखा है, वह बुद्धिपूर्वक, तर्क-संगत और प्रमाण युक्त है। और यह कहा कि बहुत से लोग इसको झूठ समझ कर छोड़ देते हैं, जैसा कि वेद को। क्योंकि वह सर्वथा मिथ्या है और उसके समर्थन में कोई भी युक्ति वा प्रमाण नहीं है।

हस्ताक्षर पादरी टी० जी० स्काट साहेब

—ॐ—

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी :—

अद्वैत विशेषण परमेश्वर का है, किसी दूसरे का नहीं। इसके कहने से यह सिद्ध हुआ कि परमेश्वर एक है। जीव अनेक हैं। और जगत् का कारण अनेक प्रकार का है। और जो पादरी साहेब कहें कि ईश्वर के अतिरिक्त दूसरा और कोई न था, तो फिर जीव और यह जगत् कहाँ से आया? जो कहें कि ईश्वर से, तो जीव ईश्वर हुआ। जो कहें कि कारण से, तो पादरी साहेब को भी कारण मानना पड़ेगा। और यदि जीव की उत्पत्ति मानी जाये, तब तो उसका नाश भी अवश्य ही मानना होगा। यह बात कई बार चली, परन्तु अभी तक ठीक-ठीक उत्तर नहीं दिया गया कि उसको देह धारण करने की आवश्यकता ही क्या है? और, इसके बिना ही वह अपना काम क्यों नहीं कर सकता? इसका कुछ जवाब नहीं हुआ। जब उसकी शक्ति की सीमा है, तो फिर ईश्वर की भी सीमा क्यों नहीं है? जो कहें ईश्वर की भी सीमा है; तो वह सर्वव्यापक नहीं। और यह बात पादरी साहेब के पहले कथन के भी विरुद्ध होगी। जब परमेश्वर की सब बातों को नहीं जानते, तो फिर पादरी साहब ने ऐसा क्यों कहा था कि ईश्वर अवतार लेता है। और वे अब इस बात में जिद क्यों करते हैं? और जब अवतार लेने से पहिले उसे कोई जान ही नहीं सकता, तो उसी ने अवतार लिया यह कहना भी व्यर्थ ही है। क्योंकि वही पुरुष या पादरी साहेब आज भी हैं, जो कि कल के शास्त्रार्थ में थे। जब कि अवतार होने से पहिले कभी देखा या जाना ही नहीं, तो फिर उसी ने अवतार लिया है, यह कहना भी तो अनुचित और अयुक्त ही है।

क्या पादरी साहेब ने कभी इस बात पर विचार नहीं किया कि पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, मनुष्य शरीर आदि भी तो ईश्वरीय शक्ति के ही नमूने हैं। और एक साढ़े तीन हाथ के शरीर में आकर, खा, पी, बढ़ घटकर मर जाना भी क्या कोई बड़ा नमूना है।

और जो इञ्जील के लेख की बात कही कि वह शब्द अवतार हुआ। यह कथन सर्वथा मिथ्या है। क्योंकि शब्द गुण होता है और वह द्रव्य कभी भी नहीं हो सकता। ऐसी मिथ्या बात जिस इंजील में लिखी है, वह सत्य कभी नहीं हो सकती।

और, नहीं कभी उदास हो सकती है। पादरी साहेब की इञ्जील में योहन्ना के स्वप्न के प्रकाशित वाक्य की कथा सर्वथा असम्भव है कि जो पोथी के एक बंधने के खोलने पर उसमें से एक सवार घोड़े सहित निकला। क्या ऐसा कभी हो सकता है। ऐसी-ऐसी कई झूठ बातें हैं। क्या पादरी साहेब ने ये कभी भी नहीं देखी होंगी? फिर भी ऐसी किताब के सत्य होने का दावा करते हैं, सो जिद करने के सिवा और कुछ नहीं है।

इसलिये पादरी साहेब और सब सज्जन पुरुषों को चाहिये कि सब—सर्वथा सत्य, ईश्वरकृत वेदों की शरण लेकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि अवश्य करें।

हस्ताक्षर स्वामी दयानन्द सरस्वती जी

—:०:—

पादरी टी० जी० स्काट साहेब :—

योहन्ना के विषय में 'प्रकाशफात की पुस्तक' में लिखा है। उसके विषय में यदि पण्डित जी की बुद्धि ऐसी ही है, तो मैं क्या उत्तर दे सकता हूँ? ईश्वर ने अपनी सामर्थ्य से इस सम्पूर्ण सृष्टि को अभाव से भाव रूप में रचा है। उचित यही है कि वह जब भी चाहे इसका नाश कर दे। जब तक यह सृष्टि स्थिर है, तब तक ईश्वर इसमें सर्वव्यापक नहीं है। वह तो इससे पृथक् है। और मैंने बार-बार यह कहा है कि उसने जो अवतार लिया, इसका कारण था। सो आप फिर से पहले लेख को देख लीजिये।

ईश्वर की शक्ति की सीमा यही है कि वह अपने विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सकता। हम दावा करते हैं कि हम सबके शरीर में भी उसका प्रकाश होता है। और सब कामों के लिये उसने एक पूर्ण नमूना भी हमें दिया है। मनुष्य के लिये उसकी महिमा चांद, सूर्य, सितारे से अधिक है।

शब्द का भाव यह है कि वह ईश्वर को प्रकाशित करने वाला हो। जैसे कि शब्द ही मनुष्य के अर्थ को भी प्रकट करता है। उसी प्रकार मसीह जैसे अवतार ईश्वर की महिमा और अर्थ को प्रकट करते हैं।

अब देखिये कि लोग बाइबिल के विषय में कितने पुरुषार्थी और सावधान हैं। और इस पुस्तक को कैसी दृढ़ता के साथ पकड़े हुए हैं। पच्चीस सोसाइटियाँ हैं, जो कि इसकी छपाई में संलग्न हैं। दो सौ भाषाओं में इसके अनुवाद हो चुके हैं। उदाहरण के रूप में दो सोसाइटियों के कार्य को लें। एक वर्ष में इङ्गलिस्तान में एक ने बाईस लाख, छियानवे, एक सौ, तीस प्रतियां छपवाई। और बतलाइये। अमेरिका में एक सोसाइटी में सत्तर बड़ी-बड़ी मशीनें छापने के लिये हैं। चार सौ कार्यकर्ता हैं। उसमें बीस हजार पाँच सौ प्रतियाँ एक ही दिन में तैयार की जाती हैं। कौन कह सकता है कि इस किताब को नहीं मानते। सो मैंने सिद्ध कर दिया कि ईश्वर की देह धारण करने की पूर्ण संभावना है। ऐसा होना बुद्धि से परे की बात नहीं; अपितु यह युक्तिसंगत और उचित है। उसका बहुत आवश्यक कारण भी मैंने बता दिया और इस पुस्तक का वचन सत्य प्रमाणित होता है।

हस्ताक्षर टी० जी० स्काट साहेब

—:०:—

ता० २७ अगस्त, सन् १८७६ ई०

विषय:—ईश्वर पाप को क्षमा भी करता है

पादरी टी. जी. स्काट साहेब:—

मेरा यह दावा नहीं है कि ईश्वर दण्ड नहीं देता। दण्ड भी वह अवश्य ही देता है। परन्तु मेरा निवेदन यह है कि वह समय-समय पर, जब भी और जैसा भी उसको उचित प्रतीत होता है, मनुष्य के कल्याण के लिये पाप को क्षमा कर सकता है। जब कोई ईश्वर है, वह सर्वगुण सम्पन्न है और चेतन भी है। और भी उस में अनेक प्रकार के गुण, कर्म और स्वभाव विद्यमान हैं, तो यह भी अवश्य ही समझना चाहिये कि वह हम को देखता है। हमारे लिये चिन्तन करता है। हमारा कल्याण चाहता है। और हमको सुधारना चाहता है। सो यह दावा कोई अनुचित नहीं है।

बहुत-सी बातों में हमारी ईश्वर से समानता है।

अर्थात् हम धर्म की बातें जैसे कि न्याय और अन्याय इत्यादि जानते हैं। ईश्वर में अनेक प्रकार की विशेषतायें हैं। जैसा कि न्याय, प्रेम, दया, इत्यादि। सो ये मनुष्य में भी पाई जाती हैं। जब हम इस बात पर विचार करें कि बहुत-सी बातों में हम और ईश्वर एक ही हैं, तब हम ईश्वर की सत्ता को कुछ-कुछ जान सकते हैं। हमें यह भी समझना चाहिये कि ईश्वर के साथ हमारा सम्बन्ध ऐसा है, जैसा कि हम आपस में रखते हैं। अर्थात् ईश्वर हमारा शासक है। वह हम पर शासन करता है। वह हमारा पिता है। उस ने हम को उत्पन्न किया है। वही हमारा पालन और संरक्षण करता है।

अब हम इन बातों पर विचार करते हैं, तब हम ईश्वर के विषय में अधिकाधिक बोध प्राप्त करते हैं। और वेदों में तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों में भी पिता तथा शासक आदि के रूप में ईश्वर का उल्लेख किया गया है। अब विचारना चाहिये कि जब सभी धर्म-ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख है, तो इसमें कुछ न कुछ बात हमारे समझने-समझाने की भी है। हमें यह समझना चाहिये कि जिस प्रकार उसके साथ हमारा शासक वा पिता के रूप में सम्बन्ध है, उसी प्रकार वह पिता और शासक के कर्तव्य कर्मों का पालन भी अवश्य ही करता है। अब विचारिये कि पिता और शासक का काम क्या-क्या होता है? इस में कुछ भी सन्देह नहीं है कि ये दण्ड देने वाले भी होते ही हैं। दण्ड देने का भी एक उत्तम उद्देश्य होता है और वह यह कि दण्ड देकर अपराधी सन्तान वा प्रजा को सुधारा जाये। और इस प्रकार दूसरों को भी शिक्षा मिले। हम और आप यह भी कहते ही हैं कि बदले की भावना से दण्ड न दिया जावे। दण्ड उतना ही दिया जावे, जितना की आवश्यक हो और शिक्षादायक हो। फिर भी यदि पिता वा शासक चाहें तो क्षमा कर दें। और इसीलिये क्षमा होती है।

हस्ताक्षर पादरी टी. जी. स्काट साहेब

—❀—

स्वामी दयानन्द सरस्वती जीः—

पादरी साहेब का पक्ष यह था कि ईश्वर पापों को क्षमा भी करता है। क्षमा कर सकता है, ऐसा पक्ष नहीं। फिर पादरी साहेब ने दूसरी प्रकार से क्यों कहा? और यह कहा कि दण्ड भी अवश्य देता है। यह तो परस्पर विरोधी कथन है। क्या आधा दण्ड देता है? और आधा क्षमा कर देता है? या कुछ कम-अधिक करता है? जैसे ईश्वर सब बातें जानता है, क्या जीव लोग भी वैसे ही जानते हैं? अथवा कम-अधिक जानते हैं। जैसे हमारे बीच में न्यायाधीश न्यायकारी होता है और अन्यायकारी भी होता है, क्या ईश्वर भी वैसा ही है? अथवा ईश्वर केवल न्यायकारी है? जो न्यायकारी है, तो फिर क्षमा करना कहाँ रहा? क्योंकि न्याय उसका नाम है, जिसने जितना, जैसा काम किया, उसको उतना, वैसा ही फल देना।

जो ईश्वर को थोड़ा बहुत, कुछ न कुछ जानते हैं, तो मैं पूछता हूँ कि ईश्वर की सब बातों में ऐसी ही रीति है, या कुछ कम-अधिक? यह मैं भी मानता हूं कि ईश्वर के साथ हमारा राजा और पिता का सा सम्बन्ध है। परन्तु यह सम्बन्ध क्या अन्याय करने के लिये है? ऐसा कभी नहीं हो सकता। वेद आदि पुस्तकों में क्षमा करना कहीं नहीं लिखा है। ईश्वर के न्याय करने का क्या अर्थ है? न्यायाधीश और सभा आदि के दण्ड और पुरस्कार आदि सुधार आदि के लिये होते हैं अथवा इनका कुछ और अर्थ है? और जो क्षमा करता है, तो किस-किस काम पर क्षमा करता है और किस-किस पर नहीं? जब क्षमा करता है, तब तो ईश्वर पाप का बढ़ाने वाला होता है। क्योंकि वह जीवों को पाप करने में उत्साहित करता है। जब ईश्वर सर्वज्ञ है, तो उसके न्याय आदि गुण और कर्म भी भूल और भ्रान्ति आदि सब दोषों से रहित हैं। इसलिये जब ईश्वर अपने स्वभाव के विरुद्ध कोई कार्य कभी कर ही नहीं सकता, तो फिर न्याय के प्रतिकूल क्षमा वह कैसे कर सकता है? और ईश्वर जो दयालु है, तो दया का भी वही अर्थ है, जो कि न्याय का है। क्षमा करना दया नहीं है। जैसे कि एक डाकू पर कोई दया करे अर्थात् क्षमा करे, तो क्या वह दयालु गिना जा सकता है? कभी नहीं। क्योंकि हजारों जीवों को

उसने दुःख दिया है। जब डाकू क्षमा कर दिया जावेगा, तब तो वह बड़े साहस के साथ और भी खूब डाके मारेगा। इसलिये दया का मतलब भी और ही है, जो पादरी साहेब जानते हैं, वह नहीं।

हस्ताक्षर स्वामी दयानन्द सरस्वती जी

—:०:—

पादरी टी० जी० स्काट साहेबः—

पण्डित जी जल्दी न करें। मेरा मतलब बेईमानी पर कमर बांधने का नहीं है। जब ईश्वर क्षमा करता है तो उसमें 'सकता या नहीं सकता' का उल्लेख आरम्भ में इस लिये किया गया है कि इस प्रकार की सम्भावना प्रतीत होती है। निसन्देह आज का विषय तो यही है कि वह क्षमा करता है। हम यह नहीं कह सकते कि वह कहां तक दण्ड देता है और कहां तक क्षमा करता है। यह उसका काम है, हमारा नहीं। परन्तु जब वह सर्वज्ञ है और हम लोगों के समा भूल भी कभी नहीं करता। हम लोग तो अपने कामों में भूल किया ही करते हैं। ईश्वर अपनी अच्छी बातों में, और उसकी सभी बातें अच्छी हैं, भूल कभी नहीं करता ईश्वर तो सब कुछ जानता है। हम वास्तव में कुछ भी नहीं जानते। उसके क्षमा करने में भी अवश्य ही कोई भेद है। क्योंकि क्षमा करना सदा ही एक सूक्ष्म विवेक का कार्य होता है। ईसाई लोग दृढ़ता पूर्वक कहा करते हैं कि वह बिना किसी सिफारिश के और बिना किसी न्याय के क्षमा किया करता है। परन्तु जब वह दयालु है और न्यायकारी भी है, तो वह सर्वथा एक ही बात है। अथात् दया और न्याय एक ही बात है।

परन्तु जरा न्यायकारी बन कर सोचिये। दया में कुछ न कुछ मतलब ऐसा भी जरूर होगा जो कि न्याय में नहीं है। वेद में यह जरूर लिखा है कि ईश्वर पापों को क्षमा करता है।

अब मैं यहां पर एक पुस्तक म्यूर साहेब की कि जिसमें लिखा है—"अदिति पाप को क्षमा करती है।" का प्रमाण देता हूं। पण्डित जी कहेंगे कि यह अर्थ गलत है। अब अंग्रेजी जानने वालों का यह काम है कि वे म्यूर साहेब की पुस्तक देख कर न्याय करें। मैं यह पूछना चाहता हूं कि क्या क्षमा शब्द का विचार वेद वालों को कभी भी नहीं सूझा। क्या वे क्षमा का अर्थ नहीं जानते थे। और, क्या क्षमा करना भूल है ?

मैं यह सिद्ध करूंगा कि समय-समय पर क्षमा करना बहुत ही श्रेष्ठ कार्य है। यदि इसे संसार में से हटा दिया जाये, तो संसार की अवस्था बहुत ही बिगड़ जायेगी। और यह तो अनुमान से प्रत्येक व्यक्ति जान सकता है कि क्षमा से संसार में बहुत अच्छे-अच्छे परिणाम होते हैं। कौन जानता है कि माता पिता के बीच में और बेटा-बेटी के बीच में क्या वास्ता है और परस्पर एक का दूसरे से तथा मित्र का मित्र से क्या संबन्ध है ? यदि इन सबके बीच में क्षमा करने का भाव कभी भी, सर्वथा न आवे, तो ये सम्बन्ध जरा भी न चलें।

और यह कहना कि क्षमा करने से पाप बढ़ जाता है, तो यह ठीक है। यदि क्षमा सदा ही क्षमा हो, और वह कभी किसी भी रूप में दण्ड न हो। और यह भी ठीक है कि कुछ अवस्थायें ऐसी भी होती हैं कि जिनमें किसी को कभी भी क्षमा नहीं करना चाहिये जैसा कि डाकुओं के विषय में। संसार में सभी बातें इस प्रकार की नहीं हैं कि हम क्षमा को संसार से सदा के लिये सर्वथा दूर कर दें। जो अनादि और न्यायकारी है, वह यह भी जानता है कि कब और किस पर क्षमा और दया आदि का व्यवहार किस प्रकार करना चाहिये। आगे चल कर मैं यह भी बताऊंगा कि क्षमा करने से पापवासना का अन्त हो जाता है। और साथ ही यह भी कि दण्ड देने से पाप की प्रवृत्ति बढ़ जाती है। और इस प्रकार मनुष्य और भी अधिक निडर तथा बड़ा शैतान बन जाता है।

हस्ताक्षर पादरी टी० जी० स्काट साहेब

—०—

स्वामी दयानन्द सरस्वती जीः—

जो शास्त्रार्थ का विषय है और जिसको सिद्ध करने की प्रतिज्ञा प्रथम पादरी साहेब ने की थी, उससे दूसरा कथन करना न्याय-शास्त्र के अनुसार पराजय का सूचक है। इस प्रकार की पराजय को दार्शनिक भाषा में प्रतिज्ञान्तर कहा जाता है। पादरी साहेब ने कहा कि असल विषय वही है कि ईश्वर पापों को क्षमा भी करता है। इससे यह सिद्ध हुआ

कि ऐसे अवसर पर पादरी साहेब को अपना पक्ष सिद्ध करने के लिये विशेष बल देना चाहिये था। जब पूर्ण निश्चय से नहीं जानते, तो फिर उसका प्रतिपादन या समर्थन कैसा? मैं पूछता हूँ कि जितने अंश में क्षमा करना पादरी साहेब मानते हैं, उसको भी ठीक-ठीक जानते हैं, या नहीं? क्या आप के मत में ईश्वर डाकू आदि को क्षमा नहीं करता? आप डाकू आदि को क्षमा करने का उपदेश नहीं करते। और, यदि ईश्वर किसी के वसीले से क्षमा करता है तब तो वह पराधीन ठहरता है। और यह भी बतायें कि ईश्वर किसके वसीले से क्षमा करता है? वह वसीला आपका है, या किसी दूसरे का। यदि कहो कि अपने आप का वसीला है, तो झूठ है। और, यदि कहो कि किसी दूसरे का है, तो फिर ईश्वर स्वतन्त्र नहीं रहा।

और, जो पादरी साहेब ने कहा कि अदिति माता क्षमा करती है, यह वेद में लिखा है। तो मैं पूछता हूँ कि अदिति किसका नाम है? और क्षमा करना तो चारों वेदों में कहीं भी नहीं लिखा। जब क्षमा करना है ही व्यर्थ, तो फिर ऐसी मिथ्या बातों का उपदेश वेदों में क्योंकर हो सकता है?

यह बड़े आश्चर्य की बात है, कि अंग्रेजी जानने वाले वेदों के सिद्धान्तों का निर्णय करें। यह बात तो ऐसी ही है, जैसे कि कोई संस्कृत पढ़कर, अंग्रेजी के सिद्धान्तों का निर्णय करे।

और जो माता पिता क्षमा करते हैं, ऐसा पादरी साहेब का कथन है, सो वे भी पूर्णतया क्षमा करते हैं, या कुछ-कुछ। जो कहें कि कुछ-कुछ, तब भी ठीक नहीं है। क्योंकि पाप करने से क्या माता पिता अपने अन्तरात्मा में अपने सन्तान के प्रति प्रसन्न होते हैं? यदि हाँ, तो फिर वे बालकों की ताड़ना क्यों करते हैं? यही तो दण्ड है। जब बालक कुछ समर्थ हो जाते हैं और पाँच वर्ष से बड़े हो जाते हैं। तब माता-पिता बालकों के साधारण पाप वा अपराध भी क्षमा नहीं किया करते। और जो क्षमा करते हैं, तो कभी-कभी माता-पिता और संतान में वैर विरोध क्यों होता है? इससे पादरी साहेब का दृष्टान्त गलत ठहरता है। हाँ, यदि सब माता पिता क्षमा करते, तब तो पादरी साहेब का दृष्टान्त भी ठीक होता और कथन भी। आप के मत के अनुसार—शैतान ने बहुत से अपराध किये हैं। परन्तु; ईश्वर ने उसको आज तक कोई दण्ड दिया कि नहीं? और भविष्य में भी उसको कोई दण्ड देगा या नहीं। जब शैतान को बनाया, तब तो वह पवित्र था। फिर जब उसने पाप किया ईश्वर ने उसे क्षमा क्यों नहीं किया? और आगे भी क्षमा करेगा, या नहीं।

हस्ताक्षर स्वामी दयानन्द सरस्वती जी

—:o:—

पादरी टी. जी. स्काट साहेब

हमारे सुयोग्य विद्वान् और प्रिय मित्र स्वामी दयानन्द जी घबरायें नहीं। मैं विषय से बचकर न चलूँगा। परन्तु यह मुझे अधिकार है कि मैं जिस प्रकार भी उचित समझूँ, उसी प्रकार अपनी युक्ति का आधार स्थिर करूँ। पहिले मैं बुद्धि से यह सिद्ध कर रहा हूँ कि क्षमा की संभावना है। फिर आगे चलकर देख लेना, मैं शास्त्रीय प्रमाणों से भी यह सिद्ध करूंगा कि ईश्वर पाप क्षमा करता है। अर्थात् आज का विषय कि ईश्वर पाप क्षमा भी करता है, वह बुद्धि पूर्वक है कि नहीं? और फिर इसका विशेष कथन न करूँगा।

मेरी युक्ति तीन प्रकार की है। बुद्धि पूर्वक है, शास्त्र सिद्ध है और अनुभव से भी पुष्ट है। वह डाकू का उदाहरण इस प्रकार से है। कि अनुशासन को स्थिर रखने के लिये डाकू को क्षमा करना अच्छा नहीं है। परन्तु कौन नहीं जानता कि कभी-कभी डाकुओं को क्षमा करने के भी बड़े उत्तम-उत्तम परिणाम निकलते हैं। एक उदाहरण है:—

योहन्ना रसूल ने एक आदमी को ईसाई धर्म में दीक्षित किया। वह डाकू था। बाद में वह धर्म से बहिष्कृत किया गया और जंगल में भाग गया तथा बड़े-बड़े डाकुओं का काम करने लगा। योहन्ना उसकी खोज करने जंगल में गया। पहिले तो डाकू ने उसे मार डालना चाहा, परन्तु योहन्ना बूढ़ा था। वह उससे न डरा और पास जाकर बोला कि मैं तो बूढ़ा आदमी हूँ, मुझे क्यों मारते हो? डाकू का हृदय परिवर्तन हो गया। उसने डाकुओं का साथ छोड़

दिया और योहन्ना के साथ चला आया। फिर वही डाकू बहुत उत्साही प्रचारक और साधु पुरुष बन गया। उसने फिर कभी कोई अपराध नहीं किया और अपना जीवन बहुत पवित्रता से व्यतीत किया। डाकुओं आदि के विषय में जब कि मनुष्य भी क्षमा पूर्ण व्यवहार करते ही हैं, तब यह भी संभावना है, कि ईश्वर भी क्षमा कर देता है। और यह पूर्णतया सम्भव है। ईश्वर तो मनोगत बातों को भी जानने वाला है।

ईसाइयों का सिद्धान्त यह है कि यह वसीला, जिस से क्षमा प्राप्त होती है, निष्कलंक अवतार ईसा मसीह का इस संसार में पैदा होना है।

मैं पण्डितजी से पूछता हूं कि अदिति का क्या अर्थ है? म्यूर साहेब की पुस्तक का जो जिकर मैंने किया है, सो स्वामी जी जल्दी में किसी बात को उलटी न समझें। मैं कोई मूर्ख नहीं हूं। म्यूर साहेब की पुस्तक अंग्रेजी में है, परन्तु उसमें साथ ही संस्कृत श्लोक भी वेद के भरे हुए हैं। अंग्रेजी जानने वाले सज्जन म्यूर साहेब के प्रमाणों और युक्तियों को अँग्रेजी में भी देख सकते हैं और अपनी संस्कृत में भी समझ सकते हैं।

शैतान का जो हाल है, सो हम नहीं जानते। शायद उसको बीस बार क्षमा मिल चुकी है और अब उसे क्षमा मिलने की कोई आशा नहीं है। फिर भी कौन जानता है। हाँ, इतना हम जानते हैं कि आज शैतान का विषय नहीं है। मैं पण्डित जी से यह पूछता हूं कि क्या क्षमा कभी भी नहीं होनी चाहिये? क्या मनुष्य के हृदय में क्षमा करने वा क्षमा चाहने का कुछ भी विचार कभी नहीं होता? क्या क्षमा शब्द का संसार में कुछ भी काम नहीं है? पण्डित जी इस बात पर विचार करें।

ह० पादरी टी. जी. स्काट साहेब

—:०:—

स्वामी दयानन्द सरस्वती जी:—

मैं कब घबराया हूं जो आपने कहा कि घबरावें नहीं। जब पहिले कहा कि ईश्वर पापों को माफ भी करता है और अब कहा कि कर सकता है, तो क्या ये दोनों परस्पर विरोधी बातें नहीं हैं और क्या इस प्रकार आप प्रतिज्ञा हानि नहीं कर रहे? तर्क शास्त्र प्रमाण और अनुभव आप्त पुरुषों का ही सत्य होता है। प्रत्येक जनसाधारण का नहीं। जब डाकू का कहीं-कहीं क्षमा करना अच्छा है, तो आजकल की सरकार को भी चाहिये कि किसी अवसर पर डाकुओं को क्षमा करे।

योहन्ना के क्षमा करने से क्या प्रत्येक अपराधी क्षमा के योग्य हुआ। उसने भयवश, या किसी स्वार्थवश क्षमा किया होगा। तो क्या उसने यह कोई अच्छा काम किया? और जब तक उसने डाका मारना न छोड़ा था, तब तक अपने साथ क्यों न रखा? और जो कहो कि क्षमा करने से लिया तो यह बात सत्य नहीं है। क्योंकि जब उसने डाके का काम छोड़ दिया और अच्छे काम करके, अच्छा आदमी बना, तब साथ रखा। भले और बुरे दोनों प्रकार के कामों का फल ईश्वर यथायोग्य देता है। जब पादरी साहेब का सिद्धान्त यह है कि ईश्वर पापों को क्षमा भी करता है, फिर उसके विरुद्ध पादरी साहेब ने कथन किया कि जब कभी हम क्षमा करते हैं, तो ईश्वर क्षमा नहीं करता। और जब हम क्षमा नहीं करते, तो ईश्वर क्षमा करता है।

पादरी साहेब ने मुझ से अदिति का अर्थ पूछा है। सो पृथिवी, अन्तरिक्ष माता, पिता और ईश्वर आदि अर्थ हैं। जैसे किसी हल जोतने वाले के सामने या और विद्या वाले के सामने रत्नों की या और-और विद्याओं की बात करें, तो क्या वह व्यर्थ नहीं है? जो शैतान का पाप क्षमा न किया जायेगा, तब तो शैतान के विषय में आपका सिद्धान्त अटक गया। क्षमा शब्द किसी और मुहावरे के लिये है। दण्ड तो दिया जाता है, परन्तु समर्थ को जैसा दण्ड दिया जाता है, वैसा असमर्थ को नहीं। जैसे कि पागलों को पागलखाने में भेजा जाता है। यदि ईश्वर ईसा के वसीले से क्षमा करता है, तो क्या वह खुशामदी नहीं है? क्या आप ईश्वर के सामने भी वकील आदि की आवश्यकता समझते हैं? क्या

आप उसे सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् नहीं मानते। और यदि आप ईसा के वसीले से पापों का क्षमा होना मानते हैं, तो ईसा ने जो पाप किये, उनको क्षमा करने का वसीला क्या है ?

हस्ताक्षर स्वामी दयानन्द सरस्वती जी

—:[!]:—

पादरी टी० जी० स्काट साहेबः—

अब यहां पर कुछ विचार करना उचित है। क्षमा करना और बात है तथा दिल को पवित्र करना और बात है। इसलिये मनुष्य की क्षमा और ईश्वर की क्षमा में बहुत भेद है। जब मनुष्य तोबा करे और उस नियम पर चले जो कि उसके लिये नियत और विहित है, तब ईश्वर उसको क्षमा कर देता है। और उसके हृदय को भी पवित्र कर देता है। और मेरा भाव यह है कि ईश्वर ने किसी को क्षमा किया और उसके हृदय को भी पवित्र किया, इसकी पूर्ण सम्भावना है, परन्तु फिर भी मनुष्य की स्वतन्त्रता और धर्म-शास्त्र के कारण नियम के अनुसार वह क्षमा नहीं होता। यही मेरा अभिप्राय है।

और, क्षमा का लाभ इसमें प्रतीत होता है कि बीसियों विचारवान् युक्ति-तर्क-विशेषज्ञ भली प्रकार जानते हैं कि क्षमा का परिणाम बहुत उत्तम निकलता है। कोई हठ वा दुराग्रहवश इस सिद्धान्त से इनकार करे, तो करे। पण्डित जी का सिद्धान्त यह है कि ईश्वर किसी को भी विना दण्ड दिये छोड़ता नहीं। परन्तु योहन्ना ने उस डाकू को दण्ड नहीं दिलाया, क्षमा कर दिया। और हमारा यह सिद्धान्त है कि ईश्वर जब भी उसे उचित प्रतीत होता है, क्षमा कर देता है। जैसा कि धर्म-शास्त्र में लिखा है।

पण्डित जी ने अदिति के अर्थ परमेश्वर भी लिखे हैं। और म्यूर साहेब का दावा है कि अदिति वेद के प्रमाण से पापों को क्षमा भी कर देती है। यदि शैतान अभी तक माफ नहीं किया गया, तो यह किसी प्रकार भी मेरे दावे के विरुद्ध नहीं है। क्योंकि आज के विषय में एक शब्द "भी" मौजूद है और यह "भी" अवस्था और परिस्थिति के अनुसार कभी दण्ड और कभी क्षमा इन दोनों को बताता है। पण्डित जी का दावा है कि ईश्वर कभी भी क्षमा नहीं करता, अतः "क्षमा" शब्द को ही संसार से हटा दो। इसके प्रतिकूल यदि ईश्वर कभी किसी एक पाप को भी क्षमा करता है, तो केवल उसी से मेरा पक्ष सिद्ध हो जाता है। मेरा पक्ष यह नहीं है कि ईश्वर क्षमा ही करता है; अपितु यह मेरा पक्ष है कि ईश्वर क्षमा भी करता है। इस "भी" पर विशेष ध्यान दीजिये।

ईसा के वसीले का विषय आज नहीं है। इसलिये इस विषय में मैं आज कुछ नहीं कहता। हमारे लिये आज यह जान लेना ही बहुत है कि किस वसीले से पाप क्षमा होता है। उदाहरण के लिये देखिये—दवाई से दर्द हट जाता है। हम दवाई के विषय में विशेष कुछ नहीं जानते, परन्तु न जानने से क्या भेद पड़ता है ? दर्द तो दूर हो ही जाता है। इसी प्रकार क्षमा होने की भी एक शर्त तो है।

अब शास्त्रीय प्रमाण आरम्भ होता है। इस में मैं अधिक कुछ नहीं लिखता। जो लोग इस विषय में कुछ विशेष जानना चाहें, और प्रमाण पूछें, वे दल की लिखित पर विचार करें, तथा तौरेत में, खरूज की किताब अध्याय चौंतीस आयत आठ और गिनती की किताब अध्याय चौदह आयत अट्ठारह, को पढ़ें एवं विचार करें।

हस्ताक्षर पादरी टी० जी० स्काट साहेब

—%—

स्वामी दयानन्द सरस्वती जीः—

क्षमा करना, पवित्र होना है, या नहीं ? क्या क्षमा करना पवित्र होने के लिये है ? जो कहें कि पवित्र होने के लिये, तो ठीक नहीं। क्योंकि क्षमा करने से पाप की निवृत्ति, संसार में देखने में नहीं आती। और जो अशुद्ध होने के लिये क्षमा होना कहा जाये, तब तो क्षमा करना ही सर्वथा व्यर्थ हो जाये। जब हमारे क्षमा करने, और ईश्वर के क्षमा करने में भेद है, तो आपने पहिले क्यों कहा था कि हम भी दयालु हैं और ईश्वर तुल्य हैं। और ईश्वर के सामने क्षमा कराने वाला योहन्ना मौजूद

है, तब तो ईश्वर भी खुशामद को पसन्द करने वाला तथा बेसमझ सिद्ध होता है। क्या योहन्ना मनुष्य नहीं था कि जिसने क्षमा किया ? क्या योहन्ना कोई राजा था। वह राजा या ईश्वर नहीं था, यह मैं जानता हूँ।

न्याय दण्ड देने से छोड़ता नहीं है और छोड़ता भी है। यह बात परस्पर विरुद्ध है। जो पादरी साहेब ने यहां मनुष्यों के राज के विषय में यह कहा कि कानून की पाबन्दी करनी आवश्यक है, अतः डाकुओं को क्षमा नहीं किया जा सकता, तो मैं पूछता हूँ कि क्या ईश्वर के घर में कानून की पाबन्दी नहीं है ? क्या कोई कह सकता है कि ईश्वर सर्वज्ञ नहीं है ? यदि नहीं तो फिर योहन्ना के कहने, फुसलाने और खुशामद करने से वह क्षमा करने को राजी क्यों हो गया ? ऐसी बातों से तो ईश्वर की सर्वज्ञता नष्ट होती है।

और जो पादरी साहेब ने कहा कि ईश्वर कभी दण्ड देता है और कभी क्षमा भी करता है। यह बात ऐसी ही मिथ्या है, जैसे कि अग्नि कभी गर्म होती है और कभी ठण्डी हो जाती है। और जो यह बात कही कि आज ईसा मसीह का विषय नहीं है। सो आपने ही आज ईसा का विषय बीच में छेड़ा है। क्योंकि आपने कहा कि ईश्वर ईसा के वसीले से पापों को क्षमा करता है। यहां मैं यह पूछता हूँ कि ईसा जीव था, या ईश्वर ? जो कहें कि जीव था, तो सभी आदमी जीव हैं। सभी ईश्वर के सामने क्षमा कराने वाले हुए। फिर आप एकमात्र ईसा का नाम ही क्यों लेते हैं ? और जो कहो कि ईसा ईश्वर था, तो अपने आप ही वह वसीला अथवा साक्षी कभी नहीं बन सकता। जो कहें कि उसमें जीव आत्मा और परमात्मा दोनों थे, तो दोनों के क्या-क्या काम थे। और दोनों साथ-साथ थे या पृथक्-पृथक् ?

जो कहें कि पृथक् थे, तो व्याप्य-व्यापकता न रही। जो कहें कि व्याप्य-व्यापकता है, तो ईसा में और इन सब जीवों में क्या भेद है ? जो कहें कि विद्या पढ़े थे। सो भी ठीक नहीं। क्योंकि इंजील के लेख से मालूम होता है कि वह विद्वान् नहीं था। परन्तु एक साधु पुरुष था।

जो लोग ईसा को मानते हैं, उनके सिद्धान्तानुसार जब यहूदियों ने ईसा को फांसी पर चढ़ाया, तो उसने ईश्वर से प्रार्थना की कि—हे ईश्वर ! तूने मुझे क्यों छोड़ दिया ? ऐसी बातों से उसमें केवल साधारण जीव ही गति करता था, ईश्वर नहीं। किन्तु ईश्वर तो जैसे सब में व्यापक है वैसे ही उस में था। जो कहें कि उसने मुरदों को जीवित किया, अन्धों को आँखे दीं और कोढ़ियों को चंगा किया, भूत निकाले, इसलिये वह ईश्वर था। यहां मैं कहता हूं कि ये बातें प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों और सृष्टिक्रम आदि से विरुद्ध होने से विद्वानों के मानने योग्य न कभी थी, न हैं और न कभी होंगी। हां, ये बातें पौराणिकों के अनुसार हैं।

पक्षी बोला, पशु, हाथी आदि आदम की बोली में बोले। जैसा कि तोरेत में लिखा है कि गदहे आदमी की बोली बोले। क्या इन बातों को कोई विद्वान् कभी मान सकता है ? अथवा किसी विद्वान् से इन बातों को मनवा सकता है ?

और जो यह कहा कि दवा खाने से रोग छूट जाते हैं, वैसा ही यह पापों को क्षमा करना भी है। तो क्या दवा का नियम से सेवन करना, परहेज करना, वैद्य के कहने के अनुसार चलना, अपनी मर्जी से न चलना, यह सब दण्ड नहीं हैं ?

अब तीन दिन से मुझ से और पादरी साहेब से जो वार्तालाप हुआ है, उसके विषय में मैं अपनी बुद्धि के अनुसार यह समझता हूं कि मैं ने पुनर्जन्म का सिद्धान्त सिद्ध कर दिया। पादरी साहेब उसका खण्डन नहीं कर सके। और पादरी साहेब अपने सिद्धान्तों का मण्डन करने में तथा उसके विषय में मेरे प्रश्नों के युक्ति और प्रमाण से उत्तर देने में भी समर्थ नहीं हुए।

हस्ताक्षर दयानन्द सरस्वती जी

—:o:—

पादरी टी० जी० स्काट साहेबः—

अब विचार करने वाले भाई विचार करें। क्योंकि इस लिखाई के बीच में शास्त्रार्थ के नियमों के विरुद्ध बहुत सी बातें कही गईं हैं और वे लिखी नहीं गईं। इसका परिणाम वही हुआ है कि जिसके ऊपर झगड़ा हुआ। अर्थात् केवल अर्थ मिलाने के लिये मैं एक वाक्य सुनाना चाहता था। परन्तु मैंने यह आवश्यक न समझा कि लिखने वाले से उसे लिखने के लिये भी कहूँ। अब मैं केवल उस प्रमाण का ही उल्लेख करता हूँ। भाषा के शब्दों का विचार मैं न करूँगा। जो चाहें वे पुस्तक में उस स्थल को निकाल कर देख लें। हां, यह मैं लिखवा दूंगा कि मैं प्रमाण किस उद्देश्य से देता हूँ। पण्डित जी का यह कहना कि मेरी दलील पक्की नहीं है, और मैंने यूँ सिद्ध किया है, इत्यादि। इसमें कुछ भी सार नहीं है। मैं भी इस प्रकार कह सकता हूँ। अब यह सुनने वालों का काम है कि वे विचार करके, स्वयमेव निर्णय करें। और यह भी स्मरण रखना चाहिये कि मैं यह नहीं चाहता कि इस विषय में किसी प्रकार का पक्षपात किया जाये।

पण्डित जी ने इस बात का कुछ भी उत्तर नहीं दिया कि "क्षमा" शब्द को संसार से बहिष्कृत क्यों नहीं कर दिया जाता। यह एक व्यर्थ और हानिकारक शब्द हैं। इससे सदा सबकी हानि ही होती है, यदि पण्डित जी के कथनानुसार यही बात है, तो बहिष्कार जरूरी है। मैं तो निसन्देह यह कहता हूँ कि क्षमा करने से भगवान् की महिमा का प्रकाश होता है। ईश्वर की बड़ाई इसी में है कि वह मनुष्य को क्षमा करे। क्योंकि मैंने कहा कि वह सब गुप्त भेदों को भी यथावत् जानता है। और क्षमा करने के देश, काल तथा पात्र को भी भली प्रकार जानता है। और क्षमा करने के कारणों को भी पूर्णतया जानता है। ईश्वर के घर में न तो कुछ कमी है और न ही किसी प्रकार की भूल वा भ्रान्ति की कोई सम्भावना है। ये सब कमियां और त्रुटियां इस संसार में ही हैं।

देखो, संसार में कितना पाप, अन्याय, घमण्ड और रक्तपात तथा और भी अनेकविध अनाचार दृष्टिगोचर हो रहा है। पण्डित जी इसे स्वीकार नहीं करेंगे; परन्तु प्रत्यक्ष ही संसार में भारी कमी और त्रुटि देखने में आ रही है। जैसा कि अंग्रेजी सरकार ने इसका यथोचित् प्रबन्ध किया है, ईश्वर भी इसका प्रबन्ध करेगा।

मैं निःसन्देह मसीह के विषय में कोई बात न चलाऊंगा। मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि इस पवित्र धर्म-ग्रन्थ में जिस को क्षमा करने का उल्लेख है, वह उसी वसीले से है। यह दर्द का जिक्र तो है, परन्तु दर्द का विवरण यह नहीं है कि कहां-कहां, कैसे-कैसे है? जब कभी इस विषय पर वार्ता चलेगी; तब आप इसे यर्थार्थ रूप में देख लेंगे। युक्ति और प्रमाण के आधार पर मेरा निवेदन यही है कि क्षमा होती है।

और तोबा के सिद्धान्त से भी यही प्रमाणित होता है। कि क्षमा होती है। उपाय को खूब जानना और ईश्वरीय पुस्तक के विषय में इस प्रकार से हंसी-ठट्ठा करना यदि पण्डित जी को उचित प्रतीत होता है और वे प्रत्येक बात को उलटे रूप में ही समझना चाहते हैं, तो वे जानें। वेद की अनेकानेक बातें हैं; परन्तु यहां उनके विषय में मैं विशेष कुछ कहना नहीं, चाहता। अब आप मेरे इन उत्तरों को कृपया देख लीजिये—

गिनती की पुस्तक अध्याय १४ आयत १८ का अर्थ इस प्रकार है कि ईश्वर पापों को क्षमा करता है।

लूका की इंजील अध्याय ६, आयत ४ तथा अध्याय १५ और आयत १०, इसी प्रकार योहना का पहिला पत्र अध्याय १ आयत ६ इन का अर्थ यह है कि पापों को क्षमा किया जाता है। फिर मसीह ने अपने चेलों को समझाया कि अपनी प्रार्थना में इस प्रकार से बोलो—"हे ईश्वर हमारे पापों को क्षमा कर।"

अब अनुभव सिद्ध प्रमाणों पर भी विचार कीजिये। अनुभव के आधार पर सत्य को जानना बहुत बड़ी बात है और अपना अनुभव सत्यासत्य का निर्णय करने की सब से बड़ी कसौटी है। मनुष्य कह सकता है कि मेरा पाप क्षमा किया जाये।

और इसके साथ ही ऐसा कथन निराधार हो। क्योंकि जैसे पण्डितजी ने स्वयं भी एक उदाहरण में बताया है कि प्रत्येक पापी को दण्ड अवश्य ही मिलेगा। वह पाप भी है। फिर जब तोबा-तोबा कहा, तब भी वही पाप मौजूद है। फिर खुदा के बेटे का नाम लिया, तब भी पाप वर्तमान है। मैं यह मान लेता हूँ कि मनुष्य मिथ्या-कथन करे।

कल्पना करो कि वे सच्ची तोबा करके सन्मार्ग पर आ जावेंगे और प्रत्यक्ष देख भी ले कि अब वह पहिले जैसी बात नहीं है। अब मन में सन्तोष है और शान्ति है। प्रकाश ही प्रकाश है। न कोई सन्देह है, न चिन्ता है और न ही कोई आशंका है। अब देख लीजिये कि ऐसे हजारों आदमी संसार में हैं कि जिनका यही अनुभव है। और उन्होंने अपने अनुभव से यह भली प्रकार जान लिया है कि ईश्वर ने मेरे पापों को क्षमा कर दिया है। वे अब पूर्णतया सन्तुष्ट हैं। उनके हृदय पर न तो पाप की छाप शेष है और न ही पाप का कोई भार है। पापाचरण की किसी प्रकार की इच्छा वा कल्पना भी नहीं है। एक क्षणमात्र में हृदय परिवर्तन हो गया है।

मेरी ओर से इंजील के अनुसार प्रमाण मिल चुका है। यह कहना बहुत ही आसान है कि यह मिथ्या है। ऐसा है, और ऐसा नहीं। परन्तु जानने वाले जानते हैं। जिसका दर्द सर्वथा चला गया है, वह जानता है, परन्तु मेरे धर्म के मानने वाले इकतालीस करोड़ ईसाई संसार में हैं। उनमें से बहुत से तो झूठे ही हैं, यह मैं स्वीकार करता हूँ, उनका कथन भी झूठ ही है।

परन्तु सच्चे आदमी भी बहुत हैं और उनका कथन भी पूर्णतया यथार्थ है, सत्य है। उनकी जीवनचर्या से यह भली भान्ति प्रमाणित हो जाता है कि उनके सब पाप सर्वथा लुप्त हो चुके हैं। उनके पापों को क्षमा किया गया है। हां, इसको जानने और समझने के लिये अपना अनुभव होना भी आवश्यक है। यह कार्य अभ्यास से होगा।

मैं फिर कहता हूँ कि वह अपने अनुभव का प्रमाण, सब से बढ़कर और पक्का प्रमाण है। युक्ति और तर्क की पुष्टि से भी बढ़कर यह पुष्टि है कि जिसको अपने अनुभव के आधार पर अपना अन्तरात्मा भी पुष्ट करता है। बात यह नहीं हैं कि हम केवल मौखिक कथनमात्र ही करते हैं, ऐसा कथन तो मिथ्या भी हो सकता है। परन्तु जिसके पाप तोबा करने के बाद अपना अस्तित्व सर्वथा खो चुके हैं, कि वह नहीं जानता कि जैसे कि कोई पिता अपने पुत्र से क्षमा का वचन कहे, तो क्या वह पुत्र यह नहीं समझता कि पिता ने उसे क्षमा कर दिया है, और अब चिन्ताओं की कोई आवश्यकता नहीं है। मानव-हृदय की भी इसी प्रकार अवस्था है।

मैंने तर्क युक्तियों और शास्त्रीय प्रमाणों के द्वारा, तथा मनुष्यों के अपने प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर, यह सिद्ध कर दिया है कि ईश्वर पापों को क्षमा करता है।

हस्ताक्षर पादरी टी० जी० स्काट साहेब

× समाप्त ×

यवनमत समीक्षा

(लेखक:—पण्डित लेखराम आर्य मुसाफिर)

"तकजीव बुराहीन अहमदिया" उर्दू पुस्तक का हिन्दी अनुवाद। इसमें ऐसे विषय दिये गये हैं जिनके अध्ययन से इस्लाम मत का बहुत कुछ परिचय प्राप्त होगा। बड़े साइज के २१२ पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य मात्र १।।) है।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के "सार्वदेशिक" पत्र की सम्मति पढ़िये "यह पुस्तक धर्म वीर पं० लेखराम जी की प्रसिद्ध उर्दू 'कुलियात आर्य मुसाफिर का आर्य भाषा में अनुवाद है। जो इस्लाम के तत्त्व और वैदिक धर्म के साथ उसकी तुलना तथा भेद को जानना चाहते हैं उन सब के लिए यह पुस्तक अधिक उपयुक्त है पुस्तक सभी सत्य धर्म प्रेमियों के लिए उपादेय है। अक्टूबर १९४२

मिलने का पता—गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, दिल्ली।

* ओ३म् *

अनुभ्रमोच्छेदन

सम्पादक का निवेदन

'अनुभ्रमोच्छेदन' का विषय और विचार महर्षि दयानन्द विरचित 'भ्रमोच्छेदन' से सम्बन्धित है। हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक राजा शिवप्रसाद जी सी० एस० आई० ने 'निवेदन' नामक एक पुस्तक महर्षि के सिद्धान्तों के खण्डन में लिखी थी। 'निवेदन' का उत्तर महर्षि ने अपने 'भ्रमोच्छेदन' नामक पुस्तक के रूप में दिया था। 'भ्रमोच्छेदन' के अन्त में महर्षि ने लिखा था कि क्योंकि राजा शिवप्रसाद जी की वेदादि शास्त्रों में कुछ भी गति-मति नहीं है, अतः भविष्य में राजा जी के पत्रों व लेखों का उत्तर केवल उसी अवस्था में दिया जायेगा, जबकि वे अपने पत्रों व लेखों को काशी के श्री स्वामी विशुद्धानन्द जी से अथवा श्री पं० बालशास्त्री जी से पुष्ट करवाकर भेजेंगे।

राजा जी ने 'भ्रमोच्छेदन' के खण्डन में अपना "निवेदन संख्या—२" नामक पुस्तक प्रकाशित किया। क्योंकि इस दूसरे निवेदन को श्री स्वामी विशुद्धानन्द जी अथवा श्री पं० बालशास्त्री जी का समर्थन प्राप्त न था, अतः अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार, महर्षि दयानन्द ने उस का उत्तर लिखना उचित न समझा।

इस पर जनसाधारण में चर्चा चली कि उत्तर अवश्य देना चाहिये। अस्तु, महर्षि दयानन्द के शिष्य श्री पण्डित भीमसेन शर्मा ने "अनुभ्रमोच्छेदन" के नाम से राजा जी के दूसरे निवेदन का उत्तर दे दिया। यह उत्तर सर्वथा युक्त और अत्यन्त प्रभाव पूर्ण है।

राजा शिवप्रसाद जी और उनकी महर्षि दयानन्द के साथ छेड़-छाड़ के विषय में, हम ने 'भ्रमोच्छेदन' के आरम्भ में एक विशेष लेख लिखा है। इस पुस्तक के पाठकों को उसे भी अवश्य ही अवलोकन करना चाहिये।

श्री पण्डित भीमसेन शर्मा महर्षि दयानन्द के शिष्य थे। महर्षि द्वारा संस्थापित फर्रुखाबाद की पाठशाला में सवा चार वर्ष तक रहकर, उन्होंने विद्याध्ययन किया था। संवत् १९२८ वि० से ही उनका महर्षि से परिचय था। आषाढ़ संवत् १९३३ वि० में महर्षि ने उनको अपने वैदिक यन्त्रालय काशी में प्रूफ संशोधक नियत किया था। प्रूफ-शोधक और लेखक के रूप में पण्डित जी ने बहुत समय तक महर्षि के आधीन रहकर कार्य किया था। यात्रा में भी अनेक बार साथ रहे थे।

श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक 'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' के पृष्ठ ९६ पर लिखते हैं :—

"अनुभ्रमोच्छेदन पृष्ठ १० संस्करण से ज्ञात होता है कि भीमसेन का स्वामी जी के साथ संवत् १९२८ वि० से सम्बन्ध था। ब्रह्म प्रेस इटावा से प्रकाशित पं० भीमसेन के जीवन-चरित्र पृष्ठ ८ में लिखा है कि सं० १९२९ के आरम्भ में १७ वर्ष की आयु में पं० भीमसेन फर्रुखाबाद की पाठशाला में प्रविष्ट हुए थे। वहाँ सवा चार वर्ष तक पढ़ते रहे। तभी से इनका स्वामी जी के साथ परिचय था। काशी में ये स्वामी जी के पास १९३३ के आषाढ़ मास में पहुँचे थे। देखो, पं० भीमसेन का जीवन-चरित्र पृष्ठ १२—१३।"

महर्षि के महाप्रयाण के समय पण्डित भीमसेन जी भी अजमेर में उपस्थित थे। महर्षि के जीवन के अनेक प्रसङ्गों से श्री पण्डित भीमसेन जी का संसर्ग बहुत अधिक है। पण्डित भीमसेन जी के दोषों के कारण महर्षि जी उन पर रुष्ट भी हो जाया करते थे। महर्षि दयानन्द के पत्रों के, जो कई संग्रह इस समय तक प्रकाशित हुए हैं, उनमें अनेक सन्दर्भ

ऐसे हैं, जिनमें महर्षि के श्री पण्डित भीमसेन जी के प्रति रोष का स्पष्ट उल्लेख है।

श्री पण्डित भीमसेन जी वेद, उपनिषद्, धर्मशास्त्र एवं व्याकरण के बहुत अच्छे विद्वान् थे। उनके उपनिषदों और गीता के संस्कृत भाष्य बहुत उत्तम हैं।

यहाँ पाठक यह भी जान लें कि पौराणिकों ने जोड़ तोड़ करके और प्रलोभनों में फाँस कर, श्री पं० भीमसेन जी को अपने साथ मिला लिया था। पण्डित जी आर्यसमाज से पृथक् होकर पौराणिक बन गये थे। पौराणिक बनकर, उन्होंने आर्यसमाज के विरोध में वाणी तथा लेखनी दोनों का ही खूब उपयोग किया था। परन्तु पौराणिकता के कारण उनकी वाणी और लेखनी का तेज नष्ट हो गया था। पौराणिक होने के बाद उन्होंने जो कार्य किये, और ग्रन्थ लिखे थे, वे सब नष्ट भ्रष्ट हो चुके हैं। परन्तु आर्यसमाज में रहते समय उन्होंने जो ग्रन्थ लिखे थे, उनकी अभी तक भी बहुत प्रतिष्ठा है। समय के प्रवाह ने उनकी भूलों पर पर्दा-सा डाल दिया है। और, उनके उत्तम गुण एवं कार्य इस समय भी स्मरणीय एवं आदरणीय हो रहे हैं। श्री पण्डित भीमसेन जी के विषय में विशेष उल्लेख हम फिर कभी किसी स्वतन्त्र प्रसंग में करेंगे। यहाँ इतना और लिखते हैं कि यदि श्री पण्डित भीमसेन जी आर्य पण्डितों और नेताओं से अपने राग एवं द्वेषवश तथा पौराणिकों के फैलाये हुए जाल में फंस कर पतित न हुए होते और आर्यसमाज का परित्याग न कर बैठते, तो उनकी गणना अवश्य ही महर्षि दयानन्द के पश्चात् के बड़े विद्वानों में होती। तथा वैदिक साहित्य के उद्धार का कार्य भी बहुत अधिक होता। अब भी श्री भीमसेन जी द्वारा सम्पादित उत्तम ग्रन्थों की रक्षा आवश्यक है।

अब हम एक और विचारणीय-विषय प्रस्तुत करते हैं। महर्षि दयानन्द ने अपने एक पत्र में लिखा था :—

"और दूसरा निवेदन जो बाबू शिवप्रसाद ने छापा है, उसका उत्तर भी तैयार हो गया है। सो पं० ज्वालादत्त के नाम से अब जारी किया जायेगा।"

—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ २४५

यहाँ महर्षि ने यह नहीं लिखा कि उत्तर का लेखक कौन है? हो सकता है कि महर्षि की प्रेरणा से पहिले श्री पण्डित ज्वालादत्त जी ने उत्तर लिखा हो, और फिर श्री पण्डित भीमसेन जी ने भी। श्री भीमसेन जी का उत्तर उत्तम होने के कारण प्रकाशित किया गया हो, और श्री ज्वालादत्त जी का लिखा हुआ उत्तर छपने से रह गया हो। इस बात का तो कोई भी प्रमाण विद्यमान नहीं है कि यह पण्डित भीमसेन जी के नाम से प्रकाशित उत्तर वही है, जो कि पहले पण्डित ज्वालादत्त जी के नाम से प्रसिद्ध होने वाला था। इसके साथ ही यह बात भी ध्यान देने की है कि महर्षि ने यह कहीं भी नहीं लिखा कि यह उत्तर मैंने लिखा है।

परन्तु हमारे मित्र, महर्षि के भक्त, महावैयाकरण श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी के शिष्य, और श्रेष्ठ विद्वान् श्री पण्डित युधिष्ठिर जी मीमांसक ने इस प्रसंग में एक बहुत भद्दी और महर्षि दयानन्द के गौरव को घटाने वाली स्थापना की है। वे 'अनुभ्रमोच्छेदन' को महर्षि दयानन्द की रचना सिद्ध करना चाहते हैं। ऐसी रचना जोकि महर्षि ने रची और फिर मिथ्या रूप में किसी दूसरे को उसका लेक प्रसिद्ध कर दिया। ईश्वर ऐसे भक्तों से महर्षि के उज्ज्वल और निश्छल गौरव की रक्षा करे।

अनुभ्रमोच्छेदन में श्री पंडित भीमसेन जी ने अपने जीवन का भी कुछ वर्णन किया है और कई प्रसंगों में महर्षि दयानन्द की प्रशंसा भी खूब की है। यदि मीमांसक जी का मत सत्य माना जाये, तो मानना होगा कि महर्षि ने दूसरे के नाम से अपनी प्रशंसा में यह ग्रन्थ रचा था। 'शान्तं पापम्'।

श्री मीमांसक जी महाराज ने महर्षि दयानन्द के गौरव को नष्ट करने वाले अनेक लेख अपने—'ऋषि दयानन्द के ग्रंथों का इतिहास' नामक ग्रंथ में लिखे हैं। इसलिये वह ग्रंथ महत्त्वपूर्ण होने पर भी बहुत दोषपूर्ण बन गया है। किसी स्वतन्त्र प्रसंग में हम इस विषय का अधिक विचार करेंगे।

श्री मीमांसक जी की 'अनुभ्रमोच्छेदन' के विषय में इस भूएडी-स्थापना का आधार कैसा दुर्बल है? यह थोड़ी-सी मीमांसा करके, मीमांसक जी स्वयं भी जान लेंगे। 'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' पृष्ठ १३२–१३३ पर मीमांसक जी महाराज लिखते हैं :—

"यद्यपि 'अनुभ्रमोच्छेदन' के कुछ संस्करणों के मुख पृष्ठ पर तथा ग्रंथ के अन्त में पं० भीमसेन शर्मा का नाम छपा हुआ मिलता है, तथापि इसके प्रथम संस्करण के आदि या अन्त में किसी का नाम प्रत्यक्ष रूप में नहीं छपा। हाँ, प्रारम्भ के श्लोक में 'भीमसेन' के नाम का संकेत मिलता है।"

फिर लिखते हैं :—

"प्रतीत होता है इसी श्लोक के आधार पर पिछले संस्करणों के मुखपृष्ठ और ग्रन्थ के अन्त में भीमसेन का नाम छपना प्रारम्भ हो गया होगा। हो सकता है, द्वितीय संस्करण में भीमसेन ने ही आद्यन्त में अपने नाम का सन्निवेश कर दिया हो।"

फिर लिखते हैं :—

"ग्रन्थ की रचनाशैली और २१ अक्तूबर सन् १८८० के ऋषि दयानन्द के पत्र से ज्ञात होता है कि राजा शिवप्रसाद के द्वितीय निवेदन के उत्तररूप यह ग्रन्थ भी ऋषि दयानन्द ने लिखवाया था। 'अनुभ्रमोच्छेदन' का हस्तलेख परोपकारिणी सभा अजमेर के संग्रह में सुरक्षित है। उस पर अनेक स्थानों में ऋषि दयानन्द के हाथ का संशोधन विद्यमान है। इससे ग्रन्थ का ऋषि के हाथ से संशोधित होना तो निर्विवाद है।"

इन उद्धरणों पर किसी विशेष टीका-टिप्पणी की जरूरत नहीं है। 'महर्षि ने संशोधन किया था।' यह ठीक ही होगा।

श्री मीमांसक जी की महर्षि दयानन्द के 'अनुभ्रमोच्छेदन' का लेखक होने की स्थापना के विरुद्ध 'अनुभ्रमोच्छेदन' में ही अनेक सबल-साक्षियाँ वर्तमान हैं। यद्यपि श्री मीमांसक जी महर्षि की लेखन शैली का विचार करते हैं, तथापि हमारा अनुमान है कि श्री मीमांसक जी ने 'अनुभ्रमोच्छेदन' को नहीं पढ़ा। यदि कोई साधारण रूप में भी इसे पढ़ लेगा, तो फिर वह महर्षि दयानन्द को इसका लेखक बताने की भूल न करेगा। और न ही श्री पं० भीमसेन जी पर नाम सन्निवेश करने का दोष मढ़ेगा।

पूज्यपाद श्री स्वामी वेदानन्द जी महाराज ने हमें एक पत्र में लिखा था कि क्योंकि 'अनुभ्रमोच्छेदन' पुस्तक पण्डित भीमसेन जी का लिखा हुआ है, अतः इसे महर्षि कृत ग्रन्थों के साथ न छपवाया जाये। श्री स्वामी जी महाराज का उक्त पत्र हम अपने 'काशी-शास्त्रार्थ' के सम्पादकीय-निवेदन में प्रकाशित कर चुके हैं। स्वामी जी के निषेध करने पर भी हम इस पुस्तक को इसलिये छपवा रहे हैं कि यह महर्षि की 'भ्रमोच्छेदन' पुस्तक से पूर्णतया सम्बन्धित है और इससे महर्षि के एक शिष्य तथा सहकारी विद्वान् की योग्यता का परिचय भी मिलता है।

अनुभ्रमोच्छेदन' के प्रथम संस्करण के अन्त में वैदिक यन्त्रालय बनारस के प्रबन्धक श्री लाला शादीराम जी की ओर से एक विज्ञापन भी प्रकाशित किया गया था। उसमें उन्होंने लिखा था :—

"दूसरे निवेदन का उत्तर एक पण्डित जी ने 'अनुभ्रमोच्छेदन' पुस्तक में दिया है। और वह वैदिक यन्त्रालय में छापा गया है।"

'अनुभ्रमोच्छेदन' के अन्त में जो कालनिर्देशक श्लोक है, उसका अर्थ इस प्रकार है :—

"संवत् १९३७ फाल्गुण कृष्णा चतुर्थी बृहस्पतिवार के दिन यह ग्रंथ भ्रमनिवारणार्थ सम्पूर्ण हुआ।"

संवत् १९८१ वि० में छठी वार वैदिक यन्त्रालय अजमेर द्वारा प्रकाशित 'अनुभ्रमोच्छेदन' इस समय हमारे सामने है। इसके मुखपृष्ठ पर स्पष्ट ये शब्द मुद्रित हुए हैं कि श्रीमत्स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के शिष्य भीमसेन शर्मा ने राजा शिवप्रसाद जी के द्वितीय निवेदन के उत्तर में बनाया।

आधुनिक प्रकार से छपवाने के लिये हमने 'अनुभ्रमोच्छेदन' को आद्योपान्त दोबारा लिखा है। और, वही अब आगे प्रकाशित किया जा रहा है। इत्यलम्।

—सम्पादक

"निदान जब मैंने गोतम और कणाद के तर्क और न्याय से, न अपने प्रश्नों का प्रामाणिक उत्तर पाया, और न स्वामी जी महाराज की वाक्य रचना का उससे कुछ सम्बन्ध देखा, तो डरा कि कहीं स्वामी जी महाराज ने किसी मेम अथवा साहेब से कोई नया तर्क और न्याय रूस, अमरीका, अथवा और किसी दूसरी विलायत का न सीख लिया हो।"

इत्यादि वचन, जो ये राजा साहेब ने अपने दोनों निवेदनों में लिखे हैं, क्या इनको सुवचन, गाली-प्रदान, कागज बिगाड़ना आदि कोई भी मनुष्य न समझेगा?

मैंने राजा शिवप्रसाद जी के दोनों निवेदनों और स्वामी जी के 'भ्रमोच्छेदन' को भी देखा। प्रथम निवेदन में जो-जो प्रश्न राजा जी के थे, उस-उसका उत्तर 'भ्रमोच्छेदन' में यथायोग्य है। ऐसा मैं अपनी छोटी विद्या और बुद्धि से निश्चित जानता हूं। राजा जी और उनके साक्षियों की विशाल बुद्धि है। इसलिये उनके योग्य ठीक-ठीक उत्तर न हुए होंगे। इसमें क्या अद्भुत है?

अब मैं अपनी अल्प विद्या और बुद्धि के अनुसार द्वितीय निवेदन के उत्तर में थोड़ा-सा लिखता हूं।

निवेदन दूसरा, पृष्ठ ४, पंक्ति १६:—

"भला सूर्य और घड़े की उपमा संहिता और ब्राह्मण में क्योंकर घट सकेगी? उधर सूर्य के सामने कोई आधा घण्टा भी आँख खोल के देखता रहे, अन्धा नहीं तो, चक्षु रोग से अवश्य पीड़ित होवे।"

इस दृष्टान्त से राजा जी का यह अभिप्राय झलकता है कि वेद को दिन भर भी आंख खोलके देखा करे, तो न अन्धा और न नेत्ररोग से युक्त होता है। यहां उनका ऐसा अभिप्राय विदित होता है, कि यह दृष्टान्त स्वामी जी का यहां घट नहीं सकता। जहां तक विचार के देखते हैं, तो यही निश्चय होता है कि दृष्टन्त का साधर्म्य वा वैधर्म्य गुण ही दार्ष्टान्त में घटता है। सब गुण, कर्म स्वभाव कभी नहीं। जैसे:—

साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्।

तद्विपर्य्ययाद्वाविपरीतम्।

न्याय० अ० १, आ० १, सूत्र ३६, ३७

शब्दोऽनित्य इति प्रतिज्ञा उत्पत्तिधर्मकत्वादिति हेतुः। उत्पत्ति धर्मकस्थाल्यादिद्रव्यमनित्यमिति दृष्टान्त उदाहरणम्।

यह शान्त वृत्ति से देखने की बात है। कि शब्द में अनित्यत्व धर्म साध्य है। क्योंकि उत्पत्ति धर्म वाला होने से, जो-जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वे-वे सब अनित्य हैं। जैसे स्थाल्यादि द्रव्य उत्पत्ति धर्म वाले होने से अनित्य हैं, वैसे कार्य शब्द भी अनित्य हैं।

यहां केवल स्थाल्यादि पदार्थों का उत्पत्ति धर्म ही कार्य शब्द में दृष्टान्त के लिये घटा के कार्य शब्दों को अनित्य ठहराया है। यह तो कोई भी नहीं कह सकता कि घट पटादि पदार्थों में चक्षु से दीखना—स्थूल, कठोर, और अन्धेरे में दीपक की अपेक्षा रहना आदि विरुद्ध धर्म हैं। इसलिये उनका दृष्टान्त शब्द में नहीं घटेगा। वा, शब्द में भी वे धर्म हों कि दीपक जला के शब्द देखा जावे।

राजा जी को अन्धेरे में दीपक से शब्द देखना, उससे पानी आदि लाना चाहिये। वा इस दृष्टान्त ही को न मानें, तो ऐसा दृष्टान्त कोई न मिलेगा कि जिसमें दार्ष्टान्त के सब धर्म बराबर मिल जावें। और, जो कोई पदार्थ ऐसे भी हों, कि जिनके सब धर्म बराबर मिलें, तो उनका परस्पर अभेदान्वय होने से, उनमें दृष्टान्त-दार्ष्टान्त तथा उपमान-उपमेय भाव कुछ भी न बन सकेगा।

अब यहां प्रकृत में यह आया कि वेद को सूर्य का दृष्टान्त दिया है, तो सूर्य अपने प्रकाश में किसी की अपेक्षा नहीं रखता। वैसे वेदों से भी जो अर्थ प्रकाशित होते हैं, उनमें ग्रन्थान्तर की अपेक्षा नहीं है। स्वयं प्रकाशत्वधर्म दोनों का समान है। और, जैसे उत्पत्ति धर्म वाले न होने से आत्मा आदि द्रव्य

नित्य हैं, वैसा शब्द नित्य नहीं*। क्योंकि उत्पत्ति धर्म वाला है। यहां केवल वैधर्म्य अर्थात् कार्य शब्द के अनित्यत्व धर्म से विरुद्ध आत्मा का नित्यत्व धर्म ही दृष्टान्त के लिये घटाया है। किन्तु जो आत्मा और शब्द के प्रमेयत्व आदि साधर्म्य हैं, वे विवक्षित नहीं। जैसा राजा जी का दृष्टान्त विषयक मत है, वैसा किसी विद्वान् का नहीं कि दार्ष्टान्त के सब धर्म दृष्टान्त में घट सकते हों।

निवेदन—२, पृष्ठ–५, पंक्ति १६ में राजी जी स्वामी जी से पूछते हैं कि स्वामी जी महाराज यह बतलावें कि पाणिनि आदि ऋषियों ने कहां ऐसा लिखा है कि मन्त्र संहिता ही वेद हैं। ब्राह्मण वेद नहीं हैं।

इसका उत्तर:—

अब यह ब्राह्मण शब्द लौकिक है वा वैदिक ? इसके वैदिक होने में तो कोई प्रमाण नहीं मिलता। लौकिक होने में प्रमाण देखो:—

तत्र लौकिकास्तावत् । गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति । वैदिकाः खल्वपि । शन्नोदेवीरभिष्टये, इषे त्वोर्जेत्वा । अग्निमीले पुरोहितम् । अग्न आयाहि वीतय इति ।

अब यहां अन्तःस्थ नेत्रों से देखना चाहिये कि वैदिक शब्द में केवल चार मन्त्र संहिताओं के उदाहरण दिये हैं। जो ब्राह्मण भी वेद होते, तो वैदिक शब्दों में उनका उदाहरण क्यों न देते ?

अब कोई यह कहे कि लौकिक शब्दों में जिस ब्राह्मण शब्दों का उदाहरण दिया है, वह नपुंसक न होने से ग्रन्थवाची शब्द नहीं है; किन्तु पुल्लिंग से मनुष्यों में जाति * विशेष का नाम है। तो उससे पूछना चाहिये कि नपुंसकलिंग ग्रन्थवाची ब्राह्मण शब्द का वैदिक शब्दों में पाठ क्यों न किया ? हां, प्रकरण से अर्थ की संगति होती है। सो यहाँ किसी का प्रकरण नहीं है। यहाँ पतंजलि जी महाराज के प्रमाण से यह सिद्ध हो गया कि मन्त्र संहिता ही वेद हैं, ब्राह्मण नहीं।

अब स्वामी जी पर जो प्रश्न था, उसका तो यह उत्तर पतंजलि ऋषि के प्रमाण से हुआ, परन्तु, वही प्रश्न राजा जी के ऊपर गिरता है कि राजा जी यह बतलावें कि पाणिनि आदि महर्षियों ने ऐसा कहाँ लिखा है कि मन्त्र और ब्राह्मण दोनों वेद हैं ? अस्तु तावत् ।

निवेदन—२, पृष्ठ—५, पंक्ति—१८:—"पाणिनि ने तो जहां मन्त्र और ब्राह्मण दोनों लेने का प्रयोजन देखा, स्पष्ट 'छन्दसि' कहा।

अर्थात् वेद में, अर्थात् वेद और ब्राह्मण दोनों में। और जहां केवल मन्त्र वा ब्राह्मण का प्रयोजन देखा 'मन्त्रे' वा 'ब्राह्मणे' कहा। और जहां मन्त्र और ब्राह्मण अर्थात् वेद के सिवाय देखा वहां 'भाषायाम्' कहा।"

राजा जी को यह लिखना तो सुगम हुआ; परन्तु निम्नलिखित प्रमाण पाणिनि-सूत्र और वेद मन्त्र आदि का अर्थ करके अपने पक्ष में घटाना सुगम क्यों कर हो सकेगा ? अब देखिये:—

छन्दो ब्राह्मणानि च तद्विषयाणि ।

अ० ४, पा० २, सू० ६६

इस सूत्र में प्रोक्त छन्द और ब्राह्मण को अध्येतृ, वेदितृ विषयता प्रदान की है। अर्थात् प्रोक्तप्रत्ययान्त छन्द और ब्राह्मण का अध्येतृ, वेदितृ अभिधेय में ही प्रयोग हो, स्वतन्त्र न हो।

अब राजा जी के लेखानुसार कि जहां मन्त्र और ब्राह्मण दोनों के लेने का प्रयोजन देखा स्पष्ट 'छन्दसि' कहा, इससे पाणिनि के इस सूत्र में ब्राह्मण

---

* महर्षि दयानन्द महाभाष्यकार पतंजलि के समान ही शब्द को नित्य स्वीकार करते हैं और शब्द को अनित्य मानने वाले मतों का खण्डन करते हैं। नव्यन्याय के विद्वान् शब्द को अनित्य मानते हैं। प्रस्तुत लेख में शब्द की अनित्यता का उल्लेख नव्यन्याय के अनुसार है। महर्षि के मतानुसार नहीं। —सम्पादक

* यहां लोक-भाषा के अनुसार वर्ण शब्द के स्थान पर जाति शब्द का प्रयोग है। —सम्पादक

ग्रहण व्यर्थ होता है । क्योंकि जो छन्द के कहने से मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का ही ग्रहण हो जाता, तो फिर यहां ब्राह्मण का पृथक् ग्रहण क्यों किया ? इससे स्पष्ट ज्ञापक होता है कि छन्द से ब्राह्मण पृथक् है ।

निवेदन—२, पृष्ठ—५, पंक्ति–२२ से:—

"भला जैमिनि महर्षि के पूर्व मीमांसा को तो स्वामी जी महाराज मानते हैं । उसमें इन सूत्रों का अर्थ क्योंकर लगावेंगे:—

तच्चोदकेषु मन्त्राख्या ।

अ० १, पा० २, सू० ३२

शेषे ब्राह्मण शब्दः ।

अ० २, पा० १, सू० ३३

इसका अर्थ बहुत स्पष्ट है । वेद का मन्त्रों से अवशिष्ट जो भाग, सो ब्राह्मण, यह अनुभवार्थ राजा जी ने शवर स्वामी की टीका से सुना होगा । परन्तु यहां यह भी विचार करना उनको योग्य था कि इन सूत्रों के सम्बन्ध में कहीं वेद संज्ञा निर्वचनाधिकरण है, वा नहीं ? किन्तु यहां तो केवल मन्त्र निर्वचनाधिकरण और ब्राह्मण-निर्वचनाधिकरण है । इससे फिर मन्त्र और ब्राह्मण दोनों की वेद संज्ञा है, यह अभिप्राय कहां से सिद्ध हो सकता है ? जो इस प्रकरण में ऐसा होता कि—

अथ वेद निर्वचनाधिकरणम् ।

तो राजा जी का अभिप्राय अवश्य सिद्ध हो जाता । परमात्मा ने वेदस्थ वाक्यों से सर्व विद्याभिधान कर दिया है । अब इनमें शेष अर्थात् बाकी पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना, व्याख्या करनी-करानी आदि है, और थी भी । जो थी सो ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त महर्षि महाशय लोगों ने कर दी है । जिससे ये ऐतरेय आदि ग्रन्थ, ब्रह्म अर्थात् वेदों का व्याख्यान हैं । इसी से इनका नाम ब्राह्मण रखा है । अर्थात्—

ब्रह्मणां वेदानामिमानि व्याख्यानानि ब्राह्मणानि । अर्थात् शेषभूतानि सन्तीति ।

परन्तु जहां से इन सूत्रों के अर्थ में राजा जी आदि को भ्रम हुआ है, सो शवर स्वामी जी की इसी सूत्र पर यह व्याख्या है:—

अथ किंलक्षणं ब्राह्मणम् ।

मन्त्राश्च ब्राह्मणश्च वेदः ।

विचार योग्य बात है कि न जाने शवर स्वामी ने इन दो सूत्रों में वेद शब्द कहां से लिया ? और इनकी अद्भुत कथा को देखिये—

प्रश्न— ब्राह्मण का क्या लक्षण है ?

उत्तर— मन्त्र और ब्राह्मण वेद है ।

विद्वान् लोग विचार लेंगे कि जैसा प्रश्न किया था, वैसा ही उत्तर शवर स्वामी ने दिया है, वा नहीं ? यहां विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं । किन्तु—

आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे ।

इस न्याय के तुल्य यह व्याख्या है ।

ऐसा ही-निवेदन–२, पृष्ठ–५, पंक्ति–२५:—

"निदान जब मैंने गोतम और कणाद के तर्क और न्याय से, न अपने प्रश्न का प्रामाणिक उत्तर पाया और न स्वामी जी महाराज की वाक्य-रचना का उससे कुछ सम्बन्ध देखा, तो डरा कि कहीं स्वामी जी महाराज ने किसी मेम वा साहब से कोई नया तर्क और न्याय रूस, अमरीका अथवा और किसी दूसरी विलायत का न सीख लिया हो ।"

स्वामी जी ने जो भूमिका में गोतम न्याय का प्रमाण वेद ब्राह्मण विषय में लिखा है, उसको वही पुरुष समझ सकता है कि जिसने उन ग्रन्थों की शैली देखी हो । विना पढ़े सब विद्या किसी को नहीं आ जाती । और, जिन्होंने उन शास्त्रों में अभ्यास ही नहीं किया, वे ही ऐसा अनर्गल लिख सकते हैं कि गोतम और कणाद के तर्क से अपने प्रश्नों का प्रामाणिक उत्तर न पाया इत्यादि ।

अब राजा जी को शास्त्रों में अभ्यास करना अवश्य हुआ । क्योंकि उनके प्रश्नों का उत्तर कोई नहीं दे सकता । और, स्वामी जी महाराज जो किसी दूसरी विलायत का तर्क न्याय सीख भी लेते

तो क्या आश्चर्य और कौनसा यह बुरा काम था? और, जो सीख लेते तो अपने ग्रन्थों में भी प्रमाण के लिये अवश्य लिखते, वा लिखवा लेते। इससे स्पष्ट विदित होता है कि राजाजी ने ही उन विलायतियों से तर्क न्याय कुछ पढ़ा, नहीं तो इसका प्रसंग ही क्या था? ठीक है—

यादृशी भावना यस्य बुद्धिर्भवति तादृशी।

इनके प्रश्नों का उत्तर जब ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों से भी न हुआ, तो सब ऋषियों से बढ़ के राजा जी हो गये। इससे स्पष्ट सब महात्मा ऋषि लोगों की निन्दा आ जाती है।

निवेदन—२, पृष्ठ—६, पंक्ति—४:—

फरङ्गिस्तान के विद्वज्जन मण्डली भूषण, काशीराज स्थापित, पाठशालाध्यक्ष डाक्टर टीबे साहब बहादुर को दिखलाया। बहुत अचरज में आये। और, कहने लगे कि हम तो स्वामी जी महाराज को बड़ा पण्डित जानते थे, पर अब उनके मनुष्य होने में भी सन्देह होता है। तब तो 'भ्रमोच्छेदन' को 'भ्रमोत्पादन कहना चाहिये।"

बस, अब तो राजा जी का पक्ष दृढ़तर सिद्ध हो गया। क्योंकि जब उक्त महाशय साहब ने स्वामी जी के मनुष्य होने में सन्देह और 'भ्रमोच्छेदन' का 'भ्रमोत्पादन' नाम होने की साक्षी दी है। फिर क्या चाहिये? क्योंकि महाशयों की साक्षी भी गम्भीर आशय युक्त होती है। क्या ऐसी साक्षी को कोई भी मनुष्य मानेगा कि स्वामी जी के मनुष्य होने में भी सन्देह है?

निवेदन-२, पृष्ठ—७, पंक्ति —२०:—

"डाक्टर टीबे साहब की साक्षी का परामर्श यह देखिये चित्त धर के, दयानन्द सरस्वती सिवाय एक उपनिषद् के ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थों को छोड़ देते हैं। और, केवल संहिताओं को प्रमाण मानते हैं।"

इसका उत्तर तो भ्रमोच्छेदन के पृष्ठ ११ पंक्ति २० में यह स्पष्ट लिखा है:—

"परन्तु जो-जो वेदानुकूल ब्राह्मण ग्रन्थ हैं, उनको मैं मानता और विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूं।"

जो उक्त साहब ध्यान देकर देखते, तो सिवाय एक उपनिषद् के इत्यादि विरुद्ध साक्षी क्यों देते?

निवेदन—२, पृष्ठ—८, पंक्ति–१८:—

"निःसन्देह दयानन्द सरस्वती जी को अधिकार नहीं कि कात्यायन के उस वचन को प्रक्षिप्त बतावें, जिसके अनुसार मन्त्र और ब्राह्मण का नाम वेद सिद्ध होता है। ऐसे तो जिस किसी वचन को चाहे, अपने अविवेक कल्पित मत से, विरुद्ध पाकर, प्रक्षिप्त कह दें।"

मुझको अपनी अल्प बुद्धि से आज तक यह निश्चय था कि सत्याऽसत्य विचार करने का अधिकार सब विद्वानों को है। जो यह राजाज्ञावत् डाक्टर टीबे साहब की सम्मति सत्य हो, तो ऐसा हो जाये। किन्तु जो केवल एक डाक्टर टीबे साहब ने ही ठेका लिया हो कि अन्य सब को अधिकार है, केवल स्वामी जी को नहीं कि कौन प्रक्षिप्त और कौन नहीं? ऐसा विचार करें। जो ऐसा, तो डाक्टर टीबे साहब को सम्मति देने और खण्डन-मण्डन का अधिकार किसने दिया है? हम भी पूछ सकते हैं। अहो, आश्चर्य! इस सृष्टि में कैसी-कैसी अद्भुत-लीला देखने में आती है?

निवेदन—२, पृष्ठ–६, पंक्ति–५:—

"सो मेरा तो अभिप्राय इतना ही है कि यदि ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार जमदग्नि आदि का अर्थ यों ही माना जावे, तो संहिता के समान ब्राह्मणों को भी वेदभाग अथवा माननीय मानने में, उन्हीं ब्राह्मण ग्रन्थों की युक्तियां क्यों न मानी जावें।"

जो इस बात का प्रमाण किया जावे, तो यास्कमुनिकृत निघण्टु, निरुक्त, पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी, पतञ्जलि महामुनिकृत महाभाष्य और पिंगलाचार्य कृत पिंगल सूत्र, वेदों के भाष्य वा टीका आदि को भी, वेद क्यों न माना जावे? क्योंकि जैसे शतपथादि ग्रन्थों से वेदस्थ जमदग्नि आदि शब्दों के अर्थ चक्षु आदि माने जाते हैं, वैसे ही निघण्टु और निरुक्त आदि से भी वैदिक शब्दों के संज्ञा, और

निर्वचन, व्याकरण से शब्द, अर्थ और सम्बन्ध, और पिंगल सूत्रों से गायत्र्यादि छन्द, षड्जादि स्वर आदि की व्याख्या वेदों से अविरुद्ध मानी जाती है। तो, इनकी वेद संज्ञा कौन कर सकेगा ?

निवेदन—२, पृष्ठ—६, पंक्ति—१०:—

"सो यहां भी मेरा तो अभिप्राय इतना ही है कि वेद के नाम से मन्त्रभाग अर्थात् संहिता और ब्राह्मणों का, जहां वेदों को अपरा कहा जाये, वहां मन्त्र और ब्राह्मणों का कर्मकाण्ड और जहां वेदों को परा कहा जाये, वहां मन्त्र और ब्राह्मणों का ज्ञानकाण्ड मानना चाहिये।"

निवेदन—२१, पृष्ठ–११, पंक्ति–१०:–

"इसका अर्थ सीधा-सीधा यह मान लेवें कि आपके चारों वेद और उनके छओं अंग 'अपरा' हैं। जो 'परा' उससे अक्षर में अधिगमन होता है। अपना फिरावट का अर्थ वा अर्थाभास छोड़ दें।"

निवेदन–१, पृष्ठ–१२, पंक्ति—२०:—

"नोट—कि चारों वेद संहिता और उनके छओं अंग अपरा हैं। परा उनके सिवाय अर्थात् उपनिषद् हैं।"

मुझको बड़ा आश्चर्य हुआ कि यहां क्यों राजा जी ने अपने पूर्व लेख से अपर लेखको विरुद्ध लिखा। देखो पहिले निवेदन में चारों वेद और छओं अंगों को अपरा और उपनिषदों को परा विद्या माना था। और, दूसरे निवेदन में चारों वेदों के कर्मकाण्ड को अपरा और उनके ज्ञानकाण्ड को परा विद्या माना। और दोनों निवेदनों का अभिप्राय यही है कि मन्त्रसंहिता और ब्राह्मण भाग की वेद संज्ञा मानें। इसलिये इतना परिश्रम उठाया। और, नोट में चारों वेद संहिता अर्थात् मन्त्र संहिताओं ही को वेद मान कर ब्राह्मणों को वेद संज्ञा में लिखना भूल गये। दृष्टि कीजियेः–"तत्रापरा ऋग्वेदो, यजुर्वेदः, सामवेदो, अथर्ववेदः।"

राजा जी के इस लेखने उन्हीं के अभिप्राय का निराकरण कर दिया। इसको न लिखते, तो अच्छा था। क्योंकि इस लेख में ऋग्यजुः साम और अथर्व चार शब्द वाच्य मन्त्रभाग संहिताओं ही के साथ चार वेद शब्द का पाठ है। ऐतरेय, शतपथ, छान्दोग्य, ताण्ड्य आदि और गोपथ ब्राह्मण ग्रन्थों की उस वचन में न परा न अपरा में गणना, और न ऐतरेय आदि के साथ वेद नाम का पाठ है। इसलिये यह पूर्वापर विरुद्ध लेख है।

निवेदन—२, पृ०–६, पंक्ति—१४:–

"ऐसा ही आज तक वैदिक हिन्दू परम्परा से मानते चले आये हैं।"

यहाँ भी मैं राजा जी से यह पूछता हूँ कि परम्परा और आज तक, इस वाक्यावली का अभिप्राय सृष्टि की उत्पत्ति से लेकर, का समय लिया जाये, वा जैसा कि चार पांच पीढ़ियों में परम्परा हो जाती है, वैसी ग्रहण की जाये ? जो प्रथम पक्ष है, तो वैदिक के साथ आर्य लिखना उचित था। अर्थात् वैदिक आर्य और जो चार पाँच पीढ़ी की परम्परा अभिप्रेत है, तो लोकाचार से भी वैदिक हिन्दू लिखना ठीक नहीं। क्योंकि भारतवासी मनुष्यों की हिन्दू संज्ञा सिवाय यवन ग्रन्थ और यवनाचार्यों की पाठशाला में पठनपाठन संसर्ग के बिना राजा जी को कहीं न मिलेगी। और ऋग्वेद से लेकर पूर्वमीमांसा पर्यन्त संकृत ग्रन्थों में तो एतद्देश का नाम आर्यावर्त, और उसमें रहने वाले मनुष्यों का नाम आर्य वा ब्राह्मण आदि संज्ञा ही मिलेंगी।

परन्तु यह राजा जी को स्वात्मानुभव वा इस देशियों पर द्वेष अथवा आर्यावर्त देश से भिन्न देशस्थ विलायतियों से शिक्षा पाकर बोध हुआ होगा। यह साधारण बात नहीं, किन्तु जो यह वैदिक शब्दों के साथ हिन्दू शब्द का परम्परा में आज तक पढ़ देना, सो राजा जी को विदेशियों की विद्या और शिक्षा का अनुपम फल है।

निवेदन--२, पृष्ठ १०, पंक्ति---६।

भला आपके [शिवप्रसाद के] "एक सहज से प्रश्न का तो उत्तर श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी से बना ही नहीं, उत्तर के बदले दुर्वचनों की सृष्टि की, यदि काशी जी के पण्डित उन से शास्त्रार्थ करने उद्यत भी हों, तो उत्तर के स्थान में, उन्हें वैसे ही दुर्वचना पुष्पांजलि का लाभ होगा। इससे अतिरिक्त उसमें कुछ भी सार नहीं निकलेगा।"

इस पर मैं अपनी बुद्धि के अनुसार इतना ही लिखता हूँ कि श्रीयुत बालशास्त्री जी, "श्रीमान् पंडितवर धुरन्धर अज्ञानतिमिर नाशनैकभास्कर विशेषण युक्त ऐसा कहते हैं, और ऐसा निश्चय हो, तो स्वामी जी से उनके बड़े-बड़े गम्भीराशय प्रश्नों के उत्तर कभी न बन सकेंगे। फिर इससे मेरी और अन्य लाखों किम्वा करोड़ों मनुष्यों की यह इच्छा है कि जो कोई विद्वान् स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के पक्ष को वेदादि शास्त्रों द्वारा निरस्त करदे, तो उन को क्या ही लाभ न हो। पुनः उक्त महाशय इसमें क्यों विलम्ब कर रहे हैं ?

और, दुर्वचन पुष्पांजलि विषय में इतना ही मैं लिखता हूँ कि काशीस्थ लोगों ने दूषणमालिका, दयानन्द पराभूति, चर्मकार भी स्वामी जी से उत्तम, गाली सहस्रनाम, आदि पुस्तक और दण्डनीय आदि विज्ञापन समाचारों में छपवाया, तथा ताली शब्द आदि और जैसा असभ्य अनर्थ लेख स्वामी जी पर किया है। और, स्वामी जी ने संवत् १६२६ के शास्त्रार्थ में किसी को गाली-प्रदान वा दुर्वचन पुष्पाँजलि की थी ? और, जैसे पक्षपात क्रोधरहित होने के लिये स्वामी जी को लिखते हैं, तो राजा जी ने पक्षपात और क्रोधयुक्त स्वामी जी को कब देखा था ? भला, क्या पूर्वोक्त तो सुवचन पुष्पांजलि है ? और स्वामी जी का लेख दुर्वचन पुष्पांजलि कहा जा सकता है ?

डाक्टर टीबे साहेब बहादुर स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के मनुष्य होने में भी सन्देह लिखते हैं, क्या डाक्टर टीबे साहेब को अपने सहीस आदि नौकरों के तो मनुष्य होने में कुछ भी सन्देह नहीं ? किन्तु केवल स्वामी जी के मनुष्य होने में सन्देह करते हैं ? क्या यह बात अद्भुत, गम्भीराशय और असंगत नहीं है ?

अहो, क्या ऐसे-ऐसे लेख को भी बुद्धिमान् लोग अच्छा समझेंगे ? धन्य हैं ! श्रीयुत शिवप्रसाद जी वादी और धन्य हैं ! उनके साक्षी अर्थात् श्रीमज्जगत्-पूज्य स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती जी, मन् पण्डितवर धुरन्धर अज्ञानतिमिरनाशनैकभास्कर बालशास्त्री जी महाराज, आर्यजन और विद्वज्जन मण्डलीभूषण काशीराज स्थापित पाठशालाध्यक्ष डाक्टर टीबे साहब बहादुर यूरोपियन, कि जिन्होंने परस्पर मिलकर अपना अभीष्ट मत प्रकाशित किया है। क्या भला ऐसे-ऐसे महाशयों के सामने मेरा लेख हास्यास्पद न होगा ? और क्या ऐसे-ऐसे महात्माओं की साक्षी होने पर राजा जी के विजय होने में किसी को सन्देह भी रहा होगा ? वाह ! वाह !! वाह !!!

जो कोई परपक्ष निषेध, और स्वपक्ष सिद्ध करे, तो ऐसी ही बुद्धिमत्ता से करे। क्या सहायक, अनुमतिदायक भी ऐसे होने योग्य हैं ? जहां अर्थी ही साक्षी और न्यायाधीश हों, वहां जीत क्यों न होवे ? क्यों न हो ? क्या यही सत्पुरुषों का काम है कि जहाँ तक बने दूसरे की निन्दा, अपनी स्तुति करनी, अपना सुकर्म समझना ?

हाँ, मैं भी तो राजा शिवप्रसाद और स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती जी, वा बालशास्त्री जी और डाक्टर टीबे साहब बहादुर साक्षी आदि महाशयों के सामने स्वामी जी की मनमानी निन्दा और अप्रतिष्ठा करने में तत्पर होता, जो उनके प्रशंसनीय गुण, कर्म, स्वभाव न जानता होता। उनकी निन्दा और अपमान करने में कमती कभी करता ? परन्तु वाल्मीकी मुनि ने कहा है :—

सहवासी विजानीयाच्चारित्रं सहवासिनाम् ।

विना किसी के संग किये, उसके गुण दोष विदित नहीं हो सकते।

संवत् १६२७ से १६३७ के वर्ष पर्यन्त मेरा और स्वामी जी का समागम रहा है। जितने वर्ष वा महीने स्वामी जी का सत्संग मैंने किया है और यथाबुद्धि थोड़े से वेद भी देखे हैं, उतने दिन और उतने मुहूर्त भी, उनका समागम राजा जी आदि ने न किया होगा। नहीं तो इतना अटा टूट विरोध कभी न करते। देखिये कई एक बड़े-बड़े सेठ, साहूकार, रईस बुद्धिमान् पण्डित सज्जन लोग राजे महाराजे स्वामी जी को अत्यन्त मानते, श्रद्धा करते, और उपदेश का भी स्वीकार करते हैं। और, बहुतेरे विरुद्ध भी

हैं। तथापि कभी किसी का पक्षपात, किसी से लोभ, किसी का भय, किसी की खुशामद, किसी से छल, वा किसी से धन हरने का उपाय वा किसी से स्व-प्रतिष्ठा की चेष्टा आदि अशिष्ट पुरुषों के कर्म करते इनको मैंने कभी नहीं देखा। और, क्या जैसी सब की सत्य बात मनानी, और असत्य न माननी, स्वामी जी की रीति है, वैसी ही राजा जी आदि को माननी योग्य नहीं है ?

परन्तु, इतने पर भी मैं बड़े आश्चर्य में हूँ कि राजा जी आदि महाशय निष्कारण ईर्षा, और परोत्कर्षासहनरूपयानारूढ़ होकर स्वामी जी की बुराई करने में बढ़ते ही चले जाते हैं। न जाने कब और कहां तक बढ़ेंगे ? क्या इसका फल आर्यावर्तादि देशों की अनुन्नति का कारण न होगा ? क्यों न यह घर की फूट रूपी रसास्वादन का प्रवाह दुर्योधन रूप हलाहल सागर से बहता चला आता हुआ आर्यावर्तस्थ मनुष्यों के अभाग्योदयकारक प्रलय को प्राप्त अब तक न हुआ ? क्यों इसको परमेश्वर अपने कृपाकटाक्ष से अब भी नहीं रोक देता ? कि जिससे हम सब सर्वतन्त्र सिद्धान्तरूप प्रेमसागरामृतोदधि में स्नान कर त्रिविध ताप से छूट कर परमानन्द को प्राप्त हों।

जैसे द्वीपद्विपान्तर के वासी मुसलमान, जैन, ईसाई आदि मनुष्य अपने स्वदेशी और स्वमतस्थों को आनन्दित कर रहे हैं, क्या ऐसे हम लोगों को न होना चाहिये ? प्रत्युत सब देशस्थ, समग्र मनुष्यादि प्राणिमात्र के लिये परस्पर उपकार, विद्या शुभाचरण और पुरुषार्थ कर अपने पूर्वज कि जिन महाशय आर्यों के हम सन्तान हैं, उनका दृष्टान्त अर्थात् उपमेय न हों। और, जैसी उनकी कीर्ति और प्रताप-रूप मार्तण्ड भूगोल में प्रकाशित हो रहा था, उनका अनुकरण क्यों न करें ? और इसमें आश्चर्य कोई क्यों माने ? कि राजा जी और उनके अनुयायी साक्षी स्वामी जी को अविद्वान्, पशु, अन्धे, आदि यथेष्ट शब्दों से निन्दा करते हैं।

मैं निश्चित कहता हूँ कि स्वामी जी की निन्दा अप्रतिष्ठा और विरोधता किसने नहीं की ? काशी में संवत् १९२६ वें वर्ष में उन पर हल्ला किया। संखिया मिला कर पान बीड़ा दिया। बुरी-बुरी निन्दा के पुस्तक और विज्ञापन दिये। कई ठिकाने मारने को आये। ऊपर पत्थर और धूल फैंकी, जिले बुलन्दशहर कर्णवास के समीप जहां स्वामी जी रहते थे, वहीं किसी ने रात के एक बजे के समय दस आदमी तलवार और लट्ठ लेकर मारने को भेजे, कई नास्तिक कहते, कई क्रिश्चियन बतलाते, कई क्रोधी और कई पशुवत् विशेषण देते, कई उनका मुख देखने में पाप बतलाते, और पास जाने को अच्छा नहीं कहते, कोई कलि का अवतार, कोई कल मरते आज ही मर जायें, तो अच्छा, कई मेजिस्ट्रेटों के कान भर व्याख्यान बन्द करा देने में प्रयत्न कर चुके, और कोई इनके बनाये पुस्तक भी हाथ में न लेना, न देखना, कई अपने बाग बगीचे में उनका रहना भी स्वीकार नहीं करते, कई वेश्या का मुख देखने, संग करने और पुंसि मैथुनाचरण में भी अपना धन्य जन्म मानते, और, औरों को उत्साहित करते हैं, और स्वामी जी के दर्शन और संग उससे भी बुरा बतलाते हैं।

कई स्वामी जी और स्वामी जी के उपदेश मानने वालोंको महा नरक में गिरना बतलाते हैं। आप गोतम और कणादादि महाशयों से अपने को बुद्धि-सागर ठहरते और स्वामी जी को निर्बुद्धि, सहज प्रश्नों के उत्तर के अदाता कहते, और कई चमार चाण्डाल आदि में विद्वत्ता और मनुष्यपन में भी शंका बतलाते हैं, कोई रेल का भाड़ा भी नहीं लगता, ऐसा कहते हैं। अब कहां तक इसी लम्बी गाथा को कहूँ। मैं ऐसी बातें सुनता और लिखता हुआ थकित हो गया।

क्या ये पूर्वोक्त बातें आर्यावर्त्त के दौर्भाग्य के कारण नहीं हो रही हैं। तथापि धन्य है, स्वामी जी को इतने हुए पर भी सनातन वेदोक्त आर्योन्नति के यत्नों से विरक्त न होकर, परोपकार से अपना जन्म सफल कर रहे हैं। भला जो धर्म और परमात्मा की कृपा न होती, और परमतद्वेषी, स्वमतानुरागी क्षुद्राशय लोगों का राज्य होता, तो स्वामी जी का

आज तक शरीर बचना भी दुस्तर न हो जाता ? क्या जो आर्य लोग भी मुसलमान आदि के तुल्य होते, तो अब तक स्वामी जी का मुख और हस्त वेदभाष्यादि पुस्तक लिखने के लिये आज तक कुशल रह सकते ?

और जो स्वामी जी में पक्षपात साहित्य, सत्यता, विद्वत्ता, शान्ति, निन्दास्तुति में हर्ष-शोकरहितता न होती, और विमल विद्या, प्रगल्भता, धार्मिकता, आप्तत्वादि शुभ गुण न होते, तो ऐसे-ऐसे सनातन वेदोक्त सत्य धर्मोपदेशादि प्रसंसनीय आर्योन्नति के दृढ़ कारण प्रकाशित और सुस्थिर कभी न कर सकते। क्योंकि देखो, आर्यावर्त्त में प्रसंसनीय महाशय विद्वानों के विद्यमान रहते भी, आर्यावर्त्तीय मनुष्यों की वेदोक्त धर्माढ्यता प्राचीन अभ्युदयोदय प्रच्छन्न क्यों रह जाता ?

क्या प्रत्यक्ष में भी भ्रम है ? कि देखिये जो हम आर्यों को विना आसमानी किताव वाले, बुतपरस्त, नालायक, इनके मत का कुछ भी ठिकाना नहीं, आदि आक्षेपों से जैन, मुसलमान और ईसाई लाखह, क्रोडह बहका के, अपने मत में मिलाते और कहते थे कि आओ ! हमसे वादविवाद करो। हमारा मजहब सच्चा, और तुम्हारा झूठा है। वे ही अब स्वामी जी के सामने वेदादि शास्त्रों और तदुक्त आर्य-धर्म का खण्डन तो दूर रहा; परन्तु वाद करना भी असह्य समझने और कहते हैं कि आप हम पर प्रश्न मत कीजिये। डरते हैं। स्वामी के सन्मुख तो ऐसा है। परन्तु जिन्होंने स्वामी जी के ग्रन्थ देखे और उनका समागम यथावत् किया है, उनके भी सामने वे विजयवन्त नहीं हो सकते। इत्यादि जो राजा जी आदि स्वामी जी के सत्य गुण, कर्म, स्वभाव जानते, तो उनके साथ ऐसा विरुद्ध वर्त्तमान कभी न करते।

सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक, सर्व नियन्ता, जगदीश्वर सब आर्यों के आत्माओं में परस्पर प्रीति, गुणस्वीकार, दोष परिहार, वेदविद्योन्नति, कल्पवृक्ष और चिन्तामणि को सुस्थिर करे, जिससे सब आर्य भाई उसको परस्पर प्रेम और उपकार रूप, सुन्दर जल से सींचकर उसके आश्रय से, प्राचीन आर्यपदवी को पाकर, आनन्द में सदा रहें। और, सबको रखें।

राजा जी का बनाया इतिहास मैंने देखा, तो अद्भुत बातें दीखती हैं। इनसे यह भी प्रसिद्ध है कि जो स्वश्लाघा और अभिमान करेगा, तो इतना ही करेगा। निम्न लेख से यह बात सबको विदित हो जायेगी। क्योंकि इंगित, चेष्टित से मनुष्य का अभिप्राय गुप्त नहीं रह सकता। राजा जी का कुछ भी ऐसा वर्त्तमान है, सो नहीं, किन्तु—

स्वभावो नान्यथा भवेत्।

जैसा स्वभाव मनुष्य का होता है, वह छूटना दुस्तर है। जो उन्होंने 'इतिहास तिमिरनाशक' ग्रन्थ बनाया है, उसको कोई विद्वान्, पक्षपातरहित सज्जन पुरुष ध्यान देकर देखे, तो राजा जी की मानस परीक्षा और सौजन्य विदित अवश्य हो जावे कि इनका क्या अभीष्ट है ? उसमें अप्रमाण, वेदादिशास्त्राभिप्रायशून्य बहुत बातें है। और, कुछ अच्छी भी हैं। जो अच्छी हैं उनका स्वीकार, और जो अन्यथा हैं, उनका संक्षेप से दोष भी प्रकाशित करता हूँ, जैसे मुझको विदित होता है।

इतिहास तिमिरनाशक, पृष्ठ—१, पंक्ति—११:—

"बाप दादा और पुरुखा तो क्या, हम इस ग्रन्थ में उस समय से लेकर, जिससे आगे किसी को कुछ मालूम नहीं, आज पर्यन्त देश की अवस्था लिखने का मंसूबा रखते हैं।"

राजा जी थोड़ा-सा भी सोचते, तो इतना अपना गौरव, अपने हाथ से लिखने में अवश्य कम्प जाकर, रुक के, यथार्थ बात को समझ सकते। क्या अपने पुरुखों से स्वयं उत्तम और सब आर्य्यावर्त्त वासियों को इतिहास ज्ञान विषय में निकृष्ट अज्ञानी कर, स्वश्लाघी स्वयं नहीं बने हैं ? क्या कोई भी पूर्ण विद्वान् स्वमुख से अपनी कीर्ति को कह सकता है ?

यह सच है कि जितना-जितना विद्याविनय मनुष्य को अधिक होता है, उतना-उतना, वह सुशील, निरभिमानी, महाशय होता, और जितना-जितना, वह कम होता है, उतनी-उतनी उसकी कुशलता, अभिमान और स्वल्पाशयता होती है।

इतिहास सं०, पृष्ट—१—१६:—

"पुराना हाल जैसा इस देश का बेठौर ठिकाने देखने में आता है, विरले किसी दूसरे देश का मिलेगा।"

वाह! वाह!! वाह!!! न जाने किस देश की पाठशाला में इतिहास को पढ़ के राजा जी को अपूर्व-विज्ञान हुआ? क्या यूरोप, अमेरिका, एफ्रीका आदि देशों के पूर्व इतिहासों से भी आर्य्यावर्त्त देश का प्राचीन इतिहास बुरा है? यह भी इसका लेख आर्य लोगों को ध्यान में रखना चाहिये।

इतिहास, पृष्ठ—३, पंक्ति—२:—

"आगे संस्कृत श्लोक बनाते थे, अब भाषा में छन्द और कवित्त बनाते हैं। क्यों, पद्य का कण्ठस्थ रखना सहज है। निदान ये भाट इसी में बड़ाई समझते हैं!"

क्या ही शोक की बात है? कि मनु, वाल्मीकि, व्यास प्रभृति ऋषि, महर्षि, महात्मा, महाशय, ब्राह्मण लोगों को तो राजा जी भाट ठहराते हैं, और आप महात्माओं के निन्दक और उपहासकर्त्ता होकर नकली* की पदवी को धारण करते हैं। विदित होता है कि आर्यवर्त्तीय धार्मिक आप्तपुरुषों की निन्दा और विदेशियों की अत्युक्ति सदृश स्तुति ही से राजा जी प्रसन्न बनते हैं।

इतिहास, पृष्ठ—४, पंक्ति—३:—

"हाय हमारे देश में इतना भी कोई समझने वाला नहीं।"

सिवाये आपके ऐसी-ऐसी गूढ़ बातों के मर्म को कौन समझ सकता है? तब ही तो आप सब से बड़ा मंसूबा बांधकर इतिहास लिखने को प्रवृत्त हुए।

इतिहास पृष्ठ—१०:—

"बहुतेरे हिन्दू यह भी कहेंगे कि जो बात पोथी में लिखी गई और परम्परा से सब हिन्दू मानते चले आये, भला अब वह क्योंकर झूठ ठहर सकती है।"

भला यहां तो हिन्दुओं की परम्परा का तिरस्कार राजा जी कर चुके, और दोनों निवेदनों में ब्राह्मण पुस्तकों को वेद मानने के लिये स्वीकार किया है। ठीक है, मतलब सिन्धु ऐसी ही चतुराई से पूरा करना होता है।

इतिहास, पृष्ठ—१२, पंक्ति—१ से लेकर पृष्ठ—१४, पंक्ति—११ तक बौद्ध, जैन, हिन्दुओं के मतविषयक बातें लिखी हैं। इससे विदित होता है कि राजा जी का मत बौद्ध जैनी ही है इसीलिये अपने मत की प्रशंसा, वैदिक मत की निन्दा मनमनी की है। यह इनको अच्छा समय मिला कि कोई जाने नहीं, और वैदिक मत की जड़ उखाड़ने पर सदा इनकी चेष्टा है। पुनः स्वामी जी जो सनातन रीति से वेदों का निर्दोष, सत्य अर्थ ठीक-ठीक प्रकाशित कर रहे हैं, इनको अच्छा कब लग सकता है? इसीलिये निवेदनों में भी अपनी सदा की चाल पर राजा जी चलते हैं। इसमें क्या आश्चर्य है?

इतिहास, पृष्ठ—१५, पंक्ति—१:—

"हिन्दुओं की प्राचीन अवस्था।"

यह बड़ा अनर्थ राजा जी का है। कि आर्यों को हिन्दू और पारस देश से आये हैं। पहिली बात तो इन की निर्मूल है, क्योंकि वेदों से लेके, महाभारत तक किसी ग्रन्थ में आर्यों को हिन्दू नहीं लिखा। कौन जाने राजा जी के पुरखे, पारस देश से ही इस देश में आये हों। और उनका परम्परा से स्वदेश पारस का संस्कार अब तक चला आया हो। क्या यह बात असम्भव है कि इस आर्यावर्त्त से ही कोई मनुष्य, पारस देश में जा रहे हों। क्योंकि पारस देश में उत्पन्न हुई माद्री पाण्डु राजा से विवाही थी। उसी समय वा आगे पीछे वहां से यहां, और यहां से वहां, आ, जा, रहने का सम्भव हो सकता है। और क्या जो पारस देश से ही आकर बसे होते, तो पारसी लोगों वा ईरान वालों के प्राचीन इतिहासों में स्पष्ट न लिखते?

इतिहास—पृष्ठ—१५, पंक्ति—५:—

"असुर को अहुर"

"नोट—पंक्ति—१३"

* नकली=नक़्क़ाल, विदूषक। —सम्पादक,

"यहां भी ऋग्वेद के आरम्भ में असुर का अर्थ सुर लिया है। और, उसे सूरज का नाम माना है।

असुरः प्राणदाता।

असुरः सर्वेषां प्राणदः।

असुर राक्षस के लिये तभी से ठहराया गया, जब से सुर, देव, देवता के लिये ठहरा। इत्यादि।"

धन्य है—

मुखमस्तीतिवक्तव्यं, दशहस्ता हरीतकी।

इसमें तो कुछ दोष नहीं कि असुर को वे पारसी लोग अहुर कहें। परन्तु जो बातें ऋग्वेद के नाम से राजा जी ने लिखी हैं, सब निर्मूल हैं। क्योंकि ऋग्वेद के आरम्भ में तो—

असुरः प्राणदाता।

असुरः सर्वेषां प्राणदः।

ये नहीं हैं। किन्तु ऐसा पाठ ऋग्वेद भर में कहीं नहीं है। क्या आश्चर्य है कि ईरान वाले जिद से देव को राक्षस कहते हों।

इतिहास, पृष्ठ—१५, पंक्ति—८:—

"हिन्दू अपने तईं दूसरी जाति के लोगों से जुदा रहने के निमित्त, आर्य पुकारते थे। और, इन्हीं के बसने से यह देश हिमालय से विन्ध्य तक आर्यावर्त्त कहलाया। पारस देश वाले भी आर्य थे। वरन् इसी कारण उसको अब भी ईरान कहते हैं।"

क्या अद्भुत लीला है? ईरान वाले तो अब तक ईरानी, पारस वाले पारसी ही बने रहे। आर्य नाम वाले क्यों न हुए? कैसा झूठ लिखा है कि अपने जुदा रहने के लिये आर्य पुकारते थे। जो ऋग्वेद की कथा भी राजा जी ने सुनी होती तो—

विजानीह्यार्यान्ये च दस्यवः।
उत शूद्रे उतार्य्ये।

इनका अर्थ यही है—
आर्य=श्रेष्ठ, और
दस्यु=दुष्ट।
आर्य=द्विज, और
शूद्र=अनार्य को कहते हैं।

इसको जानते, तो ऐसा अनर्थ क्यों लिख मारते? जो ईरान से आर्य हो जाता है, तो 'आरा' और 'अरि' आदि शब्दों से आर्य सिद्ध करने में किसी को राजाजी न अटका सकेंगे। ऐसे बहुत पुरुष अपनी प्रशंसा के लिये विदेशियों की झूठी खुशामद किया ही करते हैं।

इतिहास०, पृष्ठ–१५, पंक्ति २८:—

"ईरान की पुरानी पारसी भाषा में एक प्रकार की संस्कृत थी। अर्थात् उसी जड़ से निकली थी, जिससे संस्कृत निकली है।"

भला पारसी पढ़े विना ऐसी ऐसी गुप्त जड़ों की खोज, राजा जी न होते, तो कौन करता? जो थोड़ा-सा भी विचार करते, तो श्रेष्ठ गुणों से आर्य और एक किसी मनुष्य का नाम है। आर्य उससे और इस देश वालों से क्या सम्बन्ध हो सकता है? जितने दृष्टान्त संस्कृत पुरानी पारसी के उदाहरण दिये हैं, ये सब संस्कृत से पारसी बनी है, यह ठीक है। क्योंकि पारस देश का नाम निशान भी न था, तब से आर्य और आर्यावर्त्त देश है।

जब पाण्डवों ने राजसूय यज्ञ किया है, तब यवन देश के सब राजा आये थे। उसी ईरान का राजा शल्य भी महाभारत युद्ध में आया ही था। इसलिये राजा जी का ऐसा अनुभव केवल पारसी भाषा पढ़ने से हुआ है। संस्कृत से नहीं।

इतिहास, पृष्ठ–१६, पंक्ति–२ से:—

"ये आर्य उस समय सूर्य के उपासक थे। वेद में सूर्य की बड़ी महिमा गाई है। हिन्दुओं का मूल मन्त्र गायत्री इसी सूर्य की वन्दना है। विष्णु इसी सूर्य का नाम है।"

राजा जी का स्वभाव सब से विलक्षण है। कोई कहता हो दिन, तो ये रात कहें। यद्यपि वेदों में सूर्य शब्द से परमेश्वर आदि कई अर्थ प्रकरण से भिन्न-भिन्न कहे हैं; परन्तु उपासना में सूर्य शब्द से जिसको गायत्री मन्त्र कहता और जो व्यापकता से विष्णु है, वहां परमेश्वर ही लिया है। अन्यत्र भौतिक।

इतिहास०, पृष्ठ—१८, पंक्ति:—१

"आकाश को इन्द्र ठहराया।"

वेदों में इन्द्र शब्द से आकाश का ग्रहण कहीं नहीं किया है। हां, राजा जी ने अपनी कल्पना से समझा होगा।

इतिहास०, पृष्ठ–१८, पंक्ति—३:–

"गाय, बैल, घोड़ा, भेड़ और बकरी इत्यादि का बलि देते थे। और उसका मांस भून-भून और उबाल-उबाल कर खाते थे।"

"नोट ऋग्वेद में एक अश्वमेध का हाल यों लिखा है:—घोड़े के आगे रंग बिरंग की बकरियां रखकर, उससे अग्नि की परिक्रमा दिलाई। और फिर खम्बे से बान्धकर और फरसे से काटकर उसका गोश्त सींक पर भूना, और उबाला, और गोले बना कर खा गये।"

हाय! ऐसे अनर्थ लेख से वेद और आर्यों की निन्दा कर, राजा जी ने संतुष्टि क्यों की? क्योंकि गाय आदि पशुओं का मारना वेदों में कहीं नहीं लिखा। न शराब का पीना। और अश्वमेध का ऐसा हाल कहीं भी नहीं लिखा। राजा जी ने वाम मार्गियों के संग से ऐसी बात, कि जिससे वेदों की निन्दा; हांसी हो, लिखी होगी।

इतिहास, पृष्ठ; १९ पंक्ति—१२:—

"वर्ण भेद शुरू में दो ही रहा होगा। अर्थात् गोरा और काला। वर्ण का अर्थ रंग है।"

वाह! क्या चतुराई की छटा झलक रही है? क्या गोरे और काले के बीच में कोई भी रंग नहीं होता? और—

वर्णं बाहुः पूर्वसूत्रे।

वर्ण नाम अक्षर, वर्णनाम स्वीकार, अर्थ क्या नहीं होते?

स्वार्थी दोषन्न पश्यति।

हां, यह होता हो कि बिना गोरों की प्रशंसा के स्वार्थ सिद्ध क्यों कर होता?

इतिहास, पृष्ठ–२० से लेके अंग्रेज के पैर पकरने अर्थात् ग्रन्थ की समाप्ति पर्यन्त राजा जी ऐसी चाल-चलन से चले हैं, कि जिससे इस देश की बहुत बुराई और कुछ अन्य देशों की भी वेदादि शास्त्रों की निन्दा और जैन मत की इंगित से प्रशंसा, और अंग्रेजों की प्रशंसा में जानो, सब भाटों के प्रपितामह ही बन रहे हैं।

क्या ही शोक की बात है कि इतिहास तिमिर नाशक के तीसरे खण्ड में कितने बड़े वेदादि शास्त्रों और आर्य्य तथा आर्य्यावर्त्त देश की निन्दा लिखकर छपवाई है। तो भी राजा जी के चरित्र पर किसी आर्य विद्वान् ने विचार कर उत्तर नहीं किया। मैंने अल्पसामर्थ्य से "स्थालिपुलाक न्याय" के समान थोड़ा-सा नमूना राजा जी का दिखलाया है। इतने ही से सब बुद्धिमान् राजा जी के और मेरे गुण दोषों का विचार यथावत् कर ही लेंगे।

जिन्होंने वेद और आर्य्यावर्त्त की गर्हा करनी ही अपनी बड़ाई समझ ली है, तो स्वामी जी की निन्दा करें, इसमें क्या आश्चर्य है?

सर्वशक्तिमान् परमात्मा, परमदयालु सब पर कृपा रक्खे कि कोई किसी की निन्दा न करे, सत्य को माने और झूठ को छोड़ दे।

मेरा यहां यह अभिप्राय नहीं है कि किसी की व्यर्थ निन्दा करूं, वा मिथ्या स्तुति। हां, इतना कहता हूँ कि जितनी जिसकी समझ है, उतना ही कह और लिख सकता है। मेरी धार्मिक विद्वानों से प्रार्थना है कि जो कुछ मुझ से अन्यथा लेख हुआ हो, तो क्षमा करें। और अपनी प्रशंसनीय विद्यायुक्त प्रज्ञा से उसको शुद्ध कर लेवें। इस पर सत्य-सत्य परामर्श का प्रकाश कर आर्यों को सुभूषित करें।

*ऋषिकालांकभूवर्षे, तपस्याऽसिते दले।
दिक्तिथौ वाक्पतौ ग्रन्थो भ्रमं छेत्तुमकार्य्यलम्॥

इति भीमसेनशर्मकृतो अनुभ्रमच्छेदनो
ग्रन्थः पूर्णः॥

---

* संवत् १९३७ वि० फाल्गुण मास में कृष्ण पक्ष चतुर्थी, बृहस्पतिवार के दिन यह अनुभ्रमोच्छेदन नामक ग्रन्थ बन कर पूर्ण हुआ। —सम्पादक

श्री गोविन्दराम हासानन्द मुद्रक और प्रकाशक ने, प्रकाश प्रिन्टिंग वर्क्स, बाजार सीताराम, दिल्ली से छपवाकर 'वेद प्रकाश' कार्यालय नई सड़क देहली से प्रकाशित किया।

पढ़ने व प्रचार योग्य पुस्तकें

१. सत्यार्थ प्रकाश विषयानु— क्रमणिका सहित २)
२. उपनिषदार्य्यभाष्य ६)
३. दयानन्द प्रकाश ४॥)
४. श्वेताश्वेतर उपनिषद् १)
५. प्रभु दर्शन २॥)
६. तत्व ज्ञान ३)
७. गृहस्थ जीवन रहस्य ३॥)
८. कर्त्तव्य दर्पण १)
९. वैदिक सन्ध्या रहस्य ।≈)
१०. वैदिक यज्ञ रहस्य ।≈)
११. दर्शनानन्द ग्रन्थ संग्रह २)
१२. ओंकार निर्णय १॥)
१३. वैदिक प्रार्थना १।)
१४. प्रार्थना प्रदीप ॥)
१५. सन्ध्या विनय ॥)
१६. बहनों की बातें १)
१७. यज्ञोपवीत मीमांसा ।॥)
१८. दयानन्द चित्रावली २।)
१९. यवन मत समीक्षा १।)
२०. वेद परिचय ।≈)
२१. गोरक्षा परम कर्त्तव्य ॥)
२२. धर्म के नाम पर १।)
२३. वैदिक आर्य पर्व पद्धति ।≈)
२४. माता का सन्देश १॥।)
२५. योगासन (सचित्र) १।)
२६. आदर्शसुधारकदयानन्द ॥≈)
२७. ऋषि दयानन्द ।≈)
२८. प० लेखराम ।≈)
२९. कल्याण मार्ग का पथिक २॥)
३०. दयानन्द सिद्धान्त भास्कर २।)
३१. स्वामी दयानन्द और वेद ।)
३२. सत्यार्थ प्रकाश शंका समाधान ।)
३३. नमस्ते की व्याख्या ≈)
३४. विधवा विवाह मीमांसा २)
३५. भारतवर्ष का इतिहास १५)
३६. भारतीय संस्कृति ॥)
३७. आर्य सत्संग गुटका ।–)
३८. वैदिक सत्संग ≡)
३९. वैदिक सन्ध्या जपजी ≈)
४०. हवन मन्त्र –)॥
४१. अनुराग रत्न २।)
४२. गुटका भजन संग्रह ≈)॥
४३. आनन्द गीताञ्जलि ।)
४४. पारिवारिक दृश्य १)
४५. दो सनातन संस्थाएं ॥।)
४६. स्वाध्याय सन्दोह ६)
४७ वैदिक धर्म शिक्षा ≡)॥
४८. बाल शिक्षा –)॥

ऋषि दयानन्द कृत पुस्तकें

४९. आत्मकथा ।≈)
५० स्वमन्तव्यामन्तव्य प्र० ≡)
५१. पंच महायज्ञविधि ।)
५२. वेदविरुद्धमत खंडन ।≈)
५३. वेदान्तिध्वान्तनिवारण ≡)
५४. शिक्षा पत्रीध्वान्त निवारण ।≈)
५५. आर्याभिविनय ॥≈)
५६ ऋग्वेद का प्रथम सूक्त ।)
५७. आर्योद्देश्य रत्नमाला ≈)
५८ भ्रान्ति निवारण ।≈)
५९. व्यवहारभानु ।)
६०. भ्रमोच्छेदन ।)
६१. आर्यसमाज के नियमोपनियम ≈)
६२ गोकरुणानिधि ≡)
६३. स्वीकार पत्र –)॥
६४. काशी शास्त्रार्थ ॥)
६५. सत्य धर्म विचार ।≈)
६६. बरेली शास्त्रार्थ ।)
६७ हुगली शास्त्रार्थ ।)
६८. अनुभ्रमोच्छेदन ≡)

प्रचार योग्य सस्ते ट्रैक्ट

प्रति –), सैंकड़ा ४), हजार ३५)

६९. मनुष्य बन
७०. गायत्री माता
७१. ईश्वर सिद्धि
७२. आस्तिक नास्तिक संवाद
७३. पितृ श्राद्ध विचार
७४. सुख का साधन
७५. ईश्वरोपासना
७६. कल्याणी बन
७७. आर्यों का आदि देश
७८. धर्म अधर्म
७९. स्वामी श्रद्धानन्द
८०. तत्ववेत्ता दयानन्द
८१. धर्मवीर पं० लेखराम
८२. सीता माता
८३ गौ माता
८४. दयानन्द दिग्विजय
८५. चोटी का महत्व
८६ गुरु विरजानन्द
८७. मांस खाना छोड़ दो
८८. मर्यादा पुरुषोत्तम राम
८९. देश सुधार होली
९०. मूर्ति पूजा विचार
९१. भक्ति के लाभ
९२. आर्य समाज का उद्देश्य
९३. वेद माता
९४. श्रद्धा माता
९५. धर्म की रक्षा करो
९६. धरती माता
९७ ऋषिकृत वेदभाष्य का महत्व
९८. आर्य समाज की उन्नति के साधन
९९. भक्तिवाद की रूपरेखा
१००. वैदिक भक्ति वाद
१०१. वैदिक काल में तोप बन्दूक
१०२. वीर नेता श्यामाप्रशाद मुकर्जी

गोविन्दराम हासानन्द आर्य साहित्य भवन, नई सड़क—देहली।

॥ ओ३म् ॥

* ईश्वर प्रार्थना *

ओ३म् चित्रंदेवाना मुदगादनीकं चक्षु मित्रस्य वरुण स्याग्नेः ।
आ प्रा द्यावा पृथिवी ऽअन्तरिक्ष ँ सूर्य आत्मा
जगतस्तस्थुषश्च ॥ यजुर्वेद अ० १३ । मं० ४६ ।

प्रभो ! तुम्हीं हो जगत के कर्त्ता ।
तो सृष्टि मेरी विचित्र कर दो ॥
गुज़र गये सो गुज़र गये दिन ।
बस आजसे सच्चरित्र कर दो ॥
पवित्रता हो महान ऐसी ।
पवित्र हो गुप्त-कर्म जिससे ॥
पवित्र उस कर्मसे वचन हो ।
वचनसे मनको पवित्र कर दो ॥
स्वभाव, गुण, कर्म तक हो चित्रित ।
तभी तुम्हारी है चित्रकारी ॥
खिंचा है कागज़ पै चित्र जिनके ।
उन्हींका हम सबको भी चित्र कर दो ॥

"बेताब"